योगदर्शनम्

व्याख्याकार

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

प्रकाशक

दर्शन योग महाविद्यालय

महर्षि पतञ्जलि प्रणीतम्

योग दर्शनम्

(महर्षि व्यास भाष्य सहितम्)

- व्याख्याकार -

स्वामी सत्यपति परिव्राजक

(व्याकरण - निरुक्त - दर्शन आचार्य, वेद वाचस्पति)

प्रकाशक

दर्शन योग महाविद्यालय

आर्य वन, रोजड़, पत्रालय - सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात) ३८३३०७

प्रकाशन तिथि : माघ २०५९ विक्रमी, फरवरी सन् २००३
सृष्टि संवत् १९६०८५३१०३

संस्करण : द्वितीय

प्राप्ति स्थान

१. **ऋषि उद्यान,** आना सागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राजस्थान)
२. **श्री अरविन्द राणा,** ७९१/डी/३, पंचशील मार्ग, सैक्टर–२१, गांधीनगर.
३. **सर्वोदय साहित्य मंदिर,** रेलवे प्लेटफार्म नं. १, अहमदाबाद.
४. **गुरुकुल आश्रम आमसेना,** खरियार रोड, जि. नवापारा, उडीसा–७६६१०९.
५. **आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय,** खर्राघाट, नर्मदापुरम्, होशंगाबाद (म.प्र.) ४६१००१.
६. **आर्य समाज मन्दिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद-२२ (गुज.)
७. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली–६.
८. **मधुर प्रकाशन,** आर्य समाज, बाजार सीताराम, दिल्ली–६.
९. **आर्य प्रकाशन,** ८१४, कुण्डेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली–६.
१०. **चौखम्बा ओरीयेन्टालिया,** ९, यु.बी. बैंग्लो रोड, पोस्ट बाक्स नं. २२०६, दिल्ली–७.

दर्शन योग महाविद्यालय, आर्य वन, रोजड़,
पत्रालय : सागपुर, जि. साबरकांठा, गुजरात-३८३३०७
दूरभाष : (०२७७०) २८७४१८, २८७५१८
Web- www.darshanyog.org **E-mail : darshanyog@gmail.com**

आर्थिक सहयोग : १००/– रुपये

लेसर टाईप सेटिंग : ध्रुमिल ग्राफिक्स, ८५६, नारणपुरा गाम, अहमदाबाद-३८००१३.
मुद्रक : आकृति प्रिन्टर्स, ओढव, अहमदाबाद, दूरभाष : २९१०४६७

१

विस्तृत विषयानुक्रमणिका

★ ★ ★

२

मेरी दृष्टि में इस भाष्य का वैशिष्ट्य

आचार्य वेदव्रत मीमांसक

पू. स्वामी सत्यपति जी महाराज ने योगदर्शन पर यह भाष्य किया है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि – इस भाष्य की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि योग पर बहुत विशाल साहित्य है। उसमें महर्षि व्यासकृत भाष्य जैसा मौलिक साहित्य है। उसके रहते हुए इसकी क्या आवश्यकता है और इसमें क्या विशेषता है ? इस प्रश्न का संक्षेप से समाधान किया जाता है – श्री स्वामी जी का जीवन योगमय है। इसलिए योग पर बोलने का एवं लिखने का अधिकार है। अथवा योगी होने से आप का ही अधिकार है। मैं स्वामी जी के साथ वर्षों तक रहा हूँ। स्वामी जी के अथाह योगज्ञान से परिचित हूँ।

श्री स्वामी जी महाराज ने योग पर लिखने का विचार नहीं किया था। परन्तु कई सज्जनों एवं जिज्ञासुओं के द्वारा आग्रह करने पर लिखने के सम्बन्ध में विचार किया। मैं भी चाहता था कि आप योगदर्शन का भाष्य करें। उसके पश्चात् आपने यह भाष्य लिखा है। श्री स्वामी जी का यह भाष्य योग के निगूढ़ रहस्य को प्रकाशित करने वाला है। योग पर यथार्थ एवं नई दृष्टि प्रदान करने वाला है। योग को सर्वजनसुलभ तथा व्यावहारिक बनाने वाला है। योग विषयक अनेक भ्रान्तियों और संशयों को दूर करने वाला है। इतना ही नहीं यह लुप्तप्रायः यथार्थयोग को पुनः अपने उच्च आसन पर बैठाने वाला है।

यद्यपि योगदर्शन में, वेदादि शास्त्रों में यह विद्या है। इसकी अनेक लोगों ने व्याख्या की भी है। तथापि उसके कई अंशों की व्याख्या आवश्यक है यह साधनारत योगाभ्यासियों से छिपा नहीं है। इस भाष्य में ऐसे ही बहुत सारे अंशों की युक्तियुक्त, प्रमाणयुक्त व्याख्या है। अतः इस भाष्य की उपादेयता अक्षुण्ण है। योग पर लिखने वाले कई लोगों ने योगदर्शन की मूलभूतभावना के विरुद्ध लिखा है। उनका सप्रमाण समाधान अपेक्षित है। उनका समाधान इस भाष्य में किया गया है। उदाहरण के लिए ॥ ४/३ ॥ एवं ॥ १/१९ ॥ सूत्र देखें।

योग के विषय में कई भ्रान्तियाँ हैं। उनका निराकरण इस भाष्य के द्वारा किया गया है। उदाहरण के लिए ॥ १/१० ॥, ॥ ४/४, ५ ॥ सूत्र देखे जा सकते हैं।

जिस प्रकार माता बालक की रक्षा करती है उसी प्रकार यह भाष्य भी योगजिज्ञासु को शब्दज्ञान में बहने से रोकने एवं योगमार्ग में सतत बने रहने के लिये सदा प्रवृत्त करेगा। यह अंश इस सम्पूर्ण भाष्य में दिखेगा। यह भाष्य योग की गुत्थियों को खोलने का बहुत बड़ा साधन है। और योगमार्ग को प्रशस्त करने वाला है। योग में विद्यमान अनेक भ्रान्तियों को दूर करके विशुद्ध वैदिक आर्ष योग को प्रकाशित करने में सक्षम है। इस भाष्य के वैशिष्ट्य को अति संक्षेप में कहना भी इस छोटे लेख में सम्भव नहीं, तथापि स्थालीपुलाकन्याय से कुछ बातें नीचे दी जाती हैं। वास्तव में इस भाष्य का मूल्याङ्कन इसको आद्योपान्त पढ़ने पर ही हो पायेगा।

(१) यह भाष्य सर्वथा मौलिक है । किसी का अनुवाद वा छाया नहीं हैं ।

(२) यह भाष्य मौलिक, निगूढ़ तत्त्वों को सरल शब्दों में बतलाकर मानव को योग की ओर मोड़नेवाला ग्रन्थ है । इसको पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार (स्वामी जी) अपने अनुभव की बात लिख रहे हैं । इसके लिए ॥ १/१२ ॥ सूत्रभाष्य देखा जा सकता है । उसमें विवेक क्या है, उसकी आवश्यकता क्या है, उसका अभ्यास, वैराग्य के साथ क्या सम्बन्ध है, उसकी प्राप्ति के क्या क्या उपाय हैं, इस पर सूक्ष्म विश्लेषण है । साथ ही यह भी बतलाया कि अभ्यास और वैराग्य के साथ विवेक होने पर ही वृत्तिनिरोध होता है, अन्यथा नहीं ।

(३) योगाभ्यासी के लिए आवश्यक छोटे माने जाने वाले वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण विषय अनेक हैं, जिन पर ध्यान न देने पर बहुत वर्षों तक की गई साधना व्यर्थ होती है, जैसे निद्रा । उपासना के समय निद्रा नहीं आनी चाहिए । साधना करते समय यदि निद्रा आती है, आलस्य रहता है तो वर्षों तक साधना करने पर भी सफलता नहीं मिलती है । निद्रा का कारण क्या है जिसको दूर करके साधक देर तक उपासना में बैठ सके, इसको प्रत्येक योगजिज्ञासु साधक को जानना चाहिए । इसी दृष्टि से निद्रा के १६ कारण बतलाये, जिनके दूर करने से साधक उपासना काल में निद्रा से मुक्त होकर साधना में सफल हो सकता है । देखिए सूत्र ॥ १/१० ॥

(४) महर्षि पतञ्जलि एवं व्यास के संक्षिप्त अभिप्राय की बहुत स्थानों पर विस्तृत व्याख्या की है । उदा० के लिए सूत्र ॥ ३/७, ८ ॥ के भाष्य ।

(५) योग साधकों की चिन्तन करने की शैली कैसी हो, उनके मन्तव्य कैसे हों इनका स्थान स्थान पर निर्देश है । उदाहरण के लिये देखिये सूत्र ॥ ४/९ ॥ का भाष्य ।

(६) ध्यान के विषय में योग जिज्ञासुओं की बहुत सारी भ्रान्तियाँ हैं । इसमें इनका समाधानपूर्वक ध्यान के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन है । इसके लिए देखिए सूत्र ॥ ३/२ ॥

(७) इस भाष्य में बहुत सारे सूत्रों की अति महत्त्वपूर्ण विशद्, मनोहारी, व्यावहारिक व्याख्या की गई है । ऐसी व्याख्या किसी भी योगग्रन्थ में नहीं देखी गई है । उदाहरण के लिए सूत्र ॥ २/३३ ॥ देखें । इसमें वितर्क करने वाला कौन है, इसका निमित्त क्या है, वितर्कों का वेग कितना रहता है, प्रतिपक्ष की भावना किस प्रकार की जानी चाहिए, उसकी सारी पद्धति का सुन्दर चित्रण है । सूत्र का भाष्य बहुत व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण है ।

(८) तीव्र संवेग को, समाधि को शीघ्र प्राप्त करने के साधनों के रूप में सूत्रकार ने बतलाया । इस पर प्रस्तुत भाष्य बहुत महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत करता है । यह व्याख्या भाष्यकार (स्वामी जी) के योग सम्बन्धी अतिविस्तृत ज्ञान को बतलाती है । देखिए इसके लिए सूत्र ॥ १/२१ ॥

(९) ईश्वरप्रणिधान समाधि का बहिरङ्ग ही होता है वा अन्तरङ्ग भी । इस विषय पर भाष्य करते हुए भाष्यकार ने ॥ ३/७ ॥ में साधकों के स्तर, प्रयोग की न्यूनाधिकता के आधार पर अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग की स्थिति बतलाई है । इस सन्दर्भ में ईश्वरप्रणिधान की विलक्षण व्याख्या की है । यह व्याख्या ईश्वरप्रणिधान के व्यापकरूप को बतलाती है । ईश्वरप्रणिधान का यह स्वरूप किसी भी

ग्रन्थ में देखने को नहीं मिला। इसको पढ़कर साधक अपने ईश्वरप्रणिधान के स्वरूप को जानकर परिपूर्ण ईश्वरप्रणिधान की ओर अग्रसर होगा, ऐसा स्वीकार करना पड़ता है। इस व्याख्या से ऐसा लगता है कि भाष्यकार ने समाधिस्थ अवस्था में इस भाष्य को लिख दिया। भाष्यकार का योगविषयक ज्ञान तलस्पर्शी और विशाल सागर के समान है।

(१०) वृत्तियों के स्वरूप को क्यों जानना चाहिए, प्रमाणादि वृत्तियों से समाधि में किस रूप में सहायता मिलती है, विपर्यय तथा विकल्प को किस प्रकार रोका जाता है, इसको जानकर व्यक्ति योग में तीव्र गति कर सकता है।

(११) प्राणायाम करने से ज्ञान पर होने वाला आवरण किस प्रकार नष्ट होता है यह वैज्ञानिक पद्धति से प्रतिपादित किया गया है। इसको पढ़कर 'मनुष्य का योगाभ्यास से अज्ञान का नाश कैसे होता है', इसको अच्छे प्रकार से जान सकता है। उसको यह भी विदित होगा कि प्राणायाम से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

योगदर्शन में वा व्यासभाष्य में जहाँ कहीं योग के किसी अंश का फल बतलाया गया है, वहाँ स्वामी जी ने बड़ी निपुणता से उसको सिद्ध किया है। पाठक को करतलामलकवत् (हाथ पर रखे आँवले के समान) विषय स्पष्ट होता है। अनेक मौलिकताओं में से इस भाष्य की यह एक मौलिकता है।

(१२) पाँच प्रकार की सिद्धियों की सुन्दर उपपत्ति लिखी है। यह सन्दर्भ इस बात को सिद्ध करता है कि यह सिद्धि नितान्त स्वाभाविक, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। इसके लिए देखिए सूत्र ॥ ४/१ ॥

(१३) जात्यन्तर परिणाम की सुन्दर व्याख्या है, सृष्टिक्रम के अनुकूल है। कहीं पर भी कृत्रिमता नहीं आई है। देखिए सूत्र ॥ ४/२ ॥

(१४) स्वामी जी ने ॥ ४/३४ ॥ सूत्र भाष्य में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि जगत की रचना ईश्वर करता है, ईश्वर ही कर सकता है। साथ ही जीवात्मा का अपने स्वरूप में रहना कैवल्य नहीं है अपितु अपने एवं परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य है, यह भी युक्ति एवं प्रमाणों से सिद्ध किया है। योगाभ्यास में स्वामी जी का यह मौलिक प्रतिपादन है।

(१५) स्वामी जी ने ॥ १/६ ॥ में वृत्तियों के नाम एवं लक्षणों को जानने वालों को होने वाले लाभों को बतलाया। इसी प्रकार सूत्र ॥ ३/१३ ॥ के भाष्य में चित्त के व्युत्थान परिणाम, निरोध परिणाम, समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम के जानने से होने वाले लाभ को बतलाया है। और भूतेन्द्रियों के धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों के जानने से होने वाले लाभ को लिखा है। ये लाभ मुझे किसी योग के ग्रन्थ में देखने को नहीं मिले।

आर्ष गुरुकुल, बडलूर-कामारेड्डी,
जि० - इन्दूरु (निजामाबाद) आन्ध्रप्रदेश-५०३१११.

भूमिका

अनेक विद्वानों और स्वाध्यायशील सज्जनों ने अनेक बार मुझ से कहा कि ''आपने क्रियात्मक रूप से लम्बे काल पर्यन्त योगाभ्यास किया है और योगाभ्यास से होने वाले उत्तम परिणामों का अनुभव भी किया है । अतः आपको योगदर्शन पर अपने विचार अवश्य लिखने चाहियें, इससे अनेक लोग लाभान्वित होंगे ।'' उनकी इन बातों को सुनकर योगदर्शन पर कुछ लिखने की मेरी इच्छा होती थी । परन्तु अनेक कारणों से इस कार्य को मैंने प्रारम्भ नहीं किया । कालान्तर में इस विषय पर विचार किया कि इस कार्य के करने से संसार का उपकार होगा, अतः इसको करना ही चाहिये । ऐसा विचार करके मैंने यह ग्रन्थ लिखा और योगदर्शन पर किये गये अपने भाष्य का नाम '**योगार्थ प्रकाश**' रखा है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि योगदर्शन पर अनेक विद्वानों ने विविध भाषाओं में व्याख्याएँ की हैं । उन व्याख्याओं की विद्यमानता में इस भाष्य की क्या आवश्यकता थी ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगाभ्यास विषयक मेरे जो लगभग पचास वर्षों के अनुभव हैं, उन अनुभवों को भी मैंने यत्र-तत्र लिखने का प्रयास किया है । विशेषकर तृतीय पाद के तीसरे सूत्र के भाष्य में योग विषयक अपनी कुछ अनुभूतियों का भी वर्णन किया है इसके अतिरिक्त इस भाष्य में अनेक बातों का स्पष्टीकरण किया गया है जैसे कि -

(१) इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ईश्वर करता है जीवात्माएँ नहीं कर सकतीं । सृष्टि की उत्पत्ति स्वयं नहीं हो सकती । यह स्वरूप से अनादि भी नहीं है ।

(२) चाहे कोई कितना भी सिद्ध योगी क्यों न हो, वह ईश्वरवत् सर्वज्ञ नहीं हो सकता और न ही वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सकता है ।

(३) योगदर्शन में वर्णित सिद्धियों पर विचार करके अपना मन्तव्य दिया है कि किस सिद्धि को मानना, किसको न मानना अथवा किस रूप में मानना और कितने अंश में मानना चाहिये ।

(४) योगदर्शन के सूक्ष्म विषयों को सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया है ।

(५) योगाभ्यासी ईश्वर साक्षात्कार तक कैसे पहुँचे तथा योग का वास्तविक स्वरूप क्या है, इसको क्रिया रूप में समझाने का प्रयत्न किया है ।

(६) ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को बतलाने और ईश्वर प्राप्ति करने के लिये अधिक बल दिया गया है ।

(७) इसमें व्यासभाष्य के अनुवाद के साथ साथ सम्पूर्ण भाष्य की विशेष व्याख्या न करते हुवे जिस अंश को स्पष्ट करना आवश्यक समझा है, उसको स्पष्ट किया है तथा जिस अंश को प्रक्षिप्त समझा है, उसे 'प्रक्षिप्त' नाम से लिखा है ।

६

वेदों में योग

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने लिखा है कि "**सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है ।**" अर्थात् जितनी भी विद्याएँ संसार में हैं, चाहे वह भौतिक विज्ञान हो चाहे आत्मा-परमात्मा, मनादि से सम्बद्ध अध्यात्म विज्ञान हो, सब का आदिमूल अर्थात् सबका आधार उस विज्ञान से युक्त, ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण परमेश्वर है और जितने भी प्रकृति से उत्पन्न होने वाले बुद्धि (महत्तत्त्व) से लेकर समस्त लोक लोकान्तरों पर्यन्त प्राकृतिक पदार्थ हैं उन सब का कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता ईश्वर ही है ।

उसी ईश्वर से समस्त विद्याएँ प्रचलित होती हैं । ईश्वर प्रदत्त ज्ञान के बिना न तो व्यक्ति के व्यवहार की सिद्धि हो सकती और न ही कोई व्यक्ति भौतिक वैज्ञानिक और न ही कोई आध्यात्मिक वैज्ञानिक बन सकता है न ही कोई लौकिक सुख को प्राप्त कर सकता और न ही मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है ।

इस बात को सिद्ध करने के लिये वेदों के कुछ मन्त्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाᳪंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ यजु० ३१/७ ॥

अर्थ - हे मनुष्यो ! तुमको चाहिये कि (तस्मात्) उस पूर्ण (यज्ञात्) अत्यन्त पूजनीय (सर्वहुतः) जिसके अर्थ सब लोग समस्त पदार्थों को देते वा समर्पण करते उस परमात्मा से (ऋचः) ऋग्वेद (सामानि) सामवेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होते (तस्मात्) उस परमात्मा से (छन्दाᳪंसि) अथर्ववेद (जज्ञिरे) उत्पन्न होता और (तस्मात्) उस पुरुष से (यजुः) यजुर्वेद (अजायत) उत्पन्न होता है, उसको जानो ।

भावार्थ - हे मनुष्यो ! आप लोग जिससे सब वेद उत्पन्न हुए हैं उस परमात्मा की उपासना करो, वेदों को पढ़ो और उसकी आज्ञानुकूल वर्त्त के सुखी होओ ।[1]

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरᳪं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

॥ यजु० ४०/८ ॥

अर्थ - वह परमात्मा सब में व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध परमेश्वर अपनी जीव रूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है और वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, जो नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता । जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता । वही ईश्वर सदा स्तुति प्रार्थना और उपासना करने योग्य है उससे अन्य कोई नहीं ।

---

१. महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य ।

इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह सिद्ध होता है कि इन समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्याओं का प्राणी मात्र के हितार्थ ईश्वर ने ही वेदों में उपदेश किया है ।

योगदर्शन आदि समस्त आर्ष शास्त्रों में प्रतिपादित जो योग विद्या है उसे भी वेद के माध्यम से प्रदान करने वाला आदिमूल ईश्वर ही है ।

योग विद्या से सम्बन्धित कुछ वेदमन्त्रों का उल्लेख नीचे किया जाता है -

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ऋग्० ५/८१/१ ॥

पदार्थ - (युञ्जते मनः) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े-२ बुद्धिमान् (होत्राः) उपासना योग के ग्रहण करने वाले हैं वे (विप्रस्य) सबको जानने वाला (बृहतः) सब से बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः युञ्जते) अपने मन को ठीक-२ युक्त करते हैं तथा (उत धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे) धारण और विधान करता है (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रज्ञा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाशक और (सवितुः) सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें । कैसी वह स्तुति है कि (मही) सबसे बड़ी अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती ।[१]

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम् ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ यजु० ११/१ ॥

पदार्थ - (युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्म ज्ञान के लिये (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है । (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ।[२]

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ यजु० ११/१४ ॥

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासनाविषयः) ।
२. महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य ।

बार-बार योगाभ्यास करते और बार-बार मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाते समय हम सब परस्पर मित्रभाव से युक्त होकर अपनी रक्षा के लिये अनन्त बलवान्, ऐश्वर्यशाली ईश्वर का ध्यान करते हैं । उसी से सब प्रकार की सहायता माँगते हैं ।

इससे यह सिद्ध होता है कि इस विद्या के मूल स्रोत वेद ही हैं और महर्षि पतञ्जलि जी द्वारा योगदर्शन में प्रतिपादित योगविद्या वेदों से आयी है ।

योग का महत्त्व

यह सत्य है कि सांसारिक वस्तुओं के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य रहने वाला नहीं है। इन विषय भोगों को अधिकाधिक भोग कर कोई व्यक्ति पूर्ण व स्थायी सुख प्राप्त नहीं कर सकता । उपर्युक्त सत्य के समान ही यह भी अटल सत्य है कि ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध सदा से था, आज भी है और आगे भी रहेगा। इस सम्बन्ध का कभी विच्छेद नहीं होता। ऐसे ईश्वर को ही प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण सुखी हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

आज की विकट सामाजिक परिस्थिति में वैदिक धर्म संस्कृति, सभ्यता, रीति-नीति, परम्पराएँ आदि लुप्तप्राय: हो गयी हैं। इसके विपरीत केवल भोगवादी और अर्थवादी परम्पराओं का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हो रहा है । इन कारणों से ब्रह्म विद्या दुर्लभ हो गई है ।

स्थायी सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिये आज के मनुष्य ने घोर पुरुषार्थ किया है और करता भी जा रहा है । सारी पृथिवी का स्वरूप ही बदल डाला है । तदुपरान्त भी वह समस्त दु:खों की निवृत्ति और नित्य आनन्द की प्राप्ति नहीं कर पाया । इसी प्रकार चलते रहने पर भविष्य में भी मुख्य लक्ष्य की प्राप्ति की कोई संभावना नहीं है ।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार, ईर्ष्या, द्वेषादि मानसिक रोगों का समाधान केवल धन-सम्पत्ति व भौतिक विज्ञान से कदापि सम्भव नहीं हो सकता । इन मानसिक रोगों का समाधान तो आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्म विद्या को पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने और इसको क्रियात्मक रूप देने से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

आज के हजारों भौतिक वैज्ञानिक तन, मन व धन से भौतिक विज्ञान के आविष्कारों में लगे हुये हैं और वे इसी से ही समस्त दु:खों की निवृत्ति और नित्यानन्द की प्राप्ति को सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु उन्होंने आत्मा-परमात्मा के विज्ञान तथा ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य का सर्वथा परित्याग कर दिया है । अत एव आज समस्त विश्व विविध दु:खों से अत्यन्त सन्तप्त है । जब तक आत्मा व परमात्मा के विज्ञान और ईश्वर-प्राप्ति लक्ष्य को स्वीकार नहीं किया जाएगा, तब तक यह संसार दु:खसागर में गोते लगाता रहेगा ।

योग के महत्त्व को हम इस प्रकार से समझ सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति समस्त दु:खों से छूटकर नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहता है। जब तक व्यक्ति योगदर्शन में प्रतिपादित हेय, हेयहेतु:;

हान और हानोपाय के स्वरूप को अच्छी प्रकार से नहीं जानता तब तक समस्त दुःखों की निवृत्ति और नित्य सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

योगदर्शन का संक्षिप्त परिचय

वैदिक छह दर्शनों में योगदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है । इस दर्शन में योग का वास्तविक स्वरूप, योग का फल, योग के क्रियात्मक उपाय, योग के भेद और योग में उपस्थित होने वाले बाधकों एवं उनके निवारण का विस्तृत विवेचन किया है ।

वेद के उपाङ्गों में इस दर्शन की गणना की जाती है । इस दर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि जी हैं । इसके सूत्रों की संख्या १९५ है । उन्हें चार पादों में विभाजित किया गया है । प्रथम पाद में ५१ सूत्र हैं । द्वितीय तथा तृतीय पाद में ५५-५५ सूत्र तथा अन्तिम चतुर्थ पाद में ३४ सूत्र हैं । प्रथम पाद का नाम समाधि पाद है, द्वितीय का नाम साधन पाद है, तृतीय का नाम विभूति पाद और चतुर्थ पाद का नाम कैवल्य पाद है । इनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है -

(१) समाधिपाद : इस प्रथम पाद में मुख्य रूप से समाधि तथा उसके भेदों का वर्णन किया गया है, अत एव इसका नाम 'समाधि पाद' है । इसमें उच्चकोटि के साधकों के लिये समाधि के वर्णन के साथ-२ अन्य उच्चस्तरीय योग के साधनों का भी वर्णन किया गया है । इस पाद में योग का स्वरूप, उसका फल, वृत्तियों के प्रकार तथा उनका स्वरूप, वैराग्य के भेद तथा स्वरूप, योग के भेद तथा प्रभेद, ईश्वर का स्वरूप, जप अनुष्ठान की विधि, मनोनिरोध हेतु विविध उपायों का वर्णन, समापत्ति का स्वरूप तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है ।

(२) साधनपाद : इस द्वितीय पाद में प्रारम्भिक साधक के लिये योग के साधनों का वर्णन किया गया है, अत एव इसका नाम 'साधन पाद' है । इस द्वितीय पाद में क्रिया योग और उसका फल अविद्यादि पाँच क्लेश, उनका स्वरूप और उनके नाश के उपाय, क्लेशमूल कर्माशय और उसका फल, विवेकी के लिये दुःख और उनकी हेयता, दृश्य का स्वरूप, योग के आठ अङ्ग और उनके फल, प्राणायाम का लक्षण उसके भेद और फल तथा प्रत्याहार का स्वरूप आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है ।

(३) विभूतिपाद : योग साधनों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाली विविध प्रकार की सिद्धियों = विभूतियों (ऐश्वर्यों) का वर्णन इस तृतीय पाद में मुख्य रूप से किया गया होने से इस पाद का नाम 'विभूतिपाद' है।

इस पाद में धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन योगाङ्गों के लक्षण तथा उनका शास्त्रीय पारिभाषिक नाम उनकी सिद्धि का फल तथा विभिन्न स्तरों में विनियोग, मोक्षप्राप्ति में सभी सिद्धियों की अनिवार्यता का निषेध, चित्त परिणामों के भेद और उनका विवरण, संयम के अनुष्ठान से विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति, विवेकज ज्ञान का प्रादुर्भाव और उसका परिणाम आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है ।

(४) कैवल्यपाद : इस चौथे पाद में कैवल्य = मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का वर्णन है । अतः इसका नाम 'कैवल्य पाद' है । इस पाद में चित्त सिद्धियों के पाँच भेद कर्मों के प्रकार, कर्माशय के रहते हुए मोक्ष सिद्धि संभव नहीं, योगी व अयोगी के कर्मों में अन्तर, स्मृति और संस्कार सदा समान विषयक होते हैं, वासना संग्रह के चार कारण, संसार चक्र छह अरों वाला है, क्षणिकवाद आदि का खण्डन, धर्ममेघ समाधि का स्वरूप, क्रम का स्वरूप आदि विभिन्न विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है ।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति तथा परिभाषा

योग शब्द 'युज समाधौ' आत्मनेपदी दिवादिगणीय धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है । अतः 'योग' शब्द का अर्थ 'समाधि' अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध है । यद्यपि योग शब्द 'युजिर योगे' तथा 'युज संयमने' धातुओं से भी निष्पन्न होता है परन्तु तब योग शब्द का अर्थ क्रमशः 'योगफल' = जोड़ तथा 'नियमन' होगा जो कि योगदर्शन के ''**योगश्चित्तवृत्तिनिरोध**'' सूत्र में प्रतिपादित योग की परिभाषा के अनुकूल न होने से अभीष्ट नहीं है । अतः 'युज समाधौ' धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द ही यहाँ स्वीकार्य है ।

यहाँ पर कुछ विस्तृत रूप में 'योग' की परिभाषा इस प्रकार से समझ सकते हैं । मन के समस्त अनावश्यक विचारों - चिन्ता, क्रोध, तनाव, खिन्नता, चंचलता, घृणा, अभिमान आदि को रोक कर मन को अभीष्ट ध्येय आत्मा तथा प्राकृतिक पदार्थों में नियुक्त कर उनके यथार्थ स्वरूप को जानना तथा मन की सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध कर ईश्वर का साक्षात्कार करना योग है ।

योग के उपाय

यमनियमादि ८ अङ्ग, विवेकख्याति, वैराग्य, अभ्यास और उच्च स्तरीय ईश्वरप्रणिधान - ये योग साधना के उपाय हैं ।

साधना के प्रारम्भिक स्तर में योगाभ्यासी व्यवहार में यम-नियमों का पालन करता हुआ ईश्वर, जीव व प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिये स्वस्तिक आसन आदि कोई 'आसन' लगाता है तथा मन को रोकने के लिये 'प्राणायाम' करता है ।

मन के रुक जाने पर नेत्रादि इन्द्रियों का अपने-२ रूपादि विषयों के साथ सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् इन्द्रियाँ शान्त होकर अपना कार्य बन्द कर देती हैं; इस स्थिति का नाम 'प्रत्याहार' है।

अधिकार में किये हुए मन को ध्येय पदार्थ के साक्षात्कार हेतु शरीर के किसी एक स्थान हृदयाकाश, भ्रूमध्य, कण्ठ आदि में स्थिर कर देने का नाम 'धारणा' है। धारणा की स्थिति सम्पादित करके धारणा के स्थल पर ध्येयवस्तु विषयक चिन्तन का एक प्रवाह बना रहना 'ध्यान' है।

अब यहाँ विवेक और वैराग्य से सम्बन्धित कुछ ज्ञातव्य बातें रखी जाती हैं -

इस दर्शन में ''**सत्त्वपुरुषान्यताख्याति मात्रम्**'' से 'विवेकख्याति' को परिभाषित किया गया है अर्थात् बुद्धि और पुरुष (जीवात्मा) के पृथक्त्व का ज्ञान 'विवेकख्याति' है । सम्प्रज्ञात समाधि

की उच्च स्थिति में यह विवेकख्याति उत्पन्न होती है। इसके उत्पन्न होने पर साधक बुद्धि से पृथक् आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है।

योगदर्शन में वैराग्य के दो स्तर बताये गये हैं। वैराग्य के प्रथम स्तर को 'अपर-वैराग्य' के नाम से कहा गया है तथा उच्चस्तर को 'पर-वैराग्य' नाम से लिखा गया है। यहाँ पर दृष्ट = अनुभव किये हुए रूप, रस, स्पर्शादि तथा आनुश्रविक = सुने हुए दिव्यादिव्य विषयों के प्रति राग-द्वेष से शून्य होकर मन की जो अपने वश में होने की अनुभूति है वह, **'अपर वैराग्य'** है। यह 'अपर वैराग्य' सम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का मुख्य उपाय है।

सम्प्रज्ञात योग की उच्च स्थिति में 'विवेकख्याति' उत्पन्न होती है। उस 'विवेकख्याति' को भी 'सत्त्वगुण' का धर्म मान कर साधक का उससे भी विरक्त हो जाना **'पर वैराग्य'** है और यह असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का मुख्य उपाय है।

वैराग्य प्राप्ति के साथ-२ साधक को ईश्वर प्रणिधान = ईश्वरसमर्पण का भी विशेष अभ्यास करना पड़ता है। 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् समस्त कर्मों को परमगुरु ईश्वर के समर्पित कर देना तथा उनके लौकिक फल को न चाहना - ईश्वरप्राप्ति हेतु यह विशिष्ट उपाय है। प्रत्येक साधक को उच्च स्तर पर इसका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये।

योग के भेद

योग के दो मुख्य भेद हैं - (१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात।

(१) सम्प्रज्ञात समाधि - "सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः" जिसमें स्थूलभूतों से लेकर महत्तत्व पर्यन्त प्राकृतिक विषय एवं आत्मा आदि पदार्थों को ठीक से जाना जाता है उसे 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इसमें चित्त की राजसिक तामसिक वृत्तियों को रोककर केवल एक सात्त्विक वृत्ति के माध्यम से लम्बे काल तक उपर्युक्त पदार्थों में से किसी एक पदार्थ में चित्त को स्थिर कर उसके स्वरूप को जाना जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद होते हैं - (१) वितर्क (२) विचार (३) आनन्द (४) अस्मिता।

(१) वितर्क में स्थूलभूतों का प्रत्यक्ष होता है।

(२) विचार में सूक्ष्मभूतों का प्रत्यक्ष होता है।

(३) आनन्द में मन, इन्द्रियों, अहङ्कार और महत्तत्त्व का प्रत्यक्ष होता है।

(४) अस्मिता में जीवात्मा का प्रत्यक्ष होता है।

सम्प्रज्ञात की परिपक्व अवस्था का नाम धर्ममेघ समाधि है। इस समाधि में **'सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति'** अर्थात् बुद्धि आदि प्राकृतिक पदार्थों एवं जीवात्मा के पृथक्त्व का ज्ञान होता है। अष्टाङ्ग योग और अपर वैराग्य इसके साधन हैं। इस समाधि में क्लेशों की पर्याप्त मात्रा में दग्धबीजभावावस्था आ जाती है परन्तु सूक्ष्म क्लेश बने रहते हैं क्योंकि क्लेशों की नितान्त परिसमाप्ति तो असम्प्रज्ञात समाधि में ही होती है।

(२) असम्प्रज्ञात समाधि – **'न किञ्चित्संप्रज्ञायतेऽस्मिन्नित्यसंप्रज्ञातः'** सम्प्रज्ञात समाधि में सात्त्विक चित्तवृत्ति के माध्यम से स्थूल भूतों से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त जिन प्राकृतिक पदार्थों एवं आत्मा का बोध होता है उन पदार्थों का ज्ञान 'असम्प्रज्ञात समाधि' में बंद हो जाता है और इस अवस्था में ईश्वर प्रदत्त ज्ञान से जीवात्मा को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है ।

यद्यपि सम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा को अपने स्वरूप का परिज्ञान हो जाता है परन्तु इस असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर प्रत्यक्ष के साथ-२ सम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा जीवात्मा को अपने स्वरूप का और भी उत्कृष्ट ज्ञान होता है । इस समाधि में चित्त की सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध हो जाता है ।

असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हैं – (१) भवप्रत्यय (२) उपाय प्रत्यय। भवप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि के विषय में लोक में कुछ भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं, उनका निराकरण **'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्'** ॥ यो० द० १/१८ ॥ में कर दिया है । वहाँ पर विशेष रूप से देख लेवें । इस समाधि में समस्त क्लेश पूर्णरूपेण दग्धबीजभाव अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । तदुपरान्त साधक जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर 'चरमदेह', 'कुशल' कहलाता है ।

योग का फल

योगदर्शनकार ने योग का वास्तविक स्वरूप बतलाते हुए कहा **''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः''** चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है । योग के अन्य फल निम्नलिखित है :–

(१) जब व्यक्ति सम्प्रज्ञात योग का अभ्यास करते करते परिपक्व स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह अनुभव करता है कि मैं समस्त क्लेशों से छूट गया हूँ और ये सांसारिक लोग दुःखों से पीड़ित हैं । बौद्धिक स्तर पर उसकी ऐसी स्थिति होती है जैसे कि पर्वत के शिखर पर खड़ा हुआ व्यक्ति भूमितल के लोगों से स्वयं को ऊपर देखता है वैसे ही योगी अपने को ज्ञान के स्तर पर संसार से ऊँचा उठा हुआ देखता है । स्वयं को क्लेशों से मुक्त देखकर उसके मन में एक तीव्र इच्छा होती है कि मैं समस्त संसार के प्राणियों को समस्त क्लेशों से छुटकारा दिला दूँ।

(२) जब व्यक्ति असम्प्रज्ञात योग का अभ्यास करते करते ऊँची स्थिति को प्राप्त कर लेता है उस स्थिति में योग का क्या फल होता है यह योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि जी ने बताया **''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्''** अर्थात् जब योगी परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसको अपने वास्तविक स्वरूप का विशेष ज्ञान और ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है । उस अवस्था में अविद्या, अधर्म, कुसंस्कार व समस्त दुःखों की परिसमाप्ति और विद्या, धर्म, सुसंस्कार और नित्यानन्द की प्राप्ति होती है । इस स्थिति को प्राप्त होकर जीवात्मा जब ईश्वर की दृष्टि में मोक्ष का अधिकारी बन जाता है तब वह ३६००० बार सृष्टि व प्रलय होने की कुल अवधि अर्थात् ३१ नील, १० खरब और ४० अरब वर्ष पर्यन्त जन्म-मरण आदि से विमुक्त होकर स्वतन्त्रता, निर्भयता

और नित्यानन्द का उपभोग करता है यह योग का प्रमुख फल है ।

इन ऊँची उपलब्धियों के अतिरिक्त योग के अन्य भी फल हैं जिनमें से कुछ संक्षिप्तरूप में यहाँ बतलाये जा रहे हैं ।

(१) मेधा बुद्धि की प्राप्ति – अर्थात् योगी को सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, नित्यानित्य सुखदुःख आदि के यथार्थ स्वरूप को जनाने वाली बुद्धि की प्राप्ति होती है ।

(२) तीव्र स्मृति की प्राप्तिः – पढ़े-सुने, अनुभव किये, विचारे हुए विषयों को शीघ्रता से पुनः उपस्थित करने में योगी समर्थ हो जाता है ।

(३) एकाग्रता की प्राप्तिः – योगी जिस किसी भी इच्छित विषय में चित्त को एकाग्र करना चाहता है, उस विषय में तत्काल ही अपने चित्त को एकाग्र कर लेता है ।

(४) मन आदि इन्द्रियों पर नियन्त्रणः – शरीर, इन्द्रियों और मन पर योगी पूर्णरूपेण नियंत्रण कर लेता है, और उनको अधर्म से हटाकर धर्म की ओर चलाने में समर्थ हो जाता है । फिर उसको किसी भी प्रकार की चिन्ता, शोक, तनाव आदि अशान्त नहीं करते हैं और वह रोग, वियोग, अपमान, हानि, विश्वासघात, मृत्यु आदि से होनेवाले दुःखों को सरलता से सहन कर लेता है ।

(५) काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि से सम्बन्धित कुसंस्कारों को नष्ट करके योगी जितेन्द्रियता, करुणा, त्याग, विद्या तथा निरभिमानता आदि के **शुभ संस्कारों को अर्जित** कर लेता है ।

(६) सकाम कर्मों को छोड़कर **निष्कामकर्मी** बन जाता है ।

इनका परिज्ञान करके प्रत्येक व्यक्ति को योगी बनने का पूर्ण प्रयास करना चाहिये, और ईश्वर आज्ञा का पालन करते हुए अन्यों को भी योगी बनाने का प्रयास करना चाहिए ।

योगदर्शन के चार विशिष्ट विषय

योगदर्शन में चार विषयों का मुख्यरूप से प्रतिपादन किया गया है । वे विषय क्रमशः हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय हैं । यहाँ इनके अभिप्रायों को निम्नप्रकार से समझा जा सकता है –

(१) हेय – इस के स्वरूप को महर्षि पतञ्जलि जी ने योगदर्शन द्वितीय पाद के सोलहवें सूत्र **''हेयं दुःखमनागतम्''** में स्पष्ट किया है । इस सूत्र के अनुसार भविष्य में आने वाले दुःख को ही हेय = त्याज्य कहा गया है अर्थात् जो दुःख अभी प्राप्त नहीं हुआ है उसे ही दूर किया जा सकता है, उससे ही बचा जा सकता है ।

उसे इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि जो दुःख भूतकाल में भोग लिया है, वह छोड़ने योग्य नहीं है क्योंकि वह अब भोक्ता के समीप नहीं है । और जो दुःख वर्तमान क्षण में भोगा जा रहा है, वह आगामी क्षण में नहीं रहेगा, उसका भी त्याग नहीं हो सकता है । अत एव जो भविष्यकालिक दुःख है, वही छोड़ने योग्य (= त्याज्य) है । इस दर्शन में इसी का पारिभाषिक नाम 'हेय' है ।

(२) हेयहेतु – इस के स्वरूप को द्वितीय पाद के सत्रहवें सूत्र **''द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः''** में स्पष्ट किया गया है । हेयहेतु का अर्थ है दु:ख का कारण । जीवात्मा का बुद्धि एवं समस्त प्राकृतिक पदार्थों के साथ जो अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध है वह 'हेयहेतु' कहलाता है । इसके अतिरिक्त अविद्या, अधर्म, कुसंस्कार आदि भी दु:ख के कारण हैं ।

(३) हान – इसका वर्णन योगदर्शन सूत्र २/२५ **''तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्''** में किया गया है । अविद्या का अभाव हो जाने पर बुद्धि और जीवात्मा के अज्ञानजनित संयोग का अभाव हो जाता है । उससे जीवात्मा के बन्धन का नितान्त विनाश हो जाता है तथा उसे प्राप्त करने योग्य दु:खरहित नित्य सुख और ईश्वर की प्राप्ति होती है । यही 'हान' का स्वरूप है । 'हान' का अर्थ है 'मोक्ष' ।

(४) हानोपाय – इसका स्वरूप योगदर्शन सूत्र २/२६ **''विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः''** में बतलाया गया है अर्थात् स्थिर (दृढ़) विवेकख्याति मोक्ष का उपाय है । इसके साथ ही विद्या, धर्माचरण, शुद्ध ज्ञान, शुद्ध (निष्काम) कर्म तथा शुद्ध उपासना आदि भी मोक्षप्राप्ति के उपाय हैं। 'हानोपाय' का अर्थ है 'मोक्षप्राप्ति का उपाय' ।

योगदर्शन में प्रतिपादित वेदोक्त तीन अनादि तत्त्व

वेद में तीन अनादि तत्त्व स्वीकार किये गये हैं । इसकी पुष्टि स्पष्ट रूप से निम्नलिखित वेदमन्त्र से होती है :-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वात्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

॥ ऋ० म० १ / सू १६४ / मं. १० ॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं । और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ है । इन तीनों के गुण कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं । (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है । और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है । जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्नस्वरूप है । तथा ये तीनों अनादि हैं ।[१]

वेदोक्त इन्हीं तीनों अनादि तत्त्वों को योगदर्शन में भी विभिन्न योग सूत्रों के माध्यमों से स्वीकार किया गया है । इसकी सिद्धि के लिये कुछ योग सूत्र नीचे दिये जा रहे हैं ।

---

१. सत्यार्थप्रकाश (अष्टमसमुल्लास) ।

प्रथम अनादि तत्त्व = ईश्वर

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ यो० द० १/२४ ॥

अविद्या आदि पाँच क्लेश, शुभाशुभ मिश्रित कर्म, कर्मों के फल सुखदुःख और कर्मफल के भोगों से उत्पन्न होनेवाली वासनाओं से जो पृथक् है, वह पुरुषविशेष 'ईश्वर' है।

द्वितीय अनादि तत्त्व = जीवात्मा

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ यो० द० २/२० ॥

'जीवात्मा' चेतनमात्र शुद्ध तत्त्व होता हुआ भी बुद्धि वृत्तियों के अनुसार देखने वाला होता है।

तृतीय अनादि तत्त्व = प्रकृति

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ यो० द० २/१२ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला, जीवात्मा के भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाला दृश्य = 'प्रकृति' है ।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ यो० द० २/२१ ॥

उसी अनादि तत्त्व जीवात्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये दृश्य = प्रकृति तथा विकृति का स्वरूप है ।

उपर्युक्त वेद मन्त्र और योग सूत्र के माध्यम से तीन अनादि तत्त्व सिद्ध होते हैं । इन्हीं तीन अनादि तत्त्वों को अच्छी प्रकार से जानकर निष्काम कर्म और उपासना के माध्यम से ही व्यक्ति ईश्वर साक्षात्कार कर मोक्ष का भागी हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप और उसकी उपासना का फल

महर्षि पतञ्जलि जी ने अपने इस ग्रन्थ 'योगदर्शन' में ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का वर्णन विशेषरूप से किया है । तथा उसी ईश्वर के समर्पित होकर उसके 'ओ३म्' नाम का अर्थसहित जपानुष्ठान करने का फल जीवात्मा तथा ईश्वर का साक्षात्कार और विघ्नों का नाश होना बताया है । अत एव महर्षि पतञ्जलि जी के अनुसार साधक को ईश्वर के यथार्थस्वरूप को जानना तथा उसकी महत्ता को सर्वात्मना स्वीकार करना चाहिये । ईश्वर के यथार्थस्वरूप व महत्ता को जाने बिना और उसकी आज्ञा का पालन किये बिना मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है ।

योगदर्शन में 'ईश्वर' तथा उसकी उपासना व फलप्राप्ति का वर्णन निम्न सूत्रों के माध्यम से किया गया है –

(१) **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥** योगदर्शन १/२४ ॥

अविद्यादि ५ क्लेश, शुभाशुभमिश्रित त्रिविध कर्म, कर्मों के फल सुखदुःख, इनके भोगों के संस्कार (वासनाएँ), इन सब के सम्बन्ध से रहित, जीवों से भिन्न स्वभाव वाला, चेतनविशेष ईश्वर है ।

(२) **तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥** योगदर्शन १/२५ ॥

ईश्वर में अतिशय सर्वज्ञता का बीज है अर्थात् न तो किसी जीव में ईश्वर के ज्ञान के तुल्य ज्ञान है और न ही उससे अधिक ।

(३) **स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥** योगदर्शन १/२६ ॥

वह ईश्वर भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान में उत्पन्न होने वाले सब गुरुओं का गुरु = विद्या देने वाला है, क्योंकि वह काल के द्वारा नष्ट नहीं होता है ।

(४) **तस्य वाचकः प्रणवः ॥** योगदर्शन १/२७ ॥

उस ईश्वर का बोधक = नाम 'ओ३म्' है ।

(५) **तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥** योगदर्शन १/२८ ॥

उस ईश्वर के वाचक ओम् शब्द का जप = पुनः पुनः उच्चारण और ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का चिन्तन करना चाहिये ।

(६) **ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥** योगदर्शन १/२९ ॥

उस ईश्वरप्रणिधान तथा जपानुष्ठान से परमात्मा और जीवात्मा का साक्षात्कार तथा विघ्नों का विनाश होता है ।

योगदर्शन का कर्मसिद्धान्त

योग का एक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य अङ्ग 'कर्म' है । महर्षि पतञ्जलि जी ने योगदर्शन में इसकी पर्याप्त चर्चा की है। सूत्रकार के अभिप्राय को समझने के लिये कतिपय बातें निम्नलिखित हैं -

परिभाषा :- जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टाविशेष करता है, वह 'कर्म' कहाता है। वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है ।

(१) क्रियमाण कर्म :- जो वर्त्तमान में किया जाता है, सो 'क्रियमाण कर्म' कहाता है ।

(२) सञ्चित कर्म :- जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है [वे] 'सञ्चित' संस्कार [कर्म] कहाते हैं ।

(३) प्रारब्ध कर्म - जो पूर्व किये हुए कर्मों के सुखदुःखस्वरूप फल का भोग किया जाता है, उसको 'प्रारब्ध' कहते हैं ।

(आर्योद्देश्यरत्नमाला ४८-४९, ५०-५१)

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ योगदर्शन ४/७ ॥

योगियों के कर्म अशुक्ल - अकृष्ण अर्थात् निष्काम शुभकर्म होते हैं, और अन्यों के सकाम शुभ, अशुभ, मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं ।

जब तक कर्मों के मूल में अविद्या आदि क्लेश विद्यमान रहते हैं, तब तक कर्मों के फल जाति, आयु और भोग के रूप में मिलते रहते हैं ।

अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न होने वाले कर्मों का फल जाति आयु और भोग के रूप में अगले जन्म में मिलता है। कुछ कर्मों का फल इसी जन्म में भोग अथवा आयु और भोग के रूप में भी मिलता है।

जब योगाभ्यास के माध्यम से तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या नष्ट हो जाती है तब समस्त क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् जाति, आयु, भोगरूप कर्मफल मिलने अवरूद्ध हो जाते हैं तथा योगी को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कैवल्य का स्वरूप

महर्षि पतञ्जलि जी ने योगदर्शन के चारों पादों में कैवल्य = मोक्ष का विवेचन किया है। प्रथम पाद के सूत्र संख्या ३ **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**

अर्थ – तब (असम्प्रज्ञात समाधि में) जीवात्मा की अपने तथा परमात्मा के स्वरूप में अवस्थिति होती है अर्थात् वह अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को ठीक-ठीक जानता है तथा इस अवस्था में समस्त दु:खों की निवृत्ति एवं नित्यानन्द की प्राप्ति होती है।

द्वितीय पाद के सूत्र संख्या-२५ **'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्'**

अर्थ – उस अविद्या का अभाव होने से द्रष्टा (जीवात्मा) और दृश्य (प्रकृति) के संयोग का अभाव हो जाता है। वह हान है। वही जीवात्मा का कैवल्य है।

तृतीय पाद में सूत्र संख्या ५५ **'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति'**

अर्थ – रज व तम के मल से रहित होना बुद्धि व पुरुष की अन्यताख्याति में प्रतिष्ठित होना और क्लेशों का दग्धक्लेशबीज होना, बुद्धि की शुद्धि है। जीवात्मा में भोग का अभाव हो जाना, पुरुष की शुद्धि है। बुद्धि और पुरुष इन दोनों की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

चतुर्थ पाद के सूत्र संख्या ३४

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति'

अर्थ – भोग और अपवर्ग प्रयोजन से रहित चित्तादि कार्यरूप गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना अथवा सब क्लेशों से सर्वथा छूटकर जीवात्मा का अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को ठीक ठीक जानकर अपने और ईश्वर के स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है।

स्पष्टीकरण

इस योगभाष्य के द्वारा महर्षि पतञ्जलि जी आदि ऋषियों की मान्यताओं के विरुद्ध कोई नई मान्यता चलाने का मेरा लेशमात्र भी उद्देश्य नहीं है, अपितु महर्षि पतञ्जलि जी द्वारा लिखे गये योगदर्शन तथा उस पर किये महर्षि व्यास जी के भाष्य के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कृत

सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में जो सत्यासत्य को जानने के लिये पाँच प्रकार की परीक्षाएँ लिखी हैं, उनको आधार बनाकर ही मैंने यह '**योगार्थ प्रकाश**' नामक भाष्य किया है ।

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'पातञ्जल योगसूत्र' तदुपरान्त, सूत्र का शब्दार्थ, पुनः सूत्रार्थ पश्चात् 'व्यास भाष्य' फिर उसका आर्यभाषा में अनुवाद तथा अन्त में 'योगार्थप्रकाश' का क्रम रखा गया है ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रदत्त 'विस्तृत विषयानुक्रमणिका' में मात्र 'योगार्थ प्रकाश' के विषयों का ही समावेश किया गया है ।

अल्पज्ञता तथा असावधानी से इस भाष्य में कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे कोई व्यक्ति पक्षपातरहित होकर प्रमाणों से सिद्ध करेगा तो उसे स्वीकार किया जायेगा और अगले संस्करणों में उसका संशोधन कर दिया जायेगा ।

कृतज्ञता एवं धन्यवाद प्रकाशन

सर्वप्रथम मैं इस सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ, क्योंकि इसी के द्वारा प्रदत्त ज्ञान, बल, सर्वसामर्थ्य आदि के कारण ही यह शुभ कल्याणकारी कार्य सम्पन्न हो सका है ।

इस ग्रन्थ की रचना में महर्षि व्यास जी द्वारा किये भाष्य के साथ साथ ईश्वर प्रदत्त वेद ज्ञान, ऋषिकृत अन्य ग्रन्थों तथा योगदर्शन पर लिखी गई अनेक विद्वान् टीकाकारों की टीकाओं से भी सहायता ली गई है ।

श्री आचार्य वेदव्रत जी मीमांसक, आर्ष गुरुकुल, वड्लूर (आन्ध्रप्रदेश)ने भी इस भाष्य के लेखन में बहुत सहयोग दिया है । हमारे दर्शन योग महाविद्यालय, रोजड़ पो. सागपुर, जि. साबरकांठा (गुजरात) के मेरे अनेक विद्वान् ब्रह्मचारी शिष्यों ने इस कार्य के सम्पादन में बहुत सहायता की है, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार से हैं, आचार्य ज्ञानेश्वर जी दर्शनाचार्य, उपाध्याय विवेकभूषण जी दर्शनाचार्य, ब्र. आशुतोष जी दर्शनाचार्य, ब्र. सत्यजित् जी दर्शनाचार्य, ब्र. सुमेरुप्रसाद जी दर्शनाचार्य, ब्र. आशीष जी दर्शनाचार्य, ब्र० आनन्द जी व्याकरणाचार्य ।

ब्र. अरुणदेव जी आर्य तथा श्री सत्यदेव जी आर्य ने इस ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने में अपना सहयोग दिया है । मैं इन सभी सहयोगी महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ ।

श्री सत्यानन्द जी आर्य (मुंजाल), श्री ओम् प्रकाश जी आर्य (मुंजाल) हीरो साईकिल्स, लुधियाना, पंजाब ने इस बृहद् ग्रन्थ के प्रकाशन का समस्त व्ययभार वहन किया है । इन महानुभावों का भी मैं धन्यवाद करता हूँ ।

प्रथम आश्विनकृष्णा ८'२०५८ विक्रमी — **स्वामी सत्यपति परिव्राजक**

(११ सितम्बर २००१)

मंगलवार

ओ३म्

अथ पातञ्जल-योगदर्शनम्

तत्र प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ — (अथ) अब प्रारम्भ किया जाता है (योग-अनुशासनम्) योग के स्वरूप को बताने वाले शास्त्र का ।

सूत्रार्थ — अब योग के स्वरूप को बताने वाले शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है ।

व्यासभाष्यम् — अथेत्ययमधिकारार्थः । योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् । योगः समाधिः । स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः । क्षिप्तं, मूढं, विक्षिप्तमेकाग्रं, निरुद्धमिति चित्तभूमयः । तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते । यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । स च वितर्कानुगतो, विचारानुगत, आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः । सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः ॥ १ ॥

***व्यासभाष्य अनुवाद** — 'अथ' शब्द अधिकारार्थ है । यह शब्द आरम्भ को कहता है । इस शब्द से 'योगानुशासन' नामक शास्त्र प्रारम्भ किया जा रहा है, यह जानना चाहिए । 'योग' समाधि को कहते हैं । और वह (समाधि) चित्त की सब भूमियों में रहने वाला धर्म है । चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच भूमियाँ हैं । इन भूमियों में से विक्षिप्त भूमि वाले चित्त की समाधि विक्षेप के कारण गौण हो जाने से योग की कोटि में नहीं आती । जो समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त में होती है, विद्यमान पदार्थ को यथार्थ रूप में प्रकाशित करती है, क्लेशों को क्षीण करती है, कर्म के बन्धनों को शिथिल करती है, असम्प्रज्ञात समाधि को सम्मुख लाती है, वह सम्प्रज्ञात योग कहा जाता है । और वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत (इन चार अवस्थाओं वाली है), ऐसा आगे स्पष्ट रूप से बतायेंगे । सब वृत्तियों का निरोध होने पर तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ १ ॥*

योगार्थ प्रकाश

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा ।
शन्न ऽ इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ यजु० ३६/९, ऋग्वेद १/९०/९ ॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि, ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारम् । ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥

भावार्थ - प्रीति करने योग्य मित्र स्वरूप परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, सदा सत्य न्याय करने हारे परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, अखिल ऐश्वर्य युक्त इन्द्र, सबसे बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डो के पालक स्वामी, चराचर व्यापक विष्णु, अनन्त पराक्रमयुक्त उरुक्रम देव ईश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो ।

सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़े, अनन्तबल युक्त परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं । हे परमेश्वर ! आप ही अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । जो आप की वेदोक्त यथार्थ आज्ञा है उसी का उपदेश तथा आचरण करूँगा, सत्य ही मानूँगा और करूँगा । सो आप मेरी रक्षा कीजिए । मुझ सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए । निश्चय से मुझ वक्ता की रक्षा कीजिए॥

हे परमात्मन् । हमें आध्यात्मिक आधिभौतिक व आधिदैविक दु:खों से छुड़ाकर शान्ति का दान दीजिये ।

'अथ' शब्द अधिकार के लिए है । यह शब्द प्रारम्भ को कहता है । इस शब्द से 'योगानुशासन' नामक शास्त्र प्रारम्भ किया जाता है यह जानना चाहिए । योगानुशासनम् = योग के स्वरूप (लक्षण, भेद, उपाय, फल) को बतलाने वाले शास्त्र का उपदेश किया जाता है।

यह 'योग' शब्द युज् (समाधौ) धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । 'अनुशासन' शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । "**योगो अनुशिष्यतेऽनेनेति योगानुशासनम्**" अर्थात् योग का उपदेश जिस शास्त्र के द्वारा किया जाता है वह 'योगानुशासन' नामक शास्त्र कहलाता है । अथवा इसका द्वितीय अर्थ 'पुनः उपदेश' है। यह (योग का) उपदेश सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर एवं वेदों के द्वारा ऋषियों को प्राप्त हुआ । उन्होंने उस उपदेश (योग) का अनुष्ठान किया, साक्षात्कार किया तथा अन्यों को उसका उपदेश दिया । इस परम्परा से प्राप्त योग का महर्षि पतञ्जलि ने ग्रन्थ के रूप में प्रणयन किया । यही परम्परा अनुशासन शब्द के द्वारा कही गई है । योग 'समाधि' को कहते हैं । समाधि चित्त की सब भूमियों में अर्थात् अवस्थाओं में रहनेवाला चित्त का धर्म है । चित्त सत्त्व, रजस्, तमस् नामक जड़ पदार्थों से मिलकर बना हुआ एक पदार्थ है । यह जीव का एक ऐसा ही आन्तरिक साधन है जैसे कि हस्तपादादि बाह्य साधन हैं । जिस प्रकार हस्तपादादि साधन जीव के आधीन हैं उसी प्रकार चित्त भी उसी के आधीन है ।

चित्त की पाँच भूमियाँ हैं — **क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।** जीवात्मा जिस अवस्था में चित्त को विविध विषयों में तीव्रता से चलाता है उस अवस्था को '**क्षिप्त**' कहते हैं । उस अवस्था में, जो कार्य हानिकारक होते हैं, उन कार्यों को भी वह कर बैठता है । इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है । सत्त्वगुण तथा तमोगुण गौण रहते हैं । सांख्य एवं योगशास्त्र में गुण शब्द से सत्त्व, रजस्, तमस् नामक द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं । इन तीनों का समुदित नाम प्रकृति, प्रधान आदि है ।

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, मूर्छा, आदि अवस्थाओं में जीवात्मा को जब विशेष ज्ञान नहीं होता अथवा विशेष ज्ञान नहीं कर पाता उसको '**मूढ़**' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में सत्त्व एवं रजोगुण अप्रधान रहते हैं, तमोगुण प्रधान रहता है ।

जिस अवस्था में मनुष्य किसी विशेष विषय पर अपने चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करता है तो चित्त में कुछ एकाग्रता आती है। परन्तु वह स्थिति किसी बाधक कारण से भंग हो जाती है, उसको '**विक्षिप्त**' अवस्था कहते हैं। बाधक कारण बाह्य, आभ्यन्तर नाम से दो प्रकार के होते हैं; उदाहरणार्थ तीव्र शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि बाह्य तथा अभिलाषा से जनित स्मृति, आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, संशय आदि आन्तरिक कारण। इसमें सत्त्वगुण प्रधान और तमोगुण गौण होता है, कभी—कभी रजोगुण प्रकट होता रहता है ।

जिस अवस्था में योगाभ्यासी विवेक, वैराग्य और अभ्यास के द्वारा अपने चित्त को योग के लिए अपेक्षित किसी एक विषय में अधिकारपूर्वक बहुत काल पर्यन्त स्थिर कर लेता है, उसको '**एकाग्र**' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में 'सम्प्रज्ञात समाधि' होती है। इसमें सत्त्वगुण प्रधान और रजस्—तमस् गौण रहते हैं। इस अवस्था में योगाभ्यासी को पदार्थ का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। उसके क्लेश क्षीण होते हैं, उसके अशुभ एवं शुभ सकाम कर्मों की वासनाएँ शिथिल होती हैं और वह असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करने में समर्थ होता है। उस सम्प्रज्ञात समाधि के वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत नाम से चार भेद हैं। इनके विषय में इसी पाद के १७वें सूत्र में बतलाया जायेगा।

जिस अवस्था में योगाभ्यासी सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसको उसमें भी दोष दिखाई देने लग जाते हैं; उन दोषों के कारण 'परवैराग्य' उत्पन्न होता है । उस अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है। इसको '**निरुद्ध**' अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में 'असम्प्रज्ञात समाधि' होती है । यह ईश्वर साक्षात्कार की स्थिति है ।

इनमें से केवल एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में योग माना जाता है, शेष क्षिप्तादि अवस्थाओं में नहीं । यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि ये क्षिप्त आदि पाँच अवस्थाएं चित्त की हैं, जीवात्मा की नहीं । अविद्या के कारण व्यक्ति इन अवस्थाओं को अपनी (अर्थात् जीवात्मा की) मान लेता है । इसका परिणाम यह होता है कि योगाभ्यासी चित्त को अपने (आत्मा के) अधिकार में नहीं रख पाता और मनुष्य जीवन का मुख्य प्रयोजन जो ईश्वर–साक्षात्कार है, उसको सिद्ध नहीं कर पाता।

चित्त की इन पाँच अवस्थाओं में से किसी को दूर करना, अन्य को उत्पन्न करना एक सीमा तक योगाभ्यासी के आधीन है। इसके अनुसार व्यक्ति क्षिप्तादि को हटाकर एकाग्रता को और एकाग्रता को हटाकर निरोध को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु असावधानी, आलस्य, प्रमादादि के कारण ऊँची अवस्था से नीची अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में निराश नहीं होना चाहिए,

क्योंकि निराश होने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । अत: साधक ने जिन उपायों से ऊँची अवस्था को प्राप्त किया था उन्हीं उपायों का उचित प्रयोग करके पुन: ऊँची स्थिति को प्राप्त कर सकता है । कुछ ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनमें व्यक्ति प्रयत्न करने पर भी क्षिप्तादि को हटाकर एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं को प्राप्त नहीं कर पाता, जैसे कि तीव्र रोग, आघात, अतिशीत, अतिउष्णता, अङ्ग भंग होने आदि में । परन्तु विशेष उच्च अवस्था को प्राप्त योगी इस स्थिति में चिन्तित और भयभीत नहीं होता, सरलता से उस दु:ख को सहन कर लेता है ॥ १ ॥

अवतरणिका - तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते -

अर्थ - उस योग का लक्षण करने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है -

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ - (योग:) समाधि (चित्त-वृत्ति-निरोध:) चित्त की वृत्तियों का निरोध ।

सूत्रार्थ - चित्त की वृत्तियों का निरोध = रुक जाना 'योग' अर्थात् 'समाधि' है ।

व्या० भा० - सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते । चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-शीलत्वात्त्रिगुणम् ।

प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति । तदेव तमसानुविद्धम-धर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति । तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति ।

तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति । तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः । चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति । अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निर्बीजः समाधिः । न तत्र किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः । द्विविधः स योगश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ॥ २ ॥

व्या० भा० अ० *- सूत्र में 'सर्व' शब्द का ग्रहण न होने से 'सम्प्रज्ञात समाधि' भी योग कही जाती है । चित्त तीन प्रकार के स्वभाववाला प्रकाशशील, गतिशील और स्थितिशील है । इससे यह त्रिगुणात्मक है ।*

प्रकाशशील चित्त, सत्त्व, रजस् एवं तमस् से संसृष्ट होकर ऐश्वर्य एवं विषय का इच्छुक होता है । वही चित्तसत्त्व तमस् के द्वारा बिंधा हुआ अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को प्राप्त होता है । वही (चित्तसत्त्व) क्षीणमोहावरणवाला सब ओर से प्रकाशमान्, रजोमात्रा से संसृष्ट धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य को प्राप्त होता है ।

वही (चित्तसत्त्व) रजोगुण की मात्रा रूपी मल के सम्पर्क से पृथक् हुआ, अपने शुद्ध (सात्त्विक) रूप में प्रतिष्ठित और बुद्धि तथा पुरुष की पृथक्ता के ज्ञान से युक्त, धर्ममेघ समाधि को प्राप्त होता है । योगी लोग उस (धर्ममेघ समाधिनिष्ठ चित्त) को 'परं प्रसंख्यान' कहते हैं । चेतन पुरुष

परिणाम से रहित, निर्लेप (बुद्धि आदि के सम्मिश्रण से रहित) विषयों का द्रष्टा, शुद्ध (पवित्र), नाशरहित है। सत्त्वगुणात्मिका यह विवेकख्याति इस चितिशक्ति = जीवात्मा से विरुद्ध स्वभाव वाली है। उस विवेकख्याति के प्रति विरक्त चित्त उसको भी रोक देता है। उस अवस्था को प्राप्त चित्त संस्कारमात्रशेष स्थिति वाला होता है। वह निर्बीज समाधि है। उस अवस्था में सम्प्रज्ञात स्थिति में ज्ञात पदार्थों का परिज्ञान नहीं होता। वह चित्तवृत्तिनिरोध योग दो प्रकार का है ॥ २ ॥

योगार्थ प्रकाश – इस सूत्र में **योग के स्वरूप का वर्णन** है। सूत्र में 'सर्व' शब्द का ग्रहण न होने से 'सम्प्रज्ञात समाधि' भी योग कही जाती है।

चित्त तीन प्रकार के स्वभाव वाला अर्थात् प्रकाशशील, गतिशील और स्थैर्यशील है; इससे त्रिगुणात्मक है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण चित्त के उपादान कारण हैं। इसीलिए उसका स्वभाव तीन प्रकार का है। चित्त में होने वाले वास्तविक और अवास्तविक ज्ञान को वृत्ति = व्यापार कहते हैं।

चित्त के निर्माण में सत्त्वगुण की प्रधानता है। परन्तु उसमें रजोगुण, तमोगुण भी मिश्रित रहते हैं। जिस समय चित्त में रजोगुण और तमोगुण का उभार होता है उस समय मनुष्य विविध ऐश्वर्यों का इच्छुक होता है। यह चित्त की '**क्षिप्तावस्था**' है।

जब तमोगुण का उभार अधिक मात्रा में होता है तब व्यक्ति को अधर्म, अज्ञान आदि अधिक प्रिय लगते हैं। यह चित्त की '**मूढ़ावस्था**' है।

जब तमोगुण दब जाता है और रजोगुण का कुछ उभार होता है तब व्यक्ति की धर्म, ज्ञान, वैराग्य में अधिक रुचि होती है। यह चित्त की '**विक्षिप्तावस्था**' है।

जब सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है और रजोगुण, तमोगुण दब जाते हैं तो साधक धर्ममेघ समाधि में पहुँच जाता है। इस अवस्था को योगी लोग 'परं प्रसंख्यान' के नाम से कहते हैं। इस समाधि में पदार्थ का स्वरूप अच्छे प्रकार से परिज्ञात होता है। यह चित्त की '**एकाग्रावस्था**' है।

ये विविध परिवर्तन चित्त में होते हैं, जीवात्मा में नहीं, क्योंकि चित्त परिवर्तनशील है, वह उत्पन्न होता है, और नष्ट भी होता है। जीवात्मा अपरिवर्तनशील है, न उत्पन्न होता है, और न नष्ट होता है।

धर्ममेघ समाधि के समय बुद्धि का और जीवात्मा का पृथक्-पृथक् स्वरूप ज्ञात रहता है। इस ज्ञान का नाम विवेकख्याति है। यह सत्त्वगुणात्मक है। जीवात्मा इससे भिन्न है। जब धर्ममेघ समाधि को प्राप्त योगी विवेकख्याति में भी दोष देखता है तो उससे भी वैराग्य हो जाता है। यह परवैराग्य है। यह असम्प्रज्ञात समाधि का साधन है। परवैराग्य से चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यह चित्त की '**निरुद्धावस्था**' है।

यह चित्त–वृत्ति–निरोध दो प्रकार का है एक सम्प्रज्ञात और दूसरा असम्प्रज्ञात। चित्तवृत्ति निरोध = 'असम्प्रज्ञात समाधि' की सिद्धि हो जाने पर योगी की क्या स्थिति होती है इसको सूत्रकार ने अगले सूत्र में कहा है ॥ २ ॥

अव० – तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धिबोधात्मा पुरुषः किंस्वभाव ? इति –

अर्थ – चित्त के निरुद्धावस्था में रहने पर विषयों का अभाव होने के कारण बुद्धि[1] (चित्त) का प्रति संवेदन करने वाला पुरुष किस प्रकार के स्वभाव वाला होता है यह (निम्न सूत्र से बतलाया जाता है) –

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ – (तदा) तब असम्प्रज्ञात समाधि [निरुद्धावस्था] में (द्रष्टुः) जीवात्मा और परमात्मा के (स्वरूपे) स्वरूप में (अवस्थानम्) अवस्थिति होती है ।

सूत्रार्थ – तब असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप में अवस्थिति होती है अर्थात् जीवात्मा अपने और ईश्वर के स्वरूप को ठीक–ठीक जानता है ।

व्या० भा० – स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये ॥ ३ ॥

व्या० भा० अ० *– उस असम्प्रज्ञात योग की अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है जैसा कि वह कैवल्यावस्था में रहता है ॥ ३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में योग के मुख्य फल का वर्णन है ।

जब साधक असम्प्रज्ञात स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह अपने स्वरूप को ठीक–ठीक जान लेता है। यद्यपि सम्प्रज्ञात समाधि में भी जीवात्मा अपने स्वरूप को जान लेता है परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में सम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा जीवात्मा को अपने स्वरूप का अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है। अर्थात् मैं सत्व, रजस्, तमस्–रूप प्रकृति और उससे बने शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यों से पृथक् हूँ, ऐसा जान लेता है। उस समय वह प्रकृति वा प्राकृतिक पदार्थों की उपासना को छोड़कर ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो जाता है। इसी शरीर में रहता हुआ समस्त क्लेशों से छूट जाता है और मोक्षानन्द का अनुभव उसी प्रकार करता है जिस प्रकार मुक्तात्मा मोक्ष में अनुभव करते हैं। इस सूत्रभाष्य में महर्षि व्यास जी ने लिखा है कि "**स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये**"। मोक्षावस्था में जीवात्मा जिस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप को जानता हुआ परमात्मा के आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार योगी इस शरीर में अपने विशुद्धस्वरूप को जानता हुआ ईश्वर में मग्न होकर उससे आनन्द का अनुभव करता है। इसके अनुसार जीवात्मा की अपने स्वरूप में तथा ईश्वर के स्वरूप में स्थिति होती है। अर्थात् इस स्थिति में जीवात्मा अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को यथावत् जानता है। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि सूत्र का मुख्यार्थ जीवात्मा का परमेश्वर के स्वरूप में स्थित होना है न कि केवल अपने स्वरूप में स्थित होना। क्योंकि केवल अपने

---

१. योगदर्शन में चित्त के लिए मन और बुद्धि शब्द का भी प्रयोग किया गया है ।

स्वरूप में स्थित होने से जीव के समस्त क्लेशों की निवृत्ति एवं नित्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । वेद में भी इस बात का उल्लेख है –

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१/१८ ॥

उस परम पुरुष ईश्वर को ही जानकर जीवात्मा मृत्यु आदि दु:खों से छूट जाता है । मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अथर्व० १०/८/४४ ॥

अकामः = अपने लिए कामनाओं से रहित; धीरः = विद्वान्, सर्वज्ञ, अपने नियमों से विचलित न होने वाला; अमृतः = मृत्यु से रहित; स्वयम्भूः = अपने आप वर्तमान; रसेन तृप्तः = आनन्द से परिपूर्ण; कुतश्चन न ऊनः = कहीं से भी अन्यून, न्यूनता से रहित; तम् आत्मानं धीरं अजरं युवानम् एव = उस व्यापक परमात्मा, विद्वान्, जराहीन, बलवान् को ही जानने वाला; मृत्योः न बिभाय = मृत्यु दु:ख से नहीं डरता है ।

न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ॥ ऋग्वेद १०/११/१ ॥

हे ईश्वर ! तेरे बिना मुक्तात्मा आनन्दित नहीं होते ।

रसो वै सः । रसं हि लब्ध्वा आनन्दी भवति ॥ तैत्तिरीय-उपनिषद् २/७ ॥

वह परमेश्वर रस = आनन्दस्वरूप है । उसको प्राप्त करके जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है ।

जीवात्मा के अपने स्वरूप में स्थित होने से दु:खों की निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति नहीं होती । परमात्मा को जानकर ही योगी आनन्द से युक्त और दु:खों से मुक्त होता है ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** इन दोनों सूत्रों का अर्थ उक्त वेदमन्त्र, उपनिषद् एवं योगदर्शन व्यासभाष्यानुकूल लिखा है । उनका लेख निम्नलिखित है –

''ये योगशास्त्र पातञ्जल के सूत्र हैं । मनुष्य रजोगुण, तमोगुण युक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोधकर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना, निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥ १ ॥ जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सब के द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ॥ २ ॥ इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे।''

- नवम समुल्लास, सत्यार्थ प्रकाश

जीवात्मा कैवल्य में परमेश्वर के आनन्द का अनुभव करता है । उसी प्रकार योगी शरीर के रहते हुए असम्प्रज्ञात समाधि में परमेश्वर के आनन्द का अनुभव करता है । इसमें इतना अन्तर रहता है कि जीवात्मा को मोक्षावस्था में निर्विघ्न रूप से आनन्द प्राप्त होता है जबकि शरीर के बने रहने से योगी को उस आनन्द में विघ्न बाधाएँ सम्भव हैं ।

संसार में प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह समस्त दुःखों, बन्धनों एवं पराधीनता से मुक्त होना चाहता है और नित्यानन्द, मोक्ष एवं स्वतन्त्रता को प्राप्त करना चाहता है । उसके ये दोनों प्रयोजन विशुद्ध योग से ही सिद्ध हो सकते हैं । इनको सिद्ध करने का अन्य कोई उपाय नहीं है ॥ ३ ॥

अव० – व्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवन्ती न तथा । कथं तर्हि ? दर्शितविषयत्वात् –

अर्थ – चित्त की व्युत्थानावस्था में जीवात्मा अपरिवर्तनशील होता हुआ भी स्वयं को वैसा अनुभव नहीं करता । तो किस रूप का होता है ? बुद्धि के द्वारा दिखाये गये विषयों का प्रतिसंवेदी (अनुभवकर्त्ता) होने के कारण ।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

शब्दार्थ – (वृत्ति-सारूप्यम्) वृत्तियों के समान रूप वाला प्रतीत होता है जीवात्मा (इतरत्र) निरुद्धावस्था और एकाग्रावस्था से भिन्नावस्था में अर्थात् व्युत्थान-अवस्था में ।

सूत्रार्थ – निरुद्धावस्था और एकाग्रावस्था से भिन्नावस्था अर्थात् व्युत्थान-अवस्था में जीवात्मा वृत्तियों के समान रूप वाला प्रतीत होता है ।

व्या० भा० – व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः । तथा च सूत्रम् – 'एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति । चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः । तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः ॥ ४ ॥

व्या० भा० अ० *– व्युत्थान की स्थिति में जिस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ होती हैं पुरुष भी उसी प्रकार प्रतीत होता है । और वैसा सूत्र है – पुरुष और बुद्धि दोनों का दर्शन एक रूप में होता है । यह दर्शन बुद्धिवृत्तियों के रूप में होता है । चित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सदृश है । सन्निधिमात्र से पुरुष का उपकार करता है । वह दृश्यत्व के रूप से स्वामी जीवात्मा का स्व (= धन) बन जाता है । इसलिए पुरुष को चित्त वृत्तियों का जो ज्ञान होता है, उसमें पुरुष और बुद्धि का (प्रवाह से) अनादि सम्बन्ध ही कारण है ॥ ४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में बताया गया है कि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से भिन्न अवस्था में अर्थात् **सांसारिक अवस्था में जीवात्मा अपने को चित्तवृत्तियों के समान देखता है ।**

चित्त और इन्द्रियों के माध्यम से जिन विषयों का ज्ञान जीवात्मा प्राप्त करता है, उस ज्ञान का नाम 'वृत्ति' है । चित्त में जब किसी विषय का चित्र उतरता है तब जीवात्मा उसको देखता है । जैसा वह चित्र है, वैसा स्वयं अपने को देखता है; उसमें भेद नहीं करता कि वह चित्र चित्तवृत्ति है और वह मुझसे भिन्न है । उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति ने उत्तम पदार्थ को खाया, उससे उसको सुख की प्राप्ति हुई; आत्मा उस सुख को अपना ही स्वरूप मान लेता है । एक अन्य उदाहरण –

किसी व्यक्ति को क्रोध आया। उस क्रोध को वह अपना स्वरूप मान लेता है। जब कि क्रोध जीवात्मा का स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार जीवात्मा अज्ञानावस्था में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, भूमि, धन, पुत्र, पौत्र आदि को अपने से भिन्न नहीं जानता। उनको और अपने आपको एक जानता है। जीव मन और इन्द्रियों के द्वारा ऐसे अनेक कार्यों को करता है जो उसके लिए हानिकारक हैं। वह स्वयं मन, इन्द्रियों को प्रेरणा देकर कार्य करता हुआ भी यह मानता है कि ये मन, इन्द्रियाँ स्वयं अशुभ कर्म करते हैं। यह उसकी समाधि अवस्था से भिन्न सांसारिक अवस्था है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस अवस्था में जीवात्मा स्वयं को और वृत्तियों को एकरूप में अर्थात् अभिन्न देखता है। यह सांसारिक लोगों की स्थिति है। जो नये साधक प्रारम्भ में समाधि को प्राप्त करते हैं, उनकी स्थिति भी ऐसी ही होती है। व्यवहारकाल में वे चित्तवृत्तियों को और स्वयं को एकरूप में देखते हैं । उनकी स्थिति जब दृढ़ होती है तब व्यवहार में उनकी यह स्थिति नहीं रहती; अर्थात् उनको अपना और वृत्तियों का स्वरूप पृथक्-पृथक् ज्ञात होता है।

यह हमने ऊपर कहा है कि नवीन योगाभ्यासियों की स्थिति व्यवहारकाल में यह होती है कि वे वृत्तियों को और अपने आप को पृथक्-पृथक् नहीं देख पाते, तथापि उनकी स्थिति सांसारिक लोगों से उन्नत होती है; व्यवहारकाल में भी वे शान्ति का अनुभव करते हैं। सांसारिक मनुष्यों की अपेक्षा उनको क्लेश न्यून सताते हैं। जब योगाभ्यासी दीर्घकाल तक अभ्यास करके समाधि की स्थिति को दृढ़ बना लेता है तब व्यवहारकाल में भी उसकी समाधि भङ्ग नहीं होती। उस स्थिति में वृत्तियों को और स्वयं को पृथक्-पृथक् जानता है। जिस प्रकार आसन लगाकर बैठा हुआ योगाभ्यासी समाधिकाल में शरीर को, वृत्तियों को, मन को और इन्द्रियों को अपने से भिन्न जानता है उसी प्रकार व्यवहारकाल में भी जानता है । ईश्वरप्रणिधान के द्वारा व्यवहार में वह व्यक्ति आनन्द की प्राप्ति करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार आसन पर बैठकर एक साधक, इन्द्रियों और मन आदि को अपने से भिन्न जानता है, ईश्वर के नित्य सुख का उपभोग करता है; उसी प्रकार समाधि की परिपक्वावस्था होने पर व्यवहार में भी यह स्थिति होती है। व्यासभाष्य में इस अवस्था का वर्णन है उसे नीचे दिया जाता है।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा, स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः, स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥ योगदर्शन २/३२ ॥

शय्या पर लेटा, आसन पर बैठा, मार्ग में चलता हुआ भी क्षीण वितर्क जाल वाला संसार के बीज के क्षय को देखने वाला मोक्ष सुख को अनुभव करने वाला योगी नित्यमुक्त होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि योगी व्यवहार काल में समाधि के द्वारा ईश्वर के आनन्द का अनुभव करता है ॥ ४ ॥

अव० - ताः पुनर्निरोद्धव्या बहुत्वे सति चित्तस्य -

अर्थ - वे वृत्तियाँ बहुत होने पर भी निरोध करने योग्य हैं। चित्त की (वृत्तियाँ पाँच प्रकार की आगे सूत्र से ही कही जाती हैं) -

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ – (वृत्तयः) वृत्तियाँ (पञ्चतय्यः) पाँच प्रकार की होती हैं। (क्लिष्टा – अक्लिष्टाः) क्लेशों को उत्पन्न करनेवाली और क्लेशों को नष्ट करने वाली ।

सूत्रार्थ – वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती हैं, दुःखों को उत्पन्न करने वाली और दुःखों को नष्ट करने वाली ।

व्या० भा० – क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचयक्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्यो-ऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः । क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कार-चक्रमनिशमावर्तते। तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति ॥ ५ ॥

व्या० भा० अ० – *जिन वृत्तियों के अविद्या आदि क्लेश कारण हैं तथा जो पापकर्म और शुभ सकाम कर्मों को उत्पन्न करती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं (अर्थात् बंधनकारक होती हैं) । जो वृत्तियाँ विवेकख्याति को उत्पन्न करती हैं और गुणों के जन्म देने के सामर्थ्य को नष्ट करती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं (अर्थात् सुखप्रद हैं) । क्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार काल में यदि अक्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तो भी वे अक्लिष्ट ही रहती हैं, (क्लिष्ट नहीं होती) । क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य मध्य में उभरी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती हैं । अक्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार में क्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तथापि वे क्लिष्ट ही रहती हैं, (अक्लिष्ट नहीं होती) । वृत्तियाँ जिस प्रकार की होती हैं वे उसी प्रकार के संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। (संस्कारों के द्वारा वृत्तियाँ उत्पन्न की जाती हैं) । इस प्रकार से वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र सदैव चलता रहता है। इस प्रकार का वह समाप्ताधिकार (जिसने पुरुष के लिए भोगापवर्ग को सिद्ध किया है ऐसा) चित्त आत्मा के तुल्य पवित्र होकर रहता है अथवा प्रलय को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **वृत्तियों के पाँच प्रकार** बतलाये हैं । ये पाँचों वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो–दो प्रकार की हैं ।

पाप और पुण्य की दृष्टि से वृत्तियों के दो भाग बनाये जा सकते हैं । जो वृत्तियाँ व्यक्ति को ज्ञान, वैराग्य, धर्म और मोक्ष की ओर ले जाने में कारण बनती हैं वे **अक्लिष्ट वृत्तियाँ** हैं । जो वृत्तियाँ साधक को अज्ञान, अवैराग्य, अधर्म और बन्धन की ओर ले जाने में कारण बनती हैं वे **क्लिष्ट वृत्तियाँ** हैं । उदाहरण – सत्पुरुषों के सङ्ग से, उनके उपदेश से, मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन से, निष्काम कर्मों से अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । वे व्यक्ति को मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने में कारण बनती हैं। उसी प्रकार असत्पुरुषों के सङ्ग से, उनके मिथ्या मार्गदर्शन से, अविद्यायुक्त ग्रन्थों के अध्ययन–अध्यापन से क्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे बन्धन की ओर ले जाने का कारण बनती हैं ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्लिष्ट–अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करना और उनका स्वेच्छा से प्रयोग करना जीवात्मा के अपने आधीन है, मन इन्द्रियों के नहीं ।

गुणों की दृष्टि से वृत्तियों के तीन विभाग बनते हैं – **सुख, दु:ख और मोह** । यह बात पहले लिखी गई है कि चित्त की उत्पत्ति सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से होती है । अत: उसकी वृत्तियाँ भी तीन गुणों से युक्त हैं । सत्त्वादि के यथाक्रम सुख–दु:ख–मोह स्वभाव वाले होने से चित्त की वृत्तियाँ भी उसी स्वभाव से युक्त हैं ।

ज्ञान की दृष्टि से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति । इन पाँचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप में दो–दो भेद करने पर दस भेद होते हैं । पाँचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वरूपों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं ।

(१) प्रमाण वृत्ति – प्रमाणवृत्ति के तीन उपभेद होते हैं जो कि निम्नप्रकार से हैं –

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण – एक व्यक्ति स्वादिष्ट भोजन खा कर सुख का अनुभव करता है । यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है । एक व्यक्ति कड़वी कुनीन की गोलियाँ खाकर दु:ख का अनुभव करता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है।

(ख) अनुमान प्रमाण – सामने एक व्यक्ति हमें दिख रहा है, जो हमें कुछ पुरस्कार देने वाला है, ऐसा अनुमान करके सुख का अनुभव होता है । यह 'अक्लिष्ट अनुमानप्रमाण वृत्ति' है । इसी प्रकार से एक कुत्ता हमें काटने के लिये तीव्र गति से दौड़ता हुआ आ रहा है, ऐसा अनुमान करके दु:ख का अनुभव होता है । यह 'क्लिष्ट अनुमानप्रमाण वृत्ति' है ।

(ग) शब्द प्रमाण – वेद में ऐसा पढ़कर हमें सुख हुआ कि – ईश्वर का प्रत्यक्ष करके व्यक्ति को मोक्ष हो जाता है । यह शब्द प्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है । और वेद में किसी को यह पढ़कर दु:ख हुआ कि – जो लोग पाप करते हैं, उन्हें पशु–पक्षी आदि योनियों में अपने पापों का दण्ड दु:ख के रूप में भोगना पड़ता है । यह शब्द प्रमाण वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है।

(२) विपर्यय वृत्ति – एक व्यक्ति रस्सी ढूँढ रहा हो, उसने कुछ हल्के प्रकाश में साँप को रस्सी मान लिया और बहुत प्रसन्न हुआ, कि रस्सी मिल गई । यह 'अक्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है । और एक व्यक्ति ने हल्के प्रकाश में रस्सी को साँप समझ लिया । उससे वह बहुत भयभीत और दु:खी हो गया । यह 'क्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है ।

(३) विकल्प वृत्ति – किसी ने सुना कि – आज मुम्बई से एक बन्ध्या का पुत्र आएगा और हमें अच्छी–अच्छी मिठाई खिलाएगा । ऐसा सुनकर वह व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुआ । यह 'अक्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है । और किसी ने ऐसा सुनकर दु:ख का अनुभव किया कि – आज सायंकाल एक बन्ध्या का पुत्र हमें बहुत पीटेगा । यह 'क्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है ।

(४) निद्रा वृत्ति – जब अच्छी सुखदायक (सात्त्विक) निद्रा आती है, तो वह 'अक्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है । और जब अच्छी निद्रा नहीं आती, तमोगुण तथा अन्य अनेक प्रति–कूलताओं

(गर्मी, मच्छर काटने आदि) के कारण दुःखदायक निद्रा आती है, तो वह 'क्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है।

(५) स्मृति वृत्ति – एक व्यक्ति को पाँच वर्ष पहले की एक घटना याद आ गई जब उसे हज़ारों व्यक्तियों के मध्य में सम्मानित किया गया था। इससे उसे सुख अनुभव हुआ; यह 'अक्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है। और एक व्यक्ति को यह याद आ गया कि – तीन वर्ष पहले मुझे अमुक व्यक्ति ने पीटा और अपमानित किया था, इसे याद करके वह दुःखी हुआ, यह 'क्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है।

इन सभी वृत्तियों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर क्लिष्ट–वृत्तियों का परित्याग कर और अक्लिष्ट–वृत्तियों के उचित प्रयोग से व्यक्ति योग मार्ग पर चलने में समर्थ हो सकता है । क्लिष्ट–अक्लिष्ट वृत्तियों से युक्त चित्त, योगी के द्वारा अगले जन्म को देने में असमर्थ बनाये जाने पर अर्थात् योगी द्वारा भोग और अपवर्ग को चरितार्थ करके चित्त को प्रयोजन हीन बनाये जाने पर उस योगी के जीवनकाल में चित्त आत्मा के तुल्य पवित्र होकर रहता है और देहावसान के पश्चात् प्रकृति में लीन हो जाता है ॥ ५ ॥

अव० – ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पञ्चधा वृत्तयः –

अर्थ – वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं ।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ हैं, जिनका लक्षण अगले सूत्रों में बतलाया जाएगा ।

यो० प्र० – योगदर्शन में पाँच वृत्तियों को स्वीकार किया गया है । इससे यह ज्ञात होता है कि योगदर्शनकार पाँच वृत्तियों को ही मानता है, न्यूनाधिक को नहीं ॥

इन पाँच वृत्तियों के नाम और लक्षणों को अच्छे प्रकार से जानकर साधक इनको रोकने में समर्थ हो जाता है। योगाभ्यास–काल में जब व्यक्ति असावधानी से इनमें से किसी भी वृत्ति को उठा लेता है तो उसको शीघ्र ही यह ज्ञान हो जाता है कि मैंने अब अमुक वृत्ति को उठा लिया है। वृत्ति के स्वरूप का ज्ञान होने से वह उस वृत्ति के कारण की गवेषणा करता है। इस गवेषणा से उसे ज्ञात हो जाता है कि वृत्तियों के उठाने में मैं (आत्मा) एक मुख्य कारण हूँ।

यहाँ यह विषय ज्ञातव्य है कि गम्भीर रोग वा आघात आदि की स्थिति में वह वृत्तियों के उठाने में गौण कारण बनता है ।

कभी–कभी योगाभ्यासी को उपासना काल में ऐसा भ्रम हो जाता है कि अब मेरी समस्त वृत्तियाँ रुक गई हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो उस अवस्था में वृत्तियाँ रुकी नहीं होती हैं। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति वृत्तियों के नाम और लक्षण को ठीक प्रकार से नहीं जानता । ध्यान करते समय व्यक्ति को कभी निद्रा आ जाती है तब वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण उस अवस्था को वह वृत्तियों का निरोध मान लेता है । जब योगाभ्यास में वृत्तियों

के कारण बाधा आती है तो वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसको यह पता चलता है कि अमुक वृत्ति के कारण बाधा आई है । पाँच वृत्तियों के नाम और लक्षणों को जानने वाला इन पाँचों को रोकने के पश्चात् निश्चिन्त हो जाता है और वह यह अनुभव करता है कि अब मेरी सभी वृत्तियों का अवरोध हो गया है और मैं योग की वास्तविक स्थिति में पहुँच गया हूँ ॥ ६ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ – (प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमाः) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (प्रमाणानि) प्रमाण [वृत्ति का स्वरूप] हैं ।

सूत्रार्थ – प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह 'प्रमाण वृत्ति' का स्वरूप है । अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम = शब्द प्रमाण, यह 'प्रमाण वृत्ति' है ।

व्या० भा० – इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः । बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः ।

अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् । यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः । आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः । यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥ ७ ॥

व्या० भा० अ० *– इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का बाह्यवस्तु से सम्पर्क होने के कारण उस विषय वाली (बाह्यवस्तु को विषय बनाने वाली) प्रधानता से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष धर्म का निश्चय करने वाली वृत्ति 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है । उस प्रमाण के समान रूप वाला पौरुषेय बोध (पुरुष का जो ज्ञान, वह) ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है । (इसी का दूसरा नाम प्रमा भी है) 'पुरुष बुद्धि में उतरे चित्र का अनुभव करने वाला होता है ।' इसको आगे (* ***चितेरप्रतिसङ्क्रमायाः.....*** *योग० ४/२२ में) कहेंगे ।*

अनुमेय के तुल्यजातीय वस्तु में अनुवृत्त और भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त जो सम्बन्ध है, उसको विषय बनाने वाली, पदार्थ के सामान्य-धर्म को प्रधान-रूप से बतलाने वाली वृत्ति 'अनुमान प्रमाण' है । उदाहरण – जैसे कि कोई वस्तु एक प्रदेश में हो वही कालान्तर में भिन्न देश में दिखाई दे तो इससे यह ज्ञात होता है कि उस वस्तु में गति है । जैसे चन्द्रमा और तारे एक देश में दृष्टिगत होकर कालान्तर में अन्य देश में देखे जाते है इससे चन्द्रमा और तारों में गति सिद्ध होती है, जिस प्रकार चैत्र नामक व्यक्ति में गति सिद्ध है । इसी प्रकार विन्ध्य पर्वत एक देश से दूसरे देश में दिखाई नहीं देता अतः उसमें गति नहीं है, यह सिद्ध होता है ।

आप्त के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना हुआ जो पदार्थ वा विषय है, [उस अपने ज्ञान को] दूसरे को देने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है । (आप्त के उस) शब्द से

श्रोता की पदार्थ विषयक जो वृत्ति है वह श्रोता के लिए 'आगम प्रमाण' है । जिस आगम का वक्ता श्रद्धा के योग्य नहीं है और जिस वक्ता ने प्रत्यक्ष वा अनुमान से पदार्थ को नहीं जाना है वह आगम प्रमाण कोटि से गिर जाता है । मूल वक्ता (आप्त) के द्वारा जिसने पदार्थ के स्वरूप को प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रमाण से जाना है, ऐसे सत्यवक्ता का वचन प्रमाण कोटि से नही गिरता है ॥ ७ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्रमाणवृत्ति का लक्षण** बतलाया गया है । इससे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाणों का ग्रहण होता है ।

जिस साधन के द्वारा पदार्थ का स्वरूप ठीक–ठीक परिज्ञात होता है वह '**प्रमाण**' कहलाता है । प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यें तीनों प्रमाण पदार्थ के स्वरूप को जनाने में साधन हैं । इनकी सहायता के बिना मनुष्य पदार्थों का परिज्ञान करके अपने प्रयोजनों की सिद्धि नहीं कर सकता। परन्तु समाधि की प्राप्ति के लिए एक सीमा तक इनका अवरोध कर दिया जाता है । चित्त को एकाग्र करते समय किसी एक प्रमाण का प्रयोग किया जाता है और अन्य प्रमाणों का अवरोध किया जाता है । उदाहरण के लिए – एक व्यक्ति किसी वृक्ष के रूप को जानने के लिए अपने चित्त को एकाग्र करता है तो एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग करता है । अन्य प्रमाणों को रोक देता है अर्थात् अनुमान तथा आगम प्रमाण को रोक देता है । प्रत्यक्ष प्रमाण में से भी नेत्रेन्द्रिय द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है, उसी का प्रयोग करता है । नासिका आदि इन्द्रियों के द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष का प्रयोग नहीं करता । इसी प्रकार से ध्यानकाल में आगम प्रमाण का प्रयोग करता है अन्य प्रमाणों का नहीं । आगम प्रमाण में किसी एक वाक्य अथवा मन्त्र का प्रयोग करता है, अन्य वाक्यों को रोक देता है । जैसे–कोई व्यक्ति ध्यानकाल में 'ओम्' का या 'गायत्री' वा अन्य मन्त्र का जप करता है तब अन्य वाक्यों को रोक देता है ।

ध्यानकाल में 'ओम्' आदि का जप निषिद्ध नहीं है । क्योंकि साधक अधिकारपूर्वक 'ओम्' आदि जप–वाक्य को लेकर चित्त की एकाग्रता का सम्पादन करता है । उसकी एकाग्रता के लिए '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' योगसूत्र के द्वारा जप का विधान किया हुआ है । इस पर महर्षि व्यास ने ''**तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते**'' लिखा है । प्रणव जप करने वाले तथा प्रणव के अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है ।

इस सूत्र में उक्त तीन प्रमाणों में ही अन्य प्रमाण अन्तर्निहित होते हैं ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ – (विपर्ययः) विपर्यय (मिथ्या–ज्ञानम्) मिथ्याज्ञान है (अ–तद्–रूप–प्रतिष्ठम्) पदार्थ के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात् जो उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है।

सूत्रार्थ – 'विपर्ययवृत्ति' मिथ्याज्ञान है, जो पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है ।

व्या० भा० – स कस्मान्न प्रमाणम् ? यतः प्रमाणेन बाध्यते । भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य । तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम् । तद्यथा–द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति ।

सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति । एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्र इति, एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥ ८ ॥

व्या० भा० अ० *– विपर्यय वृत्ति 'प्रमाण' क्यों नहीं मानी जाती ? क्योंकि वह प्रमाण से खण्डित हो जाती है । प्रमाण यथार्थ विषय वाला होता है । (अर्थात् वस्तु का स्वरूप जैसा होता है उसको वैसा ही जनाता है) । प्रमाण के द्वारा अप्रमाण खण्डित देखा जाता है । जैसे नेत्र में दोष आने से दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वह एक चन्द्रमा का दो चन्द्रमाओं के रूप में दिखाई देना वास्तविक एक चन्द्रमा के देखने से खण्डित हो जाता है ।*

वह यह पाँच प्रकार की अविद्या है – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । इन्हीं को तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्ध तामिस्त्र नाम से कहा जाता है । इनको चित्तमलों के प्रसङ्ग में (२।३–९) कहा जायेगा ॥ ८ ॥

योे० प्र० – इस सूत्र में '**विपर्यय वृत्ति का स्वरूप**' बतलाया गया है । योगसिद्धि के लिए विपर्यय वृत्ति का जानना और उसका अवरोध करना अनिवार्य है ।

योगी बनने के लिए शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना का होना आवश्यक है । ज्ञान के प्रमुख विषय तीन हैं – एक ईश्वर, दूसरा जीव और तीसरा प्रकृति । जो व्यक्ति इन तीनों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से नहीं जानता वह योगी कभी नहीं बन सकता । ईश्वर एवं जीव के परस्पर माता–पुत्र, पिता–पुत्र, आचार्य–शिष्य, उपास्य–उपासक, राजा–प्रजा और व्याप्य–व्यापक आदि अनेक सम्बन्ध हैं । व्यक्ति इन सम्बन्धों को यथावत् जाने और ईश्वर के साथ उचित व्यवहार करे इससे उसको ज्ञान, बल, आनन्द आदि की विशेष सहायता मिलती है । उस सहायता से ईश्वर साक्षात्कार होता है ।

योग का मुख्य प्रयोजन ईश्वर–साक्षात्कार है । उसी से मानव समस्त दुःखों से मुक्त होता है और नित्यानन्द की प्राप्ति करता है । विपर्यय के कारण वह ईश्वर, जीव एवं प्रकृति के स्वरूप को यथावत् नहीं जानता अथवा मिथ्या जानता है, शरीर, इन्द्रिय, मन, भूमि, धन, पुत्र, पौत्रों को अपना स्वरूप मान लेता है । ऐसी स्थिति में वह शरीर, इन्द्रिय और मन को वश में नहीं कर सकता । यदि उसको ईश्वर, जीव एवं प्रकृति–विकृति अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के विषय में वास्तविक ज्ञान होता है कि प्रकृति एवं प्रकृति से बने शरीर आदि सब पदार्थ जड़ हैं, और मैं चेतन हूँ, इनका सञ्चालक हूँ, तो वह इनको अपने वश में करके योग मार्ग पर चलता है, इनके आधीन नहीं होता ।

विपर्यय का दूसरा नाम '**अविद्या**' है । अविद्या के चार क्षेत्र समझने चाहिए – **(१)** अनित्य पदार्थों को नित्य, नित्य पदार्थों को अनित्य, **(२)** अशुद्ध को शुद्ध, शुद्ध को अशुद्ध, **(३)** दु:ख को सुख, सुख को दु:ख और **(४)** अनात्मा को आत्मा, आत्मा को अनात्मा समझना, अविद्या है।

प्रत्येक साधक को अविद्या के स्वरूप को जानकर उसका निवारण करना चाहिए । अविद्या के उत्पादक कारणों को और उनको दूर करने के उपायों को जानना आवश्यक है । क्योंकि कारण को हटाये बिना कार्य को नहीं हटाया जा सकता । अविद्यायुक्त ग्रन्थों के पठन–पाठन से, असत्पुरुषों के सङ्ग से, कुसंस्कारों से, मादक पदार्थों के खानपान से, अन्यायाचरण से, विशुद्ध ईश्वर को न जानने से, उसकी आज्ञा का पालन न करने से, तमोगुण आदि कारणों से अविद्या उत्पन्न होती है । इन कारणों के विपरीत कारणों से अविद्या का नाश होता है । विद्यायुक्त ग्रन्थों के पठन–पाठन से, सत्पुरुषों के सङ्ग से, सुसंस्कारों से, सात्त्विक पदार्थों के खानपान से, न्यायाचरण से, योग के अङ्गों के पालन से, विशुद्ध ईश्वर के जानने, मानने और उसकी आज्ञा का पालन करने से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है, और उससे विपर्यय वृत्ति का नाश होता है ॥ ८ ॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ – (शब्द–ज्ञान–अनुपाती) शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान उसका अनुपाती = अनुगमन अर्थात् उसके पीछे चलने का जिसका स्वभाव है (वस्तु–शून्य:) जो वस्तु से रहित है (विकल्प:) वह 'विकल्पवृत्ति' है ।

सूत्रार्थ – शब्द से उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगमन करना जिसका स्वभाव है और जो वस्तु से रहित है, वह 'विकल्पवृत्ति' है ।

व्या० भा० – स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च । वस्तुशून्यत्वेपि शब्दज्ञानमाहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते । तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते, भवति च व्यपदेशे वृत्तिः । यथा चैत्रस्य गौरिति । तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति ।

गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते । तथानुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभाव–मात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः । तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥ ९ ॥

व्या० भा० अ० *– यह वृत्ति न प्रमाण के अन्तर्गत आती है और न विपर्यय के अन्तर्गत । वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान की महिमा के कारण इस का व्यवहार देखा जाता है । जैसे कि ''चैतन्य पुरुष का स्वरूप है ।'' जबकि चैतन्य ही पुरुष है तो कौन वस्तु किस वस्तु के द्वारा विशेषित की जा रही है ? (और इस प्रकार) विशेषण विशेष्य का कथन करने पर एक प्रकार की वृत्ति बनती है (अर्थात् ज्ञान होता है) । यह ऐसी ही बनती है जैसे की चैत्र नामक व्यक्ति की गौ कहने पर वृत्ति बनती है । (अर्थात् ज्ञान होता है कि गौ विशेष्य है और चैत्र उसका विशेषण है) । (जैसे चैतन्य पुरुष का स्वरूप है इस उदाहरण में पुरुष में चैतन्य धर्म को युक्त*

करके कहा जाता है) उसी प्रकार वस्तुधर्म से हीन करके भी कहा जाता है । उदा०–पुरुष निष्क्रिय है । (जैसे पृथिवी परिवर्तन धर्मवाली है जीवात्मा वैसा परिवर्तन धर्म वाला नहीं है) । इसी प्रकार अन्य उदाहरण बाण रुकता है, रुकेगा, रुक गया आदि । ये सब विकल्प वृत्तियाँ हैं ।

[ये सब वृत्तियाँ विकल्प क्यों हैं, इस पर विचार करते हैं । देखिए यहाँ गति–निवृत्ति होने पर धात्वर्थ मात्र जाना जाता है । यहाँ बाण में कोई क्रिया नहीं है पुनरपि 'ठहरना = स्थित है', इस शब्द से क्रिया जैसा व्यवहार होता है । वैसे ही अनुत्पत्ति धर्म वाला पुरुष है । इस कथन से उत्पत्ति धर्म का अभाव मात्र जाना जाता है । पुरुष में रहने वाला कोई धर्म नहीं जाना जाता । अर्थात् यहाँ पर पुरुष में उत्पत्ति धर्म का निषेध जाना जाता है । पुरुष में रहने वाला कोई धर्म नहीं जाना जाता । यहाँ पुरुष में उत्पत्ति धर्म का अभाव कल्पित किया जाता है और उस कल्पित धर्म (विकल्प) से व्यवहार होता है] ॥ ९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **विकल्प वृत्ति का स्वरूप** बतलाया गया है ।

संसार में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग दो स्वतन्त्र वस्तुओं में देखा जाता है । जैसे देवदत्त की गौ । यहाँ पर देवदत्त और गौ दो पृथक्–पृथक् वस्तु हैं । परन्तु ''पुरुष की चेतनता'' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । इस प्रकार के व्यवहार के होने पर भी पुरुष और उसकी चेतनता दो स्वतन्त्र वस्तु नहीं हैं । यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि पदार्थ के स्वाभाविक गुण और वह पदार्थ दो पृथक्–पृथक् पदार्थ नहीं होते । यह समझाने के लिए ऐसा कहा जाता है कि ये पदार्थ के गुण हैं और यह गुणी है । यही बात पुरुष की चेतनता में भी समझनी चाहिए कि पुरुष और चेतनता दो पृथक् वस्तु नहीं हैं । यहाँ अभेद में भेद का व्यवहार है । कभी–कभी भेद में अभेद का व्यवहार होता है । जैसे पानी से हाथ जल गया । यहाँ पानी से सम्बद्ध अग्नि से हाथ जला है पानी से नहीं । यह भेद में अभेद व्यवहार है । इस विकल्प वृत्ति का परिज्ञान और इसके निरोध के उपाय भी जान लेने चाहिए ।

कभी–कभी योगाभ्यासी यह मान लेता है कि ईश्वर तो निराकार है उसका ध्यान नहीं किया जा सकता, इसलिए उसके आनन्द, ज्ञानादि गुणों का ही ध्यान करना ठीक है । ऐसी वृत्ति ईश्वर और उसके आनन्द, ज्ञानादि गुणों को स्वतन्त्र एवं पृथक्–पृथक् मानने से होती है । यह आनन्द, ज्ञानादि गुण ईश्वर का स्वरूप ही है उससे भिन्न पदार्थ नहीं । इनको पृथक्–पृथक् मानने से विकल्प वृत्ति होती है । इस वृत्ति के स्वरूप को यथावत् न जानने से योगाभ्यासी ईश्वर साक्षात्कार तक नहीं पहुँच पाता, यह योगाभ्यासी की हानि होती है ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

शब्दार्थ – (अभाव–प्रत्यय–आलम्बना) जाग्रत और स्वप्न के ज्ञान के अभाव की प्रतीति का आश्रय लेने वाली (वृत्तिः) वृत्ति (निद्रा) निद्रा है ।

सूत्रार्थ – जाग्रत और स्वप्न ज्ञान के अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा वृत्ति है । अथवा जाग्रत और स्वप्न ज्ञान के अभाव का जो कारण तमोगुण है, उसका आश्रय लेने वाली वृत्ति 'निद्रावृत्ति' कहलाती है ।

व्या० भा० – सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः । कथम्, सुखमहमस्वाप्सम् प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति । दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम् । गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् गुरुणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तम् अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति । स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे । तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः । तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा । सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति ॥ १० ॥

व्या० भा० अ० *– (निद्रा से) जागने पर निद्रा सम्बन्धी स्मृति के आने से निद्रा भी एक प्रकार का विशेष ज्ञान (वृत्ति) है । कैसे ? मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न, मेरी बुद्धि को निर्मल कर रहा है । मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य चञ्चल होकर घूम रहा है । मैं गाढ़निद्रा में मूढ़ावस्था में सोया । मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं । मेरा चित्त थका हुआ, अलसाया और खोया खोया सा है । जागे हुए मनुष्य का ऐसा स्मरण इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान के बिना नहीं होना चाहिए । उस अनुभव के आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ भी उसके विषय में नहीं होनी चाहिए । इस कारण निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा वृत्ति है । वह (निद्रा) समाधि अवस्था में अन्य वृत्तियों के समान निरोध करने योग्य है ॥ १० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **निद्रा वृत्ति का स्वरूप** बतलाया गया है ।

जिसमें व्यक्ति बिना किसी बाधा के ज्ञानपूर्वक विविध कार्यों का सम्पादन करता है वह जाग्रतावस्था है । जिसमें कुछ-कुछ जागता है और कुछ-कुछ सोता है, जाग्रतावस्था में किए व्यवहारों से बने संस्कारों के आधार पर तथा वात-पित्त-कफ के प्रबल होने के कारण विविध दृश्यों को देखता है वह स्वप्नावस्था है । जिसमें जाग्रत और स्वप्नावस्था का व्यापार बन्द हो जाता है वह 'निद्रावस्था' है । उसका मुख्य कारण तमोगुण है । निद्रा के समय जब रजोगुण दबा रहता है और सत्त्वगुण का कुछ उभार होता है तब जागने पर व्यक्ति कहता है कि मैं सुखपूर्वक सोया । जब गाढ़-निद्रा में रजोगुण का उभार होता है और सत्त्वगुण दबा रहता है तब जागने पर कहता है कि मैं दुःखपूर्वक सोया । जब सत्त्व एवं रजोगुण दोनों ही दबे रहते हैं और तमोगुण ही प्रधान रहता है तब जागने पर व्यक्ति कहता हैं कि मैं मूढ़तापूर्वक सोया । इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्तावस्था में भी जीवात्मा अनेक प्रकार के अनुभव करता है । यदि निद्रावस्था में अनुभूतियाँ न होती तो जागने पर ये विविध प्रकार की स्मृतियाँ भी न होती ।

जिस शरीर के द्वारा धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि होती है उसको स्वस्थ रखना आवश्यक है । आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य ये शरीर को स्वस्थ बनाने के साधन हैं । अतः निद्रा शरीर को स्वस्थ

रखने का एक आवश्यक साधन है। जिस प्रकार भोजन के बिना शरीर स्वस्थ, बलवान नहीं रह सकता इसी प्रकार निद्रा के बिना भी स्वस्थ, बलवान् नहीं रह सकता । इसलिए व्यवहार काल में उचित निद्रा लेना योग का साधक है, बाधक नहीं । किन्तु साधना के समय निद्रा को रोकना ही चाहिए । कुछ लोगों का यह विचार है कि जब तक साधक चौबीस घण्टे की नींद को न जीत ले तब तक समाधि सिद्ध नहीं होती । यह मान्यता योग में बाधक है, साधक नहीं ।

साधना करते समय निद्रा बाधक होती है । उसका अवरोध करना अनिवार्य है । क्योंकि निद्रा की विद्यमानता में वृत्ति निरोध नहीं हो सकता । जब तक निद्रा के कारणों का परिज्ञान न हो और उनको दूर करने का प्रयत्न न किया जाय तब तक वह दूर नहीं हो सकती । अतः साधना के समय आने वाली निद्रा के कुछ कारणों का यहाँ पर उल्लेख किया जाता है –

(१) रात्रि में निद्रा की पूर्त्ति न होना ।

(२) पेट की शुद्धि न होना ।

(३) शारीरिक परिश्रम अथवा व्यायाम अपने सामर्थ्य से अधिक करना वा व्यायाम को छोड़ देना ।

(४) भोजन का प्रतिकूल होना, गरिष्ठ होना वा मात्रा में अधिक होना ।

(५) मादक द्रव्यों का सेवन करना ।

(६) शरीर में ज्वर आदि रोगों का होना ।

(७) शरीर में निर्बलता का होना ।

(८) आसन को ठीक प्रकार से न लगाना ।

(९) उपासना से पूर्व शौच–स्नान न करना ।

(१०) शीतकाल में वस्त्रों को आवश्यकता से अधिक धारण करना ।

(११) अध्ययन आदि में मानसिक परिश्रम अधिक करना ।

(१२) सन्ध्या वा जप वाक्यों के अर्थों को न जानना अथवा उन पर चिन्तन न करना ।

(१३) प्राणायाम को उचित मात्रा में न करना ।

(१४) ईश्वर के विषय में पर्याप्त ज्ञान, श्रद्धा, रुचि का न होना ।

(१५) योगाभ्यास के लाभ को और उसके न करने से होने वाली हानियों को न समझना ।

(१६) आलसी व्यक्तियों का सङ्ग करना, इत्यादि ॥ १० ॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ – (अनुभूत–विषय–असम्प्रमोषः) अनुभव किये विषयों का पुनः स्मरण होना (स्मृतिः) स्मृति वृत्ति है ।

सूत्रार्थ – आत्मा द्वारा अनुभव किये विषयों को पुनः स्मरण कर लेना 'स्मृतिवृत्ति' कहलाती है ।

व्या० भा० - किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति ? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणो-भयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते । स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणो-भयात्मिकां स्मृतिं जनयति ।

तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः । ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः । सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च । स्वप्ने भावितस्मर्तव्या । जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति । सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्यय-विकल्पनिद्रास्मृतिनामनुभवात्प्रभवन्ति । सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः, मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः । आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति ॥ ११ ॥

व्या० भा० अ० *- चित्त क्या ज्ञान का स्मरण करता है अथवा वस्तु का ? वस्तु के स्वरूप से रंगा हुआ ज्ञान, वस्तु और ज्ञान दोनों के स्वरूप को प्रकट करने वाला, उसी प्रकार के संस्कार को उत्पन्न करता है । वह संस्कार, अपने उद्‌बोधक से उद्‌बुद्ध होकर उसी स्वरूपवाली = वस्तु एवं ज्ञान - इन दोनों के स्वरूपवाली स्मृति को उत्पन्न करता है ।*

इस प्रसंग में, अनुभव - ज्ञान प्रधान होता है । (और) स्मृति वस्तु प्रधान होती है । वह (स्मृति) दो प्रकार की होती है । कल्पित विषय को लेकर होनेवाली और यथार्थ विषय को लेकर होनेवाली । स्वप्न में होनेवाली स्मृतियाँ कल्पित विषय को लेकर और जाग्रत् में होनेवाली स्मृतियाँ वास्तविक विषय को लेकर होती हैं । ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतियों के अनुभव से उत्पन्न होती है । ये सभी वृत्तियाँ सुख, दुःख और मोह स्वरूप वाली होती हैं । सुख दुःख और मोह की व्याख्या क्लेशों के प्रसंग (योगदर्शन २/३) में करने योग्य है (की जायेगी) । सुख भोग के पश्चात् रहनेवाला (क्लेश) राग है । दुःख भोग के पश्चात् रहनेवाला (क्लेश) द्वेष है । और मोह तो अविद्या (ही) है । ये सब वृत्तियाँ रोकने योग्य होती हैं । इन (सब) वृत्तियों के रुक जाने पर सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि होती है ॥ ११ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **स्मृतिवृत्ति का वर्णन** है ।

प्रत्येक योगाभ्यासी को स्मृतिवृत्ति का स्वरूप, उसके उत्पादक कारण और उससे उत्पन्न होने वाले परिणामों को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये। इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि चित्त जड़ पदार्थ होने से किसी विषय का स्मरण नहीं कर सकता । किन्तु जीवात्मा चित्त के द्वारा विषय का स्मरण करता है । जब व्यक्ति किसी विषय का अनुभव करता है तो उस समय संस्कार उत्पन्न होता है । वह चित्त और आत्मा में विद्यमान रहता है । उस संस्कार के अनुकूल उसको उद्‌बुद्ध करने वाले कारण उपस्थित होते ही वह संस्कार उस अनुभव के अनुरूप स्मृति को उत्पन्न करता है । यह वास्तविक स्मृति है । स्वप्न अवस्था में अवास्तविक अर्थात् अस्त-व्यस्त स्मृतियाँ उत्पन्न होती हैं । जैसे कि मनुष्य के शिर पर सीङ्गों का दिखाई देना । ये सभी स्मृतियाँ पाँच वृत्तियों के अनुभव से उत्पन्न होती हैं ।

जो स्मृतियाँ विवेक, वैराग्य और समाधि की ओर ले जाने वाली हैं, व्यवहारकाल में उनका अवरोध नहीं करना चाहिए । परन्तु कभी–कभी उपासनाकाल में इस प्रकार की स्मृतियाँ आती हैं अर्थात् लाई जाती हैं । आवश्यकतानुसार उन से सहयोग लिया जा सकता है । उदाहरण – किसी योग प्रशिक्षक के द्वारा किसी साधक ने यह बात सुनी कि उपासना के समय ओम् का जप अर्थसहित करना चाहिए । इससे चित्त एकाग्र होता है । उस साधक को यह बात उपासनाकाल में स्मरण हो आई अर्थात् साधक ने स्मरण किया । इस सुनी हुई बात की स्मृति के अनुसार उस साधक ने ओम् का जप अर्थ सहित आरम्भ किया । उसे इस स्मृत वाक्य के अनुसार चित्त की एकाग्रता में सहायता मिली । यह स्मृति योग में बाधक नही अपितु सहायक है । इसी प्रकार अनेक स्मृतियाँ योगमार्ग की ओर ले जाने वाली होती हैं ।

स्मृतियाँ चाहे अच्छी हों वा बुरी उनका जगाना जीवात्मा के आधीन है । जो साधक यह समझता है कि स्मृतियाँ अपने आप उठ जाती हैं अथवा उनको मन उठा लेता है, वह इन वृत्तियों को रोकने में सफल नहीं होता । स्मृतिवृत्ति को रोकने में अधिक समय लगाना और विशेष प्रयत्न करना पड़ता है । ज्ञान–वैराग्य पूर्वक प्रयास से सफलता मिलती है, इसमें कोई संशय नहीं है । अतः साधक को निराशावादी बनकर योगमार्ग को नहीं छोड़ना चाहिए । अपितु आशावादी बनकर योगमार्ग में चलते रहना चाहिए ॥ ११ ॥

अव० – अथाऽऽसां निरोधे क उपाय इति –

अर्थ – अब इनके निरोध का क्या उपाय है (इसको सूत्र के द्वारा कहा जाता है–)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ – (अभ्यास–वैराग्याभ्याम्) अभ्यास और वैराग्य के द्वारा (तत्–निरोधः) उनका निरोध होता है ।

सूत्रार्थ – अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन पाँच वृत्तियों का 'निरोध' होता है ।

व्या० भा० – चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय च । या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्त्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्त्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्त–वृत्तिनिरोधः ॥ १२ ॥

व्या० भा० अ० – *चित्तरूपी नदी दो धाराओं में बहती है । वह कल्याण के लिए और पाप के लिए बहती है । जो धारा कैवल्य की ओर ले जाने वाली है तथा विवेक मार्ग की ओर झुकी हुई है, वह कल्याण के लिए बहती है । जो धारा संसार की ओर ले जाने के सामर्थ्य से युक्त, अविवेक विषय की ओर झुकी हुई है, वह पापवहा है । (अर्थात् पाप को उत्पन्न करने वाली है) । इन दोनों में से वैराग्य के द्वारा अविवेक विषयवाली धारा सुखाई जाती है । विवेकदर्शन*

के अभ्यास के द्वारा विवेकस्रोत उद्घाटित किया जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति निरोध इन दोनों = अभ्यास और वैराग्य के आधीन है ॥ १२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में पाँच वृत्तियों को रोकने के **अभ्यास** और **वैराग्य** ये **दो साधन** बतलाये हैं। उनकी प्राप्ति के साधन क्या हैं और वृत्तियों के निरोध के लिए उनका प्रयोग कैसे किया जाय, यह परिज्ञान योगाभ्यासी को अवश्य कर लेना चाहिए। प्रयोग करते समय क्या-क्या बाधक उपस्थित होते हैं (यो. १।३०, ३१) उनको भी जानना चाहिए।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य को जानकर उनमें से असत्य को छोड़ देना और सत्य को ग्रहण कर लेना **वैराग्य** है। वैराग्य की उत्पत्ति का साधन विवेक है। बिना विवेक के वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वैराग्य के इच्छुक साधक को प्रथम विवेक प्राप्त करना चाहिए।

जिसके द्वारा सत्यासत्य, जड़-चेतन, धर्माधर्म और शुभाशुभ का परिज्ञान होता है उसका नाम **विवेक** है। इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि जिसके द्वारा कार्यजगत्, प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर का स्वरूप ठीक-ठीक जाना जाता है तथा इनसे उचित उपयोग लिया जाता है, वह विवेक है।

विवेक की प्राप्ति के अनेक साधनों में से कुछ साधन नीचे लिखे जाते हैं।

१. वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों का अर्थ सहित पढ़ना-पढ़ाना तथा तदनुकूल आचरण करना।

२. सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, योगाभ्यासी, वैदिक विद्वानों का सङ्ग करना।

३. यह शरीर क्या है ? इन्द्रियाँ क्या हैं ? यह सृष्टि क्या है ? सृष्टि किसी ने बनाई है अथवा स्वयं बन गई है ? किंवा अनादि है ? यह जन्म क्या है ? मरने के पश्चात् आत्मा शेष रहता है ? वा शरीर के साथ नष्ट हो जाता है ? यदि रहता है तो वह कहाँ रहता है ? शरीर, इन्द्रियाँ, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थों का स्वामी जीवात्मा है ? वा अन्य कोई ? इत्यादि विषयों पर सूक्ष्मता से विचार करना।

४. सांसारिक सुखों को क्षणिक एवं दुःखमिश्रित देखना इत्यादि साधनों से विवेक उत्पन्न होता है।

विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है। यह वृत्तिनिरोध का प्रमुख साधन है। वैराग्य के द्वारा दोषों को छोड़ देते हैं तथापि जन्मजन्मान्तर के विषयभोगों के संस्कार वैराग्य की स्थिति को उखाड़ते हैं। उन संस्कारों को निर्बल बनाना तथा नितान्त रोक देना तथा नष्ट कर देना आवश्यक है। यह अभ्यास के द्वारा ही संभव होता है।

वृत्तियों को रोकने और चित्त की एकाग्रता को सिद्ध करने के लिए मन, वाणी, शरीर से जो प्रयत्न किया जाता है उसको **अभ्यास** कहते हैं। यह अभ्यास व्यवहारकाल में और उपासनाकाल में समान रूप से आवश्यक है। व्यक्ति यदि व्यवहार में अभ्यास नहीं करता तो उपासनाकाल में उसको सफलता नहीं मिलती। विवेक एवं वैराग्य को यथावत् जानकर जो अभ्यास किया जाता

है वह समाधि की प्राप्ति में साधक बनता है। परन्तु इसको यथावत् न जानकर किया जाने वाला अभ्यास समाधि का कारण नहीं बनता।

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने में विवेक, वैराग्य और अभ्यास ये तीनों साधन हैं। **'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्'** सूत्र में योगदर्शनकार ने यह बतलाया है कि पुरुष का वास्तविक स्वरूप जानने से गुणमात्र से वैराग्य हो जाता है। इससे यह बात सिद्ध है कि विवेक से ही वैराग्य उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विवेक वैराग्य और अभ्यास इन तीनों के द्वारा वृत्तिनिरोध होता है, इनके बिना नहीं ॥ १२ ॥

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ – (तत्र) उन अभ्यास और वैराग्य दोनों में से (स्थितौ) चित्त की स्थिति के लिए (यत्नः) जो प्रयत्न किया जाता है वह (अभ्यास) अभ्यास है।

सूत्रार्थ – उन अभ्यास और वैराग्य में से जो चित्त की स्थिति के लिए प्रयत्न किया जाता है वह 'अभ्यास' है।

व्या० भा० – चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। तत्सं-पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥ १३ ॥

व्या० भा० अ० *– राजस् और तामस् वृत्तियों से रहित चित्त का तरङ्गों से रहित होकर प्रशान्त वहना स्थिति है। उसको सम्पन्न करने के लिए साधन-प्रयत्न, बल और उत्साह हैं। उस स्थिति को सम्पन्न करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना 'अभ्यास' है ॥ १३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **अभ्यास का लक्षण** बतलाया है।

योग के विषय में पढ़ने–पढ़ाने और सुनने–सुनाने के पश्चात् यदि उसका अभ्यास न किया जाय तो योगविद्या की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए अभ्यास के स्वरूप को जानकर उसको व्यवहार में लाना चाहिए। चित्त की एकाग्रता को सम्पादित करने के लिए स्वस्थ और बलवान् शरीर की अपेक्षा रहती है। शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं –

१. न्याययुक्त साधनों से उपार्जित सात्त्विक, पौष्टिक भोजन।

२. शरीर के सामर्थ्यानुसार बुद्धिपूर्वक किया हुआ व्यायाम।

३. ब्रह्मचर्य का पालन, समुचित निद्रा आदि।

शरीर के सुदृढ़ होने पर योगाभ्यासी सुखपूर्वक लम्बेकाल तक चित्त को एकाग्र करने में सफल होता है। शारीरिक बल होने पर भी यदि बौद्धिक बल न हो तो साधना में कठिनाई होती है। योग के साधक विचारों को जानना, योग की सिद्धि के लिए उनका प्रयोग करना, जो बाधक विचार हैं उनको जानना और दूर करना, यह बौद्धिक बल से होता है, अन्यथा नहीं। चित्त की एकाग्रता

के लिए यम–नियमादि आठ अङ्गों का अनुष्ठान आवश्यक है । योगाङ्गों के पालन से अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त होती है । जैसे–जैसे अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होती है वैसे–वैसे चित्त की एकाग्रता दृढ़ होती है । व्यवहार में यम–नियमों का पालन करना समाधि के लिए अनिवार्य है । जो साधक प्रातः–सायं लम्बेकाल तक एक आसन पर बैठकर कई घण्टे ध्यान का अभ्यास तो करता है परन्तु व्यवहार में मन–वचन–कर्म से यम–नियमों के विरुद्ध आचरण करता है, ऐसे साधक को समाधि की प्राप्ति नहीं होती । यम नियमों के विरुद्ध आचरण के कुछ उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं –

- मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना ।
- खेती, व्यापार, सेवा कार्य आदि में असत्य बोलना ।
- चोरी करना, पदार्थों में मिलावट करना, कम तोलना ।
- रिश्वत लेना, मिथ्या साक्षी देना ।
- अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों की हानि करना ।
- प्रीति को छोड़ झगड़ा करना–करवाना ।
- ईश्वर–धर्म को छोड़ धन सम्पत्ति को सर्वोपरि जानकर उसका उपार्जन करना ।
- ब्रह्मचर्य के विरुद्ध आचरण करना ।
- उत्तम वेदादि शास्त्रों को छोड़ अश्लील पुस्तकों को पढ़ना–पढ़ाना, सत्सङ्ग छोड़कर सिनेमा, दूरदर्शनादि के माध्यम से अश्लील–चित्रों को देखना–दिखाना, अश्लील शब्दों वा गानों का सुनना–सुनाना, अश्लील नृत्यादि को देखना, सन्ध्या–यज्ञादि को छोड़कर शृंगार में रत रहना आदि ।

साधनाकाल में रूप और शब्द से एकाग्रता में बाधा पड़ती है । यदि योगाभ्यासी यह जान जाय कि यह शरीर, इन्द्रियाँ, सूर्यचन्द्रादि सभी पदार्थ नाशवान् हैं और बौद्धिक स्तर पर सम्पूर्ण सृष्टि को प्रलय सदृश अवस्था में पहुँचा देवे तो समाधि शीघ्र प्राप्त होती है । व्यक्ति संसार में रहता हुआ स्वस्वामिसम्बन्ध अर्थात् 'मैं और मेरा' इस मान्यता को अत्यन्त दृढ़ बना लेता है । यह योग में बहुत बाधक है । यदि व्यक्ति संसार के समस्त पदार्थों को ईश्वर का मान लेता है और उनसे अपना स्वामित्व छोड़ देता है तो सरलता से चित्त की एकाग्रता हो जाती है ।

एकाग्रता की सिद्धि के लिए श्रद्धा का होना आवश्यक है । श्रद्धा का अर्थ योगाभ्यास में तीव्र रुचि और पूर्ण विश्वास है । योग में जितनी अधिक रुचि होती है, एकाग्रता उतनी ही दृढ़ हो जाती है ।

कुछ लोगों की मान्यता है कि चित्त को एकाग्र करने के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु उसको स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए, इससे वह स्वयं स्थिर हो जायगा । इस मान्यता में कोई वास्तविकता नहीं है, क्योंकि चित्त एक जड़ पदार्थ है । वह स्वयं कभी भी नहीं चल सकता । उसको चलाने वाला जीवात्मा ही है, जैसे कि गाड़ी एक जड़ पदार्थ है, उसको चलाने वाला एक चेतन व्यक्ति

होता है। कोई कहे कि अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए गाड़ी को नियन्त्रित नहीं करना चाहिए, स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए, वह स्वयं लक्ष्य तक पहुँच जायेगी। इसके अनुसार यदि गाड़ी को चलाने वाला उसको स्वतन्त्र छोड़ देवे और गाड़ी स्वयं चलती रहे तो गाड़ी और उसका चालक दुर्घटनाग्रस्त हो जायेंगे। इसी प्रकार साधक यदि चित्त को नियन्त्रण में न रखे और खुला छोड़ देवे तो अवश्य ही अनर्थ को प्राप्त हो जायेगा। इसलिए उनकी मान्यता ठीक नहीं है ॥ १३ ॥

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ – (सः तु) वह अभ्यास तो (दीर्घकाल–नैरन्तर्य–सत्कार–आसेवितः) लम्बे काल तक, निरन्तर तपस्या–ब्रह्मचर्य–विद्या और श्रद्धापूर्वक सेवन किया हुआ (दृढ–भूमिः) दृढ़ अवस्था वाला होता है।

सूत्रार्थ – वह अभ्यास तो लम्बे काल तक, लगातार, तपस्या–ब्रह्मचर्य–विद्या और श्रद्धा पूर्वक सेवन किया हुआ दृढ़ अवस्था वाला होता है।

व्या० भा० – दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः। तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च संपादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ॥ १४ ॥

व्या० भा० अ० *– दीर्घकालपर्यन्त किया गया, सतत किया गया तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्कारवान् अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला होता है, व्युत्थान संस्कार के द्वारा तत्काल अभिभूत न होने वाला होता है ॥ १४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **अभ्यास करने की रीति** बतलाई है।

जीवात्मा मुक्तिसुख को भोगकर संसार में पुनर्जन्म लेता है। जीवात्मा इस सृष्टि के आदि से अनेक योनियों में आता–जाता रहता है। भिन्न–२ योनियों में विभिन्न भोगों को भोगता रहता है, उन भोगों के भोगने से उसके चित्त में अनेक प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं। इस वर्तमान जन्म में भी अनेक भोग भोगे हैं। वर्तमान जन्म के इन भोगों से भी संस्कार उत्पन्न हुए हैं। भोगों में सुख समझकर बहुत काल तक भोगने से संस्कार अत्यन्त प्रबल हो गए हैं। इन संस्कारों को रोकने, निर्बल बनाने तथा दग्धबीजभाव की अवस्था में पहुँचाने के लिए दीर्घकालपर्यन्त अभ्यास करना आवश्यक है। दीर्घकाल का अभिप्राय ऐसे समझना चाहिए कि जिस व्यक्ति के पूर्वजन्म में किये योगाभ्यास के संस्कार प्रबल हैं उसके लिए दीर्घकाल की सीमा न्यून होगी और जिस साधक के पूर्वजन्म में किये भोगों के संस्कार प्रबल हैं, उसके लिए दीर्घकाल की सीमा अधिक होगी। दीर्घकाल के नाम से साधक को निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि परिश्रम करने से ही मनुष्य का लक्ष्य सिद्ध होता है, बिना परिश्रम के नहीं। उसको यह भी जानना चाहिए कि दुःखों से छूटकर नित्य सुख की प्राप्ति का यह एक ही मार्ग है, इससे भिन्न और कोई मार्ग नहीं है।

अभ्यास को सतत करना चाहिये। कभी करना और कभी छोड़ देना ठीक नहीं। क्योंकि मध्य–

मध्य में छोड़ देने से भोगों के संस्कार पुनः प्रबल हो जाते हैं। उन संस्कारों के तीव्र होने से साधक पुनः भोगमार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। भोगों के भोगते रहने से पूर्व के संस्कार दृढ़ होते हैं। अभ्यास की सफलता के लिए योगाभ्यासी को खान-पान और सम्मान आदि में रुचि नहीं लेनी चाहिए। योगमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति को तीन एषणायें [1] छोड़ देनी चाहियें। अन्यथा अभ्यास में सफलता नहीं मिलेगी। निरन्तर अभ्यास करने से साधक को योगाभ्यास से मिलने वाली शान्ति का अनुभव होता है। उससे योगाभ्यास में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

अभ्यास को सत्कारपूर्वक अर्थात् आदरपूर्वक करना चाहिए, निरादरपूर्वक नहीं। सत्कार का अर्थ तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक किया हुआ अभ्यास है। इस प्रकार सम्पादित अभ्यास दृढ़ अवस्था वाला होता है। सांसारिक भोगों के संस्कार उस अभ्यास को शीघ्र विचलित नहीं कर सकते। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि विद्यापूर्वक अभ्यास क्या है, जिसको योगाभ्यासी प्राप्त करना चाहता है। ईश्वर का स्वरूप क्या है ? उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं ? उन साधनों का प्रयोग किस प्रकार से करना चाहिये ? इस मार्ग में क्या-क्या बाधाएँ आ सकती हैं ? इसमें कोई ऐसा आचरण तो नहीं है जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध हो। इन सब बातों को जानकर किया हुआ अभ्यास विद्यापूर्वक अभ्यास है। ऐसा अभ्यास सफल होता है। बिना ज्ञान के जो अभ्यास किया जाता है, उससे व्यक्ति अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँचता।

अभ्यास करते समय सुख-दुःख, मान-अपमान, शीत-उष्णता, हानि-लाभ आदि द्वन्द्व योग मार्ग में आते हैं। उन सब को श्रद्धापूर्वक सहन करते हुए धर्माचरण का अनुष्ठान और अधर्माचरण का परित्याग करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति तपस्या नहीं करता अथवा दुःखी होकर करता है तो उत्तमाभ्यास की सिद्धि नहीं होती। योगाभ्यासी को इन्द्रियों के विषयभोग छोड़ देने चाहियें और ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन, कर्म से करना चाहिये। इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होने पर अभ्यास दृढ़ नहीं हो सकता। क्योंकि भोगों के भोगने से नवीन वासनाएं उत्पन्न होती हैं जो अभ्यास में बाधा डालती हैं।

साधक को अपना मुख्य कर्तव्य समझकर अभ्यास करना चाहिये, लोकैषणा-पूर्त्ति के लिए नहीं। लोकैषणा के लिए किया गया अभ्यास भोगों की ओर ले जाता है, योग की ओर नहीं। शुद्ध निष्काम कर्म योग में बहुत सहायक है। **'निष्काम कर्म'** का अभिप्राय यह है कि शुभ कर्मों को ईश्वर-प्राप्ति के लिए करना, सांसारिक फल प्राप्ति हेतु नहीं। इस प्रकार उचित रूप से अभ्यास करने पर विषयभोग की वासना समाप्त हो जाती है और समाधि की सिद्धि में कठिनाई नहीं होती ॥ १४ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ - (दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य) [वर्त्तमान जीवन में] अनुभव किये हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित योगी की (वशीकार-संज्ञा) मन इन्द्रियों पर पूर्ण वशीकरण की अनुभूति (वैराग्यम्) [अपर] वैराग्य है।

---

१. तीन एषणाओं की व्याख्या अन्त में परिशिष्ट में देखें।

सूत्रार्थ – वर्त्तमान जीवन में अनुभव किये हुए और सुने हुए विषयों की तृष्णा से रहित योगी की मन, इन्द्रियों पर पूर्ण वशीकरण की अनुभूति 'अपरवैराग्य' है ।

व्या० भा० – स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषयवितृष्णस्य, स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

व्या० भा० अ० – स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यादि 'दृष्टविषय' हैं । स्वर्ग, विदेह बनने की इच्छा और प्रकृतिलयत्व आदि 'आनुश्रविकविषय' हैं । इन सबमें तृष्णा रहित तथा दिव्यादिव्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी उनमें विषय दोषदर्शी चित्त की प्रसंख्यान के बल से जो अनाभोगात्मक हेयोपादेय से शून्य वशीकार अनुभूति अर्थात् मन-इन्द्रियों को वश में करने का अनुभव 'वैराग्य' कहलाता है ॥ १५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **वैराग्य का स्वरूप** बतलाया गया है । प्रत्येक योग जिज्ञासु को वैराग्य का स्वरूप अच्छे प्रकार जान लेना चाहिये । क्योंकि समाधि-प्राप्ति का यह प्रमुख साधन है । इस वर्तमान जीवन में इन्द्रियों के द्वारा अनेक सांसारिक विषय प्रत्यक्ष रूप में देखे और भोगे जाते हैं, उनको **दृष्टविषय** कहते हैं ।

भोगों को भोगने में कुछ दोष –

प्रथमदोष – भोगों के भोगने से विषयभोग की इच्छा न्यून नहीं होती अपितु पूर्व की अपेक्षा अधिक तीव्र हो जाती है, विषय सेवन से कोई लाभ नहीं होता है ।

द्वितीय दोष – विषय सेवन से शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे शरीर के द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों को व्यक्ति नहीं कर सकता ।

तृतीय दोष – शरीर में विविध रोग उत्पन्न होते हैं, जिनसे व्यक्ति सदा दुःखी रहता है ।

चतुर्थ दोष – सांसारिक सुख भोगने के लिए धन, सम्पत्ति आदि अनेक पदार्थों के उपार्जन में अति मूल्यवान समय लगाना पड़ता है और साधना के लिए पर्याप्त समय भी नहीं मिलत्ता ।

पञ्चम दोष – सुख के साधनों को सुरक्षित रखने के लिए महान् परिश्रम करना पड़ता है।

षष्ठ दोष – जब सुख के लिए किए उपार्जित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं तो अर्जनकर्त्ता को बहुत दुःख होता है ।

सप्तम दोष – भोगों के भोगने से व्यक्ति उनमें इतना आसक्त हो जाता है कि उनमें दोष दिखने पर भी वह छोड़ना नहीं चाहता और यदि वह उनको छोड़ना चाहता है, तो भी उनका छूटना अति कठिन हो जाता है ।

अष्टम दोष – सांसारिक सुख प्राप्ति के लिए व्यक्ति अनेक प्राणियों की हिंसा करता है, जिस हिंसा का भयंकर दुःख-फल ईश्वर की ओर से उसे मिलता है ।

जो शास्त्रों के द्वारा सुने जाते हैं, अभी जिनका प्रत्यक्ष नहीं किया है, उनको **'आनुश्रविक विषय'** कहते हैं। अर्थात् अगले जन्म में उत्तम माता, पिता, साधन-सम्पन्न परिवार में जन्म लेना, इसी जन्म में योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ, जिनकी प्राप्ति से व्यक्ति को धन, सम्पत्ति और सम्मान प्राप्त होता है। जैसे दृष्ट पदार्थों में दोष दिखाई देते हैं वैसे ही सांसारिक सुख देने वाले आनुश्रविक पदार्थों में भी दोष दिखाई देते हैं। इसलिए इन दोनों प्रकार के सुख और सुख-साधनों में दोष देखने से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि हानिकारक पदार्थों से ही वैराग्य होना चाहिये। योगाभ्यास में साधक पदार्थों के ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। शरीर को स्वस्थ एवं बलवान् बनाने में सहायक उत्तम खान-पान को छोड़कर निर्बल और अस्वस्थ शरीर बनाना वैराग्य नहीं है। क्योंकि शरीर धर्मार्थकाममोक्ष का साधन है।[1] इसकी रक्षा करना, इसको दीर्घायु बनाना, स्वस्थ रखने के लिए अनुकूल पदार्थों का सेवन करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति सांसारिक पदार्थों का उचित प्रयोग करता है तो वैराग्य में कोई बाधा नहीं आती। कभी-कभी व्यक्ति धन वा सम्मान प्राप्ति के लिए कुछ वस्तुओं का परित्याग कर देता है। उदाहरण - हमने साधुवेश में एक व्यक्ति को देखा था। लोगों से ज्ञात हुआ कि वह गृहस्थ थे। कहा गया था कि वे धन वा सम्मान प्राप्त करने के लिए काषाय वस्त्र धारण करके प्रचार करते, पश्चात् परिवार में जाकर जीवन व्यतीत करते थे। ऐसा करने से वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती।

संसार में अनेक ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने स्वयं ईश्वर साक्षात्कार किया और अन्यों को भी करवाने का प्रयास किया। उनके जीवन के विषय में सुनने से ज्ञात होता है कि वे महान् थे, उन्होंने स्वयं को कृतकृत्य बनाया और दूसरों को भी कृतकृत्य बनाने का प्रयास किया है। यह आनुश्रविक विषय है। क्योंकि उन महापुरुषों को व्यक्ति ने स्वयं नहीं देखा है। ईश्वरप्राप्ति हेतु निष्काम भावना से इन महान् पुरुषों के जीवन के सदृश अपने जीवन को बनाने के लिए प्रयत्न करना अवैराग्य नहीं है अर्थात् वैराग्य में बाधक नहीं है।

वैराग्य की प्राप्ति में विवेक एक प्रमुख साधन है, यह पूर्व लिखा गया है। इस सन्दर्भ में इसको ध्यान में रखना होगा कि विवेक और अभ्यास के द्वारा ही वैराग्य की रक्षा होती है॥ १५॥

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ - (तत्-परम्) वह परवैराग्य = सबसे ऊँचा वैराग्य है जो (पुरुष - ख्यातेः) जीवात्मा का साक्षात्कार होने से (गुण-वैतृष्ण्यम्) गुणमात्र से तृष्णारहित हो जाना।

सूत्रार्थ-वह सबसे ऊँचा वैराग्य है जो जीवात्मा के साक्षात्कार से गुणमात्र से तृष्णारहित हो जाना है।

व्या० भा० - दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित-बुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्।

१. **धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यमूलमुत्तमम्** । (आयुर्वेद)

यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः, यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥ १६ ॥

व्या० भा० अ० *– देखे हुए एवं सुने हुए विषयों के दोषों को देखने वाला तृष्णारहित साधक, पुरुष के दर्शन के अभ्यास से, उस पुरुषतत्त्व के बोध से प्राप्त ज्ञान से तृप्त चित्त वाला होकर, स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है । वह दो प्रकार का वैराग्य है – १. अपर, २. पर । इनमें से जो पश्चात् कहा है वह उच्चज्ञान की कोटि वाला है । जिसके उदित होने पर आत्मदर्शी योगी यह मानता है कि प्राप्त करने योग्य प्राप्त हो गया । नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये और शृंखलाबद्ध संसारचक्र टूट गया । जिसके टूटे बिना जीव जन्म लेकर मरता एवं मरकर जन्म लेता रहता है । ज्ञान की पराकाष्ठा, (ऊँची स्थिति) ही वैराग्य है । यह वैराग्य कैवल्य का अनिवार्य साधन है ॥ १६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **पर वैराग्य का लक्षण** किया है ।

वैराग्य दो प्रकार का है । एक अपर और दूसरा पर । 'अपर वैराग्य' सम्प्रज्ञात समाधि का उपाय है और 'पर वैराग्य' असम्प्रज्ञात समाधि का । यद्यपि ज्ञान और वैराग्य में कारण कार्य सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न होता है परन्तु इस सूत्र के व्यासभाष्य में ज्ञान को ही वैराग्य कह दिया गया है । इसमें कारण और कार्य का अभेद कथन समझना चाहिए । सूत्र में 'पर' शब्द का प्रयोग करने से यह ज्ञात होता है कि पूर्व सूत्र में पढ़े वैराग्य का नाम 'अपर वैराग्य' है । अपर वैराग्य से 'सम्प्रज्ञात समाधि' की प्राप्ति होती है । सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते–करते उसकी उन्नत अवस्था आ जाती है । उसी का नाम '**धर्ममेघ समाधि**' है । धर्ममेघ समाधि में पुरुषख्याति रहती है । इसी को '**सत्त्वपुरुषान्यताख्याति**' भी कहते हैं । धर्ममेघ समाधि को प्राप्त योगी उसमें भी दोष देखता है। क्योंकि सत्त्वपुरुषान्यताख्याति सत्त्वगुण का धर्म है । सत्त्वगुण परिवर्तनशील और तमोगुण, रजोगुण से सम्बद्ध है । अतः वह देखता है कि मैं आत्मा अर्थात् जीवात्मा तीनों गुणों के विकारों से पृथक् हूँ । इस प्रकार दोष देखने से गुणमात्र से वैराग्य उत्पन्न होता है । परवैराग्य से 'असम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होती है, उससे ईश्वर का साक्षात्कार होता है ।

ईश्वर साक्षात्कार होने पर योगी यह अनुभव करता है कि "जो मुझे प्राप्त करना था वह प्राप्त हो गया है । अब प्राप्त करने योग्य कुछ शेष नहीं है" । इस प्रसङ्ग में यह जानना चाहिये कि ईश्वर एक पदार्थ है, उसमें समस्त दुःखों से रहित नित्य आनन्द विद्यमान है । उस आनन्द को प्राप्त करने पर योगी यह कहता है कि जिस दुःखरहित नित्य आनन्द को मैं प्राप्त करना चाहता था, वह मुझे प्राप्त हो गया है । ज्ञान के विषय में भी योगी यह अनुभव करता है कि जो जानना था, वह जान लिया है । अब जानना शेष नहीं रहा है ।

जो लोग योगाभ्यास के द्वारा ईश्वर साक्षात्कार नहीं करते वे केवल सांसारिक धनसम्पत्ति के उपार्जन और विषयभोगों में तल्लीन रहते हैं । उनको यह स्थिति प्राप्त नहीं होती । जिससे वे अनुभव कर सकें,

कि मुझे जो प्राप्त करना था वह प्राप्त हो गया है, और प्राप्तव्य कुछ शेष नहीं रहा है। इसी प्रकार ज्ञान के विषय में भी जानना चाहिए कि अनेक विषयों का विद्वान् होने पर भी व्यक्ति ईश्वरसाक्षात्कार किये बिना ऐसी सन्तुष्टि को प्राप्त नहीं कर सकता जिससे वह अनुभव कर सके, कि जो जानना था वह जान लिया है, अब जानना शेष नहीं रहा है। प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि मैं समस्त दुःखों से छूटकर दुःखरहित नित्य आनन्द को प्राप्त करूँ। इस आकांक्षा की पूर्त्ति का समाधान ईश्वरप्राप्ति ही है, अन्य नहीं ॥ १६ ॥

अव० - अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति -

अर्थ - अब दोनों उपाय (अभ्यास, वैराग्य) द्वारा निरुद्ध चित्तवृत्ति वाले साधक की 'सम्प्रज्ञात समाधि' किस प्रकार की होती है। यह निम्न सूत्र से कहा जाता है -

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ - (वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मिता-रूपानुगमात्) वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता-रूप स्थितियों के अनुभव से (सम्प्रज्ञातः) सम्प्रज्ञात समाधि होती है।

सूत्रार्थ-वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता रूप स्थितियों के अनुभव से 'सम्प्रज्ञात समाधि' होती है।

व्या० भा० - वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः ॥ १७ ॥

व्या० भा० अ० - *'वितर्क' का अर्थ चित्त के आलम्बन में स्थूलभूत पृथिवी आदि का साक्षात्कार है। 'विचार' का अर्थ चित्त के आलम्बन में सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं का साक्षात्कार है। 'आनन्द' का अर्थ ह्लाद = सुख की अनुभूति अर्थात् इन्द्रियों के साक्षात्कार से सुख की अनुभूति। 'अस्मिता' का अर्थ है (चित्त के आलम्बन में) जीवात्मा का साक्षात्कार।*

प्रथम अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में (स्थूलभूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा) ये चारों विषय (योगी के जिज्ञास्य) रहते हैं। (किन्तु स्थूल भूतों का ही साक्षात्कार होता है। शेष का सामान्य ज्ञान रहता है।) इसको चतुष्टयानुगत कहा जाता है।

द्वितीय, वितर्क से रहित विचार समाधि है। (इसमें तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु केवल तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। शेष दो का सामान्य ज्ञान रहता है।)

तृतीय, विचार से रहित आनन्द समाधि है। (इसमें इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु इन्द्रियों का ही साक्षात्कार होता है। जीवात्मा का सामान्य ज्ञान रहता है।)

चतुर्थ, आनन्द से रहित अस्मिता समाधि है। (इसमें जीवात्मा ही जिज्ञास्य रहता है। और जीवात्मा का साक्षात्कार भी होता है। भूतादि अन्य कोई पदार्थ जिज्ञास्य नहीं रहता) ये सब आलम्बन सहित समाधियाँ हैं ॥ १७ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप** बतलाया गया है । सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है । वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ।

विषय की दृष्टि से सम्प्रज्ञात समाधि तीन प्रकार की है – **ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य** । ग्राह्य विषय दो प्रकार का है, एक स्थूलभूत और दूसरा सूक्ष्मभूत (तन्मात्रा) । ग्रहण से इन्द्रियाँ ली जाती हैं और ग्रहीतृ से जीवात्मा का ग्रहण होता है । योगाभ्यासी प्रथम स्थूल पदार्थों में चित्त को एकाग्र करने का प्रयास करता है । स्थूल पदार्थों में चित्त की एकाग्रता सिद्ध होने पर सूक्ष्म विषयों में भी चित्त को अधिकारपूर्वक दीर्घकाल पर्यन्त रोक लेता है ।

वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के आलम्बन स्थूल विषय होते हैं । जैसे कि पृथिवी आदि पाँच भूत और उन से बने हुए शरीर, वृक्षादि । इस समाधि का अभ्यास शरीर के अङ्गों और वृक्षादि पदार्थों को लेकर भी किया जा सकता है । इसको समझाने के लिए योगदर्शन १/४२ के व्यास भाष्य में गौ का उदाहरण दिया है । 'गौः' यह शब्द है, 'गौः' यह अर्थ (पशु) है, 'गौः' यह ज्ञान है । गौ में योगी समाधि लगाता है उस (समाधि) में जब शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों संयुक्त रहते हैं, तब वह **वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि** कहलाती है । इस स्थिति में जीवात्मा 'प्रमाता' के रूप में, बाह्य इन्द्रियाँ 'प्रमाण' के रूप में और गौ 'प्रमेय' के रूप में उपस्थित रहता है । इसी प्रकार स्थूल भूत और उनसे उत्पन्न अन्य पदार्थों में भी अभ्यास किया जा सकता है । परन्तु पृथिवी आदि भूतों को और उनसे उत्पन्न पदार्थों को ईश्वर मानकर ध्यान नहीं करना चाहिये । यदि तन्मात्राओं में अर्थात् गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा, जो पृथिवी आदि पाँच भूतों के उपादानकारण हैं, उनमें चित्त को एकाग्र कर, उनके स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है । तो वह **विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि** है । इस अवस्था में जीवात्मा 'प्रमाता', चित्त 'प्रमाण' और तन्मात्रा 'प्रमेय' के रूप में रहते हैं ।

जब महत्तत्व, अहंकार, मन और इन्द्रियों में चित्त की एकाग्रता की जाती है तब वह **आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि** होती है । इन की उत्पत्ति में सत्त्वगुण प्रधान होने से इनके स्वरूप के अनुभव काल में सुख की अनुभूति होती है । यहाँ पर भी जीवात्मा प्रमाता, चित्त 'प्रमाण' और इन्द्रियाँ आदि 'प्रमेय' के रूप में हैं । जब जीवात्मा समस्त जड़ पदार्थों को और अपने स्वरूप को पृथक्–पृथक् जान कर अपने स्वरूप में चित्त को एकाग्र करता है तब वह **अस्मितानुगत समाधि** है । यद्यपि इस अवस्था में अहंकार, इन्द्रियां आदि सभी उपकरण जीवात्मा के साथ विद्यमान रहते हैं तथापि वह बुद्धि तथा ईश्वर की सहायता से अपने स्वरूप को जानता है ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इस स्थिति में जीवात्मा बुद्धि, अहङ्कार और अपने स्वरूप को एक मानता है । किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि जीवात्मा धर्ममेघ समाधि (= अस्मिता समाधि) में बुद्धि आदि पदार्थों से अपने स्वरूप को पृथक् जानता है यह बात योगसूत्र १/२ के व्यासभाष्य में कही जा चुकी है । अतः उन्हें एक मानना उचित नही है ॥ १७ ॥

अव० – अथ असम्प्रज्ञातः समाधिः किमुपायः किंस्वभावो वेति ?

अर्थ – अब 'असम्प्रज्ञात समाधि' किन उपायों वाली और किस स्वभाव वाली होती है यह (सूत्र के द्वारा बताया जाता है) –

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ – (विराम-प्रत्यय-अभ्यास-पूर्वः) सब वृत्तियों का निरोध = विराम, उसका कारण जो पर वैराग्य, उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति से (संस्कार-शेषः) जिस स्थिति में संस्कार शेष रह जाते हैं (अन्यः) वह सम्प्रज्ञात से भिन्न 'असम्प्रज्ञात समाधि' है ।

सूत्रार्थ – सब वृत्तियों के निरोध का कारण जो परवैराग्य है उसकी पुनः पुनः आवृत्ति से जो [वृत्तिनिरोध] समाधि होती है तथा जिसमें निरोध के संस्कार वर्तमान रूप में, व्युत्थान एवं 'सम्प्रज्ञात समाधि' के संस्कार अभिभूत होकर (दबे) रहते हैं, वह 'असम्प्रज्ञात समाधि' है ।

व्या० भा० – सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः । तस्य परवैराग्य-मुपायः । सालम्बनो ह्यभ्यासस्तत्साधनाय न कल्पत इति । विरामप्रत्ययो निर्वस्तुक आलम्बनीक्रियते । स चार्थशून्यः । तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसंप्रज्ञातः ॥ १८ ॥

व्या० भा० अ० – *चित्त की सभी वृत्तियों के अस्त हो जाने पर संस्कार ही जिसमें शेष रहते हैं ऐसा चित्त का निरोध 'असम्प्रज्ञात समाधि' है। उस समाधि का उपाय 'परवैराग्य' है। सालम्बन अभ्यास उसका साधन नहीं बन सकता । इसलिए विरामप्रत्यय अर्थात् वृत्तियों के विराम का जो कारण पदार्थहीन परवैराग्य उसको साधन रूप में स्वीकार किया जाता है और वह (पर वैराग्य) पदार्थहीन होता है । उसके अभ्यासपूर्वक चित्त निरालम्बन और स्वभावशून्य सा हो जाता है । यह निर्बीज समाधि 'असम्प्रज्ञात' कही जाती है ॥ १८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **'असम्प्रज्ञात समाधि'** का वर्णन है ।

सम्प्रज्ञात समाधि की जो परिपक्वावस्था है उसको 'धर्ममेघ समाधि' कहते हैं । जब योगाभ्यासी 'धर्ममेघ समाधि' को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वरूप को जान लेता है तब उसको धर्ममेघ समाधि से भी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । उस वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है । असम्प्रज्ञात समाधि का फल जीवात्मा को अपने स्वरूप का और ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार होना है । यद्यपि उत्कृष्ट सम्प्रज्ञात समाधि में भी जीवात्मा का साक्षात्कार होता है परन्तु वह उतना स्पष्ट नहीं होता जितना असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर साक्षात्कार की अवस्था में होता है । चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं जिनका उल्लेख पूर्व (योग १-१ व्यास० भा० में) कर दिया है। उनमें से यह **असम्प्रज्ञात समाधि** पाँचवी अवस्था है। परवैराग्य का अभ्यास करते-करते जब समस्त वृत्तियों का अवरोध हो जाता है और संस्कार शेष रह जाते हैं तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है ।

प्रश्न – 'संस्कारशेष' क्या है ?

उत्तर – जब समस्त वृत्तियां रुक जाती हैं तब निरोध अवस्था के संस्कार वर्तमान रहते हैं, व्युत्थान तथा सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार दबे रहते हैं । जब असम्प्रज्ञात समाधि भंग होती है तब सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार अपना कार्य करने में उद्यत हो जाते हैं । जब सम्प्रज्ञात समाधि भंग हो जाती है तो उस स्थिति में व्युत्थान अर्थात् सांसारिक वृत्तियों के संस्कार उभर जाते हैं । जब योगाभ्यासी असम्प्रज्ञात समाधि को पुनः प्राप्त करना चाहता है, तब अभ्यास, वैराग्य के द्वारा व्युत्थानसंस्कारों को रोक देता है । उन संस्कारों के रुक जाने पर साधक पुनः असम्प्रज्ञात समाधि को उपलब्ध कर लेता है । इससे सिद्ध है कि असम्प्रज्ञात समाधि में निरुद्धावस्था के संस्कार वर्तमान रहते हैं और व्युत्थान तथा सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार दबे रहते हैं । इसी का नाम **संस्कारशेष** है, ऐसा जानना चाहिये ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होते ही जीवात्मा की मुक्ति नहीं होती । तत्पश्चात् भी उसे मोक्षप्राप्ति हेतु कुसंस्कारों को पूर्ण रूप से दग्धबीज करने के लिए पर्याप्त प्रयास करना पड़ता है । असम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था होने पर योगी ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति इन तीनों के स्वरूप को पृथक्–पृथक् जानता है और व्यवहार काल में भी समाधि की स्थिति बनाये रखता है । जब कभी रात्रि में निद्रा नहीं आती तो योगी समाधि से लाभ उठाता है । साधारण रोग की अवस्था में भी योगी समाधि के द्वारा ईश्वर के आनन्द की प्राप्ति करता है । परन्तु अतितीव्र रोग होने पर समाधि भंग हो जाती है ॥ १८ ॥

अव० – स खल्वयं द्विविधः – उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।

अर्थ – वह (असम्प्रज्ञात) समाधि दो प्रकार की होती है। एक उपायप्रत्यय और दूसरी भवप्रत्यय । उनमें से उपायप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि विदेह एवं प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों की होती है ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ – (भवप्रत्ययः) भवः = शरीरादि संसार, प्रत्ययः = उसका जो यथार्थ ज्ञान, उससे जो समाधि होती है वह 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि है । (विदेह–प्रकृतिलयानाम्) विदेह–जो देह से अपना स्वामित्व हटाकर ईश्वर का स्वामित्व मानते हैं तथा देहाभिमान से रहित और देह को उत्पत्ति–विनाश आदि दोष युक्त देखकर ईश्वर की उपासना करते हैं, वे **विदेह योगी** कहलाते हैं ।

प्रकृतिलय – सत्त्व, रज, तम प्रकृति, उससे उत्पन्न महत्तत्व, अहङ्कार, तन्मात्रायें ये प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं, इनको जो अत्यन्त परिश्रम और तल्लीनतापूर्वक जानकर और इनमें दोष देखकर ईश्वर की उपासना करते हैं वे **प्रकृतिलय योगी** कहलाते हैं ।

सूत्रार्थ – विदेह और प्रकृतिलय योगियों की 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

व्या० भा० – विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः । ते हि स्वसंस्कारमात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्य-पदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कारविपाकं तथाजातीयकमतिवाहयन्ति । तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति, यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति ॥ १९ ॥

व्या० भा० अ० *– विदेह नामक देवों की 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि होती है । वे अपने संस्कारमात्र अवशिष्ट चित्त से कैवल्य पद जैसा अनुभव करते हुए अपने संस्कारों के अनुरूप फलों को भोगते हुए समाप्त करते हैं। उसी प्रकार प्रकृतिलय = भवप्रत्यय नामक असम्प्रज्ञात समाधि वाले प्रकृतिलीन योगी भी अकृतकृत्य चित्त के प्रकृति में लीन होने पर कैवल्यपद जैसा अनुभव करते रहते हैं, जब तक कि उनका चित्त भोग तथा अपवर्ग के सिद्ध न करने के कारण फिर से लौकिक स्थिति में नहीं आता ॥ १९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में विदेह और प्रकृतिलय योगियों की **'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन** है ।

भवप्रत्यय – 'भव' का अर्थ है संसार । सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, वृक्ष, पर्वत, प्राणियों के शरीर, इन्द्रिय, उनकी रचना, जन्म, मरण, रोग, वियोग, भोग, सांसारिक सुख की क्षणिकता, उसमें विद्यमान परिणाम, तापादि दुःख, सांसारिक सुखों के लिये अपेक्षित साधनों का उपार्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोषो का सूक्ष्मज्ञान, संसार के रचयिता, सबके स्वामी ईश्वर का ज्ञान, मैं शरीर हूँ वा इन्द्रियाँ किंवा इनसे पृथक् हूँ, शरीर का विनाश होने पर कुछ शेष रहता है वा नहीं, इस सृष्टि की रचना कभी हुई है वा नहीं, इन लोक-लोकान्तरों का क्या कभी विनाश होगा वा नहीं, यदि विनाश होगा तो क्या इनका अभाव होगा वा ये रूपान्तर को प्राप्त करेंगे ? इस प्रकार विचार करने से उत्पन्न इनके यथार्थज्ञान से विवेक उत्पन्न होता है। विवेक से वैराग्य की उत्पत्ति होती है । अपरवैराग्य एवं अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति, उससे परवैराग्य, परवैराग्य और ईश्वरप्रणिधान से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। संसार के स्वरूप का विशेष मनन करने से विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है । इस ज्ञान का नाम भवप्रत्यय है । भवप्रत्यय नामक ज्ञान के इस असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति में साधन होने से, इस समाधि का नाम 'भवप्रत्यय' है ।

पूर्व जन्मों में किया गया योगाभ्यास, मोक्षशास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन, सत्पुरुषों का सङ्ग आदि इस समाधि की प्राप्ति में कारण होते हैं । इसलिये यह जन्म से होने वाली सिद्धि मानी जाती है। परन्तु यह सिद्धि बिना पुरुषार्थ के जन्ममात्र से नहीं हो सकती ।

'विदेह' का अर्थ ईश्वर को शरीर, इन्द्रियाँ और सृष्टि के अन्य समस्त पदार्थों का कर्त्ता मानकर, इनको नाशवान् समझकर, इनसे अपना स्वामित्व हटाकर देहाभिमान से रहित होना और ईश्वर को सबका स्वामी मानकर उसकी उपासना करना है। इस स्थिति को प्राप्त योगी 'विदेहयोगी' कहलाते हैं। विदेह का अर्थ – शरीरपात के पश्चात् शरीर रहित होकर इन्द्रियों को आत्मा मानने वाले योगी का दशमन्वन्तर,

भूतों को आत्मा मानने वाले का सौ मन्वन्तर पर्यन्त समाधि में रहना, नहीं है । क्योंकि बिना शरीर के कभी भी समाधि नहीं हो सकती ।

प्रकृतिलय – तन्मात्रा, अहङ्कार, महत्तत्त्व और मूलप्रकृति के स्वरूप को तल्लीनता से जानना, इन तत्त्वों के गुणों एवं दोषों को जानना, इनको उपास्य न समझकर ईश्वर को उपास्य मानकर उसकी उपासना करना प्रकृतिलय है । इस स्थिति को प्राप्त साधक प्रकृतिलय योगी कहलाते है ।

'प्रकृतिलय' का अर्थ = तन्मात्रा, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति, इन चारों को चेतन आत्मा मानकर इनकी उपासना करना नहीं है । इसी प्रकार से प्रकृतिलय योगी का अर्थ भी यह नहीं है कि देहपात के पश्चात् (१) जो सहस्त्र मन्वन्तर तक अहंकार की उपासना करते हों (२) जो दशसहस्त्र मन्वन्तर तक बुद्धि की उपासना करते हों (३) जो शतसहस्त्र मन्वन्तर तक अन्य (प्रकृति) की उपासना करते हों (४) अथवा इन में से किसी एक में लीन रहकर फिर जन्म लेते हों । क्योंकि ये तन्मात्रा आदि चारों तत्त्व जड़ पदार्थ हैं । इनको चेतन मानना मिथ्याज्ञान है । मिथ्याज्ञान योग का विरोधी है । यह **'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'** सूत्र के द्वारा बताया गया है । मिथ्याज्ञान विपर्यय नामक वृत्ति है । योग की सिद्धि के लिये विपर्ययवृत्ति का अवरोध करना आवश्यक है । इसके अवरोध के बिना सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध नहीं हो सकता । अपरवैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि होती है । इसी समाधि की धर्ममेघ नामक अवस्था में जीवात्मा के स्वरूप का परिज्ञान होता है । उस ज्ञान से जड़ और चेतन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता है । उससे परवैराग्य उत्पन्न होता है । उससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है । यदि विदेह एवं प्रकृतिलय योगी तन्मात्रादि जड़ पदार्थों को चेतन आत्मा मानकर उनकी उपासना करते हैं, तो उनको असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये यह मन्तव्य ठीक नहीं है ।

'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त योगी कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं । इसकी स्थिति ऐसी है कि इसी शरीर में रहते हुये जब तक समाधि भङ्ग नहीं होती तब तक कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं, समाधि भङ्ग होने पर नहीं ।

इन्द्रियों एवं भूतों को चेतन आत्मा मानने वाले विदेह योगी और तन्मात्रा, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति को चेतन आत्मा मानने वाले प्रकृतिलय योगी कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है । क्योंकि प्रकृति और उससे उत्पन्न पदार्थों में जो सुख है वह क्षणिक और दुःखमिश्रित है, कैवल्य जैसा नहीं ।

'स्थूलभूत, इन्द्रियाँ, तन्मात्रा, अहंकार, महत्तत्व, मूलप्रकृति इनको चेतन आत्मा मानकर उपासना करने वाले भवप्रत्यय नामक योगी समाधि अवस्था में कैवल्य जैसा सुख अनुभव करते हैं', यह बात वेदविरुद्ध होने से मान्य नहीं है । वेद में लिखा है कि –

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥ यजु० ४०/९ ॥

भावार्थ – जो लोग सकल जड़जगत् के अनादि नित्य कारण प्रकृति को उपास्य समझते हैं वे अविद्या को प्राप्त करके सदा दुःखी रहते हैं और जो उस कारण प्रकृति से उत्पन्न हुये पृथिवी आदि स्थूल, कार्य कारण रूप सूक्ष्म, अनित्य संयोग से उत्पन्न कार्य जगत् को अपना इष्ट उपास्य देव मानते हैं, वे गाढ़ अविद्या को प्राप्त करके उससे अधिक दुःखी रहते हैं । इसलिये सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा की ही सदा उपासना सब करें ॥ १९ ॥

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ – (श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वकः) रुचि, उत्साह, योगसम्बन्धी पढ़ी-सुनी बातों का स्मरण, एकाग्रता तथा ऋतम्भराप्रज्ञा पूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि होती है (इतरेषाम्) विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न की ।

सूत्रार्थ – विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों की 'असम्प्रज्ञात समाधि' रुचि, उत्साह, स्मरण, एकाग्रता और ऋतम्भराप्रज्ञा पूर्वक होती है ।

व्या० भा० – उपायप्रत्ययो योगिनां भवति । श्रद्धा चेतसः संप्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति । तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते । समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते । स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते । समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथार्थं वस्तु जानाति । तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्यादसंप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥ २० ॥

व्या० भा० अ० – *'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि योगियों की होती है (अर्थात् विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न योगियों की होती है) । 'श्रद्धा' चित्त की अभिरुचि अर्थात् तीव्र इच्छा, वह माता के समान कल्याणकारिणी, योगी की रक्षा करती है । श्रद्धालु विवेकाभिलाषी योगी को बल (उत्साह, प्रयत्न) प्राप्त होता है । इस प्रकार के बलयुक्त योगी को स्मृति अर्थात् पूर्वकाल में किये योग के अनुभवों की स्मृति उपस्थित होती है । समाहितचित्त वाले योगी को प्रज्ञाविवेक प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह वस्तु को यथार्थरूप में जान लेता है । इस विवेकज्ञान के अभ्यास तथा उस विषयक परवैराग्य से 'असम्प्रज्ञात समाधि' सिद्ध होती है ॥ २० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में विदेह, प्रकृतिलय योगियों से भिन्न, **उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि वाले योगियों को समाधि किस प्रकार से प्राप्त होती है,** यह बतलाया गया है ।

प्रथम उपाय है '**श्रद्धा**' अर्थात् योगाभ्यास के अनुष्ठान में अभिरुचि, तीव्र इच्छा । श्रत् का अर्थ है सत्य । श्रद्धा का अर्थ सत्य को धारण करने के लिये किया जाने वाला प्रयत्न तथा उसको धारण करना है । सत्य का परिज्ञान होने पर योगी उसको धारण करने की तीव्र इच्छा करता है क्योंकि वह यह जानता है कि सत्य के आचरण से उत्तम फल की प्राप्ति होती है । इसलिये वह सदा योगाभ्यास को यथाशक्ति करता है । यदि उसको योग का फल ज्ञात न हो तो उसकी योग में रुचि नहीं होगी ।

दूसरा उपाय है **'उत्साह'** । उत्साह के कारण व्यक्ति कठिन कार्य को भी सरलता से सम्पादित कर लेता है और उससे उसकी अपनी शक्ति उद्बुद्ध होती है । यदि वह व्यक्ति अपने सामर्थ्य से कार्य सिद्धि नहीं कर पाता, तो वह जहां कहीं से भी साधनों की प्राप्ति हो सकती हो, उनके उपार्जन में पूर्ण प्रयास करता है । परन्तु उत्साहहीन व्यक्ति ऐसा नहीं करता । उत्साहरहित की अपनी विद्यमान शक्ति भी कार्य करना छोड़ देती है । उत्साही अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये विविध बाधाओं के आने पर भी निराशावादी नहीं होता । उसको दूसरे मनुष्य भी सहायता देते हैं, उत्साह-हीन को नहीं । उत्साहपूर्वक पूर्णप्रयास करने पर साधक को ईश्वर भी सहायता देता है । इसलिये उत्साह को समाधि का साधन माना जाता है ।

तीसरा उपाय है **'स्मृति'** । योगाभ्यास के करने से उसके उत्तमपरिणाम अनुभव में आते हैं । उन अनुभवों से संस्कार उत्पन्न होते हैं । उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । उस स्मृति से योगाभ्यासी अपनी उसी उत्तमावस्था को प्राप्त कर लेता है जिसको उसने पहले प्राप्त किया था । इसलिये उत्तमस्मृति समाधि का साधन है । उदाहरण – जैसे कि किसी योगाभ्यासी ने मन को जड़ मानकर उसको स्थिर करने के लिये ध्यान के समय में प्रयत्न किया । उस प्रयत्न से उसको सफलता मिली । कालान्तर में मन के अस्थिर होने पर पुनः उस अनुभव से जनित स्मृति के आधार पर उसने प्रयत्न किया तो उसका मन स्थिर हो गया । इसी प्रकार योगाभ्यासी अनेक उत्तम अनुभवों से जनित स्मृति के आधार पर योग को सिद्ध करता है ।

चौथा उपाय है **'समाधि'** । अभ्यास करते-करते योगी सम्प्रज्ञात समाधि की उन्नत अवस्था को प्राप्त कर लेता है । यह समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि का साधन बनती है क्योंकि सम्प्रज्ञात के बिना असम्प्रज्ञात की प्राप्ति नहीं होती ।

पाँचवा साधन है उत्कृष्ट **'प्रज्ञा'** । सम्प्रज्ञातसमाधि की उन्नत अवस्था में उत्कृष्टप्रज्ञा उत्पन्न होती है । उसी को प्रज्ञाविवेक कहा जाता है । इसकी सिद्धि होने पर जड़चेतन का अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा की पृथकता का ज्ञान होता है । उससे परवैराग्य की प्राप्ति होती है । उस परवैराग्य से असम्प्रज्ञातसमाधि की उपलब्धि होती है । इन पाँच साधनों के ग्रहण से यम-नियमादि आठों अंगों का ग्रहण अभिप्रेत है । क्योंकि यमनियमादि अष्टाङ्ग योग के बिना असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

अव० – ते खलु नव योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति । तद्यथा-मृदूपायो मध्योपायो-ऽधिमात्रोपाय इति । तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधः-मृदुसंवेगो मध्यसंवेगस्तीव्रसंवेग इति । तथा मध्योपायस्त-थाधिमात्रोपाय इति । तत्राधिमात्रोपायानाम्-

अर्थ – मृदु, मध्य, अधिमात्रोपाय वाले वे योगी नवप्रकार के होते हैं । जैसा कि मृदूपाय, मध्योपाय, अधिमात्रोपाय वाले योगी । उनमें से मृदूपाय भी तीन प्रकार के होते हैं । मृदुसंवेग, मध्यसंवेग, तीव्रसंवेग । इसी प्रकार मध्योपाय एवं अधिमात्रोपाय भी तीन प्रकार के होते हैं । उनमें अधिमात्रोपाय वाले योगियों की समाधिप्राप्ति के विषय में (अगले सूत्र में कहा जाता है) –

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ – (तीव्र-संवेगानाम्) ऊँचे विवेक, वैराग्य और अभ्यास वाले योगियों को (आसन्नः) समीप में = शीघ्र ही समाधिलाभ और समाधिफल की प्राप्ति होती है ।

सूत्रार्थ – ऊँचे विवेक, वैराग्य और अभ्यास वाले योगियों को शीघ्र ही समाधिलाभ और समाधि–फल की प्राप्ति होती है ।

व्या० भा० – समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २१ ॥

व्या० भा० अ० *– (तीव्र विवेक और वैराग्य वाले योगियों को) समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है ॥ २१ ॥*

यो० प्र० – **'संवेग'** शब्द का अर्थ विवेक एवं वैराग्य है । **'उपाय'** शब्द का अर्थ अभ्यास है । समाधि प्राप्ति के ये दोनों मुख्यसाधन हैं । इनको पहले लिखा भी है । इन तीनों साधनों का विशेष रूप से प्रयोग करने वाला योगी शीघ्र ही समाधि लाभ प्राप्त करता है ।

विवेक, वैराग्य और अभ्यास को अपने सामर्थ्य के आधार पर भिन्न–भिन्न स्तर से प्रयोग करने वाले योगियों के नौ भेद नीचे लिखे जाते हैं –

मृदु अभ्यास, मृदुविवेक, मृदुवैराग्य, वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति अधिक काल में होती है ।

मृदु अभ्यास, मध्यविवेक, मध्यवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

मृदु अभ्यास, तीव्रविवेक, तीव्रवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

मध्य अभ्यास, मृदुविवेक, मृदुवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

मध्य अभ्यास, मध्यविवेक, मध्य वैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

मध्य अभ्यास, तीव्रविवेक, तीव्रवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

अधिमात्र अभ्यास, मृदुविवेक, मृदुवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

अधिमात्र अभ्यास, मध्यविवेक, मध्यवैराग्य वाले योगियों को समाधि और मोक्ष की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

अधिमात्र अभ्यास, तीव्रविवेक, तीव्रवैराग्य वाले योगियों को समाधि की प्राप्ति पूर्वोक्त काल से कुछ न्यूनकाल में होती है ।

प्रायः योगाभ्यासियों के मन में यह जिज्ञासा रहती है कि कितने काल तक साधना करने पर समाधि और मोक्ष प्राप्ति होती है । इस विषय में सूत्रकार ने कहा है कि इनकी प्राप्ति में समय की सीमा नहीं है । इसी बात को सांख्यकार कपिलाचार्य जी ने भी कहा है कि **''न काल नियमो वामदेववत्''** ॥ सांख्य० ४/२० ॥ जैसे वामदेव ने ऊँचे विवेक, वैराग्य, अभ्यास, श्रद्धा, वीर्य और यमनियमादि आठ अङ्गों के तीव्र अनुष्ठान से अल्पकाल में ही असम्प्रज्ञात समाधि और मोक्ष को प्राप्त कर लिया था । वैसे ही प्रत्येक योगाभ्यासी इनकी सिद्धि कर सकता है ।

साधक को यह भी जानना आवश्यक है कि कृतकृत्यता प्राप्त करने के लिये जैसे योगसाधनों के तीव्र अनुष्ठान की आवश्यकता है, वैसे ही योग के विरोधी कारण अविद्या, अधर्माचरण, विपरीत उपासना, सकाम कर्म, अविद्यायुक्त ग्रन्थों का पठनपाठन, अशुद्ध खानपान और तीन एषणादि को शीघ्र छोड़ना आवश्यक है । उसके साथ समाधि से मिलने वाले फल को भी जान लेवें । संक्षेप में असम्प्रज्ञात समाधि से प्राप्त होने वाले फल – **१.** ईश्वरसाक्षात्कार, **२.** जीवात्मा के स्वरूप का विशेष परिज्ञान, **३.** व्याधि आदि विघ्नों तथा उपविघ्नों का नाश, **४.** ईश्वर का साक्षात्कार होने पर आनन्द की प्राप्ति, **५.** क्लेशों का नाश, **६.** योगाभ्यासी का मुक्ति का अधिकारी बनकर जन्ममरणादि समस्त बन्धनों से छूटना इत्यादि अनेक फलों की प्राप्ति होती है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ – (मृदु–मध्य–अधिमात्रत्वात्) ऊँचे विवेक–वैराग्य और अभ्यास के भी मृदु–मध्य–अधिमात्र भेद होने से (ततः–अपि–विशेषः) अपेक्षाकृत ऊँचे विवेक–वैराग्य–अभ्यास वाले योगियों को शीघ्र समाधिलाभ और समाधिफल की प्राप्ति होती है ।

सूत्रार्थ – ऊँचे विवेक–वैराग्य–अभ्यास के भी कम, मध्यम और अधिक होने से पूर्व की अपेक्षा अधिक ऊँचे विवेक–वैराग्य–अभ्यास वाले योगियों को शीघ्र समाधि–लाभ व समाधिफल की प्राप्ति होती है ।

व्या० भा० – मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधिमात्रतीव्र इति, ततोऽपि विशेषः । तद्विशेषान्मृदु तीव्रसंवेग-स्यासन्नस्ततो मध्यतीव्रसंवेगस्यासन्नतरस्तस्मादधिमात्रतीव्रसंवेगस्याधिमात्रोपायस्यासन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं चेति ॥ २२ ॥

व्या० भा० अ० *– मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र, इस प्रकार होने से उससे भी विशेष है । उस विशेष के कारण मदुतीव्रसंवेग वाले का समाधिलाभ और समाधिफल समीप, मध्यतीव्र संवेग वाले का उससे अधिक समीप (समीपतर) अधिमात्र तीव्रसंवेग और अधिमात्र उपाय वाले का उससे भी अधिक समीप (समीपतम) होता है ॥ २२ ॥*

यो० प्र० – यहाँ पर वह बतलाया गया है कि योग साधनों के अनुष्ठान भिन्न-भिन्न स्तर से होने के कारण योगियों को न्यूनाधिक काल में समाधि और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

समाधि प्राप्ति में काल का कम अधिक लगना योगविद्या के प्रशिक्षण देने वाले आचार्यों की न्यूनाधिक योग्यता पर भी आश्रित है । जो ईश्वरसाक्षात्कार तक पहुँचे हुए योगी, वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के विद्वान् योगविद्या के पढ़ाने और उसका क्रियात्मकरूप में प्रशिक्षण देने में निपुण हैं, शिष्यों को इस विद्या को देने में अधिक समय देने वाले हैं, इस विद्या को पढ़ाने के मुख्यलक्ष्य वाले हैं, ऐसे आचार्यों से योगविद्या पढ़ने, से शीघ्र प्राप्ति होती है । ऐसे गुरुओं के सानिध्य में रहने वाले, सर्वदा सर्वथा उनकी आज्ञा का पालन करनेवाले और निष्कामभाव से परोपकार करने वाले शिष्यों को शीघ्र सफलता मिलती है और अन्यों को विलम्ब से । शीघ्र सफलता प्राप्ति के अन्य साधन हैं जैसे कि – यदि राजा और प्रजा योगविद्या के पढ़ने-पढ़ाने में तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देवें, विद्यालयों में इसके प्रशिक्षण की उत्तम व्यवस्था हो और वे राजा एवं प्रजा मोक्ष प्राप्त करना-करवाना ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हों । इससे योगाभ्यासियों को शीघ्र ही सफलता मिलती है अन्यथा अधिक समय लगता है ॥ २२ ॥

अव० – किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति ?

अर्थ – क्या इन तीव्रसंवेगादि से ही शीघ्र समाधि होती है अथवा इसकी सिद्धि में कोई अन्य उपाय भी है वा नहीं ? –

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ – (ईश्वर-प्रणिधानात्) अतिशय प्रेमपूर्वक ईश्वरोपासना, शरीरादि सभी पदार्थों को ईश्वर का मानकर उसकी आज्ञानुसार उनका प्रयोग करना तथा समस्त कर्मों को ईश्वरसमर्पित करना और उनका कोई लौकिक फल न चाहना 'ईश्वरप्रणिधान' है । इस ईश्वरप्रणिधान से (वा) और भी शीघ्र समाधि प्राप्ति तथा समाधि का फल प्राप्त होता है । (इस सूत्र में 'वा' शब्द समुच्चय अर्थ में हैं विकल्प अर्थ में नहीं ।)

सूत्रार्थ – अतिशय प्रेमपूर्वक ईश्वरोपासना, शरीरादि सभी पदार्थों को ईश्वर का मानकर उसकी आज्ञानुसार उनका प्रयोग करना तथा समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित करना और उनका कोई लौकिक फल न चाहना । इस 'ईश्वरप्रणिधान' से और भी शीघ्र समाधि प्राप्ति तथा समाधि का फल प्राप्त होता है ।

व्या० भा० – प्रणिधानाद्भिक्तिविशेषादावर्तित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति ॥ २३ ॥

व्या० भा० अ० – *'प्रणिधान' अर्थात् भक्ति विशेष से अनुकूल किया हुआ ईश्वर सङ्कल्पमात्र से उस योगी को अनुगृहीत करता है, योगी को सहायता देता है । उस ईश्वर की सङ्कल्प द्वारा दी हुई सहायता से भी योगी को अतिशीघ्र समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल मिलता है ॥ २३ ॥*

यो० प्र० – **ईश्वरप्रणिधान** से समाधि और समाधि का फल बहुत शीघ्र प्राप्त होता है, यह बात इस सूत्र में कही गई है। 'ईश्वरप्रणिधान' क्या है और ईश्वर प्रणिधान की सिद्धि कैसे होती है, इसका परिज्ञान योगाभ्यासी को अवश्य ही कर लेना चाहिये। योगदर्शन में समाधि प्राप्ति के साधनों में अनेक बार ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि यह योग का विशेष साधन है।

ईश्वरप्रणिधान के सम्पादन के लिये प्रथम शब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण से ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये क्योंकि इसके बिना ईश्वरप्रणिधान सिद्ध नहीं हो सकता है। उसका स्वरूप ज्ञात होने पर उसके मुख्य नाम को भी जानना चाहिये। ईश्वर वाच्य है और उसका प्रकाश, कथन और वर्णन करने वाला शब्द वाचक है। इस वाच्य = पदार्थ ईश्वर और वाचक नाम 'ओ३म्' का परस्पर वाच्य–वाचक सम्बन्ध है, ऐसा समझ लेना चाहिये। **उदाहरण** – जैसे गौ 'प्राणी' वाच्य है और गौ 'शब्द' उसका वाचक है।

साधक को यह भी जानना चाहिये कि शरीर, इन्द्रियाँ और विविध पदार्थों की रचना ईश्वर ने की है। जीवात्मा और प्रकृति इस सृष्टि की रचना नहीं कर सकते। सृष्टि के सभी पदार्थों का स्वामी भी ईश्वर है। हम इन सब पदार्थों के गौण स्वामी हैं और प्रयोग के अधिकारी हैं। जो चेतन जीवात्माएँ और संसार के जड़ पदार्थ हमारी रक्षा करते हैं, वे ईश्वरप्रदत्त सामर्थ्य से ही करते हैं, केवल अपने सामर्थ्य से नहीं। संसार के पदार्थों में जो सुख है वह क्षणिक है और उसमें दुःख मिश्रित है। शरीरादि पञ्चभौतिक वस्तुएँ तथा पृथिवी आदि लोक–लोकान्तर सब नाशवान् हैं। इस प्रकार ईश्वर, जीव, प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के विषय में जानने से संसार के स्थूल–एवं सूक्ष्म सभी पदार्थों से वैराग्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक को ईश्वर ही सर्वोपरि दिखता है, वह अपने पास विद्यमान सब सामर्थ्य को ईश्वर प्रदत्त मानता है और उसकी प्राप्ति के लिये लालायित हो जाता है। जैसे कोई छोटा बालक किसी जनसमुदाय में माता से वियुक्त हो जाता है तो माता की प्राप्ति न होने पर सब कुछ को छोड़कर उसकी गवेषणा के लिये लालायित हो जाता है, वैसे ही ईश्वरप्रणिधान में योगी की ऐसी ही अवस्था होती है। यह है **ईश्वरप्रणिधान** अर्थात् ईश्वर की विशेष भक्ति।

जब योगाभ्यासी ईश्वर की गवेषणा करता है तो ईश्वर के नाम का अर्थ सहित जप करता है और स्वयं को ईश्वर समर्पित करता है। उसकी पात्रता के आधार पर अर्थात् पात्र सिद्ध हो जाने पर, ईश्वर योगी को विशेष सहायता प्रदान करके अपने स्वरूप का साक्षात्कार करवा देता है। इसी रहस्य को उपनिषत्कार ऋषि ने कहा है कि जिसको यह ईश्वर पात्र समझ कर वरण कर लेता है, वही उसका साक्षात्कार कर सकता है। –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳस्वाम्॥ मु० उप० ३/२/३॥

भावार्थ - अयम् आत्मा = यह आत्मा; प्रवचनेन = प्रवचन वा उपदेश से, न लभ्यः = प्राप्य नहीं, न मेधया = न मेधाबुद्धि से; न बहुनाश्रुतेन = उपदेश को बहुत मात्रा में सुनने से भी प्राप्य नहीं;

एष आत्मा = यह आत्मा; यम एव वृणुते = जिसको ही वरण करता है, तेन = उसके द्वारा; लभ्यः = प्राप्त करने योग्य है । एष आत्मा = यह आत्मा, तस्य = उसके लिए; स्वां तनूं विवृणुते = अपने स्वरूप को प्रकट करता है ॥ २३ ॥

अव० - अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ?

अर्थ - अब प्रधान और पुरुष (इन दोनों तत्त्वों) से पृथक् यह ईश्वर कौन है ?

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ - (क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः) अविद्यादि पाँच क्लेश, शुभाशुभ मिश्रित कर्म, कर्मों के फल = सुख-दुःख, उनके भोगों के संस्कार = वासनायें, इन सबसे (अपरामृष्टः) सम्बन्धरहित (पुरुषविशेषः) जीवों से भिन्न स्वभाववाला चेतनविशेष (ईश्वरः) ईश्वर है ।

सूत्रार्थ - अविद्यादि पाँचों क्लेश, शुभाशुभमिश्रित त्रिविध कर्म, कर्मों के फल सुख-दुःख, इनके भोगों के संस्कार = वासनायें, इन सबके सम्बन्ध से रहित जीवों से भिन्न स्वभाव वाला चेतनविशेष 'ईश्वर' है ।

व्या० भा० - अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः । ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि च्छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति ? तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् ।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात् । तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः । न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति, कस्मात्, द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात् । तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः । स च पुरुषविशेष इति ॥ २४ ॥

व्या० भा० अ० *- अविद्यादि पाँच 'क्लेश' हैं । पुण्यापुण्य 'कर्म' हैं । उनका फल 'विपाक' है । फलभोगानुसार बनने वाले संस्कार 'आशय' हैं । मन में वर्तमान वे (क्लेशादि) पुरुष में कहे जाते हैं ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि पुरुष ही उस फल का भोक्ता है । जैसे योद्धाओं में वर्त्तमान जय वा पराजय राजा में कही जाती है । जो इस भोग से रहित है वह पुरुषविशेष 'ईश्वर' है ।*

कैवल्य को प्राप्त हुए अनेक केवली हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक तीन बन्धनों को दूर करके कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। ईश्वर का उन बन्धनों से सम्बन्ध न हुआ न होगा। जिस प्रकार मुक्तपुरुष का मुक्ति से पूर्व बन्धन होता है, उस प्रकार ईश्वर का बन्धन कभी नहीं होता। जैसे प्रकृतिलीन योगी का समाधि भङ्ग होने पर बन्धन होता है वैसे ईश्वर का बन्धन नहीं होता। वह सदा ही मुक्त है और सदैव ईश्वर है।

सूत्र में जो उत्कृष्ट गुण–कर्म–स्वभाव वाले ईश्वर का ग्रहण है उसका वह शाश्वतिक उत्कर्ष प्रामाणिक है वा अप्रामाणिक ? उसमें शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र में क्या प्रमाण है ? उसमें प्रमाण है उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव वाला ईश्वर।

ईश्वर में विद्यमान उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव एवं शास्त्र इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है। और उसका वह ऐश्वर्य (किसी अन्य के ऐश्वर्य की) समानता या अधिकता से रहित है। किसी अन्य के ऐश्वर्य से वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) उल्लंघित नहीं होता। जो ही ऐश्वर्य अतिशयी होवे वह ही वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) है। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा होती है, वह ईश्वर है। उसके समान ऐश्वर्य नहीं है। किस कारण ? समान कोटि के दो ऐश्वर्यवालों के होने पर, दोनों ऐश्वर्यवालों को अभीष्ट किसी एक पदार्थ के विषय में एक ही काल में ''यह नवीन हो यह पुरातन हो।'' इस प्रकार के विरुद्ध सङ्कल्प के होने पर, एक ही सङ्कल्पसिद्धि होने में दूसरे के अभीष्ट का खण्डन हो जाने से दूसरे ऐश्वर्य में न्यूनता आ जायेगी। क्योंकि 'नवीनता और पुराणता' इन दोनों के एक–दूसरे के सर्वथा विरुद्ध होने के कारण उस पदार्थ में एक ही समय में दोनों का अभीष्ट सङ्कल्प एक साथ सिद्ध हो नहीं सकता। इसलिए जिसका ऐश्वर्य समानता एवं अतिशय से मुक्त है, वह ही ईश्वर है और वह पुरुषविशेष है॥ २४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **ईश्वर के स्वरूप का वर्णन** है ।

पुरुष शब्द से ईश्वर और जीवात्मा दोनों का ग्रहण होता है । यहाँ पर ईश्वर को पुरुषविशेष कहा है । इससे पूर्व सूत्र में ईश्वरप्रणिधान से समाधि की शीघ्र प्राप्ति बतलाई है । परन्तु जब तक साधक ईश्वर के स्वरूप को शब्दप्रमाण अथवा अनुमानप्रमाण से अच्छी प्रकार से नहीं जानता तब तक ईश्वरप्रणिधान नहीं कर सकता । इसलिये सूत्रकार ने उसका लक्षण बतलाया है ।

जो क्लेशों से रहित है, वह ईश्वर है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं । जो जीवों को दुःख देते हैं वे **क्लेश** कहे जाते हैं । संसार में जितने भी मनुष्य, पशु आदि देहधारी प्राणी हैं, उन सबके दुःख का कारण मुख्यरूपेण ये क्लेश हैं । जब जीवात्मा योगाभ्यास से मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब एक सीमितकाल पर्यन्त इन क्लेशों से छूट जाता है । परन्तु मोक्ष की अवधि समाप्त होने पर पुनः मुक्ति की प्राप्ति से पूर्व सञ्चित अपने शेष कर्म तुल्य पाप पुण्य के आधार पर ईश्वर की व्यवस्था से संसार में जन्म लेता है । जन्म लेने पर पुनः क्लेश दुःख

देने लगते हैं । इस प्रकार से जीवात्मा कभी क्लेशयुक्त और कभी क्लेशमुक्त होता रहता है । परन्तु ईश्वर कभी भी क्लेशयुक्त नहीं होता । ऐसा ईश्वर जीवों से पृथक् पुरुषविशेष है । चेष्टा विशेष का नाम **कर्म** है । कर्म दो प्रकार के हैं – सकाम और निष्काम । सकाम कर्म के तीन भेद हैं – शुभ, अशुभ और मिश्रित ।

जीवात्मा शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म करता रहता है । जो सकाम शुभ, अशुभ और मिश्रित कर्म कभी भी नहीं करता, सदा निष्कामकर्म ही करता है, वह ईश्वर है । सूत्र में कर्म शब्द के प्रयोग से यह नहीं समझना चाहिये के ईश्वर कोई भी कर्म नहीं करता । ईश्वर कर्म करता है और सदा शुभकर्म ही करता है किन्तु कभी अशुभ कर्म नहीं करता । यदि ईश्वर कर्म न करे तो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और जीवों को कर्मानुसार फल देना आदि कार्य सिद्ध नहीं हो सकते।

कर्मों के फल को **'विपाक'** कहते हैं । जीवात्माएँ शुभाशुभ और मिश्रित कर्मों के फलों को सुख–दुःख रूप में भोगती हैं । जो कर्मों के सुख–दुःख फल को कभी नहीं भोगता, वह ईश्वर है । इसलिये वह पुरुषविशेष है ।

शुभाशुभ और मिश्रित कर्मों के सुख, दुःख फल को भोगने से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं उनको **'आशय'** कहते हैं । जीवात्माएँ सुख–दुःख फलों को भोगती हैं, अतः संस्कारयुक्त होती हैं । ईश्वर सुख–दुःख का भोग कभी नहीं करता । अतः उसमें ऐसे संस्कार भी नहीं बनते ।[१]

ईश्वर में अनन्तज्ञान, अनन्तबल, अनन्त आनन्द, अनन्तक्रिया है । यह उसका ऐश्वर्य है । जैसा उसका ऐश्वर्य है वैसा ऐश्वर्य न जीवों का, न प्रकृति का और न विकृति का है । जब समान ऐश्वर्य नहीं है तो उससे अधिक तो हो ही नहीं सकता । ईश्वर के अनन्त ऐश्वर्य की सिद्धि अनुमान प्रमाण से भी होती है । इस सृष्टि की रचना को देखने से यह ज्ञात होता है कि इसके रचयिता में अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया है क्योंकि उस प्रकार के सामर्थ्य के बिना संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और जीवों के कर्मफल की व्यवस्था नहीं हो सकती ।

कोई यह कह सकता है कि यह सृष्टि अनादिकाल से जैसी की तैसी चली आ रही है इसका बनाने वाला कोई नहीं है । इसका समाधान यह है कि जो वस्तु तोड़ने से टूट जाती है, वह अनादि नहीं हो सकती । जैसे–शरीर, वृक्षादि तोड़ने से टूट जाते हैं, वैसे ही पृथिवी भी तोड़ने से टूट जाती है । जैसे शरीर, वृक्षादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं वैसे ही सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है । यह न अनादिकाल से जैसी की तैसी चली आ रही है और न ऐसी ही रहेगी। इसलिए इस संसार का बनाने वाला अनन्त ऐश्वर्यवान् ईश्वर है ।

कोई यह भी कह सकता है कि इस सृष्टि का एक उपादानकारण है, उसको सांख्यदर्शन की भाषा में प्रकृति अर्थात् सत्त्व–रजस्–तमस् नामक सूक्ष्म पदार्थ कहते हैं। उन्हीं सूक्ष्म पदार्थों से

---

१. इस संबंध में विशेष जानने के लिये **दर्शनयोग महाविद्यालय** से प्रकाशित प्रवचन संकलन पुस्तक **'ब्रह्मविज्ञान'** का अध्ययन करें ।

सृष्टि की रचना होती है। उन में सृष्टि बनाने का स्वभाव है, उनसे इस सृष्टि की उत्पत्ति हो जाती है। अतः अनन्त ऐश्वर्य वाले ईश्वर के मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका समाधान यह है कि जिन सूक्ष्मपदार्थों से यह सृष्टि बनी है, वे जड़ पदार्थ हैं अर्थात् ज्ञानरहित हैं। ज्ञानरहित होने से विचारपूर्वक वे सब मिलकर जीवों के प्रयोजनों को जानकर उनके लिये अनुकूल विभिन्न प्रकार के संसार को नहीं बना सकते। जैसे कि इस मिट्टी के अणु विचारपूर्वक मिलकर यह योजना बनायें कि "हम मिलकर ईंट बना कर ऐसे भवन का निर्माण करेंगे जिससे अनेक मनुष्यों को सुख की प्राप्ति होगी।" ऐसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार से लोहे के सूक्ष्मकण मिलकर स्वयं विमान नहीं बन सकते। घड़ी आदि बुद्धिपूर्वक निर्मित जितनी भी वस्तुएँ हैं उन सब के निर्माता चेतन जीव शरीरधारी होते हैं, वे सब पदार्थ अपने आप नहीं बनते। अतः अनन्त ऐश्वर्यवान् एक चेतन पदार्थ सृष्टि का कर्त्ता है।

कोई यह कह सकता है कि अनेक जीवात्माएँ मिलकर अपने सामर्थ्य से संसार की रचना कर लेंगे। ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका समाधान यह है कि प्रथम सृष्टि की रचना होती है। पश्चात् शरीरों की रचना होती है। उन शरीरों में रहकर अग्नि, जल, वायु, अन्न आदि अनेक पदार्थों की सहायता से शरीरधारी जीव कुछ वस्तुओं का निर्माण करते हैं। सृष्टि की रचना से पूर्व वे कुछ भी नहीं कर सकते। अतः सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का मानना आवश्यक है।

यह भी प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना क्यों की ? इसका उत्तर यह है कि जीवात्माओं को लौकिकसुख, मोक्षसुख और पूर्वसृष्टि में किये हुए कर्मों का फल देने के लिए ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि ईश्वर के सान्निध्य से सृष्टि स्वयं बन जाती है, ईश्वर कुछ नहीं करता। यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिपूर्वक रचना के लिये ज्ञान और बल का सहयोग अनिवार्य है। यदि ईश्वर अपने ज्ञान और बल का प्रयोग न करे तो सृष्टि की रचना सान्निध्यमात्र से कभी नहीं हो सकती। इसलिये सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ही को मानना अनिवार्य है॥ २४ ॥

अव० - किञ्च

अर्थ - और भी (पुरुषविशेष ईश्वर की विशेषतायें हैं) -

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ - (तत्र) उसमें (निर्–अतिशयम्) अतिशय से रहित = बढ़ती से रहित (सर्वज्ञ–बीजम्) सर्वज्ञता का बीज है।

सूत्रार्थ - उस पूर्वोक्त ईश्वर में अतिशय सर्वज्ञता का बीज है। अर्थात् न तो किसी में ईश्वर के ज्ञान के तुल्यज्ञान है और न ही उससे अधिक।

व्या० भा० - यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्धि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति।

यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः । स च पुरुषविशेष इति । सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षय-मनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति । तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या । तस्यात्मानुग्रहा-भावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति । तथा चोक्तम्-आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति ॥ २५ ॥

व्या० भा० अ० *– भूत, भविष्य, वर्त्तमान में से किसी एक का वा सभी का अतीन्द्रिय ज्ञान जो किसी में न्यून और किसी में अधिक होता है, वही सर्वज्ञता का बीज है । वही बढ़ता-बढ़ता जिसमें पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है वह 'सर्वज्ञ' कहा जाता है । सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा को प्राप्त होता है उसमें न्यूनाधिक्य सम्भव होने के कारण । जिसमें न्यूनाधिक्य की स्थिति सम्भव होती है उसकी पराकाष्ठा भी होती है । जैसे परिमाण ।*

जिसमें ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति है वह सर्वज्ञ है, और वह पुरुषविशेष है । सामान्यज्ञानमात्र प्रस्तुत करके निवृत्त हुआ अनुमानप्रमाण पदार्थ के विशेष धर्म को बताने में समर्थ नहीं होता । इसलिये ईश्वर के संज्ञादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से प्राप्त करना चाहिये । उस (ईश्वर) का अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर अनुग्रह करना प्रयोजन है । ज्ञान एवं धर्म के उपदेश के द्वारा कल्पप्रलय एवं महाप्रलय में ''सांसारिक लोगों का उद्धार करूँ'' यह उसका प्रयोजन है । ऐसा कहा गया है – आदिविद्वान् भगवान् सर्वज्ञ (ईश्वर)ने जिस ज्ञान से मनुष्यों को विद्वान् बनाया जाता है उस ज्ञान को सुसज्जित करके करुणा से जिज्ञासायुक्त जीवात्मा के लिए वेदज्ञान दिया ॥ २५ ॥

यो० प्र० – दर्शनकार ने इस सूत्र में **निरतिशयज्ञान के द्वारा पुरुष विशेष 'ईश्वर' का स्वरूप** बतलाया है ।

संसार में ज्ञान की दृष्टि से मनुष्यों के स्तर भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं । किसी व्यक्ति का ज्ञान अल्प है, दूसरे का ज्ञान उससे अधिक और तीसरे का ज्ञान उससे भी अधिक है । इस ज्ञान को **'सातिशयज्ञान'** कहते हैं । यही सर्वज्ञता का बीज है । यह ज्ञान बढ़ते-बढ़ते ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि जिससे बढ़कर आगे अन्य कोई ज्ञान हो ही नहीं सकता । ऐसे ज्ञान का नाम **'निरतिशय'** है । जिसमें यह ज्ञान रहता है, वह पुरुषविशेष ईश्वर सर्वज्ञ है । जैसे संसार में कुछ छोटे पदार्थ हैं, कुछ उनसे बड़े हैं और कुछ उनसे भी बड़े हैं । इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से जिससे बढ़कर अन्य कोई भी पदार्थ न हो, वह निरतिशय कहा जायेगा । ऐसे ही ईश्वर का ज्ञान निरतिशय है । इसी प्रकार से छोटे पदार्थों में भी जो सबसे छोटा है, वह निरतिशय कहा जायेगा। ईश्वर का ज्ञान न घटता है और न बढ़ता है क्योंकि वह स्वाभाविक है। स्वाभाविक पदार्थ कभी घटता-बढ़ता नहीं । ईश्वर जीवों के कल्याणार्थ अपना ज्ञान प्रदान करता है । उसी ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से जीव अपने व्यवहार की सिद्धि और मोक्ष की सिद्धि करते हैं, केवल अपने स्वाभाविक ज्ञान से नहीं ।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि ईश्वर सृष्टि की रचना क्यों करता है और जीवों को अपना ज्ञान क्यों देता है ? इसका उत्तर है – जीवों के कल्याणार्थ । इस विषय में पूर्वसूत्र में भी लिखा जा चुका है । ईश्वर के विषय में एक जिज्ञासा होती है कि वह सर्वज्ञ क्यों है ? इसका समाधान यह है कि वह सर्वव्यापक है । कोई यह कह सकता है कि सर्वव्यापक होने में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर यह है कि संसार में लोक लोकान्तरों का निर्माण एवं उनका व्यवस्थित संचालन सर्वत्र हो रहा है इस कार्य को ईश्वर के अतिरिक्त और कोई कर नहीं सकता, जहाँ जहाँ ये क्रियायें हो रही हैं वहाँ वहाँ ईश्वर का होना अनिवार्य है । क्योंकि ये क्रियायें सर्वत्र हो रही हैं । अतः ईश्वर सर्वव्यापक है ॥ २५ ॥

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ – (सः एषः) वह यह (पूर्वेषाम्) पूर्व में उत्पन्न सभी गुरुओं का (अपि) भी (गुरुः) गुरु = विद्या देने वाला है, (कालेन–अनवच्छेदात्) काल के द्वारा मृत्यु को प्राप्त नहीं होने से ।

सूत्रार्थ – वह ईश्वर भूत–भविष्यत्–वर्त्तमान में उत्पन्न होने वाले सब गुरुओं का गुरु = विद्या देने वाला है । काल के द्वारा मृत्यु को प्राप्त न होने से ।

व्या० भा० – **पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः । यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥ २६ ॥**

व्या० भा० अ० – *पूर्ववर्ती गुरु काल से अवच्छिन्न होते हैं । अवच्छेद के लिये काल जहाँ प्रवृत्त नहीं होता वह यह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है । उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ जैसा इस सृष्टि के आरम्भ में सिद्ध था इसी प्रकार अतीत सृष्टियों में भी जानना चाहिए ॥ २६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में ईश्वर को **पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु** बतलाया है ।

सूत्रकथन से यह सिद्ध होता है कि वर्तमानकाल में जो गुरु हैं, उनका और भविष्यकाल में जो गुरु होंगे, उन गुरुओं का भी गुरु ईश्वर है । क्योंकि ईश्वरप्रदत्त विद्या के बिना कोई भी जीवात्मा केवल अपने स्वाभाविकज्ञान से व्यवहार की सिद्धि और मोक्ष की सिद्धि नहीं कर सकता । देहधारी गुरुओं से अथवा सृष्टि की रचना को देखकर व्यक्ति जिस ज्ञान को प्राप्त करता है। वह ज्ञान परम्परा से ईश्वर से ही आया है । वर्तमानकाल में भी जो मनुष्य ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं और विधिपूर्वक उसकी उपासना करते हैं, उनको भी ईश्वर ज्ञान देता है। जो भौतिक वैज्ञानिक विद्वान् बनते हैं, वे भी ईश्वर की सहायता से ही बनते हैं । परमेश्वर का ज्ञान उनको कई प्रकार से प्राप्त होता है ।

(१) परमेश्वर की बनाई सृष्टि और उनमें विद्यमान पदार्थों की रचना को देखने से ज्ञान होता है । उदाहरण के लिये – वैज्ञानिकों ने मनुष्य, पशु आदि के शरीरों का ज्ञान प्राप्त किया । उसी के आधार पर शरीर की चिकित्सा होती है ।

(२) पक्षियों के शरीरों के आकार–प्रकार को देखकर उसी के अनुसार विमान का आकार बनाया । जो भी ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया वह परमेश्वर के द्वारा बनाये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा प्राप्त किया । इन सृष्टि के पदार्थों की रचना और इनके आकार प्रकार को देखे बिना और शरीर आदि साधनों के बिना न कोई वैज्ञानिक बन सकता है, न कोई आविष्कार कर सकता है, न ही किसी यन्त्र की रचना कर सकता है । इसलिए आत्मा, परमात्मा को जानने वाले आध्यात्मिक विद्वानों का और भौतिक वैज्ञानिकों का गुरु ईश्वर है । जो सत्य और असत्य का परिज्ञान करवाये, उसको 'गुरु' कहते हैं । जो देहधारी मनुष्य अन्य मनुष्यों को विद्या पढ़ाता है, वह 'गुरु' है । परन्तु उस गुरु को विद्या देने वाला ईश्वर परमगुरु है ।

कुछ लोगों की मान्यता यह है कि देहधारी गुरु ईश्वर से बड़ा है क्योंकि वह ईश्वर प्राप्ति करवाता है । यदि वह न हो, तो साधक उस तक पहुँच नहीं सकता । यह ठीक नहीं है, क्योंकि देहधारी गुरु को ईश्वर शरीर, इन्द्रिय आदि साधन न दे और वेदों का ज्ञान न दे तो वह विद्वान् ही नहीं बन सकता । बिना विद्या के औरों का गुरु भी नहीं बन सकता । पूर्व में ईश्वर से विद्या पढ़कर अथवा जिन्होंने ईश्वर से विद्या पढ़ी है, उनसे विद्या पढ़कर पश्चात् दूसरों को पढ़ाता है । उसके पश्चात् उसकी गुरु संज्ञा होती है । इसलिये वह ईश्वर से छोटा होता है, बड़ा नहीं । गुरु का सम्मान करना उत्तम कार्य है । परन्तु उसको ईश्वर से बड़ा मानना अनुचित एवं हानिकारक है । क्योंकि इस मान्यता के अनुसार साधक ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता । बड़े को छोटा और छोटे को बड़ा मानना ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध है । उसकी आज्ञा भंग करने वाले साधक को ईश्वर अपना साक्षात्कार करवाने वाली विद्या नहीं देता । उसके न मिलने से योगाभ्यासी ईश्वर प्राप्ति करके मोक्ष का भागी नहीं बनता । केवल गुरु से विद्या लेने और ईश्वर से न लेने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती । कभी भी देहधारी गुरु को ईश्वर से बड़ा और ईश्वर को उससे छोटा नहीं मानना चाहिये ।

यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये शरीरधारी गुरु की आवश्यकता है वा नहीं ? आवश्यकता है ।

प्रश्न = वैदिक धर्म में गुरु बनाने की परम्परा है या नहीं ?

उत्तर = वैदिक धर्म में गुरु बनाने की परम्परा है ।

प्रश्न = गुरु किसको बनाया जाये ?

उत्तर = जिसको गुरु के रूप में स्वीकार किया जाये वह वास्तविक गुरु हो । अर्थात् वास्तविक गुरु में निम्नलिखित लक्षण होने चाहियें ।

वास्तविक गुरु के लक्षण –

१. वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों के पठन–पाठन को मुक्ति का साधन मानने वाला हो ।

२. सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी हो ।

३. पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्यागी हो ।
४. ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् मानने वाला हो ।
५. स्वयं अष्टाङ्गयोग का अनुष्ठान करने वाला हो ।
६. सकाम कर्मों को छोड़कर निष्काम कर्म करने वाला हो ।
७. अपनी उन्नति के तुल्य प्राणिमात्र की उन्नति चाहने वाला हो ।
८. पक्षपातरहित न्यायकारी हो ।
९. मद्य, मांसादि अभक्ष्य खान-पान करने वाला न हो ।
१०. मोक्ष की प्राप्ति करने-करवाने को मानव जीवन का मुख्यलक्ष्य मानने वाला हो ।
११. वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि ग्रंथो में वर्णित योग विद्या का प्रचार-प्रसार करने वाला हो, इत्यादि ।

किसी व्यक्ति में लम्बे काल तक इन गुणों का परीक्षण करना चाहिये । लम्बे परीक्षण के पश्चात् यदि उस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण उपलब्ध हों, तभी उसे गुरु बनाना चाहिये ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ - (तस्य) उस ईश्वर का (वाचकः) बोधक शब्द = नाम (प्रणवः) प्रणव = ओम् है ।

सूत्रार्थ - उस ईश्वर का बोधक = नाम 'ओम्' है ।

व्या० भा० - वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य । किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाश-वदवस्थितमिति । स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः । संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति । यथावस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति । सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते । संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते ॥ २७ ॥

व्या० भा० अ० *- 'प्रणव' का वाच्य 'ईश्वर' है । प्रणव एवं ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतकृत है अथवा प्रदीप एवं उसके प्रकाश के समान अवस्थित है ? इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ सम्बन्ध पहले से विद्यमान है । यह संकेत ईश्वर के साथ विद्यमान सम्बन्ध को ही बतलाता है । जिस प्रकार पिता-पुत्र का पहले से विद्यमान सम्बन्ध संकेत के द्वारा बतलाया जाता है कि यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है । उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा अन्य सर्गों में भी वाच्यवाचकत्व की शक्ति की अपेक्षा से संकेत किया जाता है । सदृश व्यवहार की परम्परा के प्रवाहरूप से नित्य होने से शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकत्व सम्बन्ध नित्य है, ऐसा आगम (वेद) को मानने वाले कहते हैं ॥ २७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में 'प्रणव' को **ईश्वर का वाचक** बतलाया है ।

ईश्वर वाच्य है और प्रणव उसका वाचक है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'णु' (स्तुतौ) धातु से 'अप्' प्रत्यय करने पर 'प्रणव' शब्द सिद्ध होता है। **(प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति प्रणवः)** । जिस शब्द के द्वारा उत्कृष्ट रूप से स्तुति की जाती है वह 'प्रणव' कहाता है। प्रणव शब्द से यहाँ पर 'ओम्' शब्द अभिप्रेत है । यजुर्वेद १८/२५ का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने लिखा है कि "**प्रणवैः ओङ्कारैः**" । इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'प्रणव' शब्द के द्वारा 'ओंकार' कहा गया है । '**अवतीति ओम्**' = 'अव' धातु से 'ओम्' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ रक्षक है।

ओम् का और ईश्वर का पिता–पुत्र जैसा सम्बन्ध है । यहाँ सम्बन्ध प्रवाह से अनादि है, स्वरूप से नहीं क्योंकि शब्द आकाश का गुण है । सांख्यदर्शन में तन्मात्राओं से आकाश की उत्पत्ति बताई गई है । इसलिये ओम् शब्द भी अनित्य है । प्रत्येक सृष्टि के आदि में ईश्वर जीवों को वेदों का ज्ञान देता है । उसी काल में जीवों को यह ज्ञान भी देता है कि ओम् शब्द मेरा वाचक है और मैं उसका वाच्य हूँ । हम दोनों का वाच्य–वाचक सम्बन्ध है ।

'ओम्' यह परमेश्वर का मुख्य नाम है। क्योंकि इस शब्द से उसके स्वरूप का विस्तार से वर्णन होता है। उसका ध्यान करते समय छोटा शब्द होने से ओम् का उच्चारण करना सरल है। ईश्वर में विद्यमान गुणों के द्वारा की जाने वाली स्तुति, प्रार्थना आदि 'सगुण' हैं और अविद्यमान गुणों के द्वारा की जाने वाली 'निर्गुण' हैं। दर्शनकार ने ईश्वरप्राप्ति के इच्छुक योगाभ्यासियों को उसके स्वरूप का वर्णन 'निर्गुण' और 'सगुण' रूप से किया है, जिससे उनको ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने में कठिनता न हो । क्योंकि जब साधक सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार से ईश्वर को जान लेता है तो उसके लिए सगुण, निर्गुण स्तुति, प्रार्थना, उपासना सरल हो जाती है । यहाँ यह ध्यान में रखें कि 'सगुण' का अर्थ 'साकार' और 'निर्गुण' का अर्थ निराकार नहीं है ॥ २७॥

अव० – विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः –

अर्थ – वाच्य वाचक सम्बन्ध को जानने वाले योगी को –

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ – (तत्–जपः) उसका जप (तत्–अर्थ–भावनम्) उसके अर्थ की = 'ओम्' नाम के नामी ईश्वर की भावना अर्थात् उसके रक्षण आदि गुणों का चिन्तन करना चाहिये ।

सूत्रार्थ – उस ईश्वर के वाचक ओम् शब्द का 'जप' = पुनः–पुनः उच्चारण और ईश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव का 'चिन्तन' करना चाहिये ।

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम् । तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते । तथा चोक्तम् –

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते ।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ इति ॥ २८ ॥

व्या० भा० अ० *– प्रणव का जप और प्रणव के वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिये । उस प्रणव के जप करने वाले और उसके अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है । और उसी प्रकार कहा है –*

स्वाध्याय अर्थात् ओम् जप के सहयोग से योग अर्थात् वृत्तियों का निरोध करे । वृत्तियों के निरोध के सहयोग से ओम् का जप करे । इन दोनों के सामर्थ्य से परमात्मा प्रकट होता है ॥ २८ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में ओम् का जप और ओम् शब्द का जो अर्थ ईश्वर है उसके स्वरूप को विचारने का विधान है । इस विषय में **क्लेश कर्मविपाक.....** ॥ १/२४ ॥ सूत्रभाष्य में उल्लेख कर दिया है कि योगाभ्यासी शब्दप्रमाण अथवा अनुमानप्रमाण से प्रथम ईश्वर के स्वरूप का परिज्ञान अवश्य ही कर लेवे । क्योंकि इसके बिना विधिपूर्वक ध्यान नहीं हो सकता । ध्यान की सफलता के लिए वाच्य–वाचक सम्बन्ध को भी जान लेना चाहिये ।

'जप' का अर्थ, जप शब्द वा वाक्य का बार–बार पाठ करना है । **'भावना'** का अभिप्राय है कि उसका जो वाच्य है, उसके गुणों का विचार करना । जैसे – साधक ने ओम् शब्द का उच्चारण किया और 'ओम्' शब्द का जो 'वाच्य' अर्थात् वस्तु ईश्वर है, वह सर्वरक्षक है इस प्रकार उसके गुण का विचार किया यह 'भावना' है । जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही जानना, मानना भावना है । जो वस्तु जैसी है उसको उसके विपरीत जानना, मानना भावना नहीं है अर्थात् अभावना है । संसार में अनेक साधक ईश्वरप्राप्ति के लिये प्रयासशील हैं । परन्तु ईश्वर का जैसा स्वरूप है, उसको वैसा न जानने के कारण वे उसकी प्राप्ति नहीं कर पाते ।

ध्यान करने वाले योगाभ्यासी को अनेक बातों का परिज्ञान होना चाहिये । जैसे कि –

(१) ध्यान के समय आसन पर बैठकर यह निश्चय करना चाहिये कि मानवजीवन का मुख्यलक्ष्य ईश्वरप्राप्ति करना और करवाना है ।

(२) मैं इस उपासनाकाल में स्तुति, प्रार्थना और उपासना के द्वारा ईश्वरसाक्षात्कार करने के लिये ही प्रयत्न करूँगा, अन्य किसी भी विषय को मन में नहीं उठाऊँगा । यदि असावधानी से किसी विषय को उठा लूंगा तो उसको तत्काल रोक दूँगा ।

(३) मन जड़ पदार्थ है और मैं चेतन हूँ । उसको मैं ही चलाता हूँ, वह स्वयं कभी नहीं चल सकता ।

(४) योगदर्शन में बताई हुई चित्त की पाँच वृत्तियों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये । योगाभ्यास के समय असावधानी से किसी वृत्ति को उठा लें तो तत्काल समझ लेना चाहिये कि मैंने अमुक वृत्ति उठा ली है । अब मैं इसको रोक देता हूँ । इसी प्रकार से प्रत्येक वृत्ति के विषय में करे । जो साधक इन वृत्तियों के स्वरूप को नहीं जानते, वे इनको नहीं रोक सकते ।

(५) ओम् का जप अर्थ सहित करना चाहिये । बिना अर्थ के जप करने वाला, मन को एकाग्र नहीं कर पाता ।

(६) ध्यान में करने योग्य तीन कार्यों का ज्ञान रखना चाहिये । **(क)** ओम् का उच्चारण करना **(ख)** ओम् शब्द के वाच्य ईश्वर के स्वरूप का विचार करना (इसको भावना कहते हैं) **(ग)** स्वयं को ईश्वर समर्पित करना । अर्थात् इन शरीर आदि सभी पदार्थों को बनाने वाला और इन सबका स्वामी ईश्वर है, मैं उसी के समीप बैठकर उसकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना कर रहा हूँ। मेरी सभी क्रियाओं को, विचारों को वह जान रहा है, ऐसा पूर्णविश्वास रखना ।

अर्थ विचार करने के प्रकार - (अ) प्रथम ओम् शब्द का पाठ करना चाहिये । पुन:रुककर उसके अर्थ का विचार करना चाहिए । जैसे कि हे ईश्वर आप सर्वरक्षक है । इस प्रकार प्रत्येक बार के उच्चारण के पश्चात् किया जाए । क्योंकि नवीन साधक ओम् शब्द के उच्चारण के साथ-साथ उसके अर्थ का विचार नहीं कर सकता । जप करते समय अर्थ का विचार करना आवश्यक है । **(आ)** ओम् शब्द को लम्बे समय तक बोलना और उस उच्चारण के साथ-साथ अर्थ का विचार करना । देर तक उच्चारण करते हुए जप करने से वाक्य के अर्थ विचार करने में सुविधा होती है। अर्थ करने का अवकाश मिलता है। इस प्रयोग में भी स्वयं को ईश्वरसमर्पित रखना आवश्यक है । **(इ)** जपवाक्य को मध्यमगति से बोलना, अर्थ का विचार करना और ईश्वरसमर्पित रहना । इस प्रयोग को उच्च कोटि का साधक ही कर सकता है, साधारण नहीं । क्योंकि मध्यम गति से जप करते हुए अर्थ का विचार करना और ईश्वरार्पित रहना अधिक अभ्यास साध्य है । यह जप मन से भी किया जाता है, वाणी से भी किया जाता है । मन्द ध्वनि से, ऊँची ध्वनि से और गायन के द्वारा भी किया जाता है । जिस विधि से करने में योगाभ्यासी को सुविधा हो, वह उसी विधि से करे ।

(७) जप करने वाले व्यक्ति को व्यवहार में अष्टाङ्ग योग का पालन करना चाहिये। जो योगाभ्यासी व्यवहार में यम-नियमादि का पालन नहीं करते, उन्हें जप में सफलता नहीं मिलती । योगदर्शनकार ने (सूत्र १/३३) संसार में चार प्रकार के मनुष्य बतलाये हैं । उनके साथ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का व्यवहार करना चाहिये ।

(८) साधक का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि योग के विशेषज्ञ गुरु के सान्निध्य में रहकर योगाभ्यास करे। यदि गुरु का सान्निध्य न मिले तो उस गुरु के आदेशानुसार दूर रहकर करे। क्योंकि योग एक सूक्ष्मविषय है । बिना विशेष प्रयत्न के उसे समझना कठिन है ।

(९) जिज्ञासु को तीन एषणायें छोड़ देनी चाहियें । इन एषणाओं की विद्यमानता में योग की सिद्धि नहीं हो सकती ।

(१०) जप करने वाले व्यक्ति को वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों को स्वयं पढ़ना, औरों को पढ़ाना भी चाहिये । इससे अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि तथा संशय दूर हो जाते है ।

(११) जैसे ज्ञान, उपासना आवश्यक साधन हैं, वैसे ही निष्काम कर्म भी हैं ।

(१२) योगाभ्यास करने से साधक को जो सफलता मिलती है, उसमें मुख्य कारण ईश्वर को मानना चाहिये, स्वयं को नहीं, क्योंकि स्वयं को मुख्य कारण मानने से मोह और मिथ्या अभिमान की वृद्धि होती है, उससे योग में बाधा उपस्थित होती है ।

वेद में ईश्वर को स्मरण करने का विधान है –

ओम् क्रतो स्मर ॥ यजुर्वेद ४०/१५ ॥

भावार्थ – हे कर्म करने वाले जीव ! (ओ३म्) इस नाम का स्मरण अर्थात् जप कर ।

मुण्डकोपनिषद् में ओम् के जप की विधि –

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ मुण्डकोपनिषद् २/२/४ ॥

भावार्थ – प्रणव धनु है, बाण आत्मा, ब्रह्म उस आत्मा का लक्ष्य है, प्रमाद रहित होकर उस लक्ष्य का वेध करे तब जिस प्रकार शर लक्ष्य में प्रवेश करता है वैसे ही जीवात्मा ब्रह्म में प्रवेश करे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासनाविषय में जपविधि इस प्रकार से लिखी है – ''इसलिए इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिए कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर (स्थिर हो) जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेमभक्ति सदा बढ़ती जाए'' ॥ २८ ॥

अव० – किञ्चास्य भवति ?

अर्थ – इससे (योगी को) और क्या प्राप्त होता है यह सूत्र में कहा जाता है –

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस ईश्वरप्रणिधान से (प्रत्यक्–चेतन–अधिगमः) परमात्मा का साक्षात्कार (अपि) जीवात्मा का भी साक्षात्कार (च) और (अन्तराय–अभावः) रोगादि विघ्नों का अभाव होता है।

सूत्रार्थ – उस ईश्वरप्रणिधान से परमात्मा का साक्षात्कार, जीवात्मा का साक्षात्कार और विघ्नों का अभाव = विनाश होता है ।

व्या० भा० – ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति । यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति ॥ २९ ॥

व्या० भा० अ० *– व्याधि आदि (अगले सूत्र में कहे जाने वाले योग के) जो विघ्न हैं, ईश्वरप्रणिधान से वे नहीं होते । इस (योगी) को अपने स्वरूप का दर्शन (ज्ञान) भी होता है । जिस प्रकार ईश्वर पवित्र, दुःखरहित अन्य पदार्थों के सम्मिश्रण से रहित, सब प्रकार की बाधाओं से रहित है उसी प्रकार बुद्धि का संवेदन करने वाला जीवात्मा भी है, ऐसा जान लेता है ॥ २९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि विधिपूर्वक ओमादि का जप और ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करने से योगी को **जीवात्मा, परमात्मा का साक्षात्कार** होता है और **अन्तरायों का अभाव** होता है ।

सूत्र में पठित '**प्रत्यक्चेतना**' शब्द से ईश्वर और जीवात्मा का ग्रहण होता है। यहाँ पर एक शंका उभरती है कि ईश्वरप्रणिधान से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान कैसे होता है ? इस शंका का समाधान यह है कि जब जीवात्मा व्यवहार में ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है और उसकी उपासना भी करता है तो ईश्वर उसको अपना ज्ञान देकर योग्य बना देता है। इसी कारण से जीवात्मा दोनों को जानने में समर्थ हो जाता है । ईश्वर के सत्संग से आगे के सूत्रों में बतलाये विघ्न और उपविघ्नों का भी निराकरण होता है । यहाँ पर यह जानना चाहिये कि जीवात्मा विघ्नों को दूर करने में स्वयं पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तो उस पुरुषार्थ के पश्चात् ईश्वर उसको सहायता देता है । पुरुषार्थहीन व्यक्ति को वह सहायता नहीं देता । बिना उसकी सहायता के विघ्न–उपविघ्न दूर नहीं होते । इसलिये प्रत्येक साधक को व्याधि आदि बाधाओं को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिये । ईश्वरप्रणिधान के प्रसंग में अनेक साधनों और बाधकों के परित्याग करने से ईश्वर सहायता करता है ।

इस विषय में एक प्रश्न उठता है कि परिश्रम करने के पश्चात् ही ईश्वर सहायता क्यों करता है ? इसका समाधान यह है कि उसने कुछ सामर्थ्य जीव को पूर्व से दे रखा है। उसका प्रथम प्रयोग करना चाहिये। इसके पश्चात् भी लक्ष्य की सिद्धि न हो तो तब ईश्वर से याचना करनी चाहिये । ईश्वर न्यायकारी है। उसके न्यायानुसार आचरण करके साधकों को अपनी उन्नति करनी चाहिये । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि ईश्वर भक्ति से न कुछ मिलता है और न दोष दूर होते हैं। यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से खण्डन हो जाता है । ईश्वरभक्ति के द्वारा सभी मनुष्य अनेक समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। ईश्वरभक्ति का अनुष्ठान करने से प्रत्यक्ष होगा कि क्या लाभ होता है और किन दोषों की निवृत्ति होती है ।

ईश्वरभक्ति से उपासक को प्राप्त होने वाले कुछ लाभ –

१. पर्वत के समान कष्ट आने पर भी नहीं डरता, सबको सहन कर जाता है ।
२. प्रमाणों से सिद्ध सत्य को ग्रहण करने के लिए उद्यत रहता है। दुराग्रह नहीं करता है।
३. उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह सदा सत्य ही बोलता है, असत्य नहीं ।
४. अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहता है और संगठन की स्थापना करता है, विघटन को दूर करता है ।
५. अन्याय को छोड़, सदा न्यायाचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है ।
६. उसे ऐसी पवित्रता प्राप्त होती है कि वह मद्यमांसादि का सेवन नहीं करता। सदा सात्विक एवं न्यायोपार्जित भोजन को ही स्वीकार करता है ।

७. उसे ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है कि वह समस्त प्राणियों को आत्मवत् देखता है अर्थात् उनके सुखदु:ख, हानिलाभ को अपने सुखदु:ख, हानिलाभ के समान समझता है।

८. मानापमान से सुखी-दु:खी नहीं होता है ।

९. न्यायकारियों का सहयोग करता है और अन्यायकारी चक्रवर्ती राजा से भी नहीं डरता है।

१०. ईश्वर के सान्निध्य से आनन्द का उपभोग करता है अत: तन-मन-धन से प्राणिमात्र के उपकार में तल्लीन रहता है ।

११. उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है कि वह सबके साथ प्रीति से व्यवहार करता है, किसी से भी द्वेष नहीं करता है ।

१२. सदा निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं ।

१३. योगी मन और इन्द्रियों पर वश्यता प्राप्त करता है ।

१४. समस्त क्लेशों से, बन्धनों से मुक्त होता है। ईश्वर के नित्यानन्द का अनुभव करता है।

१५. अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति करता है ॥ २९ ॥

अव० - अथ केऽन्तराया ये चित्तस्य विक्षेपाः ? के पुनस्ते कियन्तो वेति ?

अर्थ - अब चित्त में विक्षेप को उत्पन्न करने वाले विघ्न कौन-२ से हैं, वे कितने और किस प्रकार के स्वरूप वाले हैं, अब इस विषय में बतलाया जाता है -

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वा-नवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ - (व्याधि.....अनवस्थितत्वानि) व्याधि = धातु, रस तथा इन्द्रियों की विषमता । स्त्यानम् = सत्य कर्मों में अप्रीति । संशय: = एक विषय में दो प्रकार का परस्पर भिन्न-भिन्न ज्ञान अर्थात् यह पदार्थ ऐसा है अथवा ऐसा नहीं है । प्रमाद: = यम-नियमादि समाधि के साधनों का आचरण न करना (ध्यान नहीं देना, महत्त्वहीन समझकर उपेक्षा करना, लापरवाही) आलस्यम् = शरीर या चित्त के भारीपन के कारण योगाभ्यास में प्रवृत्त न होना । अविरति: = वैराग्य का अभाव अर्थात् विषयों में राग । भ्रान्तिदर्शनम् = विपरीत ज्ञान । अलब्धभूमिकत्वम् = समाधि की प्राप्ति न होना । अनवस्थितत्वम् = समाधि प्राप्त होने पर भी पुन: चित्त का स्थिर न होना । (चित्तविक्षेपा:) चित्त को विक्षिप्त करने वाले कारण । (ते) वे [ये] (अन्तराया:) योग के विघ्न हैं ।

सूत्रार्थ - समाधि के व्याधि आदि नौ विरोधी कारण अर्थात् विघ्न, बाधायें, 'अन्तराय' हैं ।

व्या० भा० - नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति । एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः । तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् । स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य । संशय उभयकोटि-

स्पृग्विज्ञानं-स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्य कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते ॥ ३० ॥

व्या० भा० अ० *- चित्त को विक्षिप्त करने वाले नवविघ्न हैं । ये चित्तवृत्तियों के साथ होते हैं । इनके न होने पर पूर्वोक्त प्रमाणादि चित्तवृत्तियाँ नहीं होती । उनमें से व्याधि = धातु (वात-पित्त-कफ) में विषमता का होना; रस (भोजन से बने रस) में विषमता का होना, करण (इन्द्रियों) में अल्प देखना व सुनना आदि के कारण विषमता का होना । स्त्यान = योग के अनुष्ठान की योग्यता होने पर भी चित्त की अकर्मण्यता = योगसाधनों के अनुष्ठान में अप्रीति । संशय = एक विषय में दो विरुद्ध ज्ञानों का होना, जैसे कि ईश्वर है वा नहीं । प्रमाद = योग साधनों का अनुष्ठान न करना । आलस्य = शरीर एवं चित्त के भारी होने के कारण योग में प्रवृत्ति का न होना । अविरति = चित्त की विषयभोगात्मक आकांक्षा । भ्रान्तिदर्शन = मिथ्याज्ञान । अलब्धभूमिकत्वम् = समाधि की किसी भूमि की प्राप्ति न होना । अनवस्थितत्वम् = प्राप्त हुई (समाधि की) भूमि में चित्त का स्थिर न होना । समाधिभूमि का लाभ होने पर चित्त को उसमें स्थिर होना चाहिए । ये नौ चित्त के विक्षेप योग के मल, योग के शत्रु, योग के विघ्न कहे जाते हैं ॥ ३० ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में व्याधि आदि **योग के विघ्नों का कथन** किया है । योगजिज्ञासुओं को योग के साधनों का और उसके बाधकों का भी परिज्ञान कर लेना चाहिए । जैसे अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए साधनों की आवश्यकता है, वैसे ही बाधकों को जानना और उनको दूर करना भी आवश्यक है ।

सूत्र में यह बात कही है कि ईश्वरप्रणिधान से **व्याधि** दूर हो जाती है । यह कैसे दूर होती है, यह जानना आवश्यक है । व्याधि अर्थात् रोग के दूर करने में साधक और ईश्वर दोनों कारण बनते हैं । साधक शारीरिक विज्ञान को प्राप्त करे । शरीर किस प्रकार के खान-पान से स्वस्थ और अस्वस्थ होता है, इसका परिज्ञान भी कर लेवे । शरीर को स्वस्थ बनाने में यम-नियमों का पालन करना अनिवार्य है । इन बातों को आचरण में लाते हुए ईश्वरोपासना करने से रोग की निवृत्ति होती है । ईश्वरभक्ति से योगाभ्यासी को सुख मिलता है । उससे विषयभोगों की इच्छा समाप्त हो जाती है । विषयभोग की इच्छा के दूर होने से ब्रह्मचर्य का पालन करना सरल हो जाता है । ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर स्वस्थ और बलवान् होता है । इसी प्रकार से उपासक अपने खान-पान पर भी नियन्त्रण करने में समर्थ हो जाता है । ईश्वरोपासना से साधक की अविद्या का नाश होता है और विद्या की प्राप्ति होती है । अविद्या के नाश से काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, इन मानसिक रोगों का विनाश होता है । इन के विनाश से शरीर और मन दोनों स्वस्थ हो जाते हैं ।

योग में **स्त्यान** (अकर्मण्यता) बाधक है । इसका अभिप्राय यह है कि योगानुष्ठान से बचने की इच्छा होना । जिस कार्य में व्यक्ति की रुचि नहीं होती उसका सम्पादन करना कठिन है । ईश्वरोपासना करने से साधक की योगाभ्यास में रुचि होती है । क्योंकि उपासना से ईश्वर की विशेषताओं का ज्ञान होता है । किसी पदार्थ के गुणों को जानने से उसमें प्रीति होती है ।

संशय योग में बाधक है । संशय के होने पर व्यक्ति अपने लक्ष्य पर पहुँचने का प्रयास छोड़ देता है । योगाभ्यास करते समय अनेक संशय होते हैं । जैसे कि व्यक्ति विचारता है – जिस ईश्वर को मैं प्राप्त करना चाहता हूँ, वह है वा नहीं ? क्योंकि कुछ लोग उसको मानते हैं और कुछ नहीं मानते । यदि यह मान लिया जाये कि वह है तो यह ज्ञात नहीं कि निराकार है वा साकार ? कोई कहता है उसकी प्राप्ति होती है, कोई कहता है नहीं होती । जीवात्मा के विषय में भी संशय होता है कि पता नहीं शरीर के नष्ट होने पर जीवात्मा शेष रहता है वा नहीं ? कोई कहता है कि जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है और कोई कहता है जीव ईश्वर से पृथक् है । योगाभ्यास से मुझे सुख मिलेगा वा नहीं ? इन बातों में संशय होता है । योगाभ्यास के लिए कुछ लोग यम–नियमों की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते और कुछ लोग कहते हैं यम–नियम अनिवार्य हैं। इत्यादि अनेक विषयों में संशय होता है । ईश्वरोपासना से समस्त संशय दूर हो जाते हैं । **ततो न विचिकित्सति ॥** यजु० ४०/६ ॥ **भावार्थ** – जो विद्वान् सब प्रकृति आदि पदार्थों में सर्वत्र व्यापक परमात्मा को देखता है वह (ततः) ऐसे सम्यक् दर्शन के पीछे (न विचिकित्सति) सर्वथा संदेह को प्राप्त नहीं होता ।

प्रमाद का अभिप्राय है कि योगसाधनों के अनुष्ठान में लापरवाही करना । ईश्वरोपासना करते–करते कालान्तर में सुख की अनुभूति होने लगती है । उससे व्यक्ति उत्साहित होकर योगसाधनों का अनुष्ठान करने लगता है ।

आलस्य उपासना में बाधक है । आलस्य का मुख्य कारण तमोगुण है । ईश्वरोपासना से तमोगुण दूर होता है और सत्त्वगुण की प्रधानता होती है ।

अविरति अर्थात् इन्द्रियों का विषयभोगों में जो राग है, वह योग में बाधक है । जब विषयभोगों की इच्छा होती है तब साधक की उपासना भंग हो जाती है । ईश्वर से मिलने वाले सुख से विषयभोग की इच्छा समाप्त हो जाती है ।

भ्रान्तिदर्शन (मिथ्याज्ञान) योग में बाधक है । ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है ।

अलब्धभूमिकत्त्व – साधना करने पर भी समाधि की प्राप्ति न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है । यह योग में बाधक है । ईश्वरप्रणिधान से समाधि की प्राप्ति शीघ्र ही होती है ।

अनवस्थितत्त्व अर्थात् समाधि प्राप्त होने पर पुनः उसका छूट जाना = समाधि में चित्त को स्थिर न कर पाना । समाधि की प्राप्ति होने पर उसको स्थिर करने में भी ईश्वर सहायता करता है । इस प्रकार विघ्न और उपविघ्नों का नाश ईश्वरप्रणिधान से होता है ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ – (दुःख) दुःख = आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक आदि तीन प्रकार के । (दौर्मनस्य) = इच्छापूर्ति न होने पर चित्त का क्षोभ, (अङ्गमेजयत्वम्) अङ्गों का कंपन, (श्वासः) प्राणायाम करते समय इच्छा के विरुद्ध विशेषरूप से गतिपूर्वक श्वास का अन्दर आना, (प्रश्वासः) इसी प्रकार शीघ्रतापूर्वक श्वास का बाहर निकलना (विक्षेप-सहभुवः) विक्षेपों के साथ-साथ होने वाले ।

सूत्रार्थ – दुःख आदि उपविघ्न भी विक्षेपों के साथ-साथ विद्यमान रहते हैं ।

व्या० भा० – दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः । एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥ ३१ ॥

व्या० भा० अ० *– 'दुःख' आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक हैं । जिससे पीड़ित हुए प्राणी उसके नाश के लिए प्रयत्न करते हैं वह 'दुःख' है । इच्छा के पूर्ण न होने से चित्त का क्षुब्ध होना 'दौर्मनस्य' है । जो अङ्गों को कँपाता है वह 'अङ्गमेजयत्व' है । प्राण बाहर के जिस वायु को ग्रहण करता है वह 'श्वास' है । भीतर के जिस वायु को प्राण बाहर निकालता है वह 'प्रश्वास' है । ये विक्षेपों के साथ होते हैं । ये विक्षिप्तचित्त वाले साधक के होते हैं । ये एकाग्रचित्त वाले योगी के नहीं होते ॥ ३१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **योग के उपविघ्नों का वर्णन** है ।

व्याधि आदि विघ्नों के होने पर ये उपविघ्न होते हैं और उनके न होने पर नहीं होते । उपविघ्नों में से एक दुःख है जिससे पीड़ित हुए-हुए प्राणी उसके नाश के लिये प्रयत्न करते हैं, उसको दुःख कहते हैं । वह आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार का है । जो अपने कारण से होता है, वह आध्यात्मिक है । जो दूसरे प्राणियों के कारण से होता है, वह आधिभौतिक है और जो पृथिवी आदि भूतों के कारण से होता है, वह आधिदैविक है ।

कुछ लोग कहते हैं कि दुःख और सुख, ये कोई पदार्थ नहीं हैं । यह एक कल्पनामात्र है । लोगों की यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि दुःख और सुख प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुभव में आते हैं और इन दोनों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है । जब व्यक्ति दुःखी होता है तो उस पर भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है । वह अप्रसन्न, बाधित दिखाई देता है और उस अवस्था से छूटने के लिये विविध प्रयास करता है । जब व्यक्ति सुखी होता है तो उस पर भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है । वह प्रसन्न और बाधारहित दिखाई देता है। वह उस स्थिति को छोड़ना नहीं चाहता । इसलिये दुःख एक पदार्थ है और वह योग का विरोधी है । अपनी इच्छा की पूर्ति न होने से व्यक्ति खिन्न हो जाता है । उससे मन की स्थिरता भंग हो जाती है । इसलिये यह योग का बाधक है ।

उपासना–काल में अङ्गों में कम्पन होने से चित्त की एकाग्रता भंग होती है । यह कम्पन किसी रोग के कारण होता है अथवा व्यक्ति ने अपने अङ्गों को हिलाने का अभ्यास कर लिया हो, इस कारण से होता है । जब श्वास–प्रश्वास साधक के अधिकार से बाहर हो जाते हैं तो वह विधिपूर्वक प्राणायाम नहीं कर सकता और मन्त्रोचारण में भी कठिनाई होती है । इसलिये ये दोनों भी योग के उपविघ्न हैं ।

इस प्रसङ्ग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईश्वरप्रणिधान से शारीरिकरोग एक सीमा तक ही दूर होते हैं । अतितीव्र रोग दूर नहीं हो सकता । परन्तु उन रोगों को सहने की शक्ति ईश्वर से मिलती है । जिससे योगी बड़े–बड़े दुःखों को भी सह लेता है ।

कुछ लोग यह कहते हैं कि योगी की समाधि अवस्था में उसके हाथादि काट दिये जाएं तो उसको कुछ भी पता नहीं चलता और उसकी समाधि भंग नहीं होती । यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि – भाष्यकार महर्षि व्यासजी के अनुसार धातु, रस और करण वैषम्य को व्याधि कहा जाता है । शरीर के अङ्गों को काटने पर शरीर में रक्तधातु का परिमाण न्यून होता है । यह 'व्याधि' है । यह योग में बाधक है अर्थात् इसके रहते हुए योग नहीं हो सकता । '**तप**' के विषय में उन्होंने लिखा है कि **अबाधमानमनेनासेव्यमिति** अर्थात् तप वही है जो साधक को बाधा न पहुँचावे । दुःख योग में बाधक है । इसलिये इस मान्यता में वास्तविकता नहीं है । क्योंकि शरीर के हाथादि अङ्गों के काट देने पर समाधि भंग हो जाती है । इसीलिये व्याधि को योग का शत्रु बतलाया है ।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि योगी देह के न रहने पर भी बहुत कालपर्यन्त मन्वन्तरों तक समाधिस्थ रहते हैं । जब अत्यन्त आघात से वा मादकपदार्थ (नशीलेपदार्थ) के सेवन से शरीर मूर्छित हो जाता है । तब उस समय आत्मा को किसी प्रकार का ज्ञान ही नहीं रहता है तो शरीररहित जीवात्मा कैसे समाधिस्थ रह सकता है ? अतः उक्त मान्यता ठीक नहीं है ॥ ३१ ॥

अव० – अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोधव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह –

अर्थ – ये सभी विक्षेप समाधि के विरोधी हैं । ये अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही निरोध करने योग्य हैं । अब उनमें से अभ्यास के विषय का उपसंहार करते हुए सूत्र कहा जाता है –

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ – (तत्–प्रतिषेधार्थम्) उन पूर्वोक्त विघ्नों–उपविघ्नों के विनाश के लिये, (एक–तत्त्व–अभ्यासः) एक तत्त्व ईश्वर का पुनः–पुनः अभ्यास = चिन्तन करना चाहिये ।

सूत्रार्थ – पूर्वोक्त व्याधि आदि विघ्नों–उपविघ्नों के विनाश के लिये एक तत्त्व 'ईश्वर' का पुनः–पुनः अभ्यास = उपासना करनी चाहिये ।

व्या० भा० – विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यसेत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् ।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं, क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृश-प्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति ।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्, अन्यप्रत्ययोपचित्तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् ? कथंचित्समाधीयमान-मप्येतद्गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिपति ।

किं च स्वात्मानुभवापह्नवश्चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम् ? यदहमद्राक्षं तत्स्पृशामि यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयो-ऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानं सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते । प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम् ॥ ३२ ॥

व्या० भा० अ० *– विक्षेपों के विनाश के लिए (योगी) एकतत्त्व ईश्वर के आलम्बन वाले चित्त का अभ्यास करें । जिसके मत में चित्त प्रत्येक (ज्ञेय) पदार्थ के लिए निश्चित एवं ज्ञानरूप तथा क्षणिक है उसके मत में प्रत्येक चित्त एकाग्र ही है । वह विक्षिप्त है ही नहीं । यदि यह सब ओर से हटाकर एक वस्तु में समाहित किया जाता है तब एकाग्र होता है तो वह प्रत्येक पदार्थ के लिए निश्चित नहीं कहा जा सकता अर्थात् एक-एक पदार्थ के लिए एक-एक चित्त नहीं कहा जा सकता ।*

जो भी सदृश ज्ञानों के प्रवाह के कारण चित्त को एकाग्र मानता है उसकी एकाग्रता यदि प्रवाह चित्त का धर्म है, तो चित्त के क्षणिक होने से एक प्रवाहचित्त नहीं है । और यदि (एकाग्रता) प्रवाहांशभूत ज्ञान का धर्म हो तो इस प्रकार से सभी चित्त चाहे वे सदृशज्ञानप्रवाह के अंश हों वा असदृशज्ञानप्रवाह के अंश हों, प्रत्येक (ज्ञेय) पदार्थ के लिए निश्चित होने के कारण एकाग्र ही हुए तब विक्षिप्त चित्त ही सिद्ध नहीं होता । इसलिये अनेक पदार्थों के लिए अवस्थित चित्त एक है ।

यदि एक चित्त से असम्बद्ध भिन्न-भिन्न ज्ञान उत्पन्न होते हैं ऐसे माना जाए तो अन्य चित्त के द्वारा देखे गये पदार्थ का स्मरण करने वाला अन्य चित्त कैसे हो सकता है ? अन्य चित्त के

द्वारा अर्जित कर्माशय का उपभोग करने वाला चित्त अन्य कैसे हो सकता है ? किसी प्रकार समाधान किया जाए तो भी यह ***गोमयपायसीय न्याय***[1] *से अनुपयुक्त है ।*

और भी चित्त अन्यत्व के होने पर अपने अनुभव का भी विरोध प्राप्त हो जाता है । कैसे ? जिसको मैंने देखा था उसको छूता हूँ और जिसको छूया था उसको मैं देखता हूँ ऐसा प्रत्येक का अनुभवात्मक ज्ञान ज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने पर भी और एक ज्ञाता में अभिन्न रूप से उपस्थित रहता है । एक ही रूप से अनुभव में आने वाला "मैं" ऐसा ज्ञान अलग-अलग चित्तों में स्थित रहता हुआ एक सामान्य ज्ञाता का बोध कैसे कर सकता है । एक समान रहने वाला 'मैं' का ज्ञान अपने-अपने निज (प्रत्यक्ष) अनुभव का विषय है । प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व अन्य प्रमाणों के द्वारा तिरस्कृत नहीं किया जाता और अन्य प्रमाण प्रत्यक्ष के बल पर ही व्यवहार में आते हैं । इस कारण अनेक अर्थों में विद्यमान रहने वाला चित्त एक है ॥ ३२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में बतलाया गया है कि व्याधि आदि योग के विघ्नों और उपविघ्नों का विनाश करने के लिये **एक तत्त्व (ईश्वर) का अभ्यास** करना चाहिए अर्थात् बार-बार **ईश्वर प्रणिधान का अनुष्ठान** करना चाहिए ।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि सूत्रोक्त एक तत्त्व से किसी स्थूल पदार्थ का ग्रहण करना चाहिये। उस स्थूल पदार्थ की उपासना से व्याधि आदि विघ्न और उपविघ्न दूर हो जाते हैं । वास्तव में यह मान्यता ठीक नहीं है । इसका **प्रथम कारण** यह है कि व्यासभाष्य में यह बात कही है कि इस अगले सूत्र के द्वारा अभ्यास का उपसंहार किया जाता है । यहाँ पर उपक्रम ईश्वर प्रणिधान का है, तो उपसंहार में भी एकतत्त्व से ईश्वर का ग्रहण करना ही उचित है, किसी स्थूल पदार्थ का नहीं।

दूसरा कारण यह है कि मीमांसा दर्शन में किसी वाक्य का अर्थ करने में श्रुति आदि छह कारण माने जाते हैं । उनमें से एक प्रकरण है । प्रकरण के आधार पर यहाँ पर ईश्वर का ही ग्रहण करना उचित है ।

तीसरा कारण यह है कि विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसी शब्द का बार-बार आवर्तन किया जाता है । जैसे योगदर्शनकार ने ईश्वरप्रणिधान का उल्लेख अनेक बार किया है । इससे पुनरुक्ति दोष नहीं आता ।

चौथा कारण यह है कि व्याधि आदि विघ्न और उपविघ्न किसी स्थूल पदार्थ की उपासना से कभी भी दूर नहीं हो सकते । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में लिखा है – ''और उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि – **तत्प्रतिषेधा०........**जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश

---

१. गोमय = गोबर और पायस = खीर, दोनों ही गौ से उत्पन्न होते हैं । गौ से उत्पन्न होने के कारण कोई व्यक्ति इन दोनों को समान कहने लगे, तो यह **गोमयपायसीय न्याय** कहलाता है ।

करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं । इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायें ।''

इस सूत्र के व्यासभाष्य में **क्षणिकवाद** को उपस्थित करके निराकरण किया है । उनकी मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, उत्पन्न होकर क्षण-भर में नष्ट हो जाता है, चित्त भी क्षणिक है । वह उत्पन्न होकर क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है । उनकी यह भी मान्यता है कि चित्त को एकाग्र करके अपने प्रयोजन की सिद्धि करनी चाहिये । इस मान्यता में भाष्यकार ने अनेक दोष दर्शाये, उनको भाष्य में देख लें ।

यदि चित्त को क्षणिक माना जाता है और उसको एकाग्र करने का उपदेश भी दिया जाता है तो क्षण-भर में वह एक पदार्थ में एकाग्र हो पाएगा कि दूसरे क्षण में नष्ट भी हो जाएगा तो फिर उसको एकाग्र करने का प्रयास व्यर्थ ही है । वस्तुतः चित्त क्षणिक नहीं है क्योंकि उनके मत में चित्त किसी वस्तु को देखता है और कुछ घण्टों के पश्चात् कहता है कि जिस वस्तु को मैंने देखा था, उसका ही मैं स्पर्श कर रहा हूँ । चित्त को क्षणिक मानने पर क्षणिकवादियों का यह व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता । उदाहरण के लिये कोई व्यक्ति किसी से कुछ रुपये उधार लेता है और यह कहता है कि मैं आपके रुपये कल दे दूँगा । अगले दिन वह उसे रुपये नहीं देता । रुपये देने वाला व्यक्ति उससे रुपये मांगता है । वह ऋणी व्यक्ति कहता है कि जिसने आपसे रुपये लिए थे वह कोई और था अब वह नहीं रहा । क्षणिकवादियों के अनुसार यह लोक-व्यवहार उपपन्न नहीं होता किन्तु लोकव्यवहार चल रहा है । यदि उनके मन्तव्य को सत्य मान लेवें तो लोकव्यवहार अस्तव्यस्त हो जायगा । इत्यादि इस मान्यता में अनेक दोष हैं। इसलिये क्षणिकवाद सत्य नहीं है।

वास्तविकता तो यह है कि तीन पदार्थ अनादि हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति । ईश्वर साध्य है, जीव साधक है और प्रकृति साधन है । चित्त प्रकृति से बना हुआ है, जो लम्बेकाल पर्यन्त रहता है, क्षणिक नहीं है। जीवात्मा का वह साधन है । योगाभ्यास के माध्यम से उसको एकाग्र किया जाता है और एकाग्रता के पश्चात् परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है । उससे ईश्वरसाक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति होने पर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है । यह चित्त को क्षणिक न मानने पर ही सम्भव है । अतः यही मान्यता ठीक है ॥ ३२ ॥

अव० - यस्य चित्तस्यावस्थितस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम् ?

अर्थ - जिस अवस्थित चित्त का शास्त्र के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचाने वाले अनेक साधनों का वर्णन किया जाता है वह किस प्रकार का है यह कुछ सूत्रों के द्वारा बतलाया जाता है ।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ - (मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणाम्) मित्रता, दया, प्रसन्नता, उदासीनता की (सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य-विषयाणाम्) सुख-दुःख-पुण्य-अपुण्य विषय वालों में (भावनातः) भावना के अनुष्ठान से (चित्त-प्रसादनम्) चित्त, प्रसन्न और एकाग्र होता है ।

सूत्रार्थ – सुख-दु:ख-पुण्य-अपुण्य विषय वाले व्यक्तियों में क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता, उदासीनता की भावना के अनुष्ठान से चित्त की प्रसन्नता और एकाग्रता होती है ।

व्या० भा० – तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ ३३ ॥

__व्या० भा० अ०__ – उन भावनाओं में से सुखभोगयुक्त सब प्राणियों में मैत्री की, दुःखी प्राणियों में करुणा की, पुण्यात्माओं में हर्ष की और अपुण्यत्माओं में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए । इस प्रकार भावना करने वाले उपासक के आत्मा में शुद्धधर्म उत्पन्न होता है । उससे चित्त प्रसन्न होता है । प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **चित्त को प्रसन्न करने के उपाय** बतलाये हैं ।

योगाभ्यासी व्यवहार के समय में अनेक प्रकार के मनुष्यों के सम्पर्क में आता है । यदि वह उनके साथ व्यवहार करना नहीं जानता तो उसकी मन:स्थिति योगाभ्यास के अनुकूल नहीं रहती । इसलिए सूत्रकार ने साधक का किसके साथ कैसा व्यवहार हो यह उपदेश किया । संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं । कोई धार्मिक और सुखी है, कोई धार्मिक होते हुए भी सुखसाधनों की न्यूनता के कारण दु:खी है । कोई योगाभ्यासी पुण्यात्मा है । कोई अन्यायकारी अपुण्यात्मा है । इन सबके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि व्यक्ति का मन प्रसन्न बना रहे । जो सुखसाधनसम्पन्न और धार्मिक हैं, उनके साथ मित्रता का व्यवहार करें । क्योंकि कभी-कभी व्यक्ति सुखसाधनसम्पन्न मनुष्यों को देखकर उनसे द्वेष करने लगता है कि ये इतने सम्पन्न क्यों हो गये हैं, इनकी हानि होनी चाहिए । इससे योगाभ्यासी का चित्त खिन्न हो जाता है । खिन्न होने से उसमें एकाग्रता नहीं आ पाती । यदि वह सुखसम्पन्न मनुष्यों को देखकर उनसे मित्रता का व्यवहार करता है तो चित्त प्रसन्न होता है और उससे ईर्ष्या-द्वेष दूर हो जाते हैं ।

जब व्यक्ति दु:खियों को देखता है तो उनके प्रति घृणा उत्पन्न होती है । घृणा करने से चित्त की प्रसन्नता भंग हो जाती है और दु:खियों का उपकार करना भी छूट जाता है । यदि योगाभ्यासी दु:खियों पर दया करता है तो उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है और वह उन दु:खियों की तन, मन और धन से सहायता करता है । सहायता करने से उनका दु:ख दूर होता है और सुख की प्राप्ति होती है । इससे साधक के मन में घृणा उत्पन्न नहीं होती किन्तु उल्लास होता है ।

योगाभ्यासी पुण्यात्माओं को देखता हैं तो उनके प्रति द्वेष उत्पन्न हो सकता है । जब उनका सम्मान होता है तब उनके सम्मान को सहन नहीं कर पाता, उनसे द्वेष करने लगता है । द्वेष से चित्त में एकाग्रता नहीं हो पाती । इस द्वेष को दूर करने के लिए उनके प्रति हर्ष की भावना करनी चाहिए इससे योगाभ्यासी के मन में द्वेष उत्पन्न नहीं होता किन्तु हर्ष उत्पन्न होता है ।

अपुण्यात्माओं को देखकर न राग और न द्वेष करना चाहिए किन्तु उपेक्षा करनी चाहिये। क्योंकि राग करने से अधर्माचरण में रुचि उत्पन्न होती है और उस अपुण्यात्मा जैसा व्यक्ति का जीवन बन जाता है। द्वेष करने से झगड़े उत्पन्न होते हैं जिससे योगाभ्यासी योग मार्ग को छोड़कर लड़ाई-झगड़ों में लग जाता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अपुण्यात्माओं के विषय में भी यह इच्छा रखनी चाहिए कि ये भी अधर्माचरण को छोड़कर धर्माचरण करें जिससे इनका दुःख दूर हो और ये सुखसम्पन्न हो जाएँ।

चित्त को प्रसन्न करने के लिए यह भी उपाय है कि संसार के मनुष्य आदि सभी प्राणी ईश्वर के पुत्र हैं। उन सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि ईश्वर हमारी माता, पिता, आचार्य, उपास्य, राजा है और वह हम सबका कल्याण करना चाहता है। योगाभ्यासी यह निश्चय करे कि मैं भी सबका कल्याण करने का पूर्ण प्रयास करूँगा। ऐसा विचार और आचरण करने से चित्त प्रसन्न होता है। इससे चित्त को एकाग्र करने में सफलता मिलती है॥ ३३॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

शब्दार्थ – (प्रच्छर्दन-विधारणाभ्याम्) नासिका द्वारा [प्राणको] बाहर फेंकना-बाहर रोके रहना, इन दो प्रकारों से (वा) अथवा (प्राणस्य) प्राण के।

सूत्रार्थ – प्राण को नासिका द्वारा बाहर फेंकने और फेंककर बाहर रोके रहना इन दो प्रकारों से 'चित्त की एकाग्रता' होती है।

व्या० भा० – कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्॥ ३४॥

व्या० भा० अ० *– उदरस्थवायु को नासिका के पुटों द्वारा विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा बाहर निकालना प्रच्छर्दन है। विधारण = रोकना प्राणायाम है अथवा उन दोनों के द्वारा मन की स्थिति का सम्पादन करे॥ ३४॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्राणायाम के द्वारा चित्त को एकाग्र करने का विधान** है।

यहाँ पर प्राणायाम के विषय में संक्षेप से कथन किया है। योगदर्शन पाद-२ में प्राणायाम का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वहाँ पर प्राणायाम का लक्षण निम्न प्रकार से किया है – आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति रोक देना 'प्राणायाम' है। बाहर के वायु को ग्रहण करना '**श्वास**' और अन्दर से वायु को बाहर निकालना '**प्रश्वास**' कहाता है।

प्राणायाम करने वाले साधक किसी विशेष गुरु से प्रशिक्षण लेकर ही इसका अभ्यास करें अन्यथा हानि हो जाती है। प्राणायाम करने वाले साधक को यमनियमों का पालन अवश्य ही करना चाहिये। इनके पालन न करने से विशेष सफलता नहीं मिलती। योगदर्शन में चार प्रकार के प्राणायाम का उल्लेख है। बाह्य, आभ्यान्तर, स्तम्भवृत्ति और बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी।

बाह्यप्राणायाम की विधि – सुखपूर्वक आसन पर बैठकर प्रथम मलद्वार का संकोच करना चाहिए। इसके पश्चात् नासिका के माध्यम से अन्दर के वायु को बाहर निकालना चाहिये और उसको यथाशक्ति बाहर ही रोक देना चाहिए। जब कुछ घबराहट हो तो मूलेन्द्रिय के संकोच को छोड़ देवें और नासिका के द्वारा धीरे-धीरे श्वास को अन्दर ले लेवें। जितनी प्राण की आवश्यकता हो उसकी पूर्त्ति कर लेवें। यह एक प्राणायाम हो गया। इसी प्रकार से दूसरी बार, तीसरी बार प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम करते समय ओ३म् अथवा प्राणायाम मन्त्रादि का अर्थसहित मानसिक जप करना चाहिए। नवीन साधक प्रारम्भ में सतत तीन प्राणायाम न कर सकें तो मध्य में एक, दो, तीन श्वास लेकर दूसरी बार प्राणायाम करें। तीन प्रातःकाल और तीन सायंकाल करें। कालान्तर में एक-एक को बढ़ाते जाएँ। अपनी शारीरिक शक्ति, भोजन, ऋतु, अनुभूति के आधार पर न्यून वा अधिक प्राणायाम करते जायें। बिना विधि के प्राणायाम करने से हानि होती है और अधिक प्राणायाम करने से भी हानि होती है। संस्कारविधि में पञ्चमहायज्ञों के सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने लिखा है कि **न्यून से न्यून तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करें।** यमनियमों का पालन करते हुए विधिपूर्वक प्राणायाम करने से चित्त स्थिर होता है और प्राणायाम से अनेक लाभ होते हैं। प्राणायाम करने वाले साधकों को यह जानना चाहिये कि प्रथम बाह्यप्राणायाम का अच्छे प्रकार से अभ्यास करें और उसके पश्चात् अन्य प्राणायामों को करें। प्राणायाम के विषय में योगदर्शन के पाद-२ में विस्तार से लिख दिया है ॥ ३४ ॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ – (विषयवती) रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द विषयों वाली (वा) अथवा (प्रवृत्तिः) प्रवृत्ति = अनुभूति (उत्पन्ना) उत्पन्न हुई, (मनसः) मन की (स्थिति-निबन्धिनी) स्थिति को बाँधने वाली होती हैं।

सूत्रार्थ – अथवा गन्ध आदि विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न अनुभूति मन की स्थिति को बाँधने वाली होती हैं।

व्या० भा० – नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवाप-वर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशो-पोद्वलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। तत्र तदुपदिष्टार्थैकदेशप्रत्यक्षत्वे सति सर्वं सुसूक्ष्मविषयमप्याप-

वर्गाच्छ्रद्धीयते । एतदर्थमेवेदं चित्तपरिकर्म निर्दिश्यते । अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञाया-मुपजातायां चित्तं समर्थं स्यात्तस्य तस्यार्थस्य प्रत्यक्षीकरणायेति । तथा च सति श्रद्धावीर्यस्मृति-समाधयोऽस्याप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति ॥ ३५ ॥

व्या० भा० अ० *– नासिका के अग्रभाग में धारणा करने वाले इस साधक को जो दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है वह 'गन्धप्रवृत्ति' है । जिह्वा के अग्रभाग में धारणा करने से दिव्यरस का साक्षात्कार होता है वह 'रसप्रवृत्ति' है । तालु में धारणा करने से दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है वह 'रूपप्रवृत्ति' है। जिह्वामध्य में धारणा करने से दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है वह 'स्पर्शप्रवृत्ति' है । जिह्वामूल में धारणा करने से दिव्यशब्द का साक्षात्कार होता है वह 'शब्दप्रवृत्ति' है । ये इतनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं और समाधिप्रज्ञा में माध्यम बनती हैं । इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रश्मि आदि में उत्पन्न प्रवृत्ति विषयवती ही जाननी चाहिए ।*

यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमानप्रमाण तथा आचार्यों के उपदेश से ज्ञात बातें यथार्थ ही होती हैं क्योंकि इनमें यथार्थ बतलाने का सामर्थ्य होता है फिर भी जब तक इनमें से कोई एक देश अपने उपकरणों (मन-इन्द्रियों) द्वारा नहीं जाना जाता तब तक परोक्ष के समान रहने वाला अपवर्गपर्यन्त सारा विषय सूक्ष्मतत्त्वों के प्रति दृढ़विश्वास को उत्पन्न नहीं करता। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश की पुष्टि के लिए अवश्य ही किसी विशिष्ट अंश को प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए। उन उपदिष्ट सब विषयों में एक विषय का प्रत्यक्ष होने पर अपवर्गपर्यन्त समस्त सूक्ष्म विषयों में श्रद्धा उत्पन्न होती है । इसलिए इस चित्त परिकर्म का निर्देश किया जाता है । अस्थिर गन्धादि वृत्तियों के विषय में वशीकार स्थिति अर्थात् अपरवैराग्य के उत्पन्न होने पर चित्त ज्ञातव्य विषयों के प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो जाता है और वैसा होने पर इस योगी की श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि अबाधरूप से सिद्ध हो जायेंगी ॥ ३५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में गन्धादि विषयों वाली प्रवृत्ति को **चित्त स्थिर करने का साधन** बतलाया है ।

यहाँ पर यह जानना चाहिये कि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दादि सूक्ष्म विषयों का साक्षात्कार होने से चित्त की एकाग्रता होती है और इन गन्धादि विषयों के साक्षात्कार से साधक के संशयों का निराकरण हो जाता है । योगाभ्यासी यह समझने लगता है कि इस अभ्यास से पूर्व इन गन्ध, रस आदि विषयों का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था । योगाभ्यास करने से ही यह परिज्ञात हुआ है कि जो सूक्ष्म विषय बिना योगाभ्यास के नहीं जाने जाते, उनको योगाभ्यास के माध्यम से ही जाना जाता है । इसी प्रकार ईश्वर जैसे अति सूक्ष्मपदार्थ को भी जाना जा सकता है, यह विश्वास उत्पन्न होता है । यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक योगाभ्यासी गन्ध आदि विषयों का साक्षात्कार करके ही ईश्वरसाक्षात्कार तक पहुँच सकता है, यह आवश्यक नहीं है । विकल्प रूप में चित्त को स्थिर करने का यह भी एक साधन है । इससे भिन्न उपायों से भी चित्त को स्थिर किया जा सकता है।

वेद और वेदानुकूल शास्त्र, अनुमान, सत्यवादी आचार्यों के उपदेश के द्वारा जो बातें जानी जाती हैं वे सत्य ही होती हैं। परन्तु जब तक योगाभ्यासी उन बातों में से किसी एक का भी साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक मोक्ष जैसे सूक्ष्मविषयों में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। इसलिये योग जिज्ञासुओं को योग से सम्बद्ध पढ़े, सुने किसी एक सूक्ष्मविषय का स्वयं साक्षात्कार कर लेना चाहिए। किसी एक सूक्ष्मविषय का साक्षात्कार कर लेने से ईश्वर, मोक्ष आदि विषयों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इससे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा और परवैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है ॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ – (विशोका) शोकरहित (वा) अथवा (ज्योतिष्मती) प्रकाशवाली प्रवृत्ति, मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।

सूत्रार्थ – अथवा शोकरहित, प्रकाशवाली प्रवृत्ति मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।

व्या० भा० – प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते । हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते । तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति । यत्रेदमुक्तम्-तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीत इति । एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३६ ॥

व्या० भा० अ० – 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी', यह अंश पूर्वसूत्र से आता है। हृदयपुण्डरीक में धारणा करने वाले योगी को बुद्धि का जो साक्षात्कार होता है – बुद्धिसत्त्व प्रकाशरूप आकाश के समान होता है उसमें एकाग्रताजन्य निर्मलता के कारण प्रवृत्ति (उत्कृष्ट ज्ञान) सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि की कान्ति के सदृशरूप वाली उत्पन्न होती है। उसी प्रकार अस्मिता में एकाग्रचित्त तरङ्गों से रहित महान् समुद्र के समान शान्त, महान् अस्मितामात्र होता है। जिसके विषय में कहा गया है कि "उस अणुमात्र आत्मा को जानकर 'मैं हूँ' इस प्रकार जानता है।" विशोका ज्योतिष्मती नामक यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है – एक 'विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति', दूसरी 'विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'। जिस साक्षात्कारात्मक प्रवृत्ति के द्वारा योगी का चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में शोकरहित **ज्योतिष्मती प्रवृत्ति** को भी चित्त को एकाग्र करने का उपाय बतलाया है। ऊपर के सूत्र से '**प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी**', इसका ग्रहण इस सूत्र में किया है।

विशोका का अभिप्राय है 'शोकरहित'। योगाभ्यास करने से तमोगुण, रजोगुण का प्रभाव न्यून हो जाता है और सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है। उसकी प्रधानता के कारण यह वृत्ति दुःखरहित

होती है । ज्योतिष्मती का अभिप्राय है **'प्रकाश वाली'** । सत्त्वगुण प्रकाशशील है, इसलिये यह भी प्रकाश स्वभाव वाली है । यह प्रकाश सूर्य जैसा तीव्र नहीं है । जैसे नेत्र पदार्थों का परिज्ञान करवाने में समर्थ है वैसे ही ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी पदार्थों के स्वरूप को जनाने में समर्थ है । 'विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' और 'विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' विकल्प रूप से चित्त को स्थिर करने का साधन है, अनिवार्यरूप से नहीं ॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ – (वीतराग–विषयम्) वीतराग योगियों के चरित्र का आलम्बन करने वाला (वा) अथवा (चित्तम्) चित्त स्थिर होता है ।

सूत्रार्थ – अथवा वीतराग योगियों के चरित्र को विषय बनाने वाला चित्त स्थिर होता है।

व्या० भा० – वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३७ ॥

व्या० भा० अ० *– वीतराग योगियों के चित्त का (अर्थात् योगियों के चरित्र का) आलम्बन करने वाले साधक का चित्त 'स्थितिपद' को (स्थिरत्व को) प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में वीतराग **योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाला चित्त स्थिर** हो जाता है, यह कहा गया है ।

जिन योगियों ने शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्ध उपासना से अपने चित्त को रागरहित बना लिया है उनके सत्संग से, उनके खान–पान आदि व्यवहार से व्यक्ति प्रभावित होता है और श्रद्धा से उन्हीं जैसा आचरण करने का प्रयास करता है तो जैसा योगियों का चित्त रागरहित होता है, वैसा ही उनका सत्संग करने वाले योगजिज्ञासुओं का चित्त भी रागरहित, एकाग्र होने लगता है । जो योगाभ्यासी सत्पुरुषों का संग करते हैं और उनके वचनों पर श्रद्धा रखते हैं तथा उन्हीं जैसा बनना चाहते हैं वे शीघ्र ही अपने जीवन को योगियों जैसा बना लेते हैं । जो योगजिज्ञासु साक्षात् योगियों का संग करके, उनके जीवनचरित्र को पढ़कर अथवा सुनकर उन्हीं जैसा बनने का प्रयास करते हैं तो उनका चित्त एकाग्र होने लगता है । इसलिये योगाभ्यासियों को रागरहित योगियों के सत्संग में रहकर, उनके आचरण को देखकर उन जैसा बनने का यत्न करना चाहिए । इससे चित्त को एकाग्र करने में सफलता मिलती है ।

यह वीतराग, तत्त्ववेत्ता, योगविद्या में निपुण व्यक्तियों के चित्त के आलम्बन से ही सम्भव है । जो इस प्रकार के नहीं हैं उनके चित्त के आलम्बन करने से लाभ नहीं होता है । वीतराग योगियों के सम्पर्क में रहकर भी उनके जीवन के समान आचरण न करने, उनके आहार–विहार के समान अपना आहारविहार न बनाकर मात्र उनके चित्रों को अपने पास रखने तथा उनके ही नाम का जप आदि करने से भी साधक का चित्त स्थिरता को प्राप्त नहीं होता । इसलिए सत्पुरुषों के समान आचरण न करने वाला साधक योग मार्ग में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता अपितु योगमार्ग से भटक जाता है ॥ ३७ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ – (स्वप्न-निद्रा-ज्ञान-आलम्बनम्) स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आलम्बन करने वाला (वा) अथवा, चित्त स्थिर होता है ।

सूत्रार्थ – अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आलम्बन = आश्रय करने वाला चित्त स्थिर होता है ।

व्या० भा० – स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥ ३८ ॥

व्या० भा० अ० *– स्वप्नगत ज्ञान को आलम्बन बनाने वाला वा सुषुप्तिगत ज्ञान को आलम्बन करने वाला, तदाकारकारित योगी का चित्त 'स्थितिपद' को प्राप्त करता है ॥ ३८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान के आलम्बन से चित्त को एकाग्र करने का उपाय** बतलाया है ।

जो साधक गुरुओं से योगविद्या पढ़ता है और सुनता है, उसके मन में वैसे ही संस्कार उत्पन्न होते हैं । उन योगविद्या के संस्कारों से स्वप्न भी वैसे ही आते हैं । स्वप्न अवस्था में उन संस्कारों के उभरने से बड़ा आनन्द आता है । स्वप्न देखकर आनन्द का अनुभव करने वाला व्यक्ति यह चाहता है कि मेरी यह स्थिति ऐसी ही बनी रहे, बिगड़े नहीं । जब उसकी स्वप्न अवस्था समाप्त हो जाती है तो स्वप्न के समय जो आनन्द का अनुभव हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है । वह व्यक्ति यह चाहता है कि स्वप्नकाल में जो आनन्द की अनुभूति हो रही थी, उसको पुनः प्राप्त करना चाहिये । जब वह स्वप्नज्ञान को अपने चित्त का आलम्बन बनाता है तो उसका चित्त एकाग्र होता है ।

इसी प्रकार से जब व्यक्ति को सात्विक निद्रा आती है तो सुख की अनुभूति होती है । गाढ़ निद्रा में सुख की अनुभूति से संस्कार उत्पन्न होते हैं । उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । जब व्यक्ति उस अनुभूति को स्मरण करता है तो पुनः उसी अवस्था को प्राप्त करना चाहता है । ऐसा करने से उसका चित्त एकाग्र होता है । जहाँ पर सुख और सुख के साधनों की प्राप्ति, दुःख और दुःख के साधनों की निवृत्ति होती है, वहाँ पर चित्त शीघ्र एकाग्र होता है । इससे किसी को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि चित्त को एकाग्र करने के लिए स्वप्नावस्था तथा निद्रावस्था को उत्पन्न करना पड़ता है । क्योंकि स्वप्नावस्था एवं निद्रावस्था मन को एकाग्र करने वा ध्यान लगाने में बाधक है ॥ ३८ ॥

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ – (यथा-अभिमत-ध्यानात्) योगशास्त्र में जो चित्त की एकाग्रता के उपाय बतलाये तथा अन्यत्र जो सत्यशास्त्रों में चित्त की एकाग्रता के उपाय बताये गये हैं; उनमें से जो साधक को अधिक अनुकूल लगे, उसका प्रयोग करने से मन स्थिर होता है (वा) अथवा ।

सूत्रार्थ – अथवा योगशास्त्र वा अन्य सत्यशास्त्रों में मनोनियन्त्रण के जो उपाय बतलाये

गये हैं; उनमें से साधक को जो अधिक अनुकूल लगे, उसका प्रयोग करने से मन स्थिर होता है।

व्या० भा० – यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति ॥ ३९ ॥

व्या० भा० अ० *– (इस शास्त्र में एवं वेदानुकूल अन्य शास्त्रों में चित्त को एकाग्र करने वाले जो साधन बतलाये गए उनमें से) जो साधन साधक के अनुकूल हों, उन्हीं के आलम्बन से चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करे । वहाँ पर स्थिरता को प्राप्त चित्त (योग से सम्बद्ध) अन्य विषयों में भी 'स्थितिपद' को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि चित्त को एकाग्र करने के साधन जो योगदर्शन में वर्णित हैं, वेद और वेदानुकूल शास्त्रों में जिनका उल्लेख है उनमें से साधक को **जो भी अनुकूल हो उसका अभ्यास** करे । उसका अभ्यास करते–करते चित्त स्थिर हो जाता है । वहाँ पर स्थिर हो जाने से साधक अपनी इच्छा के अनुसार अपने चित्त को जहाँ भी स्थिर करना चाहे वहीं पर कर सकता है ।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस सूत्र से चाहे जिस किसी विषय को लेकर उसे चित्त एकाग्र करने का साधन नहीं बनाया जा सकता । इस सूत्र का अभिप्राय है कि जो–जो साधन योग के अनुकूल हैं और जिनका कथन वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रों में किया है साधक उनमें से जो अपने लिए अनुकूल हो उसका अभ्यास करके चित्त को एकाग्र करे ।

कुछ लोग कहते हैं कि मन को खुला छोड़ दो, वह अपने आप रुक जायेगा । कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जिन–जिन विषयों को भोगने की इच्छा हो, उनको खुलकर भोगो । भोगते–भोगते चित्त ऊब जायेगा और उसके पश्चात् स्वयं रुक जायेगा । उसको रोकने की आवश्यकता नहीं होगी । कुछ लोगों का कहना है कि मन को एकाग्र करने से पूर्व कुछ समय खुलकर रोओ और कुछ समय खुलकर हँसो, इससे मन एकाग्र हो जाता है । उनकी ये मान्यतायें वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थ तथा प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध हैं । इस प्रकार के साधनों का प्रयोग करने वाला व्यक्ति कभी भी योगी बनकर ईश्वरसाक्षात्कार नहीं कर सकता है और न अन्यों को करवा सकता है । इसलिये योगाभ्यासियों को योगानुकूल साधनों से ही अपना मन एकाग्र करना चाहिये, विरुद्ध साधनों से नहीं ॥ ३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ – (परमाणु–परम महत्त्वान्तः) सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुपर्यन्त, बड़ी से बड़ी = दीर्घ से दीर्घ वस्तुपर्यन्त (अस्य) इस चित्त का (वशीकारः) वशीकार हो जाता है ।

सूत्रार्थ – सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा दीर्घ से दीर्घ वस्तुपर्यन्त इस चित्त का वशीकार (अधिकार = नियन्त्रण = विषय बना लेना) हो जाता है ।

व्या० भा० – सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति । स्थूले निविशमानस्य परममहत्त्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य । एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः । तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति ॥ ४० ॥

व्या० भा० अ० *– सूक्ष्म में प्रवेश करने वाले इस योगी के चित्त को परमाणुपर्यन्त पदार्थों में स्थितिपद प्राप्त होता है । स्थूल में प्रवेश करने वाले योगी के चित्त को परम-महत्-पर्यन्त पदार्थों में स्थितिपद प्राप्त होता है । इस प्रकार उन दोनों कोटियों में स्थितिपद को प्राप्त चित्त की जो अप्रतिहत गति है, वह 'परवशीकार' कहाता है । उस वशीकार से परिपूर्ण चित्त अभ्यास साध्य परिक्रम की अपेक्षा नहीं रखता ॥ ४० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि साधक अभ्यास करते-करते चित्त को पूर्णरूपेण अपने अधिकार में कर लेता है । छोटे से छोटे पदार्थ में और बड़े से बड़े पदार्थ में अपनी इच्छानुसार जितनी देर तक रोकना चाहता है रोक लेता है ।

जिन पदार्थों में चित्त को एकाग्र करने का विधान किया है वे प्राकृतिक हैं । जैसे कि सूक्ष्म पदार्थों में तन्मात्रादि और स्थूल पदार्थों में पर्वतादि । यहाँ पर परमाणु शब्द से प्रकृति का ग्रहण नहीं किया जाता । जब सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल दोनों कोटियों में चित्त को स्थिर कर लिया जाता है तब अन्य साधनों से एकाग्र करने की आवश्यकता नहीं रहती । यह चित्त का **उत्कृष्ट वशीकार** है ।

यदि योगाभ्यासी इस स्थिति को प्राप्त करके आलस्य-प्रमाद करता है तो चित्त में विक्षेप पुनः उत्पन्न होने लगते हैं । इसलिये मन पर वश्यता होने पर भी सदा उसको उसी स्थिति में रखने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए । जो भोगों के संस्कार मन की एकाग्रता के समय में अभिभूत हो जाते हैं, वे साधक का प्रयास शिथिल होने पर पुनः उद्बुद्ध हो जाते हैं । उससे चित्त की एकाग्रता भंग हो जाती है । इसलिये साधक को अत्यन्त सावधान होकर सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ ४० ॥

अव० – अथ लब्धस्थितिकस्य चेतसः किंस्वरूपा किंविषया वा समापत्तिरिति ? तदुच्यते –

अर्थ – अब स्थिरता को प्राप्त चित्त की समापत्ति किस स्वरूप की एवं किस विषय की होती है वह सूत्र के द्वारा बताया जाता है –

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ – (क्षीण-वृत्तेः) जिसकी राजस, तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं ऐसे स्वच्छ चित्त की (अभिजातस्य-इव मणेः) अति निर्मल स्फटिकमणि के समान (ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्रह्येषु) जीवात्मा, ईन्द्रियों, भूतों में (तत्-स्थ-तद्-अञ्जनता) उनके स्वरूप में स्थित होकर उसी के

रूप को प्राप्त कर लेना (समापत्तिः) 'समापत्ति' कहलाती है ।

सूत्रार्थ – जिसकी राजस–तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, ऐसे स्वच्छ चित्त का अति निर्मल स्फटिकमणि के समान जीवात्मा, ईन्द्रियों और भूतों के स्वरूप में स्थित होकर के समान भासित होना 'समापत्ति' कहलाती है ।

व्या० भा० – क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमितप्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानम् । यथा स्फटिक उपाश्रयभेदात्तत्तद्रूपोपरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते तथा ग्राह्यालम्बनोपरक्तं चित्तं ग्राह्यसमापन्नं ग्राह्यस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्मसमापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति । तथा स्थूलालम्बनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं स्थूलरूपाभासं भवति । तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति ।

तथा ग्रहणेष्वपीन्द्रियेषु द्रष्टव्यम् । ग्रहणालम्बनोपरक्तं ग्रहणसमापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्रहीतृपुरुषालम्बनोपरक्तं ग्रहीतृपुरुषसमापन्नं ग्रहीतृपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्बनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासत इति । तदेवमभिजात–मणिकल्पस्य चेतसो ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु पुरुषेन्द्रियभूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदाकारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ॥ ४१ ॥

व्या० भा० अ० *– 'क्षीणवृत्ति' का अर्थ है – (अभ्यास के द्वारा) शान्त हो गयी हैं (राजस् तामस्) वृत्तियाँ जिस चित्त की । स्वच्छ स्फटिक मणि के समान – यह दृष्टान्त का ग्रहण किया है । जिस प्रकार स्फटिक मणि निकटवर्ती भिन्न भिन्न पदार्थों के कारण उनके आकारों से उपरक्त भासित होता है उसी प्रकार ग्राह्य आलम्बन से उपरक्त चित्त ग्राह्य आकार को प्राप्त होकर ग्राह्य के स्वरूप के आकार का भासित होता है एवं सूक्ष्मभूतों से उपरक्त, सूक्ष्मभूत आकार को प्राप्त हुआ सूक्ष्मभूत आकार का भासित होता है । इसी प्रकार स्थूलभूतों से उपरक्त स्थूलभूत आकार को प्राप्त हुआ स्थूलभूत आकार का भासित होता है । वैसे ही विविध मनुष्य आदि चेतन प्राणी, घटपटादि अचेतन पदार्थों से उपरक्त विविध आकारों को प्राप्त हुआ विविध आकारों का भासित होता है ।*

इसी प्रकार ग्रहण जो इन्द्रियाँ हैं, उनमें जानना चाहिए । ग्रहण आलम्बन से उपरक्त ग्रहण के आकार को प्राप्त होकर ग्रहण के स्वरूप के आकार का भासित होता है । तथा ग्रहीतृपुरुष जीवात्मा आलम्बन से उपरक्त ग्रहीतृ के आकार को प्राप्त होकर ग्रहीतृ के स्वरूप के आकार का भासित होता है । वैसे मुक्तपुरुष के आलम्बन से उपरक्त मुक्तपुरुष के आकार को प्राप्त होकर मुक्तपुरूष के स्वरूप के आकार का भासित होता है । इस प्रकार अभिजात (नवीन शुद्ध) मणि (बिल्लोर पत्थर) के समान चित्त की ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्यों में पुरुष, इन्द्रियाँ और स्थूल, सूक्ष्म भूत उनमें स्थित होकर जो उनके आकार को ग्रहण करना है; वह चित्त की तदाकारपत्ति है, वह 'समापत्ति' कहलाती है ॥ ४१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि जब **राजस् तामस् वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं उस समय चित्त की क्या स्थिति होती है ।**

सम्प्रज्ञातसमाधि ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य इन तीन प्रकार के पदार्थों में होती है। जब योगाभ्यासी का चित्त विवेक, वैराग्य और अभ्यास से विशुद्ध हो जाता है, तब वह जिस पदार्थ का साक्षात्कार करना चाहता है उसमें अधिकारपूर्वक चित्त को संयुक्त करता है। जब स्थूलभूतों से सम्बद्ध करता है तो उस अवस्था में चित्त स्थूलभूतों के समान प्रतीत होता है और जब सूक्ष्मभूतों से सम्बद्ध करता है तो उनके समान प्रतीत होता है। जब इन्द्रियों से सम्बद्ध करता है तब चित्त इन्द्रियों के समान भासित होता है। जब साधक अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिए चित्त को अपने स्वरूप (जीवात्मा) से सम्बद्ध करता है तब चित्त आत्मा जैसा प्रतीत होता है। इस स्थिति को समझाने के लिए स्फटिकमणि का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे स्फटिकमणि के समीप लाल, पीले रंग का गुलाब आदि का फूल रख दिया जाता है तो स्फटिक मणि उस फूल के रंग के समान प्रतीत होती है। इसी प्रकार शुद्ध चित्त भी जिस–जिस पदार्थ से सम्बद्ध होता है, उस–उस पदार्थ के समान प्रतीत होता है। यह चित्त की सत्त्वगुण प्रधान अवस्था है। जब रजोगुण, तमोगुण प्रधान होते हैं और सत्त्वगुण अप्रधान रहता है तब समाधि भंग हो जाती है। यहाँ पर ग्रहीतृ से जीवात्मा, ग्रहण से इन्द्रियाँ और ग्राह्य से स्थूल, सूक्ष्म भूतों का ग्रहण करना चाहिए।

व्यासभाष्य में कहा गया है कि मुक्त पुरुषों के आलम्बन से चित्त मुक्त पुरुषों के समान प्रतीत होता है। यहाँ मुक्तपुरुष का अभिप्राय जीवित मुक्तपुरुषों से है शरीररहित मुक्तपुरुषों से नहीं। इस सूत्र का अभिप्राय एक दृष्टान्त से समझना चाहिए – उदाहरण के लिये एक योगाभ्यासी अपने चित्त को एकाग्र करके पर्वत के यथार्थ स्वरूप को जानना चाहता है। वह प्रथम नेत्रों के माध्यम से पर्वत को विशेष ध्यान से देखता है और अपने चित्त को अन्य विषयों से रोक देता है। उस समय पर्वत का स्वरूप नेत्रों में उतर आता है। नेत्रों में उतरे हुए पर्वत के स्वरूप को चित्त ग्रहण कर लेता है और जीवात्मा चित्त में उतरे पर्वत के स्वरूप को देखता है। तब वह कहता है कि मैं पर्वत का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। यहाँ पर चित्त पर्वत के स्वरूप को अपने अन्दर ग्रहण करके पर्वत जैसा प्रतीत होता है। ऐसा ही सर्वत्र समझ लेना चाहिए। जब सूक्ष्म विषयों का प्रत्यक्ष किया जाता है तब इन्द्रियों के बिना ही सीधा चित्त के साथ उन सूक्ष्म विषयों का सम्बन्ध होता है। साधक अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष करने के लिये जब चित्त को जीवात्मा से सम्बन्ध करता है, तब चित्त जीवात्मा के समान प्रतीत होता है। अर्थात् चित्त चेतन जैसा प्रतीत होता है। चित्त की इस अवस्था को '**समापत्ति**' कहते हैं ॥ ४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ – (तत्र) उन समापत्तियों में (शब्द–अर्थ–ज्ञान–विकल्पैः) शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से (सङ्कीर्णा) मिली हुई / युक्त हुई (सवितर्का) सवितर्का (समापत्तिः) समापत्ति होती है।

सूत्रार्थ – उन समापत्तियों में से जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से युक्त होती है वह 'सवितर्का समापत्ति' कहलाती है ।

व्या० भा० – तद्यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् । विभज्यमानाश्चाऽन्ये शब्दधर्मा अन्येऽर्थधर्मा अन्ये ज्ञानधर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः । तत्र समापन्नस्य योगिनो यो गवाद्यर्थः समाधिप्रज्ञायां समारूढः स चेच्छब्दार्थज्ञानविकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्णा समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥ ४२ ॥

व्या० भा० अ० *– जैसा कि 'गौः' यह पद 'शब्द' है, 'गौः' नामक शरीर पिण्ड 'अर्थ' है गोपदार्थाकार बुद्धिवृत्ति उसका 'ज्ञान' है । इन परस्पर भिन्न शब्द, अर्थ और ज्ञानों का अभिन्न रूप से ग्रहण देखा जाता है । विभाजित हुए शब्दधर्म भिन्न हैं, अर्थधर्म भिन्न हैं, ज्ञानधर्म भिन्न हैं, इस प्रकार इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है । उस (गौ आदि विषय) में समापन्न चित्त वाले योगी की समाधि प्रज्ञा में जो गौ आदि 'अर्थ' है वह यदि शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिला रहता है तो वह संकीर्ण (मिश्रित) समापत्ति 'सवितर्का समापत्ति' कही जाती है ॥ ४२ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में संकीर्ण **सवितर्का समापत्ति का लक्षण** किया है ।

जब योगाभ्यासी गौ, घटादि स्थूलपदार्थों में चित्त को एकाग्र करके उनका साक्षात्कार करता है तब शब्द, अर्थ और ज्ञान एक रूप में दिखाई देते हैं । वास्तव में शब्द, अर्थ से पृथक् है और अर्थ, शब्द से पृथक् है । ज्ञान, शब्द और अर्थ से पृथक् है । क्योंकि गौ शब्द के धर्म उदात्त, अनुदात्त आदि भिन्न-भिन्न ध्वनियों में बोला जाना तथा मुख से उच्चारित होना आदि हैं । गौ शब्द का अर्थ जो पशु है उसके धर्म, शब्द से भिन्न हैं जैसे रूपरंग, लम्बाई चौड़ाई आदि । ज्ञान के धर्म, शब्द और अर्थ से भिन्न हैं । जैसे पदार्थ के स्वरूप को प्रकाशित करना, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होना आदि । ये शब्दार्थ और ज्ञान स्वरूप से पृथक् होते हुए भी 'सवितर्का समापत्ति' में अभेद रूप से दिखाई देते हैं । जब गौ पदार्थ में योगी चित्त को एकाग्र करके उसका प्रत्यक्ष करता है तो वहाँ पर इन तीनों की स्मृति बनी रहती है । वह इन तीनों में भेद नहीं कर पाता । उस समय साधक के मन में गौ शब्द, गौ अर्थ और गौ ज्ञान ये तीन बने रहते हैं । जबकि 'निर्वितर्का समापत्ति' में अर्थ की ही प्रतीति होती है, शब्द और ज्ञान का भान नहीं रहता ।

एक सांसारिक व्यक्ति भी गौ, घटादि पदार्थों को इसी प्रकार से देखता है । परन्तु सांसारिक व्यक्ति का चित्त मध्य-मध्य में विषयान्तर होता रहता है । वह अपने चित्त को अधिकारपूर्वक एक ही पदार्थ में स्थिर नहीं कर सकता । योगाभ्यासी उसको विषयान्तर नहीं होने देता, यही दोनों में अन्तर है ।

मन को एक ही विषय में अधिकारपूर्वक रोकना बहुत कठिन प्रतीत होता है । इसका कारण एक यह भी है कि योगाभ्यासी को यह बताया जाता है कि चित्त बहुत चञ्चल है परन्तु प्रायः यह नहीं बताया जाता कि यह जड़ पदार्थ है और इसको जीवात्मा चलाता है । यदि मन के विषय में उचित प्रशिक्षण दे दिया जाए तो कठिनाई न्यून हो जाती है ॥ ४२ ॥

अव० – यदा पुनः शब्दसंकेतस्मृतिपरिशुद्धौ श्रुतानुमानज्ञानविकल्पशून्यायां समाधिप्रज्ञायां स्वरूपमात्रेणावस्थितोऽर्थस्तत्स्वरूपाकारमात्रतयैवावच्छिद्यते सा च निर्वितर्का समापत्तिः । तत्परं प्रत्यक्षम् । तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजम् । ततः श्रुतानुमाने प्रभवतः । न च श्रुतानुमानज्ञानसहभूतं तद्दर्शनम् । तस्मादसंकीर्णं प्रमाणान्तरेण योगिनो निर्वितर्कसमाधिजं दर्शनमिति । निर्वितर्कायाः समापत्तेरस्याः सूत्रेण लक्षणं द्योत्यते–

अर्थ – और जब शब्द संकेत की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर आगम एवं अनुमान ज्ञान के विकल्पों से रहित समाधिप्रज्ञा में अपने शुद्धस्वरूप से ही स्थित अर्थ उस अपने रूप के ही आकार से अवधारित होता है (तब) वह 'निर्वितर्का समापत्ति' होती है । वह पर प्रत्यक्ष है । और वह आगम तथा अनुमान का बीजरूप कारण है । उससे आगम और अनुमान उत्पन्न होते हैं । वह ज्ञान, आगम और अनुमान के साथ उत्पन्न होने वाला नहीं है । इसलिए 'निर्वितर्का समाधि' से उत्पन्न योगी का ज्ञान अन्य प्रमाण से अमिश्रित (असंकीर्ण) है । सूत्र द्वारा इस 'निर्वितर्का समापत्ति' का लक्षण बतलाया जाता है –

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ – (स्मृति-परिशुद्धौ) शब्दसंकेत, आगम और अनुमान ज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर (स्वरूप-शून्या-इव) अपने ग्रहणस्वरूप से शून्य हुई जैसी (अर्थमात्र-निर्भासा) अर्थमात्र-सी भासने वाली अर्थात् अर्थमात्र का ही प्रकाश करने वाली (निर्वितर्का) 'निर्वितर्का समापत्ति' है ।

सूत्रार्थ – शब्दसंकेत, आगम और अनुमान ज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर अपने ग्रहणस्वरूप से शून्य हुई जैसी अर्थमात्र-सी भासने वाली अर्थात् अर्थमात्र का ही प्रकाश करने वाली 'निर्वितर्का समापत्ति' है ।

व्या० भा० – या शब्दसंकेतश्रुतानुमानज्ञानविकल्पस्मृतिपरिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञास्वरूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थमात्रस्वरूपा ग्राह्यस्वरूपापन्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः । तथा च व्याख्यातम् ।

तस्या एकबुद्ध्युपक्रमो ह्यर्थात्माऽणुप्रचयविशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः । स च संस्थानविशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः, फलेन व्यक्तेनानुमितः स्वव्यञ्जकाञ्जनः प्रादुर्भवति, धर्मान्तरस्य कपालादेरुदये च तिरोभवति । स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते । योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रियाधर्मकश्चानित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते ।

यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचयविशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य तस्यावयव्यभावादतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्याज्ञानमिति । तदा च सम्यग्ज्ञानमपि किं स्याद्विषयाभावात् । यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाम्नातम् । तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्यवहारापन्नः समापत्तेर्निर्वितर्काया विषयो भवति ॥ ४३ ॥

व्या० भा० अ० *– शब्द के संकेत, श्रुत = (आगम) अनुमान ज्ञानों के विकल्प की स्मृति की निवृत्ति हो जाने पर ग्राह्य आलम्बन के स्वरूप से उपरक्त (सम्बद्ध) प्रज्ञा अपने ग्रहणात्मक प्रज्ञा रूप को मानो छोड़कर पदार्थमात्र स्वरूप वाली ग्राह्यस्वरूप को प्राप्त हुई-सी होती है तब वह 'निर्वितर्का समापत्ति' कहलाती है । और ऐसा (ही) व्याख्यान (भी) किया गया है ।*

उस 'निर्वितर्का समापत्ति' का आलम्बन एक वृत्ति को उत्पन्न करने वाला अर्थरूपी अणुओं का प्रचयरूपी विशेषात्मा गौ आदि अथवा घटादि लोक है। और वह अवयव सन्निवेश विशेष भूत सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं) का आत्मभूत साधारण धर्म है, अभिव्यक्ति रूप कार्य से अनुमित, अपने व्यञ्जक कारणों से उत्पन्न, कपालादि रूपान्तर के उदित होने पर तिरोहित होता है। वह यह धर्म अवयवी कहा जाता है । जो वह एक महान्, छोटा, स्पर्शवान्, क्रिया करने योग्य और अनित्य होता है उस अवयवी के द्वारा सारे व्यवहार किये जाते हैं ।

जिसके मत में वह सञ्चयविशेष है, वस्तु नहीं है और सूक्ष्मकारण इन्द्रियों से अग्राह्य है, उसके मत में अवयवी न होने से अतद्रूपप्रतिष्ठित होने के कारण मिथ्याज्ञान है । इस प्रकार सारा ही प्राप्त ज्ञान प्रायः मिथ्याज्ञान होगा । और तब विषयाभाव होने से, यथार्थज्ञान भी क्या होगा ? जो-जो उपलब्ध होता है, वह-वह अवयवी के रूप में बतलाया जाता है । इसलिए अवयवी है (और) जो महत्त्व (अणुत्व एकत्व) आदि व्यवहारों को प्राप्त हुआ 'निर्वितर्का समापत्ति' का विषय बन जाता है ॥ ४३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **निर्वितर्का समापत्ति** का वर्णन है ।

सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति में यह भेद है कि 'निर्वितर्का समापत्ति' में शब्द संकेत, श्रुत, अनुमान ज्ञानों के विकल्प (= भेद) की स्मृति की निवृत्ति हो जाती है और 'सवितर्का समापत्ति' में इन ज्ञानों के विकल्प की स्मृति बनी रहती है । सवितर्का में शब्द, ज्ञान और वस्तु इन तीनों की प्रधानता बनी रहती है । परन्तु निर्वितर्का में शब्द, ज्ञान गौण हो जाते हैं और पदार्थ के स्वरूप की प्रधानता रहती है । यहाँ पर बुद्धि को '**स्वरूपशून्या**' कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि इस स्थिति में पदार्थ को प्रकाशित करने वाली बुद्धि गौण हो जाती है, उसका अभाव नहीं होता । यदि उसका अभाव मान लिया जाय तो पदार्थ का स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता । 'निर्वितर्का समापत्ति' में जो योगी को प्रत्यक्ष होता है वह पर (उत्कृष्ट) प्रत्यक्ष है । वही शब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण का कारण है । क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के शब्दप्रमाण और अनुमानप्रमाण उत्पन्न नहीं हो सकते ।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि संसार में जितने भी गौ घटादि पदार्थ हैं वे सब परमाणुओं के समुदायमात्र हैं परमाणुओं से भिन्न अवयवी नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं । इस मान्यता में यह दोष है कि जो अति सूक्ष्म परमाणु हैं वे इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकते । यदि अवयवी को नहीं मानेंगे तो जो व्यवहार प्रत्यक्ष रूप में देखा जाता है कि यह वस्तु बड़ी है, यह छोटी है, यह क्रियावान् पदार्थ है, यह क्रियाहीन है, मैं इस पदार्थ को छू रहा हूँ, मैं इस पदार्थ को उठाकर

अन्यत्र ले जा रहा हूँ। इत्यादि ज्ञानमूलक यह सब व्यवहार मिथ्या कहा जायेगा। इसलिये निर्वितर्का समापत्ति में जो पदार्थ का स्वरूप प्रत्यक्ष होता है वह एक अवयवी है, परमाणुओं का समुदायमात्र नहीं ॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ – (एतया-एव) इस सवितर्का और निर्वितर्का के समापत्ति के वर्णन से ही (सविचारा निर्विचारा च) सविचारा और निर्विचारा (सूक्ष्म-विषया) सूक्ष्म विषयों वाली (व्याख्याता) व्याख्यान की हुई समझनी चाहियें।

सूत्रार्थ – इस सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति के वर्णन से ही सूक्ष्म विषयों वाली सविचारा और निर्विचारा समापत्ति का वर्णन समझ लेना चाहिये।

व्या० भा० – तत्र भूतसूक्ष्मेष्वभिव्यक्तधर्मकेषु देशकालनिमित्तानुभवावच्छिन्नेषु या समापत्तिः सा सविचारेत्युच्यते। तत्राप्येकबुद्धिनिर्ग्राह्यमेवोदितधर्मविशिष्टं भूतसूक्ष्ममालम्बनीभूतं समाधिप्रज्ञायामुपतिष्ठते।

या पुनः सर्वथा सर्वतः शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानवच्छिन्नेषु सर्वधर्मानुपातिषु सर्वधर्मात्मकेषु समापत्तिः सा निर्विचारेत्युच्यते। एवं स्वरूपं हि तद्भूतसूक्ष्ममेतेनैव स्वरूपेणालम्बनीभूतमेव समाधि-प्रज्ञास्वरूपमुपरञ्जयति।

प्रज्ञा च स्वरूपशून्येवार्थमात्रा यदा भवति तदा निर्विचारेत्युच्यते। तत्र महद्वस्तुविषया सवितर्का निर्वितर्का च, सूक्ष्मवस्तुविषया सविचारा निर्विचारा च। एवमुभयोरेतयैव निर्वितर्कया विकल्प-हानिर्व्याख्यातेति ॥ ४४ ॥

व्या० भा० अ० *– उनमें से अभिव्यक्त धर्म वाले देश, काल, निमित्तों के ज्ञान से विशिष्ट भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति है वह सविचारा कही जाती है। वहाँ पर भी एक बुद्धि के द्वारा गृहीत होने वाले उदित (वर्त्तमानकाल के) धर्मों से युक्त आलम्बन बना हुआ भूतसूक्ष्म समाधिप्रज्ञा में वर्त्तमान रहता है।*

जो समापत्ति सब प्रकार से सब ओर से शान्त (भूतकालिक) उदित (वर्त्तमानकालिक), अव्यपदेश्य (भविष्यकालिक) धर्मों से असम्बद्ध सब धर्मों का आश्रय बनने वाले सब धर्मों के आधारभूत भूतसूक्ष्मों में जो समापत्ति होती है, वह 'निर्विचारा' कहाती है। इस प्रकार का ही वह भूतसूक्ष्म इसी स्वरूप से आलम्बन बना हुआ समाधिप्रज्ञा के स्वरूप को उपरक्त करता है। और प्रज्ञा जब स्वरूपरहित-सी होकर केवल आलम्बन विषयाकार होती है, तब 'निर्विचारा' कहलाती है।

उनमें से स्थूल वस्तु विषयक (समापत्तियाँ) सवितर्का तथा निर्वितर्का और सूक्ष्म वस्तु विषयक सविचारा तथा निर्विचारा होती हैं। इस प्रकार इन दोनों (निर्वितर्का, निर्विचारा) में इस निर्वितर्का के द्वारा विकल्परहितता का व्याख्यान किया गया ॥ ४४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति की व्याख्या से ही सविचारा और निर्विचारा समापत्ति की व्याख्या समझ लेनी चाहिये। **देश**–उस वस्तु का ऊपर नीचे, बायाँ दायाँ भाग। **काल**–जिस समय उस वस्तु का साक्षात्कार किया जा रहा है। **निमित्त**–जिस उपादान कारण से उसकी उत्पत्ति हुई है। इन अनुभवों सहित तन्मात्रादि सूक्ष्मभूतों में जो समापत्ति होती है, वह '**सविचारा**' है।

जिसमें देश, काल और निमित्तों का ज्ञान नहीं रहता, सूक्ष्मभूत तन्मात्रादि वस्तुओं का स्वरूप ही प्रत्यक्ष होता है, वह '**निर्विचारा**' है ॥ ४४ ॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ – (सूक्ष्म–विषयत्वम्) सूक्ष्म विषयता = जड़ पदार्थों की सूक्ष्मता (च) और (अलिङ्ग–पर्यवसानम्) प्रकृति पर्यन्त रहती है।

सूत्रार्थ – जड़ पदार्थों की सूक्ष्मता प्रकृतिपर्यन्त रहती है।

व्या० भा० – पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रम्, तैजसस्य रूपतन्मात्रम्, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रम्, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति। तेषामहंकारः। अस्यापि लिङ्गमात्रं सूक्ष्मो विषयः। लिङ्गमात्रस्याप्यलिङ्गं सूक्ष्मो विषयः। न चालिङ्गात्परं सूक्ष्ममस्ति।

नन्वस्ति पुरुषः सूक्ष्म इति? सत्यम्। यथा लिङ्गात्परमलिङ्गस्य सौक्ष्म्यं न चैवं पुरुषस्य। किंतु लिङ्गस्यान्वयिकारणं पुरुषो न भवति, हेतुस्तु भवतीति। अतः प्रधाने सौक्ष्म्यं निरतिशयं व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

व्या० भा० अ० – *पार्थिव अणु का सूक्ष्मविषय गन्धतन्मात्रा है, जलीय अणु का सूक्ष्मविषय रसतन्मात्रा है, तैजस अणु का सूक्ष्मविषय रूपतन्मात्रा है, वायवीय अणु का सूक्ष्मविषय स्पर्शतन्मात्रा है और आकाशीय अणु का सूक्ष्मविषय शब्दतन्मात्रा है। उन (तन्मात्राओं) का सूक्ष्मविषय अहंकार है। इस (अहंकार) का भी सूक्ष्मविषय लिङ्गमात्र (महत्तत्त्व) है। लिङ्गमात्र का भी सूक्ष्मविषय अलिङ्ग (प्रकृति) है। और अलिङ्ग से परे सूक्ष्मविषय नहीं है।*

इस पर शङ्का है कि (अलिङ्ग से परे) सूक्ष्मविषय पुरुष है? यह सत्य है। जिस प्रकार लिङ्ग से परे अलिङ्ग की सूक्ष्मता है उस प्रकार पुरुष की सूक्ष्मता नहीं है। पुरुष लिङ्ग का उपादानकारण नहीं होता परन्तु निमित्तकारण होता है। इसलिये प्रधान (प्रकृति) में निरतिशय सूक्ष्मता का व्याख्यान किया गया है ॥ ४५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **जड़ पदार्थों की सूक्ष्मता की सीमा** का उल्लेख है।

जिन सूक्ष्म अणुओं से पृथिवी की उत्पत्ति होती है उनका उपादानकारण तन्मात्रा सूक्ष्मभूत हैं अर्थात्

भूमि के अवयव जो सूक्ष्म अणु हैं उनका उपादानकारण तन्मात्रायें हैं । तन्मात्राओं का उपादानकारण अहंकार है । वह तन्मात्राओं से सूक्ष्म है । अहंकार का उपादानकारण महत्तत्त्व है, वह अहंकार से सूक्ष्म है। महत्तत्त्व का उपादानकारण प्रकृति है। वह महत्तत्त्व से सूक्ष्म है। प्रकृति का कोई उपादानकारण नहीं है । जड़ पदार्थों में प्रकृति से सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है । यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा प्रकृति से भी सूक्ष्म पदार्थ हैं । परन्तु वे किसी जड़ पदार्थ का उपादानकारण नहीं हैं । व्यासभाष्य में पुरुष को महत्तत्त्व आदि पदार्थों का निमित्त कारण माना है, उपादानकारण नहीं । इससे ईश्वर को संसार का उपादानकारण मानने का पक्ष खण्डित हो जाता है। ईश्वर को महत्तत्त्व आदि पदार्थों का निमित्तकारण स्वीकार करने से यह बात भी सिद्ध हो गई कि सृष्टि की रचना ईश्वर करता है ।

इस वर्णन से साधक को जहाँ यह परिज्ञान होता है कि किस जड़ पदार्थ का उपादानकारण क्या है और सृष्टि की रचना कैसे होती है तथा वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का रचयिता ईश्वर है और यह सृष्टि स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती । जब योगाभ्यासी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मान लेता है तो ईश्वर के प्रति भावना दृढ़ हो जाती है ॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ – (ताः) वे चारों समापत्तियाँ अर्थात् सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा (एव) ही (सबीजः) बहिर् वस्तु आलम्बन वाली (समाधिः) समाधियाँ हैं ।

सूत्रार्थ – वे चारों समापत्तियाँ अर्थात् सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा ही (सबीज) बाह्य वस्तु आलम्बन वाली समाधियाँ हैं ।

व्या० भा० – ताश्चतस्रः समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीजः । तत्र स्थूलेऽर्थे सवितर्को निर्वितर्कः, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार इति चतुर्धोपसंख्यातः समाधिरिति ॥ ४६ ॥

व्या० भा० अ० *– और वे चार समापत्तियाँ (ध्येय के रूप में) बाहर की वस्तु को आलम्बन करने वाली हैं अतः समाधि भी सबीज होती है। उनमें स्थूल अर्थ (विषय) में सवितर्क, निर्वितर्क और सूक्ष्म अर्थ (विषय) में सविचार, निर्विचार समाधि होती हैं। इस प्रकार वह समाधि चार प्रकार की कही गई है ॥ ४६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा, निर्विचारा इन चार समापत्तियों को सबीज समाधि कहा है। इनमें से सवितर्का, निर्वितर्का स्थूल वस्तुओं में होती हैं। और सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म वस्तुओं में होती हैं। स्थूलवस्तु का अभिप्राय पृथिवी, गौ, घट आदि। सूक्ष्मवस्तु का अभिप्राय है – तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, महत्तत्त्व और जीवात्मा । इन समाधियों के साथ बाह्य वस्तुओं का सम्बन्ध होने से ये **सालम्बन** अथवा **सबीज** कहाती हैं। अस्मिता सम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा बुद्धि के द्वारा अपना अनुभव करता है। तब अहंकार का सम्बन्ध उसके साथ

रहता है। इसलिये उसको भी सालम्बन समाधि कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के साथ बाह्य वस्तुओं का सम्बन्ध न होने से वह **निर्बीज** वा **निरालम्बन** कही जाती है।

व्यासभाष्य के अनुसार बीज शब्द का अर्थ आलम्बनमात्र प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ – (निर्विचार-वैशारद्ये) निर्विचारा समापत्ति की वैशारद्य = प्रवीणता = निर्मलता होने पर (अध्यात्म-प्रसादः) यथार्थ वस्तु विषयक प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

सूत्रार्थ – निर्विचारा समापत्ति की निर्मलता होने पर यथार्थ वस्तुविषयक प्रज्ञाप्रकाश उत्पन्न होता है।

व्या० भा० – अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादो भूतार्थविषयः क्रमाननुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोकः। तथा चोक्तम् –

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४७ ॥

व्या० भा० अ० *– रजस्-तमस् रूपी अशुद्धि आवरण मलों से पृथक् हुए प्रकाश स्वभाव वाले बुद्धितत्त्व की रजस्-तमस् के सम्पर्क से रहित निर्मलधारा 'वैशारद्य' कहलाती है। जिस समय निर्विचार समाधि की निर्मलता स्वच्छ स्थिति प्रवाह होता है तब योगी को भूतार्थ विषयक क्रम की अपेक्षा न रखने वाला स्पष्ट 'प्रज्ञाप्रकाश' प्राप्त होता है। और ऐसा कहा है –*

प्रज्ञा के प्रकाश पर आरूढ़ होकर शोकहीन (योगी), शोक करते हुए प्राणियों को ऐसे देखता है जैसे पर्वत पर रहने वाला व्यक्ति भूमि पर रहने वालों को देखता है ॥ ४७ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि निर्विचार समाधि के **वैशारद्य (परिपक्व निर्मलता) की सिद्धि होने पर योगी को उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति** होती है।

समाधि का अभ्यास करते-करते योगी की बुद्धि अविद्या आदि मलों से रहित हो जाती है। अतः रजोगुण, तमोगुण से प्रभावित नहीं होती। विवेक, वैराग्य और अभ्यास का सतत सावधानी से प्रयोग करने के कारण योगी की बाधारहित समाधि बनी रहती है। इस स्थिति में उस योगी का ज्ञान उत्कर्ष को प्राप्त होता है। उससे वह पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस विशिष्ट ज्ञान का स्रोत क्या है? यह ज्ञान ईश्वर प्रदत्त है। जीवात्मा अपने ज्ञान, कर्म और उपासना को जितना ईश्वराज्ञानुसार बना लेता है ईश्वर उसको उतना ज्ञान देता है। जीवात्मा का अपना स्वाभाविक ज्ञान अल्प है। उससे जीवात्मा को पदार्थों का परिज्ञान नहीं हो सकता। प्रकृति जड़ पदार्थ है, वह ज्ञान का आधार नहीं बन सकती। इसलिए जहाँ-जहाँ जीवात्मा विशिष्ट ज्ञानयुक्त होता है, वहाँ-वहाँ वह ज्ञान ईश्वर प्रदत्त है। यहाँ पर यह बतलाया गया कि समाधि अवस्था में रजोगुण, तमोगुण से बुद्धि अभिभूत नहीं होती। क्योंकि योगी

अपने पुरुषार्थ के बल पर इनको उभरने नहीं देता और इनको दूर करने के लिए श्रद्धापूर्वक ईश्वरोपासना करता है। समाधि की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये वह मोक्षशास्त्रों को पढ़ता है, योगाभ्यासी सत्पुरुषों का संग करता है। इन्हीं कारणों से निर्विचार समाधि की निर्मलता होती है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि समाधि प्राप्त योगी को उस अवस्था में क्या अनुभव होता है। इस विषय में कहा है कि निर्विचार समाधि की निर्मलता सिद्ध होने पर योगी ज्ञान के ऊँचे स्तर को प्राप्त करके स्वयं को अविद्या आदि क्लेशों से रहित और सांसारिक मनुष्यों को क्लेशों से पीड़ित देखता है। उस योगी की वैसी ही स्थिति होती है जैसे कि किसी पर्वत के शिखर से नीचे रहने वाले मनुष्यों को देखने वाले की होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके वह समस्त संसार के प्राणियों को इन क्लेशों से छुड़ाकर सुख प्राप्त कराना चाहता है और स्वयं इस अवस्था को छोड़ना नहीं चाहता ॥ ४७ ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ – (ऋतम्भरा) सत्य को ही धारण करने वाली (तत्र) निर्विचारा समापत्ति की प्रवीणता होने पर (प्रज्ञा) बुद्धि उत्पन्न होती है।

सूत्रार्थ – निर्विचारा समापत्ति की प्रवीणता होने पर सत्यज्ञान को ही धारण करने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है।

व्या० भा० – **तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति। न च तत्र विपर्यासज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति। तथा चोक्तम्** –

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥ इति ॥ ४८ ॥

व्या० भा० अ० – *समाहित चित्त वाले (योगी) को उस वैशारद्य की स्थिति में जिस प्रज्ञा की प्राप्ति होती है उसकी संज्ञा 'ऋतम्भरा' है। वह (संज्ञा) अन्वर्थ = अर्थ के अनुकूल है। सत्य को ही धारण करती है और वहाँ विपरीत ज्ञान का कोई अंश भी नहीं रहता है। और वैसा कहा है –*

योगी वेद के पठन एवं श्रवण के द्वारा, उसके मनन और निदिध्यासन के द्वारा तीन प्रकार की बुद्धि को बनाता हुआ उत्तम योग को प्राप्त करता है ॥ ४८ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **निर्विचार वैशारद्य समाधि का फल** बतलाया है।

निर्विचार समाधि की सिद्धि होने पर योगी को जो उत्कृष्ट बुद्धि प्राप्त होती है, उसका नाम **'ऋतम्भरा'** है। क्योंकि वह सत्य ज्ञान को ही ग्रहण करती है, असत्य को नहीं। सांसारिक अवस्था में व्यक्ति को अज्ञान प्रिय लगता है और उसकी बुद्धि असत्य ज्ञान को ग्रहण करती रहती है। परन्तु इस अवस्था में उसकी बुद्धि असत्य ज्ञान का परित्याग करके सत्यज्ञान को ग्रहण करने वाली बन जाती है।

ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त व्यक्ति यह जान लेता है कि आत्मा क्या है, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि क्या हैं ? किन कारणों से व्यक्ति दुःखी होता है और किन कारणों से सुखी । अन्य प्राणियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और कैसा नहीं आदि ।

ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति के लिए कुछ उपाय नीचे बतलाये जाते हैं -

(१) वेद का अर्थ सहित पढ़ना ।

(२) सुनना ।

(३) मनन करना ।

(४) मनन के पश्चात् निदिध्यासन करना । अर्थात् शान्त चित्त होकर परीक्षापूर्वक सत्य और असत्य का निर्णय करना ।

(५) साक्षात्कार करना । अर्थात् निर्णय के पश्चात् उस ज्ञान को व्यवहार में लाने का पूर्ण प्रयास करना ।

इन उपायों से ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति होती है ।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है । केवल गुरु की कृपा से प्राप्त हो जाती है । यह मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि योगदर्शनकार ने ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु बतलाया है और वेद में ईश्वर को माता, पिता, आचार्य स्वीकार किया है । यदि बिना पुरुषार्थ के ऋतम्भरा बुद्धि देहधारी गुरु की कृपा से उपलब्ध हो सकती है तो ईश्वर की कृपा से भी सबको ऋतम्भरा बुद्धि मिलनी चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । अतः यह मान्यता छोड़ने योग्य है ॥ ४८ ॥

अव० - सा पुनः -

अर्थ - और वह प्रज्ञा -

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ - (श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम्) शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण से उत्पन्न प्रज्ञा से (अन्य-विषया) भिन्न विषय वाली होती है ऋतम्भरा प्रज्ञा (विशेष-अर्थत्वात्) विशेष अर्थ = वस्तु का विशेष स्वरूप दिखाने वाली होने से ।

सूत्रार्थ - वस्तु का विशेष स्वरूप दिखाने वाली होने से, ऋतम्भरा प्रज्ञा शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण से उत्पन्न प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली होती है ।

व्या० भा० - श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयम् । न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुम् । कस्मात् ? न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इति । तथानुमानं सामान्यविषयमेव । यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिर्यत्र न प्राप्तिस्तत्र न गतिरित्युक्तम् (द्रष्टव्यं भाष्यम् १/७) । अनुमानेन च सामान्येनोपसंहारः । तस्माच्छ्रुतानुमान-विषयो न विशेषः कश्चिदस्तीति ।

न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण ग्रहणमस्ति । न चास्य विशेषस्याप्रमाणकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव स विशेषो भवति-भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा । तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ॥ ४९ ॥

व्या० भा० अ० *– 'श्रुत' का अर्थ आगमजन्य ज्ञान है। वह सामान्य विषयक होता है। आगम के द्वारा विशेष नहीं कहा जा सकता है। क्यों ? क्योंकि शब्द का संकेत (पदार्थ के) विशेष धर्म को लेकर नहीं होता। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण (पदार्थ के) सामान्य (धर्म) को बतलाता है । जिसमें प्राप्ति होती है =(स्थानान्तर में पहुँचना होता है) उसमें गति होती है। जिसमें प्राप्ति नहीं है उसमें गति नहीं ऐसा (सूत्र १/७ के भाष्य में) कहा है । अनुमान के द्वारा सामान्य विषयक ज्ञान होता है। इसलिए कोई भी विशेषज्ञान आगम एवं अनुमान का विषय नहीं बनता।*

इस सूक्ष्म व्यवहित = (ढके हुए), विप्रकृष्ट = (दूरस्थ) वस्तु का ग्रहण लौकिक मनुष्यों के प्रत्यक्ष से नहीं होता। लौकिक प्रत्यक्ष से ग्रहण न होने वाले इस विशेष प्रत्यक्ष का अभाव भी नहीं है। क्योंकि भूतसूक्ष्मगत वा पुरुषगत, वह (विशेष) समाधि प्रज्ञा के द्वारा ही ग्राह्य होता है। इसलिए वह प्रज्ञा विशेष विषयक होने से श्रुत तथा अनुमान विषयक प्रज्ञा से भिन्न विषयवाली होती है॥ ४९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में श्रुत और अनुमान से उत्पन्न हुई बुद्धियों से **ऋतम्भरा प्रज्ञा** (बुद्धि) को विशेष बतलाया है ।

पदार्थों का स्वरूप दो प्रकार से देखा जाता है, एक सामान्य और दूसरा विशेष । पदार्थ में कुछ ऐसे सामान्य धर्म होते हैं, जो अन्यों में भी रहते हैं और कुछ ऐसे विशेष धर्म होते हैं जो अन्यों में नहीं होते । जैसे एक गौ के चार पैर, दो सींग, एक पूँछ आदि धर्म हैं वैसे ही धर्म अन्य गौओं के भी होते हैं। परन्तु जिस आकार के पैर, सींग, पूँछ आदि एक गौ के हैं वैसे ही दूसरी गौ के नहीं होते, कुछ अन्तर होता है। वैसे ही मनुष्य, वृक्षादि में भी समझने चाहियें। श्रुतज्ञान और अनुमानज्ञान वस्तु के विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं करवा सकते । परन्तु **ऋतम्भरा प्रज्ञा** (बुद्धि) प्रत्यक्ष के स्तर पर पदार्थ के विशेष धर्मों का ज्ञान करवाती है । यह इसमें विशेषता है। जैसे धूम को देखकर अनुमान से अग्नि का सामान्य ज्ञान होता है कि यहाँ पर अग्नि है । परन्तु वह कितने क्षेत्र में और उसकी ज्वाला कितनी लम्बी-चौड़ी है यह ज्ञान नहीं होता । जब व्यक्ति उसके समीप में जाकर प्रत्यक्ष देखता है तो विशेष रूप से अग्नि का ज्ञान होता है कि इसकी ज्वाला इतनी लम्बी, इतनी चौड़ी है ।

शब्द प्रमाण में यह बात कही कि जीवात्मा एक चेतन पदार्थ है । यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि का सञ्चालन करता है, ऐसा सुनने से जीवात्मा का सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है, विशेष नहीं । समाधि से उत्पन्न ऋतम्भरा बुद्धि से जीवात्मा का विशिष्ट ज्ञान होता है । यह दोनों बुद्धियों में भेद है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शब्द प्रमाण से सुनी हुई बातें और अनुमान प्रमाण से प्राप्त ज्ञान योग का साधन नहीं है । यदि व्यक्ति सत्य शास्त्रों को पढ़कर, सुनकर और अनुमान

प्रमाण से ज्ञान प्राप्त कर अपने आचरण में ले आता है तो समाधि के द्वारा ऋतम्भरा बुद्धि को प्राप्त कर लेता है। सांसारिक व्यक्ति पदार्थों का जो प्रत्यक्ष करते हैं, वह साधारण प्रत्यक्ष है। परन्तु ऋतम्भरा बुद्धि से योगी को जो प्रत्यक्ष होता है, वह उत्कृष्ट प्रत्यक्ष है ॥ ४९ ॥

अव० - समाधिप्रज्ञाप्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते ।

अर्थ - समाधि प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर योगी का प्रज्ञाकृत नया-नया संस्कार उत्पन्न होता है -

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ - (तत्-जः) उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला (संस्कारः) संस्कार (अन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी) दूसरे = सब व्युत्थान के संस्कारों को रोकने वाला होता है ।

सूत्रार्थ - उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य सब व्युत्थान के संस्कारों को रोकने वाला होता है ।

व्या० भा० - समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्थानसंस्काराशयं बाधते । व्युत्थानसंस्कारभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा, ततः प्रज्ञाकृताः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते । ततश्च प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति ।

कथमसौ संस्काराशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति । न ते प्रज्ञाकृताः संस्काराः क्लेशक्षय-हेतुत्वाच्चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति। चित्तं हि ते स्वकार्यादवसादयन्ति । ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ॥ ५० ॥

व्या० भा० अ० *- समाधि प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार व्युत्थान संस्कारों के आशय को बाधित करता है। व्युत्थान संस्कारों के अभिभूत होने से उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ नहीं (उत्पन्न) होतीं। वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि स्थिर रहती है। उससे समाधिज प्रज्ञा (उत्पन्न होती है), उस (प्रज्ञा) से प्रज्ञाकृत संस्कार (उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार नया-नया संस्काराशय उत्पन्न होता है। उस (आशय) से प्रज्ञा और प्रज्ञा से संस्कार उत्पन्न होते रहते हैं।*

यह संस्कारों का आशय चित्त को साधिकार (भोग को सिद्ध करने वाली प्रवृत्ति से युक्त) क्यों नहीं बनाता ? प्रज्ञाजनित वे संस्कार क्लेशों के नाशक होने से चित्त को अधिकार विशिष्ट (युक्त) नहीं करते। वे तो चित्त को अपने (भोग सिद्धिरूप) कार्य से निवृत्त करते हैं। चित्त की चेष्टा (विवेक) ख्याति पर्यन्त ही होती है ॥ ५० ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह कहा है कि **ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देता है ।**

समाधि के समय योगी को जो अनुभव होता है उससे संस्कार उत्पन्न होते हैं । वे संस्कार व्युत्थान संस्कारों से बलवान् होने के कारण उनको रोक देते हैं । समाधि अवस्था में व्युत्थान

संस्कारों के रुक जाने से, उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ रुक जाती हैं। उन वृत्तियों के रुक जाने से समाधि की सिद्धि होती है। समाधि से **समाधिजा प्रज्ञा** उत्पन्न होती है। उसके अनुभवों से नया-नया संस्कार समुदाय उत्पन्न होता है।

यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि वह समाधिकाल में उत्पन्न हुआ संस्कारों का समुदाय चित्त को भोग के सामर्थ्य से युक्त क्यों नहीं करता ? अर्थात् उस समय चित्त में भोग को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियों को उत्पन्न क्यों नहीं करता ? इसका समाधान यह है कि वे प्रज्ञाकृत संस्कार क्लेशों का नाश करने वाले होने से चित्त को भोग प्रवृत्ति वाला नहीं बनाते, किन्तु इस कार्य से रोकते हैं। यहाँ पर यह कहा गया है कि **ऋतम्भरा बुद्धि** से उत्पन्न हुआ संस्कार सांसारिक संस्कारों को बाधित करता है।

इस विषय में यह संशय उत्पन्न होता है कि क्या इन सांसारिक संस्कारों को रोकने में संस्कार ही कारण हैं अथवा अन्य भी कोई कारण है ? इसका उत्तर यह है कि संस्कार को उठाने वाला, उसको बलवान् बनाने वाला जीवात्मा है। जीवात्मा जिस संस्कार को उठाना चाहता है, वह संस्कार उभर जाता है। जिस संस्कार को सहयोग देता है, वह बलवान् बन जाता है। इसी प्रकार जिस संस्कार को जीवात्मा रोकना चाहता है, वह रुक जाता है और जिसको हटाना चाहता है वह हट जाता है। कोई भी संस्कार स्वयं किसी भी शुभ-अशुभ कार्य में आत्मा को प्रवृत्त नहीं कर सकता। इसलिये साधक को सदा यह समझना चाहिये कि किसी भी संस्कार को उठाना वा बाधित करना मेरे आधीन है। शुभ संस्कारों को उत्पन्न करना अशुभ संस्कारों को समाप्त करना आत्मा के आधीन है, मन के नहीं। कभी-कभी व्यक्ति यह मानता है कि मेरे संस्कार अच्छे नहीं हैं इसलिये मैं उत्तम कार्यों को नहीं कर सकता। ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा समझने पर व्यक्ति अशुभ संस्कारों के आधीन होकर अशुभ कर्म करता रहता है और शुभ संस्कारों को उत्पन्न करने का प्रयास करना छोड़ देता है। इसमें यह भी दोष है कि साधक निराशावादी बन जाता है।

कुछ लोग यह मानते हैं कि मन, इन्द्रियाँ और शरीर कर्मों को करते और सुख-दुःख भोगते हैं, जीवात्मा न कर्म करता है और न सुखदुःख भोगता है। ऐसा मानना उचित नहीं है। क्योंकि ये मन आदि सब पदार्थ जड़ हैं। ये न स्वयं कर्म कर सकते हैं और न सुखदुःख भोग सकते हैं। इसलिये संस्कारों को उभारने वाला, मन-इन्द्रियों और शरीर से शुभ-अशुभ कार्य करने वाला तथा उनका फल भोगने वाला जीवात्मा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानपूर्वक अभ्यास करने से सफलता मिलती है, अज्ञानपूर्वक नहीं ॥ ५० ॥

अव० - किञ्चास्य भवति -

अर्थ - इस प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारसमुदाय का क्या होता है ?

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ - (तस्य) उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कार के (अपि) भी (निरोधे) रोक दिये जाने पर (सर्व-निरोधात्) सब चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने से (निर्बीजः) निर्बीज

(समाधिः) समाधि होती है ।

सूत्रार्थ – उस ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कार के रोक दिये जाने पर सब चित्तवृत्तियों के रुक जाने से 'निर्बीज समाधि' होती है ।

व्या० भा० – स न केवलं समाधिप्रज्ञाविरोधी, प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति । कस्मात् ? निरोधजः संस्कारः समाधिजान्संस्कारान्बाधत इति ।

निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृताववस्थितायां प्रविलीयते, तस्मात्ते संस्काराश्चित्त-स्याधिकारविरोधिनो न स्थितिहेतवो, यस्मादवसिताधिकारं सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं विनिवर्तते, तस्मिन्निवृत्ते पुरुषः स्वरूपमात्रप्रतिष्ठोऽतः शुद्धः केवलो मुक्त इत्युच्यत इति ॥ ५१ ॥

व्या० भा० अ० *– वह 'निर्बीज समाधि' न केवल 'समाधि प्रज्ञा' की विरोधिनी है अपितु समाधि प्रज्ञाजन्य संस्कारों को भी बाधित करती है । क्यों ? निरोधजन्य संस्कार समाधिजन्य संस्कारों को बाधित करता है ।*

निरोध स्थिति के कालक्रम के अनुभव के द्वारा निरोध चित्त जनित संस्कारों का अस्तित्व अनुमान से जानने योग्य है । व्युत्थान संस्कार (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र स्थिति में उत्पन्न संस्कार) निरोध समाधि से उत्पन्न संस्कार जो कैवल्य के साधन हैं, उनके साथ चित्त अवस्थित अपनी प्रकृति में प्रविलीन (प्रलय को प्राप्त) हो जाता है । इसलिए वे संस्कार जन्मादि देने वाले चित्त के विरोधी हैं, (चित्त की) स्थिति के हेतु नहीं । क्योंकि समाप्त-अधिकार चित्त कैवल्य भागीय संस्कारों के साथ निवृत्त होता है । उसके निवृत्त होने पर पुरुष स्वरूपमात्र में प्रतिष्ठित शुद्ध केवल मुक्त कहा जाता है ॥ ५१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **निर्बीज समाधि** कब होती है । यहाँ पर निर्बीज समाधि का क्रम बतलाकर **जीवात्मा की मोक्ष अवस्था का वर्णन** किया है ।

निर्बीज (निरालंबन) समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा को और उससे उत्पन्न संस्कारों को रोक देती है । निरोध स्थिति काल के अनुभव के द्वारा निरोध चित्त कृत संस्कारों का अस्तित्व अनुमान से जानने योग्य है । सांसारिक अवस्था में वृत्तियों से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उनको 'व्युत्थान संस्कार' कहते हैं । निरोध अवस्था अर्थात् निर्बीज समाधि की अपेक्षा से सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों को भी 'व्युत्थान संस्कार' कहते हैं । निरोधज संस्कार चित्त के कार्य के विरोधी होते हैं अर्थात् भोग और अपवर्ग को सिद्ध करना चित्त का कार्य है । वे संस्कार इसका विरोध करने वाले होते हैं । समाप्ताधिकार चित्त कैवल्य प्रदान करने वाले निरोध संस्कारों सहित निवृत्त हो जाता है अर्थात् समाप्त हो जाता है । उस अवस्था में जीवात्मा अपने और ईश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उस समय उसको शुद्ध, केवल, मुक्त कहा जाता है । यह देहावसान के पश्चात् जीवात्मा की मोक्षावस्था का वर्णन है । शरीर के रहते हुए जो आत्मा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है उसको

जीवनमुक्त कहते हैं। शरीरावसान के पश्चात् वह ईश्वर की व्यवस्थानुसार (सम्पूर्ण अवधि पर्यन्त) मोक्ष में रहता है, उसको **विदेहमुक्त** कहते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि निर्बीज समाधि को प्राप्त करके प्रकृति–विकृति एवं अपने स्वरूप को यथावत् जानने एवं चित्त के व्युत्थान एवं असम्प्रज्ञात समाधिजन्य संस्कारों सहित प्रकृति में लीन होने पर जीवात्मा मुक्त हो जाता है। वेद के अनुसार जीवात्मा ईश्वर को यथावत् जानकर ही मुक्त हो सकता है, बिना जाने नहीं।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ यजु० ३१।१८॥

भावार्थ – एतं = इस, महान्तम् = महान्, आदित्यवर्णम् = आदित्य स्वरूप; तमसः परस्तात् = अज्ञानान्धकार से पृथक् वर्त्तमान, पुरुषम् = सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को; अहं वेद = मैं जानता हूँ वा जानूँ; तम् एव = उसको ही, विदित्वा = जानकर, मृत्युम् अति एति = मरणादि अगाधदुःख सागर से पृथक् होता है, अयनाय = मुक्ति के लिए, अन्यः पन्थाः = दूसरा मार्ग, न विद्यते = नहीं है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ अथर्व० १०।८।४४॥

भावार्थ – स्वयम्भूः = स्वयं सत्ता वाला (स्वतः सिद्ध) परमेश्वर; अकामः = सांसारिक पदार्थों की कामना से रहित; धीरः = ज्ञान स्वरूप; अमृतः = अविनाशी; रसेन तृप्तः = आनन्द रस से तृप्त; कुतश्चन = किसी प्रकार, कहीं से, न ऊनः = न्यून नहीं; तम् = उस; धीरम् अजरम् युवानम् आत्मानम् = ज्ञानी जराहीन युवा आत्मा को; एव = ही; विद्वान् = जानने वाला; मृत्योः = मृत्यु आदि दुःखों से; न बिभाय = नहीं डरता। इसलिए मुक्ति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर को जानना अनिवार्य है।

मुक्ति के विषय में एक प्रश्न उठता है कि विदेह मुक्त आत्मा संसार में पुनर्जन्म लेता है वा नहीं ? इसका समाधान यह है कि मोक्ष सुख भोगने की एक अवधि है, उस अवधि पर्यन्त सुख भोग कर जीवात्मा अपने तुल्य पाप–पुण्य के आधार पर संसार में मनुष्य जन्म लेता है। मोक्ष सुख को एक सीमा पर्यन्त भोगना इसलिये उचित माना जाता है कि जिन शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म, शुद्ध उपासना से मुक्ति मिलती है वे सीमित हैं, उनका फल भी सीमित होना चाहिए। छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का जो समय होता है, उतने समय तक जीवात्मा मुक्ति में रहता है ऐसा ऋषियों ने माना है। उसको इकत्तीस नील, दस खरब और चालीस अरब (३१,१०,४०,००,००,००,०००) वर्ष कहा जाता है। आदि शंकराचार्य जी ने भी मुक्ति से पुनरावृत्ति को स्वीकारते हुए निम्न बातें अपने भाष्य में लिखी हैं –

(१) यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः।

॥ शंकराचार्यभाष्य छान्दोग्य उपनिषद् ८/१५/१॥

भावार्थ – जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति है तब तक जीव वहीं रहता है अर्थात् अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता।

(२) यदि हि नावर्त्तन्त एवमिह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्।

तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते ।

॥ शंकराचार्यभाष्य बृहदारण्यक उपनिषद् ६/२/१५ ॥

भावार्थ – यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो तो 'इह' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाये इसलिए इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है ।

शंका = महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के अतिरिक्त अन्य किसी ऋषि ने जीव का मुक्ति से लौटना स्वीकार किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

समाधान = महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने ब्रह्मा से लेकर जैमिनि तक सभी ऋषियों की मान्यताओं को स्वीकार किया है । कोई अपनी नई मान्यता स्थापित नहीं की । इससे सिद्ध होता है कि अन्य ऋषियों और महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की मान्यताएँ एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं । जब महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने मुक्ति से लौटना स्वीकार किया है, तो सिद्ध हुआ कि अन्य सब ऋषि भी जीव का मुक्ति से लौटना मानते हैं ।

इस विषय में अन्य ऋषियों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं । जैसे कि महर्षि व्यास जी ने वेदान्त सूत्र ३/३/३२ में कहा है – ''**यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्**'' अर्थात् ''जब तक मोक्ष के अधिकारी जीवात्माओं का मुक्ति में रहने का अधिकार (समय) होता है, तब तक वे मोक्ष में रहते हैं ।'' महर्षि कपिल जी ने सांख्य दर्शन के सूत्र १/१५९ में मुक्ति से जीवों का लौटना माना है । ''**इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः**'' अर्थात् ''जैसे इस समय सृष्टि चल रही है, वैसे ही सदा सृष्टि चलती रहती है, कभी भी सृष्टि सदा के लिये समाप्त नहीं होती ।'' यदि मुक्ति से जीव लौटता ही नहीं, तो जब सारे जीव एक-एक करके मुक्त हो जाएँगे, तब सृष्टि बनेगी ही नहीं । जो कि कपिल मुनि जी नहीं मानते । इसका अर्थ यह हुआ कि जीव मुक्ति से लौटते हैं, तभी तो सदा सृष्टि चलती है ।

जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति न मानने में दोष –

(१) मुक्ति ज्ञान, कर्म, उपासना का फल है । ये सीमित होते हैं । इनका फल मोक्ष सीमित होना चाहिए, असीमित नहीं ।

(२) यदि इनका फल ईश्वर असीमित देता है तो ईश्वर का न्याय भङ्ग होता है ।

(३) यदि बिना निमित्त ईश्वर फल देता है तो अन्यायकारी जीवों को भी मुक्ति में भेजना चाहिए, पश्वादि योनियों में नहीं ।

(४) यदि जीव अनन्त काल तक मुक्ति में ही रहें तो संसार नहीं रहेगा, क्योंकि जीवों की संख्या निश्चित है । एक एक करके सब जीव मुक्त हो जायेंगे और संसार बनना बन्द हो जायेगा ।

(५) यदि सीमित कर्मों से मुक्ति अनन्त काल के लिये मानी जाये, तो सीमित कर्मों से बन्धन भी अनन्त काल के लिये मानना होगा । जो कि अनुचित है ।

इसलिए मुक्ति से पुनरावृत्ति मानना ही ठीक है ॥ ५१ ॥

इति प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः साधनपादः

अव० – उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते ।

अर्थ – स्थिरचित्तवाले के लिए 'योग' कहा गया है । चञ्चल चित्त वाला भी किस प्रकार योगयुक्त हो यह आरम्भ किया जाता है –

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

शब्दार्थः – (तपः–स्वाध्याय–ईश्वरप्रणिधानानि) **तपः**–धर्माचरण करते हुए शीतोष्ण, सुख–दुःख, मानापमान, लाभ–हानि आदि द्वन्द्वों को सहन करना । **स्वाध्याय**–मोक्षशास्त्रों का अध्ययन–अध्यापन, ओम् तथा अन्य गायत्री आदि मन्त्रों का अर्थसहित जप करना । **ईश्वरप्रणिधानानि**–मानसिक, वाचनिक तथा शारीरिक सभी क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना तथा उनमें से शुभकर्मों का कोई लौकिक फल न चाहना । (क्रियायोगः) ये तीन क्रियायें योग के साधन हैं ।

सूत्रार्थ – तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग हैं अर्थात् योग के ये तीन साधन 'क्रियायोग' कहलाते हैं ।

व्या० भा० – नातपस्विनो योगः सिध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्य-मिति मन्यते ।

स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा ॥ १ ॥

व्या० भा० अ० – *अतपस्वी (व्यक्ति) का योग सिद्ध नहीं होता । प्रवाह से अनादि कर्मों एवं क्लेशों की वासनाओं से चित्रित (तथा) विषयजाल को उपस्थित करने वाली अशुद्धि तपस्या के बिना छिन्न–भिन्न नहीं होती । इसलिये 'तप' का ग्रहण किया है । और साधक के द्वारा वह तपस्या की जानी चाहिए जो चित्त को प्रसन्न करने वाली हो, बाधित न करने वाली हो, ऐसा योगी लोग मानते हैं ।*

प्रणवादि पवित्रमन्त्रों का जप और मोक्षशास्त्रों का अध्ययन 'स्वाध्याय' कहा जाता है । सब कर्मों को परमगुरु (ईश्वर) में अर्पित कर देना और उनके लौकिक फलों को न चाहना 'ईश्वरप्रणिधान' है ॥ १ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **क्रियायोग का स्वरूप** बतलाया है ।

क्रियायोग के तीन विभाग हैं – तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान । क्रियायोग का पहला भाग **तप** है । द्वन्द्वसहन को तप कहते हैं । सुख–दुःख, शीतोष्ण, भूख–प्यास, हानि–लाभ, मानापमान आदि द्वन्द्वों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना चाहिये । प्रायः साधक

द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर अपने मुख्य कर्त्तव्य को छोड़ देता है और निराशावादी बन जाता है । ऐसा नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसी स्थिति में व्यक्ति धर्ममार्ग को छोड़कर अधर्ममार्ग को स्वीकार करने वाला बन जाता है अथवा अकर्मण्य बन जाता है । धर्माचरण को छोड़ने से अधर्म की प्रवृद्धि होती है और उससे अशुभ संस्कार बनते हैं; जो अधर्मोत्पत्ति के कारण बनते हैं । इसलिये कठिनाइयों को सहते हुए धर्माचरण करते रहना चाहिए । कठिनाइयों के सहने से सहनशक्ति बढ़ती है और उनका सहना सरल हो जाता है । उदाहरण – जिस व्यक्ति का प्रातः छह बजे उठने का अभ्यास है यदि उसको योगाभ्यास अथवा किसी कार्यविशेष के लिये चार बजे उठना पड़े तो उसे कठिनाई का अनुभव होता है । परन्तु अभ्यास करते–करते उसी व्यक्ति के लिये चार बजे जागना सरल हो जाता है । इसी प्रकार से सभी उत्तम कार्यों के करने में समझना चाहिए।

तप तीन विभागों में विभाजित है – **शारीरिक, वाचनिक और मानसिक** । शरीर से शीतोष्णता आदि को सहते हुए चोरी आदि अशुभ कर्मों को छोड़कर सदा शुभ कर्मों को करना शारीरिक तप है । परन्तु तप उतनी ही मात्रा में करना चाहिये कि जिससे शरीर रुग्ण न हो और मानसिक शान्ति बनी रहे । तप के नाम से कुछ लोग भूखे रहते हैं । कुछ लोग शरीर को अग्नि से तपाते हैं । कुछ लोग एक पैर से खड़े रहते हैं । यह तप नहीं है । इससे शरीर अस्वस्थ हो जाता है और मानसिक अशान्ति उत्पन्न होती है । इस अवस्था में व्यक्ति ईश्वरोपासना नहीं कर सकता । यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विद्या पढ़ना–पढ़ाना, सुनना–सुनाना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना, निष्काम कर्म करना, योगाभ्यास के लिये दीर्घकालपर्यन्त आसन पर बैठकर वृत्तियों को रोकना और ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना तप है ।

इनमे से वाणी से सत्य, मधुर, हितकारी बोलना वाचनिक तप है । मन से राग, द्वेष, लोभ आदि का परित्याग करना सब के प्रति प्रीति रखना मानसिक तप है । सम्मान–प्राप्ति के लिये तप करना लाभप्रद नहीं है । क्योंकि सम्मान–प्राप्ति को लक्ष्य बनाने पर साधक योगमार्ग को छोड़कर भोगमार्ग में प्रवृत्त हो जाता है । सात्त्विक तप करने से जन्म–जन्मान्तर की अशुभ वासनायें क्षीण होती हैं और शुभ संस्कारों का निर्माण होता है ।

क्रियायोग का दूसरा भाग **स्वाध्याय** है । मोक्षशास्त्रों = (वेद और वेदानुकूल आर्ष) का पढ़ना–पढ़ाना और प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का अर्थसहित जप करना स्वाध्याय है । जो ग्रन्थ ईश्वर, जीव, प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करवाते हैं । मोक्ष के स्वरूप को, उसके साधनों को, बाधकों को और उसके फल को ठीक प्रकार से बतलाते हैं वे मोक्षशास्त्र कहलाते हैं । प्रणवादि के जप की विधि पूर्व (योगसूत्र १/२८) में लिख दी है, वहाँ पर देख लेवें ।

क्रियायोग का तीसरा भाग **ईश्वरप्रणिधान** है । ईश्वर की अनन्य भक्ति = मन, वाणी और शरीर से की जाने वाली समस्त क्रियाओं को उसके समर्पित कर देना, उनका कोई लौकिक फल न चाहना । शरीर, इन्द्रियाँ, मन, धन–सम्पत्ति आदि समस्त पदार्थों को उसका मानकर, उसको समर्पण

कर देना, उसी की आज्ञानुसार उन सभी पदार्थों का प्रयोग करना, उसको समस्त पदार्थों से प्रिय समझना, अपना पिता, माता, आचार्य, उपास्य, राजा समझना । शब्द प्रमाण से उसके स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर उसके मुख्य नाम ओम् का अर्थसहित जप करना ईश्वरप्रणिधान है । ऐसा करने से ईश्वर की ओर से विशेष सहायता मिलती है, जिससे बिना कठिनाई के समाधि की सिद्धि होती है ।

इस सूत्र में तीन क्रियाओं को योग कहा है । इससे यह प्रश्न उठता है कि ये तीन क्रिया ही योग है तो वृत्तियों के निरोध को योग क्यों कहते हैं । इसका समाधान यह है कि ये तीनों योग के साधन हैं । इनके अनुष्ठान से वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है । इसलिए साधन और साध्य में अभेद मानकर क्रियायोग को योग नाम से कहा है । इनके आचरण से योग की सिद्धि होती है । अतः इन साधनों को योग कहा है ॥ १ ॥

अव० - स हि क्रियायोगः -

अर्थ - वह क्रियायोग निश्चय से (निम्नलिखित फल को उत्पन्न करता है) -

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

शब्दार्थ - (समाधि-भावनार्थः) समाधि की उत्पत्ति के लिये (क्लेश-तनू-करणार्थः) अविद्या आदि क्लेशों को निर्बल करने के लिये (च) और पूर्वोक्त क्रियायोग है ।

सूत्रार्थ - वह क्रियायोग समाधि की उत्पत्ति और अविद्यादि क्लेशों को निर्बल करने के लिये है ।

व्या० भा० - स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति । प्रतनूकृतान्क्लेशा-न्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति ॥ २ ॥

व्या० भा० अ० *- सेवन किया जाने वाला वह (क्रियायोग) समाधि को उत्पन्न करता है और क्लेशों को निर्बल बना देता है । वह निर्बल बने क्लेशों को विवेकख्याति रूपी अग्नि के द्वारा दग्धबीज सदृश बनायेगा । उनके निर्बल करने से क्लेशों के सम्पर्क से रहित सत्त्व (बुद्धि) पृथक् है और पुरुष पृथक् है इसको जनाने वाली सूक्ष्मबुद्धि समाप्ताधिकार वाली (कृतकृत्य) होकर प्रकृति में लीन होने में समर्थ हो जायेगी ॥ २ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में **क्रियायोग के फल का वर्णन** है । तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान के अनुष्ठान से अविद्यादि पाँच क्लेश निर्बल हो जाते हैं और समाधि की सिद्धि होती है ।

प्रत्येक साधक को अविद्या का स्वरूप अच्छे प्रकार से समझ लेना चाहिए । अनित्य को नित्य और नित्य को अनित्य, अशुद्ध को शुद्ध और शुद्ध को अशुद्ध, दुःख को सुख और सुख को दुःख, अनात्मा को आत्मा और आत्मा को अनात्मा जानना ही 'अविद्या का स्वरूप' है ।

इन्द्रियों में दोष आ जाने से, अशुभ संस्कारों से, अधर्माचरण से, तमोगुण से और कुसंग से अविद्या उत्पन्न होती है। तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान से ये अविद्या को उत्पन्न करने वाले दोष क्षीण हो जाते हैं। जैसे-जैसे अविद्या के कारण निर्बल होते जाते हैं, वैसे-वैसे अविद्या आदि क्लेश निर्बल होते जाते हैं। अधर्माचरण से अशुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन अशुभ संस्कारों से अविद्या उत्पन्न होती है। धर्माचरण से शुभ संस्कार उत्पन्न होते हैं, उनसे विद्या उत्पन्न होती है। इस प्रकार उस विद्या से अविद्या आदि क्लेश निर्बल हो जाते हैं।

क्रियायोग का दूसरा प्रयोजन समाधि को सिद्ध करना है। पूर्वसूत्र के व्याख्याप्रसंग में यह बतलाया गया है कि धर्माचरण करते हुवे सब प्रकार की बाधाओं को सहन करना तप है। यम नियम आदि अष्टाङ्ग योग का आचरण धर्माचरण है। अष्टाङ्ग योग के आचरण से अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त होती है, यह योगदर्शन सूत्र २/२८ में बतलाया है। इसी आधार पर तप समाधि का साधन माना गया है।

इसी प्रकार से मोक्षशास्त्र का अध्ययन और प्रणवादि पवित्र मन्त्रों का अर्थसहित जप करने से समाधि की सिद्धि होती है। मोक्षशास्त्रों को पढ़ने से समाधि के विषय में साधक को विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये उनका स्वाध्याय समाधि का साधन माना गया है। योगदर्शनकार ने बतलाया कि **समाधिसिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात्** ॥ योगदर्शन २-४५ ॥ अर्थात् ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। ईश्वरप्रणिधान समाधि का साधन है। इन तीनों साधनों के अनुष्ठान से क्लेश निर्बल हो जाते हैं और समाधि की प्राप्ति होती है। समाधि का अभ्यास करते-करते योगी की बुद्धि सत्त्वपुरुषान्यताख्याति को प्राप्त हो जाती है। जब बुद्धि के द्वारा भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं तो वह प्रकृति में विलीन होने के योग्य हो जाती है ॥ २ ॥

अव० - अथ के क्लेशाः ? कियन्तो वेति ? -

अर्थ - क्लेश कौन हैं और कितने हैं ? (यह सूत्र द्वारा कहा गया है -)

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ - (अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये (पञ्च-क्लेशाः) पाँच क्लेश हैं।

सूत्रार्थ - अविद्यादि ये पाँच क्लेश हैं अर्थात् ये दुःखों को उत्पन्न करते हैं।

व्या० भा० - क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाम-मवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥ ३ ॥

व्या० भा० अ० - 'क्लेश' का अर्थ पाँच विपर्यय (अर्थात् पाँच प्रकार का मिथ्याज्ञान) है। वे वर्त्तमान (प्रवृत्त हुए) गुणों के अधिकार (कार्योत्पादन रूपी गुणों के अधिकार) को बलिष्ठ बनाते हैं, (कार्यरूप) परिणाम को चलाते हैं, कार्य-कारण के स्रोत को उत्पन्न करते हैं, परस्पर सहयोग देकर कर्म फल को सम्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **अविद्या आदि पाँच क्लेशों का कथन** है । पाँच क्लेशों का अर्थ है, पाँच प्रकार का मिथ्याज्ञान ।

क्लेशों की प्रवृत्ति होने पर व्यक्ति धर्माचरण एवं ईश्वरोपासना को छोड़ देता है और अधर्माचरण एवं भोगों में फंस जाता है । उसका फल है पशु आदि विविध योनियों में जन्म लेना और भयंकर दु:खों को भोगना । कपिलाचार्य ने सांख्य दर्शन में कहा है कि **''बन्धो विपर्ययात्''** ॥ सां० ३–२४ ॥ अर्थात् अविद्या से बन्धन की प्राप्ति होती है । अविद्या का और अधर्म का परस्पर सम्बन्ध है । अविद्या अधर्म को उत्पन्न करती है, अधर्म अविद्या को उत्पन्न करता है । ये दोनों मिलकर जीवों को जन्म–जन्मान्तर में ले जाने का कारण बनते हैं । जब तक अविद्या बनी रहती है तब तक अधर्माचरण भी बना रहता है और उसके रहते हुए जीवात्मा का जन्म–मरणादि बन्धन भी चलता रहता है । अविद्या आदि पाँच क्लेश समस्त अधर्मों और दु:खों के कारण हैं । जहाँ पर अविद्या होगी वहाँ पर अधर्माचरण और अनीश्वरोपासना अवश्य होगी और जहाँ पर अधर्माचरण और अनीश्वरोपासना होगी वहाँ पर दु:ख अनिवार्य रूप से रहेगा ।

यहाँ पर यह भी जानना चाहिए कि जहाँ पर विद्या होगी वहाँ धर्माचरण एवं ईश्वरोपासना अवश्य होगी । जहाँ धर्माचरण एवं ईश्वरोपासना होगी वहाँ पर सुख अवश्य होगा । प्रत्येक व्यक्ति समस्त दु:खों से छूटना चाहता है और दु:ख रहित नित्यानन्द को प्राप्त करना चाहता है । यह लक्ष्य उसका तब पूरा हो सकता है जब सत्यविद्या से अविद्या का नाश और धर्म एवं ईश्वरोपासना से अधर्म तथा अनीश्वरोपासना का नाश करे । इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को समस्त दु:खों से मुक्त होने एवं नित्यानन्द को प्राप्त करने के लिए शुद्धज्ञान, शुद्धकर्म और शुद्धोपासना को अपनाना चाहिए ॥ ३ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ – (अविद्या) मिथ्याज्ञान (क्षेत्रम्) उत्पत्ति भूमि = कारण है (उत्तरेषाम्) पूर्वसूत्र में पढ़े 'अविद्या' शब्द से आगे अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशों का (प्रसुप्त–तनु–विच्छिन्न–उदाराणाम्) प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्था वालों का ।

सूत्रार्थ – पूर्वसूत्र में अविद्या शब्द से आगे पढ़े गये अस्मिता आदि का जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्था वाले हैं । उन सबका कारण 'अविद्या' है ।

व्या० भा० – अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पानां, प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम् । तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः । प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते । तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति । सतां क्लेशानां तदा बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवेत्येषां प्रबोध इति उक्ता प्रसुप्तिः, दग्धबीजानामप्ररोहश्च ।

तनुत्वमुच्यते-प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति । तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः । कथम् ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति । रागश्च क्वचिद्दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति । नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किं तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति । स हि तदा प्रसुप्तनुविच्छिन्नो भवति । विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः ।

सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामान्ति । कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्तस्तनुरुदारो वा क्लेश इति । उच्यते-सत्यमेवैतत् । किं तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम् । यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति । सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः । कस्मात् ? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते । यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाल उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनु क्षीयन्त इति ॥ ४ ॥

व्या० भा० अ० - यहाँ 'अविद्या' प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्थावाले चार प्रकार के अगले अस्मितादि क्लेशों का क्षेत्र = प्रसवभूमि है । उनमें से प्रसुप्ति क्या है ? चित्त में केवल शक्तिरूप से स्थित क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना (प्रसुप्ति है) । आलम्बन के उपस्थित होने पर उसका प्रवृत्त होना = जाग जाना प्रबोध है । विवेकख्यातियुक्त दग्धक्लेशबीज वाले योगी के समक्ष व्यञ्जक विषय (आलम्बन) के होने पर भी क्लेश नहीं जागता, दग्धबीज (क्लेश) का अङ्कुर = उगना कैसे होगा ? इसलिए क्षीण क्लेश (योगी) कुशल, चरमदेह कहा जाता है । वह दग्धबीजभाव नामक पाँचवीं क्लेशावस्था विवेकख्यातियुक्त योगी की ही होती है अन्य की नहीं । तब क्लेशों के उगने का सामर्थ्य दग्ध हो जाता है । अतः विषय के सम्मुख होने पर भी इन (क्लेशों) की उत्पत्ति नहीं होती । इस प्रकार (इनकी) प्रसुप्तता एवं दग्धबीजों का न उगना कह दिया ।

तनुत्व कहा जाता है - प्रतिपक्ष भावना से प्रताड़ित क्लेश निर्बल होते हैं । उसी प्रकार रुक-रुक कर उस-उस रूप से पुनः प्रकट होते हैं इसलिए विच्छिन्न कहे जाते हैं । कैसे ? रागकाल में क्रोध के न दीखने से । राग के समय क्रोध प्रवृत्त नहीं होता । कहीं दीखने वाला राग विषयान्तर में नहीं है, ऐसा नहीं होता । चैत्र (नामक कोई पुरुष) एक स्त्री में रक्त (आसक्त) अन्य स्त्रियों में विरक्त है, ऐसा नहीं है अपितु उसमें राग वर्त्तमान है, अन्यों में भविष्य में होने वाला है । वही (राग) तब प्रसुप्त, तनु वा विच्छिन्न होता है । विषय के प्रति जो प्रकट रहता है, वह उदार है।

ये सारे ही क्लेशविषयता को नहीं छोड़ते तो विच्छिन्न, प्रसुप्त, तनु अथवा उदार क्लेश कौन हैं ? यह सत्य ही है । किन्तु अवस्था विशेष के कारण ही इनका विच्छिन्न आदि (नाम) है । जिस प्रकार प्रतिपक्ष भावना (विरोधी कारण) से निवृत्त होता है उसी प्रकार अपने अभिव्यञ्जक (कारण) से प्रकट होता है । ये सब क्लेश अविद्या के भेद हैं । क्यों ? सब में अविद्या व्याप्त है । अविद्या से जो वस्तु (विषयरूप से) उपस्थित की जाती है, क्लेश उसी का अनुगमन करते हैं । मिथ्याज्ञान के समय उपलब्ध होते हैं । अविद्या के क्षीण होने पर नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन **क्लेशों की जननी अविद्या** बतलाई है । अविद्या के होने पर ये क्लेश अस्तित्व में आते हैं उसके न होने पर नहीं । इन क्लेशों की पाँच अवस्थाएँ हैं, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न उदार और दग्धबीजभाव ।

प्रसुप्त – क्लेशों का सुप्तावस्था में रहना प्रसुप्त अवस्था कहलाती है । जैसे विविध प्रकार के बीज भूमि में विद्यमान रहते हैं परन्तु जब उनके अनुकूल जल, वायु आदि होते हैं तब वे अङ्कुरित होते हैं । इसी प्रकार से व्यक्ति के मन में जन्मजन्मान्तर की वासनायें विद्यमान रहती हैं । जब वासनाओं के अनुकूल उनके उद्‌बोधक कारण उपस्थित होते हैं तब वे उद्‌बुद्ध हो जाती हैं । बाल्य अवस्था में काम आदि की वासनाएँ विद्यमान रहती हैं किन्तु उस समय उनके जगाने वाले शारीरिक सामर्थ्य आदि कारण नहीं होते अतः वे प्रसुप्त रहती हैं। प्रसुप्त वासनाओं का प्रायः व्यक्ति को पता नहीं चलता । जब उनके अनुकूल वातावरण होता है तब व्यक्ति जान जाता है कि मेरे मन में इस प्रकार की वासनायें हैं । ये वासनायें पूर्व जन्म की भी होती हैं और इस जन्म की भी होती हैं । इसलिये योगाभ्यासी को सावधान रहना चाहिए कि मुझ में आन्तरिक रूप से प्रसुप्त वासनायें हैं, ये चाहे जब जाग सकती हैं ।

तनु – जब क्लेश सूक्ष्म रूप में रहते हैं तब तनु कहलाते हैं । क्रियायोग के द्वारा क्लेश निर्बल हो जाते हैं वे साधक के मन में विषय भोगों की ओर विशेष उत्तेजना उत्पन्न नहीं करते । इस स्थिति को तनु कहते हैं । परन्तु जब उनके अनुकूल पदार्थ बार–बार समक्ष आते हैं और साधक ध्यान नहीं देता तो पुनः वे उदार बन जाते हैं अर्थात् जाग जाते हैं । इसलिये उन तनु रूप में स्थित क्लेशों को दग्धबीजभाव की अवस्था में ले जाने के लिये प्रयास करते रहना चाहिये । क्लेशों की प्रसुप्त और तनु अवस्था में भेद यह है कि – प्रसुप्त क्लेश सोया हुआ होता है, जबकि तनु क्लेश कुछ जागा हुआ होता है।

विच्छिन्न – जब वे प्रबल रूप में रहते हैं परन्तु उनके विरोधी क्लेश की तीव्रावस्था के कारण वे अभिभूत हो जाते हैं तब वे विच्छिन्न कहे जाते हैं । किसी एक विषय में राग की प्रवृत्ति होती है तो उससे भिन्न विषय का राग रुक जाता है । उस प्रवृत्त राग के शान्त होने पर यह रुका हुआ राग सक्रिय हो जाता है । एक राग दूसरे राग के प्रवृत्त होने पर दब जाता है और द्वेष के तीव्र होने पर भी दब जाता है । इसी प्रकार से एक विषय में द्वेष उभरता है तो अन्य विषय का द्वेष रुक जाता है । राग के तीव्र रूप से उभरने पर द्वेष रुक जाता है और उसके रुक जाने पर द्वेष उभर जाता है । इस प्रकार से एक वस्तु के प्रति राग के कारण दूसरी वस्तु के प्रति राग का न उत्पन्न होना अथवा द्वेष के तीव्र होने पर राग का रुक जाना तथा द्वेष के उदार होने पर दूसरे द्वेष का दब जाना एवं राग के उत्तेजित होने पर द्वेष का न उभरना क्लेशों की विच्छिन्न अवस्था है । जो साधक यह जानते हैं कि मेरे मन में विच्छिन्न क्लेश विद्यमान हैं वे विशेष ध्यान रखते हैं कि कभी विच्छिन्न क्लेश आक्रमण न कर देवें ।

उदार - जब क्लेश तीव्र रूप से प्रवृत्त होता है तब उसको उदार कहा जाता है । जब व्यक्ति के मन में अत्यन्त तीव्र क्रोध उभरता है तो वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को नहीं जान सकता । यह क्लेश की उदार अवस्था है । इसी प्रकार से अस्मिता, राग, अभिनिवेश क्लेशों के विषय में भी जान लेना चाहिये ।

दग्धबीजभाव — यह क्लेशों की पाँचवी अवस्था है । जैसे एक गेहूँ के बीज को अग्नि में भून देने के पश्चात् वह अनुकूल भूमि, जल, वायु को प्राप्त करके भी अङ्कुरित नहीं होता । वैसे ही योगाभ्यास के द्वारा योगी अविद्या आदि क्लेशों को शक्तिहीन बना देता है । इस अवस्था में वे क्लेश अपने अनुकूल विषय के समक्ष होने पर भी क्रियाशील नहीं होते । यह क्लेशों की दग्धबीजभाव अवस्था योगी में ही होती है, सांसारिक जनों में नहीं ।

तीसरे सूत्र में समान रूप से पाँचों क्लेशों को पढ़ा था वहाँ पर यह ज्ञात नहीं होता था कि इनमें से कौन कारण है और कौन कार्य । इस सूत्र में अविद्या को कारण, अस्मितादि को कार्य रूप में बतलाया है । जब अविद्या रहती है तब ये चारों क्लेश रहते हैं । तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या के नाश होने पर ये क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं ।

कुछ लोग कहते हैं कि भक्तिमार्ग में विद्या की कोई आवश्यकता नहीं है, बिना विद्या के ही आत्मा मोक्ष में चला जाता है । यह मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि वेद और वेदानुकूल ऋषिकृत ग्रन्थों में विद्या को मुक्ति का अनिवार्य साधन माना है -

विद्ययामृतमश्नुते ॥ यजु० ४०—१४ ॥

विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है ।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥ सांख्य० ३—२३ ॥

ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है ।

प्रमाण.................तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ न्यायदर्शन १/१/१ ॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः ॥ न्यायदर्शन १/१/२ ॥

न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम जी भी कहते है, ''तत्त्वज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है, जिसका कि निम्न क्रम है - ज्ञान से अज्ञान का नाश, उसके नाश से दोष (राग, द्वेष, मोह) का नाश, उसके नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश, जन्म के नाश से दुःख का नाश, दुःख के नाश से मुक्ति होती है ।

इसलिये बिना विद्या के केवल भक्तिमार्ग से मुक्ति नही होती ॥ ४ ॥

अव० - तत्राविद्यास्वरूपमुच्यते ।

अर्थ - उनमें से 'अविद्या का स्वरूप' बताया जाता है -

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थ – (अनित्य–अशुचि–दुःख–अनात्मसु) अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः (नित्य–शुचि–सुख–आत्म–ख्यातिः) नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का मानना (अविद्या) अविद्या = मिथ्याज्ञान है ।

सूत्रार्थ – अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मा का मानना 'अविद्या' है ।

व्या० भा० – अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः तद्यथा–ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः, उक्तं च –

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसंबन्धो, भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः ।

तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति–परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः (२।१५) इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या ।

तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तम्–व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्व–मात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति ।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पद्वद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम् । यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किं तु तद्विरुद्धः सपत्नः । तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किंतु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किं तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ॥ ५ ॥

व्या० भा० अ० *– अनित्य पदार्थों में नित्य पदार्थ का ज्ञान (अविद्या है) । जैसे कि पृथिवी नित्य, चन्द्र तारों सहित द्युलोक नित्य, देवगण नित्य हैं, ऐसा । उसी प्रकार अशुद्ध अतिघृणित शरीर में शुद्धज्ञान । और कहा है –*

स्थान (उदर स्थान) के कारण, उपादान (रजवीर्य) के कारण, उपष्टम्भ (रसरक्तादि) का आश्रय होने के कारण, निःस्यन्द (मलमूत्र स्वेदादि) के कारण और निधन (मृत्यु) के कारण व शुद्धि की अपेक्षा रखने के कारण विद्वान् शरीर को अशुद्ध मानते हैं । इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्ध ज्ञान देखा जाता है ।

चन्द्रमा की नवीन कला के समान मनोरम यह कन्या मधु और अमृत के अवयवों से बनी हुई के समान, चन्द्रमा को फोड़कर निकली हुई सी प्रतीत होती है। नीलकमल की पंखुडियों के समान विशाल नेत्रवाली शृंगाररसविलास से युक्त दृष्टियों के द्वारा मानों प्राणिजगत् को तृप्त कर रही हो। इस प्रकार किस (अपवित्र शरीर) का किस (मधु अमृत चन्द्र) के साथ सम्बन्ध है? इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्धि का विरुद्ध ज्ञान होता है। इसी प्रकार इसके द्वारा अपुण्य में पुण्य का ज्ञान और अनर्थ में अर्थ का ज्ञान व्याख्यात हुआ।

वैसे ही दुःख में सुख का ज्ञान 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२।१५) के द्वारा कहेगा। उसमें सुख ज्ञान 'अविद्या' है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मख्याति अर्थात् बाह्योपकरण चेतन (बन्धु, बान्धव, पशु आदि) अचेतन (भूमि, धन, सम्पत्ति आदि) भोग के आधार शरीर को, पुरुष के उपकरण मन को, जो कि आत्मा नहीं हैं उनको आत्मा जानना 'अविद्या' है। इसी प्रकार इस विषय में कहा गया है कि पुत्र, मित्र, पशु आदि व्यक्त, धन सम्पत्ति भूमि आदि अव्यक्त पदार्थों को अपना स्वरूप मानकर उनकी सम्पन्नता पर अपनी सम्पन्नता जानता हुआ प्रसन्न होता है। उनकी विपन्नता में अपनी विपन्नता मानता हुआ शोक करता है, ऐसा मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी है।

इस क्लेश सन्तान और फल सहित कर्माशय की चार भागों में रहने वाली यह अविद्या मूल है। अमित्र, अगोष्पद के समान इस अविद्या की सत्ता जाननी चाहिए। 'अमित्र' का अर्थ न मित्र मात्र है, न मित्र का अभाव है किन्तु उन से विरुद्ध शत्रु है। इसी प्रकार 'अगोष्पद' का अर्थ न गोष्पद का अभाव है, न गोष्पदमात्र है अपितु उन दोनों से भिन्न देश ही है। 'अविद्या' भी इसी प्रकार न प्रमाण है, न प्रमाणाभाव है किन्तु विद्याविरुद्ध ज्ञानान्तर है॥ ५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **अविद्या के स्वरूप का वर्णन** है।

अविद्या एक क्लेश है। जिस साधन से पदार्थ का स्वरूप ठीक प्रकार से जाना जाता है उसको विद्या कहते हैं और जिस साधन से पदार्थ का स्वरूप विपरीत रूप में जाना जाता है वह अविद्या कहाती है। ठूँठ को ठूँठ रूप में जानना विद्या है, मनुष्य के रूप में जानना अविद्या है। जिस समय व्यक्ति किसी पदार्थ के स्वरूप को न वास्तविक रूप में जानता है और न विपरीत रूप में जानता है यह विद्या का अभाव है, अविद्या नहीं है। विद्या और अविद्या परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। जहाँ पर विद्या होती है वहाँ पर अविद्या नहीं रह सकती। जहाँ पर अविद्या होती है वहाँ पर विद्या नहीं रह सकती। अविद्या का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। परन्तु योगदर्शनकार ने अविद्या के उसी अंश को यहाँ पर दिखलाया है जो मुक्ति में बाधक है। अविद्या के इस अंश को निम्न प्रकार से समझना चाहिये।

(१) अनित्य पदार्थों को नित्य जानना – मनुष्य का यह शरीर अनित्य है। अविद्या के कारण व्यक्ति इसको नित्य समझता है और यह इच्छा रखता है कि मेरा यह शरीर अनन्त काल तक बना रहे। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि देवों के शरीर सदा बने रहते हैं, मरते नहीं। संसार में अनेक

लोग वाणी से तो यही कहते हैं कि यह शरीर नाशवान् है । परन्तु मन से शरीर को नाशवान् मानने वाले विरले ही होते हैं । जैसे अनित्य शरीर को अविद्या के कारण व्यक्ति नित्य मानता है वैसे ही वह पृथिवी, सूर्य आदि अनित्य पदार्थों को भी नित्य मानता है । जो भी धन, सम्पत्ति, परिवार आदि मनुष्य के साथ सम्बद्ध हैं, उनको नित्य मानता है । यह अविद्या का एक भाग है ।

(२) अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना – जैसे सुन्दर शरीर को देखकर व्यक्ति यह समझता है कि इस शरीर में कोई मल नहीं है, यह नितान्त शुद्ध है । चोरी आदि अधर्माचरण को शुद्ध मानता है और उत्साहपूर्वक उसको करता रहता है । संसार में अशुद्ध कर्मों को शुद्ध मानने से अन्याय की प्रवृद्धि और न्याय का ह्रास होता है । इसी प्रकार से अन्यायपूर्वक धनोपार्जन को शुभ समझना और अशुद्ध खान–पान को शुद्ध समझना भी अविद्या है ।

(३) दुःख को सुख समझना – संसार में जो सुख है उसमें चार प्रकार का दुःख मिश्रित है । परन्तु अविद्या के कारण व्यक्ति उसको शुद्ध एवं दुःखरहित समझता है । उसकी प्राप्ति के लिये अनेक प्राणियों की हिंसा करता है ।

(४) जो पदार्थ आत्मा नहीं है उनको आत्मा समझना – शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि ये सब पदार्थ आत्मा नहीं है । इनको व्यक्ति आत्मा समझता है । इनको आत्मा समझने के कारण इनके आधीन होकर अशुभ कर्मों को करता रहता है और मन आदि को दोषी मानता है ।

अविद्या के स्वरूप को इस प्रकार से भी समझ लेना चाहिये कि जैसे व्यक्ति अनित्य को नित्य समझता है, वैसे ही नित्य को अनित्य समझता है । शुद्ध को अशुद्ध, सुख को दुःख, चेतन को जड़ समझता है । चार प्रकार की इस अविद्या के स्वरूप को जानना और इसका निराकरण करना अनिवार्य है । व्यक्ति शास्त्रों को पढ़ने और पढ़ाने के पश्चात् यह मान लेता है कि मेरी अविद्या नष्ट हो गई है और मैं वास्तविक विद्वान् बन गया हूँ । परन्तु ऐसा मानना भूल है, जब तक व्यक्ति प्रकृति, विकृति, आत्मा, परमात्मा के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर तदनुसार आचरण नहीं करता तब तक अविद्या का नाश और विद्या की प्राप्ति नहीं होती ।

इस बात को समझने के लिये **छान्दोग्य–उपनिषद्** (७–१) में लिखे **नारदसनत्कुमार–संवाद** से सहायता मिल सकती है । उस सम्वाद का कुछ भाव यहाँ पर लिखा जाता है – सनत्कुमारजी ने नारद जी से पूछा कि आपका आगमन कैसे हुआ ? नारद जी ने कहा कि मैं आपसे विद्या प्राप्त करने के लिये आया हूँ । सनत्कुमार जी ने पूछा कि आपने कौन कौन सी विद्या पढ़ी है ? नारद जी ने कहा कि मैंने ऋग्वेदादि अठारह विद्याएँ पढ़ी हैं । सनत्कुमार जी ने कहा कि इतनी विद्या पढ़ने के पश्चात् आप मुझसे क्या पढ़ेंगे ? नारद जी ने कहा कि "मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मा–परमात्मा को नहीं जानता । क्योंकि आत्मा–परमात्मा को जानने वाले को क्लेश सन्तप्त नहीं करते परन्तु मुझे सन्तप्त करते हैं ।" इस संवाद से व्यक्ति यह जान सकता है कि मेरी अपनी अविद्या दूर हुई वा नहीं ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ – (दृक्–दर्शन–शक्त्योः) दृक्शक्तिः = ज्ञान का अनुभव करने वाला कर्त्ता जीव, दर्शनशक्तिः = जिस साधन से अनुभव होता है वह उपकरण अर्थात् बुद्धि । इन दोनों का (एकात्मता) एकरूपता = एकपन (इव) जैसा प्रतीत होना (अस्मिता) अस्मिता क्लेश हैं ।

सूत्रार्थ – दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का एकरूप जैसा भान होना 'अस्मिता' नामक क्लेश है ।

व्या० भा० – पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते । भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूप-प्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति । तथा चोक्तम्-बुद्धितः परं पुरुषमाकार-शीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धिं मोहेनेति ॥ ६ ॥

व्या० भा० अ० *– पुरुष देखने वाला (और) बुद्धि देखने का साधन है । इन दोनों का एक रूप में प्रतीत होना 'अस्मिता क्लेश' कहा जाता है । भोक्तृशक्ति (भोक्ता) भोग्यशक्ति (भोग्य) नितान्त पृथक् तथा अमिश्रित हैं । इनके मिश्रित रूप में प्राप्त होने (पृथक्–पृथक् प्राप्त न होने) पर भोग सिद्ध होता है । (दोनों के) स्वरूप के परिज्ञान होने पर तो कैवल्य ही होता है, भोग कैसे ? और ऐसा कहा है – मोह (अविद्या) के कारण अपने को बुद्धि से भिन्न, चेतन स्वरूप, नित्य, ज्ञानादि गुण सम्पन्न न मानकर बुद्धि में आत्मा की प्रतीति करता है (अर्थात् बुद्धि को आत्मा मानता है) ॥ ६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **अस्मिता क्लेश का लक्षण** किया है ।

जीवात्मा दृक्शक्ति–चेतन पदार्थ है । बुद्धि दर्शनशक्ति दिखाने का साधन और एक जड़ पदार्थ है । जीवात्मा भोक्ता है । बुद्धि उसका भोग्य है । इन दोनों में परस्पर किसी प्रकार का सम्मिश्रण नहीं है । बुद्धि परिणामिनी है । आत्मा अपरिणामी है । आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, प्रकृति से सम्बन्ध होने पर उसमें अविद्या, अधर्मादि दोष उत्पन्न होते हैं । अतः वह अशुद्ध हो जाता है । यद्यपि बुद्धि सत्त्वगुण प्रधान है । उसमें तमोगुण और रजोगुण का संमिश्रण होने से अशुद्धि बनी रहती है । आत्मा और बुद्धि दोनों भिन्न पदार्थ होने पर भी अविद्या के कारण दोनों एक प्रतीत होते हैं, यह अस्मिता क्लेश का स्वरूप है । जिस प्रकार बुद्धि को और स्वयं को आत्मा एक समझता है वैसे ही मन, इन्द्रियाँ और शरीर इनको और आत्मा को भी एक समझता है । काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, सुख, दुःख ये प्रकृति के गुण हैं । परन्तु अज्ञानता के कारण जीवात्मा इनको अपने गुण मानता है । अपने स्वाभाविक गुण मान लेने पर इनको दूर करने का प्रयास नहीं करता । बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर आदि जड़ पदार्थों का और आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर भोग की स्थिति समाप्त हो जाती है और मोक्ष की स्थिति आ जाती है ।

इस अविद्या के निराकरण के लिये सांख्यदर्शनकार ने कहा है कि "**देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्**" ॥ ६/२ ॥ अर्थात् शरीर आदि समस्त जड़ पदार्थों से आत्मा भिन्न है । "**षष्ठी व्यपदेशादपि**" ॥ सांख्य० ६/३ ॥ संसार में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखने में आता है । व्यक्ति

यह कहता है कि यह मेरा हाथ है, यह मेरा पैर है । इससे सिद्ध होता है कि इनको मेरा कहने वाला पृथक् है और ये सब उससे पृथक् हैं । इस प्रकार से तत्त्वज्ञान होने से अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। अविद्या की निवृत्ति होने से अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अविद्या के रहने पर भोग होता है और उसके न रहने पर भोग नहीं रहता तो जीवनमुक्त देहधारी योगी भी प्राकृतिक पदार्थों को खाते पीते हैं, क्या वह भोग नहीं है ? इसका समाधान यह है कि अविद्यायुक्त सांसारिक जन खाने पीने में सुख समझते हैं । परन्तु योगी उन पदार्थों का प्रयोग शरीर, इन्द्रियों को स्वस्थ बनाने और जीवन रक्षा के लिये करता है, सुख के लिये नहीं।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जैसे-जैसे अविद्या न्यून होती जाती है वैसे वैसे अस्मिता क्लेश भी निर्बल होता जाता है । उसके निर्बल होने से मिथ्या अभिमान की निवृत्ति होती है और व्यक्ति निरभिमानी बन जाता है । संसार में यह देखा जाता है, मनुष्य यह मानता है कि मैं बलवान् हूँ, रूपवान् हूँ, बड़ी अवस्था वाला हूँ, उपाधि वाला हूँ, अनुसन्धान करके विश्वविख्यात उपाधि प्राप्त करने वाला हूँ, विश्वविख्यात वैज्ञानिक हूँ, राजा हूँ, आदि-आदि । इस क्लेश के कारण अल्प सामर्थ्य वाला होकर भी मानव अपने को अधिक सामर्थ्य वाला मानता है। यह भयंकर अहंकार अस्मिता क्लेश से उत्पन्न होता है । उससे संसार में बहुत समस्याएँ एवं दु:ख उत्पन्न होते हैं । इसलिये अविद्या को दूर करके अस्मिता क्लेश का निवारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ - (सुख-अनुशयी) सुख भोगने के पश्चात् अन्त:करण में सुख और सुख-साधनों के प्रति रहने वाली इच्छा = तृष्णा = लोभ (राग:) राग नामक क्लेश है ।

सूत्रार्थ - सुख भोगने के पश्चात् अन्त:करण में सुख और सुख साधनों के प्रति रहने वाली जो इच्छा = तृष्णा, लोभ है, वह 'राग' नामक क्लेश है ।

व्या० भा० - **सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति ॥ ७ ॥**

व्या० भा० अ० - *सुख को जानने वाले का सुखस्मरणपूर्वक सुख वा सुख के साधन में जो आकांक्षा = तृष्णा = लोभ है, वह 'राग' है ॥ ७ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में **'राग' नामक क्लेश का स्वरूप** वर्णित है ।

जब व्यक्ति सुख और सुख के साधनों का अनुभव करता है तब सुख और उसके साधनों के संस्कार चित्त में अङ्कित हो जाते हैं। कालान्तर में उन संस्कारों को उद्‌बुद्ध करने वाले साधनों के उपस्थित होने से वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं । उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । उस स्मृति से अनुभव किये सुख और सुख साधनों को प्राप्त करने की इच्छा हो जाती है । यह राग का स्वरूप है । अर्थात् सुख और सुख साधनों के अनुभव के पश्चात् पुनः सुख भोगने के लिए उनकी प्राप्ति की इच्छा **राग** है।

कोई कोई सुख, उसके साधन स्मृतिकाल में स्मरण आ जाते हैं । कुछ राग ऐसे होते हैं कि जिनके सुख और सुख साधनों की साक्षात् स्मृति नहीं होती । किन्तु परोक्ष स्मृति होती है । जैसे एक गौ का बछड़ा प्रथम बार माँ के स्तनों का दूध पीने का प्रयत्न करता है । बछड़े का दूध के प्रति जो राग उत्पन्न हुआ, उसका कारण पूर्व जन्म में अनुभव किये सुख और सुख साधनों की साक्षात् स्मृति नहीं है । राग–द्वेष रूपी क्लेशों का परस्पर सम्बन्ध बना रहता है । जब सुख और उसके साधनों में कोई बाधक उपस्थित होता है, तब उस बाधक के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है । यदि बाधक को दूर करने का प्रयास करने पर भी वह दूर नहीं होता तो व्यक्ति सन्तप्त होकर निराश हो जाता है ।

जब तक अविद्या की सत्ता बनी रहती है तब तक राग–द्वेषादि क्लेशों की परम्परा चलती रहती है । भोगों में आसक्त व्यक्ति यह मानता है कि मैं सुख और उनके साधनों के द्वारा कृतकृत्य हो जाऊँगा । परन्तु उसकी इच्छा के विपरीत दुःख बढ़ता जाता है । भोगों के भोगने से राग रूपी क्लेश दूर नहीं होता । इसको दूर करने के लिये अविद्या को दूर करना पड़ता है । भोगों को त्यागने से राग की निवृत्ति और भोगने से प्रवृत्ति होती है । सांख्यकार ने कहा है कि **'न भोगाद् रागशान्तिर्मुनिवत्** ॥ ४।२७ ॥ मुनि की भाँति भोगों को भोगने से राग शान्त नहीं होता ।' राग को दूर करने का एक उपाय यह है कि जो सुख और उसके साधन हैं वे क्षणिक हैं, ऐसा जाने । राग को दूर करने का एक अन्य उपाय ईश्वर में विद्यमान नित्यानन्द को जानना भी है । जब साधक यह समझ लेता है कि ईश्वर में दुःखरहित नित्य आनन्द है उसी की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास करना चाहिये तब राग की निवृत्ति होती है । इसलिये राग को हटाने के लिये ईश्वर के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ – (दुःख–अनुशयी) दुःख भोगने के पश्चात् अन्तःकरण में दुःख और दुःख के साधनों के प्रति रहने वाली जो विनाश की इच्छा, क्रोध, आक्रोश है (द्वेषः) द्वेष नामक क्लेश है ।

सूत्रार्थ – दुःख भोगने के पश्चात् दुःख और दुःख के साधनों के प्रति अन्तःकरण में रहने वाली जो विनाश की इच्छा, क्रोध, आक्रोश है, वह 'द्वेष' नामक क्लेश कहलाता है।

व्या० भा० – दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥ ८ ॥

व्या० भा० अ० *– दुःख को जानने वाले का दुःख स्मरणपूर्वक दुःख वा दुःख के साधन में जो प्रतिकार करने का भाव, क्रोध करने का (मानसिक), भाव मारने की इच्छा; क्रोध है, वह 'द्वेष' है ॥ ८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **'द्वेष' का स्वरूप** बतलाया है ।

जब व्यक्ति दु:ख और उसके साधनों का अनुभव करता है, तब उस अनुभव से चित्त में संस्कार उत्पन्न होते हैं । उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । उस स्मृति से द्वेष की उत्पत्ति होती है । यह द्वेष का स्वरूप है । द्वेष को उत्पन्न करने वाले संस्कार इस जन्म और पूर्व जन्म के भी होते हैं । दु:ख को उत्पन्न करने वाले जड़-चेतन पदार्थों का व्यक्ति प्रतिकार करता है और उनके अस्तित्व को समाप्त करना चाहता है । यही **द्वेष** है । इस द्वेष के कारण व्यक्ति अन्यायपूर्वक विविध प्राणियों की हिंसा करता रहता है । इससे पाप की राशि संगृहीत हो जाती है । पाप कर्मों के कारण आत्मा को पशु आदि नीच योनियों में जाना पड़ता है ।

द्वेष और राग का परस्पर सम्बन्ध है । यदि राग रुक जाता है तो द्वेष भी रुक जाता है । जो साधन राग के हटाने में कारण हैं वे द्वेष के हटाने में भी कारण हैं । योगाभ्यासी को यह जानना चाहिये कि द्वेष ईश्वरप्राप्ति में बाधक है और उसके उपदेश के विरुद्ध है । उसका उपदेश है कि **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे... ॥ यजु० ३६/१८ ॥** अर्थात् सभी प्राणी परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें । ऐसा समझने से द्वेष की निवृत्ति होती है । ईश्वर को प्राणिमात्र का माता-पिता मानने से भी द्वेष की निवृत्ति होती है । वेद में ईश्वर का आदेश है – **त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ..... ॥ ऋ. ८/९८/११ ॥** अर्थात् सभी प्राणी मुझे माता, पिता समझें । द्वेष को छोड़ने और मित्रता का व्यवहार करने से तथा परस्पर का सहयोग से सबकी उन्नति होती है। इसके विपरीत द्वेष से अवनति होती है । इसलिये अविद्या का निराकरण आदि उपायों से द्वेष को हटाना चाहिये ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ – (स्व-रस-वाही) मृत्यु दु:ख के अनुभव से जो संस्कार बनता है, उस संस्कार से उत्पन्न होनेवाला (विदुषः) शाब्दिक विद्वान् अर्थात् योग की ऊँची स्थिति को न प्राप्त करने वाले विद्वानों में और साधारण मनुष्यों में तथा अन्य प्राणियों में (अपि) भी (तथा-आरूढः) समान रूप से विद्यमान मृत्यु का भय (अभिनिवेशः) 'अभिनिवेश क्लेश' है ।

सूत्रार्थ – योग की ऊँची स्थिति को अप्राप्त विद्वानों में और साधारण मनुष्यों में तथा अन्य प्राणियों में भी समानरूप से विद्यमान मृत्यु दु:ख से जो संस्कार बनता है, उस संस्कार से उत्पन्न होने वाला भय 'अभिनिवेश क्लेश' कहलाता है ।

व्या० भा० – सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति । न चाननुभूत-मरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः । एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते । स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही, कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्टयात्मकः पूर्वजन्मानु-भूतं मरण दुःखमनुमापयति ।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः । कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥ ९ ॥

व्या० भा० अ० *– प्रत्येक प्राणी की यह नित्य आत्मेच्छा होती है कि मैं न होऊँ ऐसा न हो किन्तु मैं होऊँ (अर्थात् सदा रहूँ) । मरण धर्म के अनुभव के बिना यह आत्मेच्छा नहीं होती। इसके द्वारा पूर्वजन्म का अनुभव सिद्ध होता है । और यह अभिनिवेश क्लेश अपने संस्कार से, केवल जन्मे हुए कृमि का भी प्रत्यक्षानुमानागमों द्वारा असम्भावित मरणभय उच्छेद स्वरूप (यह क्लेश) पूर्वजन्म में अनुभूत मरण दुःख को जनाता है ।*

अत्यन्त मूढ़ों में जिस प्रकार यह क्लेश दिखता है, उसी प्रकार आदि और अन्त जानने वाले विद्वान् में भी विद्यमान है । क्यों ? मरण दुःख के अनुभव करने के कारण यह वासना उन ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों में समान रूप से होती है ॥ ९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **अभिनिवेश क्लेश का वर्णन** है ।

मृत्युभय को 'अभिनिवेश' कहते हैं । यह क्लेश साधारण मनुष्य से लेकर विद्वानों तक के जीवन में भी देखा जाता है । यहाँ पर उन विद्वानों का ग्रहण करना चाहिये, जो अभी योगाभ्यास के द्वारा आत्मा, परमात्मा का साक्षात्कार करके समाधि की परिपक्व अवस्था में नहीं पहुँचे हैं । जैसे पूर्वजन्म में साधारण आत्माओं ने मरण दुःख का अनुभव किया था, वैसे ही विद्वान् आत्माओं ने भी पूर्वजन्म में अनुभव किया था । इसलिये मरण दुःख की अनुभूति के संस्कार दोनों में समान रूप से हैं। मृत्यु से भय करने वाले व्यक्ति ने न तो इस जन्म में प्रत्यक्ष प्रमाण से मृत्यु दुःख का अनुभव किया है और न ही शब्द प्रमाण से जाना है । इससे यह सिद्ध होता है कि उसने पूर्वजन्म में प्रत्यक्ष प्रमाण से मृत्यु दुःख का अनुभव किया है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा अनादि है । यदि आत्मा शरीर नाश के साथ ही नष्ट हो गया होता तो इस जन्म में मृत्यु से न डरता ।

जब व्यक्ति यह जान जाता है कि आत्मा अनादि और नाश रहित है तब उसको मृत्यु से भय नहीं होता । क्योंकि शरीर के उत्पन्न होने से न आत्मा की उत्पत्ति होती है और न उसके विनाश से विनाश होता है । इस विषय में यह शंका उत्पन्न होती है कि जीवात्मा उत्पत्ति–विनाश रहित क्यों है ? इसका समाधान यह है कि – "**कारणाभावात् कार्याभावः** ॥ वैशेषिक १–२–१ ॥ कारण के अभाव होने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता । किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति के तीन कारण होते हैं – एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण, तीसरा साधारण कारण । जैसे घड़े की उत्पत्ति में कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और दण्ड, चाक आदि साधारण कारण हैं । वैसे जीवात्मा के तीन उत्पादक कारण नहीं हैं अतः आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती । इसी प्रकार से विनाश के तीन कारण न होने से उसका विनाश भी नहीं होता । वेद से भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा अनादि है[१] ।

जब अच्छे प्रकार से व्यक्ति यह जान लेता है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं और इनका कभी विनाश भी नहीं होता, तब मृत्यु भय से मुक्त हो जाता है । सांसारिक पदार्थों को अपना मानने

---

१. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ ऋ० १–१६४–२० ॥

से, उनके सुख को दु:खरहित मानने से और उन पदार्थों को नित्य मानने से मृत्यु से भय होता है परन्तु उन पदार्थों को ईश्वर का मानने से, उनके सुख को दु:खमिश्रित तथा अनित्य मानने से और उन पदार्थों को अनित्य मानने से **अभिनिवेश क्लेश** की निवृत्ति होती है । इन अविद्या आदि पाँच क्लेशों का विनाश करके मोक्ष को सिद्ध करना ही मानव जीवन का मुख्य प्रयोजन है ॥ ९ ॥

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

शब्दार्थ – (ते) वे अविद्यादि क्लेश (प्रतिप्रसव-हेया:) अपने उत्पत्ति के कारणभूत चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर समाप्त होने योग्य (सूक्ष्मा:) क्रियायोग और विवेकख्याति के द्वारा निर्बलता को प्राप्त होते-होते भुने बीज के समान हुए हुए ।

सूत्रार्थ – वे अविद्यादि क्लेश क्रिया योग और विवेक ख्याति के द्वारा निर्बलता को प्राप्त होते होते भुने बीज के समान हुए हुए अपने उत्पत्ति के कारण चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर समाप्त करने योग्य हैं ।

व्या० भा० – **ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति ॥ १० ॥**

व्या० भा० अ० – योगी के कृतकार्य चित्त के (प्रकृति में) लीन होने पर उसी के साथ ये पाँच क्लेश विलीन हो जाते हैं ॥ १० ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में सूक्ष्म किये क्लेशों को चित्त की लीनता के साथ लय करने योग्य बतलाया है ।

पाँच क्लेशों से छूटकर जीवात्मा के मोक्ष तक पहुँचने के कतिपय साधन –

प्रथम – साधक ईश्वर, जीव और प्रकृति-विकृति, इनके वास्तविक स्वरूप को जाने ।

दूसरा – निष्काम कर्म को व्यवहार में लावे ।

तीसरा – अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान करे ।

चौथा – योगाभ्यासी वेदवेत्ता सत्पुरुषों का सङ्ग करे ।

इन साधनों के अनुष्ठान के पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते-करते धर्ममेघ समाधि अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था की सिद्धि होती है । सम्प्रज्ञात समाधि से परवैराग्य उत्पन्न होता है । उससे असम्प्रज्ञात समाधि होती है । उसकी परिपक्व अवस्था होने पर चित्त पुरुष के लिये भोग और अपवर्ग को सिद्ध करके अधिकाररहित हो जाता है । अधिकाररहित होने पर अपने उपादान कारण प्रकृति में लीन हो जाता है अर्थात् प्रलय को प्राप्त हो जाता है । उस चित्त के साथ ही ये पाँच क्लेश भी प्रकृति में लीन हो जाते हैं । इस अवस्था में जीवात्मा समस्त क्लेशों से छूटकर ईश्वर के नित्य आनन्द को प्राप्त करता है । यह है मनुष्य जीवन की कृतकृत्यता । जो मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त नहीं करता, उसका जीवन विफल हो जाता है । इस विषय में उपनिषद् में कहा गया है –

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ॥ केनोपनिषद् २/५ ॥

भावार्थ – यदि तूने ईश्वर को यहाँ इस जन्म में जान लिया तो ठीक है अर्थात् तू सफल है यदि इस जन्म में नहीं जाना तो तेरा महाविनाश है ।

सूत्र में 'प्रतिप्रसव' शब्द पढ़ा है, इसको ऐसा समझना चाहिये । पाँच क्लेशों का उत्पादक कारण प्रकृति है, उसी से क्लेशों का प्रसव अर्थात् उत्पत्ति होती है । जब चित्त के द्वारा भोग और अपवर्ग सिद्ध हो जाते हैं तो उसकी आवश्यकता नहीं रहती। अतः उसका प्रतिप्रसव हो जाता है अर्थात् वह अपने उपादान कारण में लीन हो जाता है ॥ १० ॥

अव० – स्थितानां तु बीजभावोपगतानाम् –

अर्थ – बीजरूप को प्राप्त, परन्तु नष्ट न हुए (क्लेशों) की (स्थिति सूत्र में बतलाई है)

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ – (ध्यान–हेयाः) [क्रियायोग से निर्बल की हुई], विवेकख्याति के द्वारा हटाने योग्य (तद्–वृत्तयः) उन पाँच क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ हैं ।

सूत्रार्थ – उन पाँच क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ जो क्रियायोग से निर्बल कर दी गई हैं वे विवेकख्याति के द्वारा त्यागने योग्य हैं ।

व्या० भा० – क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति । यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्वं निर्धूयते पश्चात्-सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन वापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति ॥ ११ ॥

व्या० भा० अ० – *क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म की जाती हैं प्रसङ्ख्यान (विवेकख्याति) के द्वारा नष्ट करने योग्य होती हैं, जिससे सूक्ष्म हो जायें, दग्धबीज के सदृश हो जायें । जिस प्रकार वस्त्रों का स्थूलमल पहले दूर किया जाता है पश्चात् सूक्ष्ममल प्रयत्न से दूर किया जाता है । उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ अल्प प्रयत्न से दूर करने योग्य होती हैं, जबकि सूक्ष्म (वृत्तियाँ) अधिक प्रयत्न के द्वारा दूर करने योग्य होती हैं ॥ ११ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में ध्यान अर्थात् **प्रसंख्यान के द्वारा क्लेशों की वृत्तियों को दूर करने का कथन** है ।

प्रथम क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ क्रियायोग के द्वारा निर्बल बना दी जाती हैं । उसके पश्चात् विवेकख्याति के द्वारा परम्परा से 'क्लेशों की दग्धबीजभाव अवस्था' आ जाती है ।

जब क्लेश व्यवहारकाल में उग्र रहते हैं, तब उनको स्थूल वृत्ति युक्त कहा जाता है । योगाभ्यास के माध्यम से क्लेशों को निर्बल बना देने से उनका उग्र रूप रुक जाता है और मानसिक स्तर पर सूक्ष्म रूप से उनका व्यापार चलता रहता है । उस समय क्लेश सूक्ष्मवृत्तियों से युक्त रहते

हैं। उन वृत्तियों को सूक्ष्म कहा जाता है। क्लेशों की स्थूल वृत्तियों को अल्प प्रयत्न से रोका जा सकता है और सूक्ष्मवृत्तियों को रोकने में अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। जैसे वस्त्र का स्थूल मल अल्प प्रयास से दूर किया जाता है और सूक्ष्म मल अधिक प्रयास से। शरीर से चोरी आदि अशुभ कार्यों को त्याग देना सरल है। परन्तु मन से अशुभ कार्यों को छोड़ देना कठिन है। साधक जैसे-जैसे स्थूल दोषों को जानकर उनको दूर करता जाता है वैसे-वैसे उसको अपने सूक्ष्म दोष दिखाई देने लगते हैं। उन सूक्ष्म दोषों को दूर करने पर उनसे भी सूक्ष्म दोष परिज्ञात होते हैं। यह सूक्ष्म दोषों को जानना और उनको दूर करना असम्प्रज्ञात समाधि पर्यन्त चलता रहता है। इन दोषों की सूक्ष्म स्थिति को देखकर साधक को कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। क्योंकि ज्ञानपूर्वक अभ्यास करने से अवश्य ही सफलता मिलती है॥ ११॥

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ - (क्लेश-मूलः) अविद्यादि क्लेश हैं मूल = कारण जिस कर्मसमुदाय के वह (कर्माशयः) कर्मसमुदाय (दृष्ट-अदृष्ट-जन्म-वेदनीयः) वर्त्तमान तथा भावी जन्म में भोग्य = फल देने वाला होता है।

सूत्रार्थ - जिस कर्मसमुदाय के अविद्यादि क्लेश कारण हैं वह कर्मसमुदाय वर्त्तमान तथा भावी जन्म में फल भुगाने वाला होता है।

व्या० भा० - तत्र पुण्यापुण्यकर्माशयः लोभमोहक्रोधप्रभवः। स दृष्टजन्मवेदनीयश्चादृष्टजन्मवेदनीयश्च। तत्र तीव्रसंवेगेन मन्त्रतपःसमाधिभिर्निर्वर्तित ईश्वरदेवतामहर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः स सद्यः परिपच्यते पुण्यकर्माशय इति। यथा तीव्रक्लेशेन भीतव्याधितकृपणेषु विश्वासोपगतेषु वा महानुभावेषु वा तपस्विषु कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशयः सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिमाणं हित्वा देवत्वेन परिणतः। तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः। क्षीणक्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशय इति॥ १२॥

व्या० भा० अ० - *पुण्य पाप कर्माशय काम, लोभ, मोह, क्रोध से उत्पन्न होता है। वह (कर्माशय) वर्त्तमान जन्म में और आगामी जन्म में फल देने योग्य होता है। उनमें से तीव्र वेग से मन्त्र, तप, समाधियों के द्वारा सम्पादित अथवा ईश्वर, देवता, महर्षि महानुभावों की आराधना से सम्पादित वह पुण्य कर्माशय शीघ्र फल को देता है। इसी प्रकार तीव्र क्लेश के द्वारा भीत, रुग्ण, कृपापात्रों वा विश्वस्त महानुभावों अथवा तपस्वियों के प्रति बार-बार किया गया अपकार, वह भी पाप कर्माशय शीघ्र फल देता है। जैसे कि नन्दीश्वर कुमार मनुष्यत्व को छोड़कर देवत्व को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार नहुष देवों का राजा अपनी ऊँची स्थिति को छोड़कर निम्न स्थिति को प्राप्त हुआ। उन में से अत्यन्त निम्न कर्म करने वाले मनुष्यों का कर्माशय वर्त्तमान जन्म में फल देने वाला नहीं होता। क्षीण क्लेशों वाले तत्त्ववेत्ता योगियों का कर्माशय भी अगले जन्मों में फल देने वाला नहीं होता॥ १२॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में इस जन्म में फल देने वाले और आगामी जन्म में फल देने वाले **कर्मसमुदाय का मूल अविद्या** बताया है ।

यहाँ पर कर्मों के दो विभाग किये गये हैं – शुभ और अशुभ । जिन कर्मों के करने से स्वयं को और अन्यों को सुख मिले वे 'शुभ कर्म' हैं । जिन कर्मों से स्वयं को और अन्यों को दु:ख मिले वे 'अशुभ कर्म' हैं । इनको ऐसे भी कह सकते हैं कि जो कर्म ईश्वर की आज्ञानुसार हैं, वे शुभ कर्म हैं और जो ईश्वराज्ञा के विरुद्ध हैं, वे अशुभ कर्म हैं । कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका फल इसी जन्म में मिलता है और कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका फल आगामी जन्म में मिलता है। कुछ कर्मों का फल शीघ्र और कुछ कर्मों का फल विलम्ब से मिलता है । जिन कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है, उनको **दृष्टजन्मवेदनीय** कहते हैं और जिन कर्मों का फल आगामी जन्मों में मिलता है, उनको **अदृष्टजन्मवेदनीय** कहते हैं ।

कर्म स्वयं अपना फल नहीं दे सकते । क्योंकि वे चेतन पदार्थ नहीं हैं । कर्मों का फल ईश्वर देता है, राजा देता है, अन्य मनुष्य भी देते हैं और कर्मकर्त्ता स्वयं भी लेता है । परन्तु जिन कर्मों का फल स्वयं लेता है वा अन्य देते हैं, उनका फल ईश्वर नहीं देता । स्वयं लिये हुए वा अन्यों के द्वारा दिये हुए कर्मों के फल में यदि कुछ कमी रह जाये, तो उसकी पूर्ति ईश्वर कर देता है । जब कर्मों का एक बड़ा भाग मनुष्य वा पशु योनि देने में समर्थ होता है तब उस कर्मसमूह के आधार पर ईश्वर उस जीवात्मा को मनुष्य, पशु आदि योनियों में भेज देता है । शुभ वा अशुभ कर्मों के कारण योनि के रूप में फल देने का कार्य ईश्वर ही कर सकता है अन्य नहीं । चोरी आदि अशुभ कर्म और किसी प्राणी की रक्षा करना आदि शुभ कर्म का फल राजा भी देता है । इस प्रकार से शुभाशुभ कर्मों का फल समाज भी देता है । कुछ कर्मों का फल व्यक्ति स्वयं भी ले लेता है । एक व्यक्ति असत्य भाषण करके उसका दण्ड स्वयं ले लेता है ।

मनुष्य शरीर में रहते हुए जीवात्मा उन अशुभ कर्मों को इतनी अधिक मात्रा में करता है कि जिनका फल पशु आदि योनि में भोगना पड़ता है; उन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता अर्थात् आगामी जन्म में मिलता है । जो योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं । उनका अगला जन्म नहीं होता । किन्तु जब मुक्ति की अवधि समाप्त हो जाती है तब मनुष्य योनि में आकर पूर्व के शेष कर्मों का फल भोगते हैं ।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होने पर किन कर्मों के आधार पर मानव शरीर मिलता है और उस जन्म में मिलने वाला भोग किन कर्मों के आधार पर मिलता है ? इसका समाधान – मुक्ति का अधिकारी बनने से पूर्व योगी ने जो शुभाशुभ कर्म किये हैं वे कर्म क्लेशों की दग्धबीजावस्था के कारण इस जन्म में फल नहीं दे सकते । जीवनमुक्तावस्था को प्राप्त योगी के द्वारा भी शरीरधारी होने से अल्पज्ञता एवं असावधानी के कारण कुछ स्वल्प दोष हो जाते हैं । जिनका इस जन्म में फल नहीं मिलता । क्लेशों की दग्धबीजावस्था ही इसमें कारण है । इसी आधार पर महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वेदभाष्य में लिखा है कि ''वही (परमेश्वर) मोक्ष पदवी

को पहुँचे जीवों को भी महाकल्प के अन्त में फिर पाप पुण्य की तुल्यता से माता-पिता के सम्बन्ध में मनुष्य जन्म कराता है ।''[१]

कुछ कर्मों का फल शीघ्र ही मिल जाता है और कुछ का विलम्ब से । जैसे किसी ने अनेक प्राणियों के जीवन की रक्षा की, राजा ने पारितोषिक के रूप में उसको कर्मों का फल तत्काल दे दिया । इसी प्रकार से कोई व्यक्ति चोरी कर लेता है तो राजा उसको तत्काल दण्ड दे देता है । ये शीघ्र फल के उदाहरण हुए । इसी प्रकार से विलम्ब से मिलने वाले फल भी होते हैं । जैसे-किसी ने राजकीय विभाग में ४० वर्ष तक सेवा की । उसे सेवानिवृत्ति होने पर मासिक-पारितोषिक-(पेंशन) मिलता है । यह फल उसे ४० वर्ष तक (या कहीं पर कम से कम २० वर्ष तक) सेवा करने के पश्चात् मिला है । ऐसे ही किसी चोर की चोरी १० वर्ष तक पकड़ी नहीं गई । १० वर्ष के पश्चात् चोरी पकड़ी जाने पर उसे राजा ने दण्ड दिया । यह फल भी विलम्ब से मिला । इस प्रकार से किन्हीं शुभ अशुभ कर्मों का फल शीघ्र और किन्हीं का विलम्ब से मिलता है ।

यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि संसार में जो भी सुख दुःख मिलता है वह अपने ही कर्मों का फल नहीं होता । चोर आदि के द्वारा जो दुःख होता है वह अपने कर्मों का फल नहीं होता । क्योंकि उस दुःख को चोरी करने वाले ने अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये अपनी ओर से दिया है । इस दुःख का कारण दुःख भोगने वाले का अपना कर्म नहीं है । इसी प्रकार से कोई व्यक्ति न्यायपूर्वक वा अन्यायपूर्वक धन, सम्पत्ति उपार्जित करके किसी को सुख-सुविधायें देता है, सुखी व्यक्ति का वह सुख उसके अपने कर्मों का फल नहीं है । इसलिए जिस जिस ने जितना जितना शुभ अशुभ कर्म किया हो, उसको उतना ही सुख दुःख देना कर्मों का फल है । इसके विरुद्ध अन्य सुख-दुःख अपने कर्मों का फल नहीं अपितु परिणाम तथा प्रभाव के रूप में समझने चाहिए । कर्म का परिणाम, प्रभाव व फल इन में क्या भेद है, इसे निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं -

कर्म - मन, वाणी और शरीर से जीवात्मा जो विशेष प्रकार की क्रियाएँ करता है, उसे 'कर्म' कहते हैं । जैसे - यज्ञ करना, सत्य बोलना, दान देना, सब के लिये सुख की कामना करना इत्यादि ।

कर्म का परिणाम - किसी भी क्रिया (कर्म) की निकटतम प्रतिक्रिया को 'कर्म का परिणाम' कहते हैं । जैसे - कर्म = यज्ञ करना । परिणाम = वायु की शुद्धि, सुगन्ध प्राप्ति, स्वास्थ्य वृद्धि, रोग निवारण आदि ।

कर्म का प्रभाव - कर्म, कर्म के परिणाम अथवा कर्म के फल को जान कर चेतनों पर जो इन की प्रतिक्रिया होती है, उसे 'कर्म का प्रभाव' कहते हैं । जैसे कर्म = यज्ञ करना । प्रभाव

---

१. **अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।**
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ ऋ० १-२४-२ ॥

= यज्ञ कर्त्ता को प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति, उत्तम संस्कार बनना इत्यादि और जिन जिन मनुष्यों को यज्ञ-कर्त्ता के यज्ञ कर्म की सूचना मिलेगी वे सब मनुष्य यज्ञ कर्त्ता को अच्छा व्यक्ति मानेंगे और उन्हें यज्ञ करने की प्रेरणा भी मिलेगी तथा उनकी यजमान के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी । यह उन मनुष्यों पर पड़ने वाला यज्ञ-कर्म का 'प्रभाव' है ।

कर्म का फल – कर्म के अनुसार कर्म कर्त्ता को जो न्याय पूर्वक सुख दुःख या सुख दुःख के साधन प्राप्त होते हैं उन्हें 'कर्म का फल' कहते हैं । जैसे कर्म = यज्ञ करना । फल = यज्ञ कर्त्ता को पुनर्जन्म में अच्छे, धार्मिक, विद्वान, सदाचारी, सम्पन्न मातापिता के घर में मनुष्य जन्म प्राप्त होना, यह 'कर्म का फल' है ।

कर्म का परिणाम और प्रभाव कर्म के कर्त्ता पर भी हो सकता है अथवा अन्यों पर भी हो सकता है ।

कर्म का फल न्यायपूर्वक कर्म कर्त्ता को ही मिलता है, अन्य को नहीं । कहीं कहीं सामूहिक कर्मों का सामूहिक फल भी होता है ।

जहाँ किसी कर्म कर्त्ता के कर्म से किसी अन्य को अन्याय पूर्वक सुख दुःख मिलता है तो वह कर्म का फल नहीं है बल्कि वह कर्म का परिणाम या प्रभाव है ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थः – (सति मूले) अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर (तद्-विपाकः) उस कर्मसमुदाय का फल (जाति-आयुः-भोगाः) जाति, आयु और भोग होते हैं ।

सूत्रार्थ – अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर उस कर्मसमुदाय का फल जाति, आयु और भोग होते हैं ।

व्या० भा० – सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः । यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा दग्धबीजभावा वा, तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति, नापनीतक्लेशो न प्रसंख्यानदग्धक्लेशबीजभावो वेति । स च विपाकस्त्रिविधो जातिरायुर्भोग इति ।

तत्रेदं विचार्यते-किमेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणमथैकं कर्मानेकं जन्माक्षिपतीति । द्वितीया विचारणा-किमनेकं कर्मानेकं जन्म निर्वर्तत्यथानेकं कर्मैकं जन्म निर्वर्तयतीति ।

न तावदेकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? अनादिकालप्रचितस्यासंख्येयस्यावशिष्टकर्मणः सांप्रतिकस्य च फलक्रमानियमादनाश्वासो लोकस्य प्रसक्तः, स चानिष्ट इति । न चैकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? अनेकेषु कर्मस्वेकैकमेव कर्मानेकस्य जन्मनः कारणमित्यवशिष्टस्य विपाककालाभावः प्रसक्तः, स चाप्यनिष्ट इति । न चानेकं कर्मानेकस्य जन्मनः कारणम् । कस्मात् ? तदनेकं जन्म युगपन्न संभवतीति, क्रमेणैव वाच्यम्, तथा च पूर्वदोषानुषङ्गः ।

तस्माज्जन्मप्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा मरणं प्रसाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति । तच्च जन्म तेनैव कर्मणा लब्धायुष्कं भवति । तस्मिन्नायुषि तेनैव कर्मणा भोगः संपद्यत इति । असौ कर्माशयो जन्मायुर्भोगहेतुत्वात्त्रिविपाकोऽभिधीयत इति । अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति ।

दृष्टजन्मवेदनीयस्त्वेकविपाकारम्भी भोगहेतुत्वाद्, द्विविपाकारम्भी वा भोगायुर्हेतुत्वान्नन्दीश्वर-वन्नहुषवद्वेति । क्लेशकर्मविपाकानुभवनिर्वर्तिताभिस्तु वासनाभिरनादिकालसंमूर्छितमिदं चित्तं विचित्रीकृतमिव सर्वतो मत्स्यजालं ग्रन्थिभिरिवाततमित्येता अनेकभवपूर्विका वासनाः । यस्त्वयं कर्माशय एष एवैकभविक उक्त इति । ये संस्काराः स्मृतिहेतवस्ता वासनास्ताश्चानादिकालीना इति ।

यस्त्वसावेकभविकः कर्माशयः स नियतविपाकश्चानियतविपाकश्च । तत्रा दृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैवायं नियमो न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियतविपाकस्य । कस्मात् ? यो ह्यदृष्टजन्म-वेदनीयोऽनियतविपाकस्तस्य त्रयी गतिः-कृतस्याविपक्वस्य विनाशः, प्रधानकर्मण्यावापगमनं वा, नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानमिति ।

तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य । यत्रेदमुक्तम्-''द्वे द्वे ह वै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोऽपहन्ति । तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव ते कर्म कवयो वेदयन्ते ।''

प्रधानकर्मण्यावापगमनम् । यत्रेदमुक्तं-''स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्, कस्मात् ? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति'' इति ।

नियतविपाकप्रधानकर्मणाभिभूतस्य वा चिरमवस्थानम् । कथमिति ? अदृष्टजन्मवेदनीयस्य नियतविपाकस्यैव कर्मणः समानं मरणमभिव्यक्तिकारणमुक्तम्, न त्वदृष्टजन्मवेदनीयस्यानियत-विपाकस्य ।

यत्त्वदृष्टजन्मवेदनीयं कर्मानियतविपाकं तन्नश्येदावापं वा गच्छेदभिभूतं वा चिरमप्युपासीत, यावत्समानं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तमस्य न विपाकाभिमुखं करोतीति । तद्विपाकस्यैव देशकाल-निमित्तानवधारणादियं कर्मगतिर्विचित्रा दुर्विज्ञाना चेति । न चोत्सर्गस्यापवादान्निवृत्तिरित्येकभविकः कर्माशयोऽनुज्ञायत इति ॥ १३ ॥

व्या० भा० अ० *- कर्माशय क्लेशों के रहने पर ही फल को देने वाला होता है । नष्ट क्लेश रूपी मूल वाला (कर्माशय) (फल का) आरम्भक नहीं होता । जिस प्रकार भूसे से सम्बद्ध एवं जो जले नहीं वे चावल उगने में समर्थ होते हैं तुष से हीन वा जले हुए नहीं उसी प्रकार क्लेश से आबद्ध कर्माशय फल को देने वाला होता है, क्लेश से हीन वा प्रसङ्ख्यान के द्वारा जलाये गये दग्धक्लेशबीज भाव वाला नहीं । और वह फल जाति, आयु और भोग (नाम से) तीन प्रकार का होता है ।*

(कर्म के विषय में) यह विचार किया जाता है कि क्या एक कर्म एक जन्म उत्पन्न करने का कारण बनता है ? वा एक कर्म अनेक जन्मों को देता है ? दूसरा विचार यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को निष्पन्न करते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को निष्पन्न करते हैं ?

एक कर्म एक जन्म का कारण नहीं हो सकता । क्यों ? अनादि काल से सञ्चित असङ्ख्य अवशिष्ट कर्मों का और वर्तमान काल में कृत कर्मों का फल के क्रम का नियमन होने से मनुष्यों में कर्मफल के विषय में अविश्वास प्राप्त होता है और वह अभीष्ट नहीं । और न ही एक कर्म अनेक जन्मों का कारण (होता है), क्यों ? अनेक कर्मों में से एक कर्म ही अनेक जन्मों का कारण होता है, इस रूप में अवशिष्ट (कर्म समुदाय) के विपाककाल (फलों को भोगने के लिये अवसर) का अभाव प्राप्त होता है और वह भी अभीष्ट नहीं है । और अनेक कर्म अनेक जन्म का कारण नहीं (होता) । क्यों ? वे अनेक जन्म एक साथ सम्भव नहीं । इसलिये (जन्मों को) क्रम से ही कहना चाहिये । और उस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा ।

इसलिये (सत्य पक्ष यही है कि) जन्म-मरण के मध्य में किये गये विचित्र प्रधानाप्रधान भाव से स्थित पुण्यपापकर्माशय (कर्म समुदाय) मरण के द्वारा अभिव्यक्त एक समुदाय के रूप में मिलकर मृत्यु को सम्पन्न करके, एक समुदाय बनकर एक ही जन्म को सम्पन्न (प्रदान) करता है । और वह जन्म उसी कर्म के द्वारा प्राप्त आयु वाला होता है । उस आयु में उसी कर्म के द्वारा भोग प्रदान होता है । वह कर्माशय जन्म, आयु और भोग का कारण होने से तीन विपाक (फल) वाला कहा जाता है । इसलिये कर्माशय 'एक जन्म को देने वाला' कहा गया है ।

दृष्ट (वर्त्तमान) जन्म में फल देने वाला कर्माशय भोग का हेतु होने से एक फल को देने वाला होता है, अथवा भोग, आयु को देने वाला होने से दो फलों को देने वाला है, नन्दीश्वर के समान वा नहुष के समान । क्लेश एवं कर्मविपाकानुभवों से निष्पादित वासनाओं के द्वारा (प्रवाह से) अनादि काल से सम्बद्ध चित्त सब ओर से चित्रित जैसा मत्स्यजाल ग्रन्थियों के समान फैला हुआ है, इस प्रकार ये वासनायें अनेक जन्मों की हैं । जो यह कर्माशय है, यह ही एक जन्म का (एक जन्म देने वाला) कहा गया है और स्मृति के हेतु जो संस्कार हैं, वे वासनाएँ हैं और वे (प्रवाह से) अनादिकालीन हैं ।

*जो वह एक जन्म में सम्पादित (संगृहीत) कर्माशय है वह निश्चित फल वाला और अनिश्चित फल वाला होता है। जो यह नियम है (कि एक जन्म को देने वाला कर्माशय है) वह (अदृष्टजन्मवेदनीय नियतविपाक) अगले जन्म में होने वाले नियत फल का है, (अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक) अगले जन्म में होने वाले अनियत फल का नहीं है। क्यों ? जो अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतफलवाला है, उसकी तीन प्रकार की गति है - **(१)** किये हुये अपक्व का नाश (अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बिना फल दिये कर्मों का पड़े रहना, बहुत लम्बे काल के पश्चात् फल देना यही नाश का*

अर्थ है क्योंकि बिना फल दिये कोई कर्म नष्ट नहीं होता।) (२) प्रधानकर्म में सम्मिलित होना । (३) नियत फल वाले प्रधान कर्म के द्वारा दब कर दीर्घकाल तक रहना ।

(१) उनमें से किये हुये अपक्व का नाश जैसे कि शुक्ल कर्म के उदय से इसी जन्म में कृष्ण कर्म का नाश । जिसके विषय में कहा गया है - "दो-दो प्रकार के कर्म जानने योग्य हैं । पुण्य कर्मों का समुदाय पाप कर्मों के समुदाय को नष्ट करता है अर्थात् दबा देता है । इसीलिये तू इसी जन्म में सुकर्म करने की इच्छा कर ऐसा विद्वान् लोग तुझे बताते हैं ।"

(२) प्रधान कर्म में (गौण कर्म के) सम्मिलित होने का स्वरूप । जिसके विषय में यह कहा गया है कि "(पाप कर्म का) पुण्य कर्म में स्वल्प मिश्रण होगा, वह (पाप कर्म) निवारण करने एवं सहन करने योग्य होगा, कुशल (शुभ) कर्म को नीचे नहीं दबा पायेगा । क्यों ? मेरा किया हुआ कुशल कर्म और बहुत है जिसमें सम्मिलित हुआ यह स्वर्ग में भी स्वल्प अपकर्ष (अल्प हानि) करेगा।"

(३) नियत फल वाले प्रधान कर्म से दबकर चिरकाल तक बना रहना । कैसे ? अगले जन्म में नियत फल देने वाले कर्म की एक साथ होने वाली अभिव्यक्ति का कारण मरण कहा गया है। (यह मरण) अगले जन्म में होने वाले अनिश्चित फल वाले कर्म का (अभिव्यञ्जक) कारण नहीं (कहा गया) ।

जो अगले जन्म में अनिश्चित फल देने वाला कर्म है वह नष्ट हो जाये अथवा (प्रधान कर्म से) युक्त हो जाये अथवा दबकर दीर्घकालपर्यन्त बना रहे, जब तक कि अभिव्यञ्जक समान कर्मफल देने की ओर अभिमुख नहीं करता। और उसके फल के देश, काल, निमित्त का निश्चय न होने के कारण यह कर्मगति विचित्र एवं कठिनता से जानने योग्य है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग = सामान्य नियम की निवृत्ति नहीं होती इसलिए यह कर्माशय एक जन्म को देने वाला स्वीकार किया जाता है ॥ १३ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बताया है कि अविद्या आदि क्लेशों के होने पर उस **कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग** के रूप में मिलता है । इस प्रसङ्ग में **कर्म** के स्वरूप को समझना आवश्यक है ।

कर्म-जो मन, इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टा विशेष करता है, सो कर्म कहाता है । वह शुभ, अशुभ और मिश्र भेद से तीन प्रकार का है ॥ **आर्योद्देश्यरत्नमाला - ४८** ॥

अविद्या आदि के होने पर ही कर्माशय फल देता है । उसके न होने पर नहीं । जैसे एक धान का बीज तुष के रहने पर ही अङ्कुरित होता है उसके न रहने और जल जाने पर नहीं अर्थात् उसका छिलका हो और वह जला न हो जब ही वह बीज उग सकता है, अन्यथा नहीं । वैसे ही जब योगी निर्बीज समाधि तक पहुँच जाता है और उसके क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब कर्माशय फल नहीं देता । परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति होने पर कर्माशय फल देता है । ऐसा नहीं मानना चाहिये कि योगी के क्लेश दग्धबीजभाव को प्राप्त होने पर कर्म फल नहीं देते ।

कर्माशय - कर्माशय (कर्मसमुदाय) के तीन फल हैं - **जाति, आयु, भोग ।**

जाति = मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकौड़े आदि का शरीर। **आयु =** जन्म से लेकर मरणपर्यन्त काल आयु है। यह आयु मनुष्य, पशु, मक्खी आदि प्रत्येक प्राणी की भिन्न-भिन्न है। यह उनके शरीर के आधार पर है। अर्थात् मक्खी - शरीर की अपेक्षा से मनुष्य - शरीर में अधिक समय तक जीवित रहने का सामर्थ्य है। मनुष्य जन्म देने वाले कर्मों से मनुष्य की आयु वाला शरीर मिलेगा और मक्खी के जन्म देने वाले कर्मों से मक्खी की आयु वाला शरीर मिलेगा इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। आयु शब्द का प्रयोग सूत्र में किया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ईश्वर प्राणियों की आयु क्षणों में निश्चित करता है। उस समय से पूर्व न वे मर सकते हैं और न उससे आगे जीवित रह सकते हैं।

कुछ लोग यह कहते हैं कि ईश्वर श्वास निश्चित करता है उनके पूरा होने से पूर्व प्राणी मर नहीं सकता, पूरा होने के पश्चात् जीवित नहीं रह सकता। ये सब मान्यतायें प्रत्यक्षादि प्रमाणों से खण्डित हो जाती हैं। क्योंकि प्रत्येक प्राणी कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने शरीर का विनाश कर सकता है और दूसरा प्राणी भी एक अन्य प्राणी को मार सकता है अत: सूत्र में पढ़े आयु शब्द का प्रयोग प्राणियों के शरीर सामर्थ्य को बताने के लिये किया है। यहाँ पर यह भी जानना चाहिये कि जब तक अविद्या आदि क्लेश बने रहेंगे तब तक आयु भी मिलती रहेगी। अविद्यादि का नाश होने पर आयु नहीं मिलेगी। **भोग =** शब्द का अर्थ यद्यपि सुख दु:ख भी है परन्तु इस प्रसंग में भोग शब्द का अर्थ 'सुख दु:ख प्राप्ति के साधन' है जैसे कि धन-सम्पत्ति, सोना-चांदी, भोजन-वस्त्र, पुत्र-परिवार आदि ।

जन्म के विषय में प्रश्न उठता है कि क्या एक कर्म एक जन्म को देता है अथवा एक कर्म अनेक जन्मों को देता है ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों को देते हैं अथवा अनेक कर्म एक जन्म को देते हैं ? यदि एक कर्म एक जन्म को देता है तो कर्म समुदाय बहुत अधिक होने से प्रत्येक कर्म का फल देने का अवसर आना कठिन है। इसलिये यह पक्ष ठीक नहीं है। जब एक कर्म अनेक जन्मों को देता है तो कर्मों की सङ्ख्या अत्यधिक होने से सभी कर्मों को फल देने का अवकाश मिलना कठिन है। अत: यह पक्ष भी ठीक नहीं है। यदि तीसरा पक्ष माना जाता है तो अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्म नहीं दे सकते। क्योंकि एक समय में जीवात्मा अनेक शरीरों को धारण नहीं कर सकता। यदि क्रमश: जन्म देते हैं तो पूर्वोक्त दोष आयेगा अर्थात् कर्मों के आधिक्य के कारण उनको अपना फल देना कठिन हो जायेगा। इसलिये अनेक कर्म मिलकर एक जन्म देते हैं, यह चौथा पक्ष ही ठीक है ।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि कर्म स्वयं मिलकर जीवों को जन्म देते हैं। क्योंकि कर्म चेतन नहीं हैं। चेतन न होने से वे विचार नहीं कर सकते कि किस जीव के कौन से और कितने कर्म हैं। इसलिये शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर जीवों को जन्म देता है। कोई कर्माशय जाति, आयु, भोग तीन फलों को देने वाला होता है, कोई आयु और भोग दो फलों को देने वाला है

और कोई एक फल भोग अथवा आयु को देने वाला होता है ।

अदृष्ट जन्म में फल देने वाला कर्माशय = (**अदृष्टजन्मवेदनीय**) जाति, आयु और भोग तीन फलों का कारण होता है । इन को इस प्रकार समझ सकते हैं ।

जाति - जैसे मनुष्य, गौ, अश्व, कुत्ता, कबूतर, वृक्ष आदि ।

आयु - उपर्युक्त शरीर के अनुसार आयु प्राप्त होती है – जैसे मनुष्य की आयु लगभग १०० वर्ष, गौ की २० – २५ वर्ष, घोड़े की ३० – ३५ वर्ष, कुत्ते की १२ – १४ वर्ष, कबूतर की ६ – ८ वर्ष, विभिन्न वृक्षों की विभिन्न आयु इत्यादि ।

भोग - शरीर के अनुसार ही ईश्वर ने भोग की व्यवस्था कर रखी है । जैसे मनुष्य खीर, पूरी, मेवा, मिष्ठान्नादि खा सकता है, इसके अनुकूल ही पाचन संस्थान तथा दन्त आदि भी मिलते हैं । इसी प्रकार से वह विविध प्रकार के वस्त्र, आभूषण, यान, भवन आदि का उपयोग भी कर सकता है ।

अन्य योनियों (पशु, पक्षियों के शरीरों) मे इस प्रकार की बुद्धि वा शारीरिक संरचना न होने से मनुष्य के समान भोग उपलब्ध नहीं होते । इससे पशु पक्षियों में कुछ तो मांसादि का तथा कुछ फल, घास आदि का भक्षण करते हैं । कुछ ग्राम्य पशु (गौ, घोड़ा, बकरी भेड़ आदि) मनुष्य के यहाँ पालतू बन कर रहते हैं व कुछ जंगली पशु (शेर, भेड़िया आदि) जंगलों में ही रह सकते हैं । पक्षियों में कुछ घोंसले बनाकर, कुछ यों ही शाखाओं पर रहकर ही आँधी वर्षादि में पूरा जीवन बिताने को विवश होते हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

इस जन्म में फल देने वाला = (**दृष्टजन्मवेदनीय**) कोई कर्म समुदाय आयु व भोग दोनों फलों को देने वाला होता है । जैसे सात्त्विक धनोपार्जन व सात्त्विक भोजन खाने से आयु व भोग दोनों का बढ़ना । तथैव कोई कर्म समुदाय एक फल भोग अथवा आयु का देने वाला भी होता है – जैसे कि एक व्यक्ति राजसिक–तामसिक पदार्थों को छोंक आदि से चटपटा बनाकर खाता है । यहाँ कर्म समुदाय प्रधान रूप से भोग को बढ़ा रहा है । इसी प्रकार एक व्यक्ति व्यायामादि करता है इससे उसका बल बढ़ता है, पाचन शक्ति तीव्र होती है तथा स्वास्थ्यप्राप्ति होती है । यह प्रधानरूप से आयु की बढ़ाने वाला कर्म है ।

दृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् इस जन्म में फल देने वाला कर्माशय उपर्युक्त रूप में निश्चित फल वाला होता है तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय निश्चित तथा अनिश्चित दोनों प्रकार के फल देने वाला होता है । जिस कर्म समुदाय का जाति, आयु, भोग निश्चित हो जाता है, उसको **नियतविपाक** और जिसके जाति, आयु और भोग निश्चित नहीं हुये, वह **अनियतविपाक** कहा जाता है । अनियतविपाक कर्माशय की तीन गतियाँ मानी जाती हैं । **पहली** – कुछ कर्म बहुत लम्बे काल के पश्चात् फल देते हैं, कर्मों की इस गति को व्यासभाष्य में 'नाश' के नाम से कहा गया है । **दूसरी** – किसी प्रधान कर्म के साथ मिलकर कर्म अपना फल दे देता है । **तीसरी** – जब

प्रबल कर्म अपना फल देते हैं तो वह कर्म उनके नीचे दबा रहता है और अनुकूल वातावरण आने पर अपना फल देता है ।

वास्तव में कोई भी कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होता । कर्म और कर्मफल का जानना अति परिश्रमसाध्य है । किस कर्म का क्या, कितना, कब, कैसे फल मिलेगा, इसको पूर्णरूपेण ईश्वर ही जान सकता है । आंशिक रूप में मनुष्य भी जानता है ।

आंशिक रूप में जानने से कर्म और कर्मफल पर पूर्ण विश्वास हो जाता है । इससे मनुष्य शुभ कर्मों को श्रद्धापूर्वक करता है और अशुभ कर्मों को छोड़ देता है । शुभ कर्मों के किये बिना अशुभ कर्मो को छोड़ना कठिन है । इसलिये वेद में कहा है कि –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः ।
एवं त्वयि नाऽन्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु० ४०।२ ॥

भावार्थ – मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) धर्मयुक्त वेदोक्त निष्काम कर्मों को (कुर्वन् एव) करते हुए ही (शतं समाः) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे । (एवम्) इस प्रकार धर्मयुक्त कर्मों को करने वाले (त्वयि नरे) तुझ नर में (कर्म न लिप्यते) अधर्मयुक्त अवैदिक काम्य कर्म लिप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ – (ते) वे जाति, आयु और भोग (ह्लाद-परिताप-फलाः) सुख और दुःख रूप फल वाले होते हैं (पुण्य-अपुण्य-हेतुत्वात्) पुण्य और पाप के कारण उत्पन्न होने से ।

सूत्रार्थ – वे जाति, आयु और भोग पुण्य और पाप कारणजन्य होने से सुख और दुःख रूप फल वाले होते हैं अर्थात् जिन जाति, आयु, भोग का कारण पुण्य होता है, वे सुख देने वाले होते हैं तथा जिन जाति, आयु, भोगों का कारण पाप होता है, वे दुःख देने वाले होते हैं ।

व्या० भा० – **ते जन्मायुर्भोगाः पुण्यहेतुकाः सुखफला, अपुण्यहेतुका दुःखफला इति । यथा चेदं दुःखं प्रतिकूलात्मकमेवं विषयसुखकालेऽपि दुःखमस्त्येव प्रतिकूलात्मकं योगिनः ॥ १४ ॥**

व्या० भा० अ० – *पुण्य के कारण से होने वाले वे जन्म, आयु, भोग सुखरूपी फल को, अपुण्य (पाप) के निमित्त से होने वाले दुःखरूपी फल को देते हैं। यह दुःख जिस प्रकार प्रतिकूलात्मक है उसी प्रकार योगी को विषय सुखकाल में भी प्रतिकूलात्मक दुःख ही है ॥ १४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **पुण्य से उत्पन्न जाति, आयु और भोग सुख देने वाले और अपुण्य से उत्पन्न दुःख देने वाले** बताये हैं ।

जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव तथा वेदानुकूल और ऋषिकृत ग्रन्थों के अनुसार सुखप्रद एवं

दु:खनिवारक हैं, वे पुण्यकर्म और इसके विरुद्ध कर्म अपुण्यकर्म हैं । पुण्य कर्मों से प्राप्त जाति, आयु, भोग सुख देने वाले होते हैं और अपुण्य से प्राप्त दु:ख देने वाले होते हैं । पुण्य कर्म करने वाले जीवों को विद्वान्, धार्मिक सम्पन्न माता-पिता के घर में मनुष्य जन्म मिलता है । वहाँ पर जाति, आयु, भोग सुखप्रद होते हैं । अपुण्य कर्म करनेवाले जीवों को पशु आदि जन्म मिलता है । वहाँ पर जाति, आयु, भोग दु:खप्रद होते हैं ।

मनुष्य शरीर में स्वतन्त्रता है, उन्नति करने के साधन हैं । अन्य जीवों से सहायता लेने की सुविधा है । ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न संभव है । ये स्वतन्त्रता, साधन, सुविधा, प्रयत्न पशु आदि के शरीरों में प्राप्त नहीं हैं । इससे यह बात भी सिद्ध हो गई कि मनुष्य और पशु आदि योनियों में समान सुख-दु:ख नहीं हैं । परन्तु पुण्य से प्राप्त जाति, आयु, भोग से मिलने वाला सुख भी योगी के लिये दु:खप्रद ही होता है । सांसारिक सुख क्षणिक और दु:खमिश्रित है । अत: योगी के लिये भोग काल में वह सुख भी प्रतिकूल ही है। इसलिये सांसारिक सुख को भी योगी त्याज्य मानते हैं । इस विषय में सांख्यकार महर्षि कपिल जी ने कहा है कि –

''कुत्रापि कोऽपि सुखी न, तदपि दु:खशबलमिति दु:खपक्षे निक्षिपन्ते विवेचका:''

॥ सांख्य० ६/७-८ ॥

भावार्थ – संसार में कहीं भी कोई भी व्यक्ति पूर्ण सुखी नही हैं । संसार में जो भी सुख उपलब्ध होता है वह दु:खमिश्रित है इसलिये विवेकी लोग उस सुख को भी दु:ख की कोटि में सम्मिलित करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि दु:खरहित नित्यसुख के लिये शुद्ध ज्ञान, शुद्ध निष्काम कर्म और शुद्ध उपासना के द्वारा ईश्वर प्राप्ति करनी चाहिये ॥ १४ ॥

अव० – **कथम् ? तदुपपद्यते** –

अर्थ – (योगी सांसारिक सुख में भी दु:ख की अनुभूति करता है ।) वह कैसे सिद्ध होता है (सूत्र से) कहा जाता है –

परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ – (परिणाम-ताप-संस्कार-दु:खै:) परिणाम दु:ख, ताप दु:ख, संस्कार दु:ख से (गुणवृत्ति-विरोधात्-च) और गुणवृत्ति विरोध दु:ख = सत्त्व, रज, तम गुणों की वृत्तियों = स्वभावों में परस्पर विरोध होने से (दु:खम्) दु:ख (एव) ही है (सर्वम्) सब (विवेकिन:) विवेकी योगी के लिये ।

सूत्रार्थ – परिणाम, ताप, संस्कार दु:खों से और सत्त्व, रज, तम गुणों के स्वभावों में परस्पर विरोध होने से विवेकी = योगी के लिये सब दु:ख ही है । अर्थात् लौकिक सुख

भी दुःख के समान ही है ।

व्या० भा० - सर्वस्यायं रागानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः सुखानुभव इति तत्रास्ति रागजः कर्माशयः । तथा च द्वेष्टि दुःखसाधनानि मुह्यति चेति द्वेषमोहकृतोऽप्यस्ति कर्माशयः । तथा चोक्तम् - नानुपहत्य भूतान्युपभोगः संभवतीति हिंसाकृतोऽप्यस्ति शारीरः कर्माशय इति । विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम् ।

या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति । तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति । स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के निमग्न इति । एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि योगिनमेव क्लिश्नाति ।

अथ का तापदुःखता ? सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनस्तापानुभव इति, तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः । सुखसाधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृह्णात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां धर्माधर्मावुपचिनोति । स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते ।

का पुनः संस्कारदुःखता ? सुखानुभवात्सुखसंस्काराशयो दुःखानुभवादपि दुःखसंस्काराशय इति । एवं कर्मभ्यो विपाकेऽनुभूयमाने सुखे दुःखे वा पुनः कर्माशयप्रचय इति ।

एवमिदमनादि दुःखस्रोतो विप्रसृतं योगिनमेव प्रतिकूलात्मकत्वादुद्वेजयति । कस्मात् ? अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वानिति । यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रे न्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति नान्येषु गात्रावयवेषु । एवमेतानि दुःखान्यक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम् ।

इतरं तु स्वकर्मोपहृतं दुःखमुपात्तमुपात्तं त्यजन्तं, त्यक्तं त्यक्तमुपाददानमनादिवासनाविचित्रया चित्तवृत्त्या समन्ततोऽनुविद्धमिवाविद्यया हातव्य एवाहंकारममकारानुपातिनं जातं जातं बाह्याध्यात्मिकोभयनिमित्तास्त्रिपर्वाणस्तापा अनुप्लवन्ते । तदेवमनादिना दुःखस्रोतसा व्यूह्यमानमात्मानं भूतग्रामं च दृष्ट्वा योगी सर्वदुःखक्षयकारणं सम्यग्दर्शनं शरणं प्रपद्यत इति ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिरूपा बुद्धिगुणाः परस्परानुग्रहतन्त्री-भूत्वा शान्तं घोरं मूढं वा प्रत्ययं त्रिगुणमेवारभन्ते । चलं च गुणवृत्तमिति क्षिप्रपरिणामि चित्तमुक्तम् । रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते । एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेष इति । तस्माद् दुःखमेव सर्वं विवेकिन इति ।

तदस्य महतो दुःखसमुदायस्य प्रभवबीजमविद्या । तस्याश्च सम्यग्दर्शनमभावहेतुः । यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्-रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव । तद्यथा-संसारः संसारहेतु र्मोक्षो मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः । संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम् । हानोपायः सम्यग्दर्शनम् ।

तत्र हातुः स्वरूपमुपादेयं वा हेयं वा न भवितुमर्हति । हाने तस्योच्छेदवादप्रसङ्गः, उपादाने च हेतुवादः । उभयप्रत्याख्याने च शाश्वतवाद इत्येतत्सम्यग्दर्शनम् ॥ १५ ॥

व्या० भा० अ० *– प्रत्येक का यह सुखानुभव राग से पूर्ण, चेतन अचेतन साधनों के आधीन है इसीलिये उसमें रागजनित कर्माशय बनता है । इसी प्रकार दुःख साधनों के प्रति द्वेष करता है और मोहित होता है इसलिये द्वेषमोहजनित भी कर्माशय है । और ऐसा कहा भी है – प्राणियों को पीड़ित किये बिना उपभोग संभव नहीं होता इसलिये हिंसा के द्वारा भी सम्पादित शरीर से सम्बद्ध कर्माशय है। और विषयसुख को 'अविद्या' कहा है (अर्थात् विषय सुख को दुःखरहित सुख मानना अविद्याजनित है ।)*

भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति से जो उपशान्ति (होती) है, वह 'सुख' है । जो चञ्चलता से अतृप्ति है, वह 'दुःख' है । भोगाभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को तृष्णारहित करना संभव नहीं है । क्यों ? क्योंकि भोगाभ्यास के अनन्तर राग बढ़ते हैं और इन्द्रियों की (तद् विषयक) कुशलता बढ़ती है । इसलिये भोग का अभ्यास 'सुख का उपाय' नहीं है । जो सुखार्थी विषयों की वासना से ग्रस्त है, वह वृश्चिक (बिच्छू) के विष से डरा हुआ सर्प के विष से डसे के समान महान् दुःख के कीचड़ में डूबा है । यह अप्रिय स्थिति 'परिणामदुःखता' है, सुखावस्था में भी योगी को ही कष्ट देती है ।

तापदुःखता क्या है ? प्रत्येक तापानुभव द्वेष से युक्त चेतन, अचेतन साधनों के आधीन है इसलिये उसमें द्वेषजनित कर्माशय है । और सुख के साधनों को चाहने वाला शरीर से वाणी से और मन से चेष्टा करता है उससे दूसरे (अनुकूल) पर अनुग्रह करता है और (प्रतिकूल का) हनन करता है इसलिये दूसरों पर अनुग्रह वा पीड़ा द्वारा धर्माधर्म का सञ्चय करता है । वह कर्माशय लोभ और मोह से होता है यह 'तापदुःखता' कही गई है ।

संस्कारदुःखता क्या है ? सुख के अनुभव से सुख के संस्कारों का आशय, दुःख के अनुभव से भी दुःख संस्कारों का आशय (बनता है) । इस प्रकार कर्मों से फल के अनुभव करने के पश्चात् सुख वा दुःख के होने पर फिर से कर्माशय का सञ्चय होता है ।

इस प्रकार यह (प्रवाह से) अनादि विस्तृत दुःख की धारा प्रतिकूलात्मक होने से योगी को ही संतप्त करती है । क्यों ? विद्वान् (योगी) नेत्र गोलक के समान है । जिस प्रकार ऊन का पतला धागा नेत्रगोलक में डाला हुआ स्पर्श के द्वारा दुःखित करता है गात्र (शरीर) के अन्य अवयवों में डाला हुआ (दुःखित) नहीं (करता) इसी प्रकार ये दुःख (विषयसुख) योगी को क्लेशयुक्त करते हैं, अन्य भोक्ता को नहीं ।

अपने कर्मों से उपार्जित बार बार प्राप्त दुःख को छोड़ते हुवे और बार बार छोड़े हुवे दुःख को ग्रहण करते हुवे अन्य व्यक्ति को तो (प्रवाह से) अनादिकालीन वासना से चित्रित, चारों ओर से अविद्या से अनुविद्ध, चित्तवृत्ति के द्वारा त्याज्य विषय में अहंकार, ममकार से अनुगत उत्पन्न प्रत्येक बाह्य तथा आध्यात्मिक उभय निमित्तिक तीन पर्वों वाले ताप प्राप्त होते हैं । इस प्रकार

(योगी अपने को और प्राणिसमूह को) (प्रवाह से) अनादि दुःख स्रोत से घिरे देखकर समस्त दुःखों को क्षीण करने के उपायरूपी यथार्थज्ञान की शरण लेता है ।

गुणवृत्ति के विरोध से विवेकी के लिये सब दुःख ही है । ज्ञान, क्रिया, स्थिति स्वभाव वाले बुद्धि के गुण परस्पर (एकदूसरे) से मिलकर शान्त, घोर, मूढ़ नामक त्रिगुणात्मक अनुभूति को आरम्भ करते हैं । और गुणों का व्यापार चल (अस्थिर) है इस कारण चित्त को शीघ्र परिणाम को प्राप्त होने वाला कहा गया है । रूपातिशय और वृत्त्यतिशय परस्पर विरुद्ध होते हैं । (रूप अतिशय = धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य । वृत्ति अतिशय = शान्त, घोर, मूढ) इनकी सामान्य सत्ता विशेषों के साथ विद्यमान रहती है । इस प्रकार ये गुण एक-दूसरे के आश्रय के द्वारा सुख-दुःख-मोह अनुभूति कराने वाले, सब स्वरूप वाले होते हैं । ये किसी समय प्रधान किसी समय अप्रधान होते हैं । यह इनकी विशेषता है । इसलिये विवेकी के लिये सब दुःख ही हैं ।

इस महान् दुःख समुदाय का उत्पत्तिकारण 'अविद्या' है । सम्यग्दर्शन = वास्तविक ज्ञान उसको दूर करने का हेतु है ।

जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र रोग, रोग हेतु, आरोग्य, चिकित्सा नामक चार विभाग वाला है । इसी प्रकार यह (योग) शास्त्र भी चार विभाग वाला है । जैसा कि संसार, संसार का हेतु, मोक्ष, मोक्ष का उपाय । उनमें से मोक्ष की दृष्टि से दुःखबहुल संसार हेय है । प्रधान एवं प्रधान से उत्पन्न कार्यसमूह और पुरुष का संयोग हेय का हेतु है । संयोग की पूर्ण रूप से निवृत्ति हान है । यथार्थ ज्ञान हान का उपाय है ।

उन में से हाता (त्याग करने वाले) का स्वरूप न हेय है, न उपादेय । हेय (मानें तो) उस (जीवात्मा) का उच्छेदवाद (अनित्यत्व) उपस्थित होता है । उपादान (ग्रहण पक्ष) को मानें तो हेतुवाद (उपादान) का प्रसङ्ग उपस्थित होता है । (अर्थात् जीवात्मा का उपादान कारण मानना पड़ेगा) और दोनों वादों को निरस्त करने पर (जीवात्मा का) नित्यत्व सिद्ध होता है । यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है ॥ १५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बताया है कि परिणाम, ताप, संस्कार दुःखों के कारण और गुणवृत्तिविरोध के कारण **विवेकी के लिये सांसारिक सुख भी दुःख** ही है ।

परिणामदुःख – व्यक्ति को सांसारिक सुख जड़ और चेतन साधनों से उपलब्ध होता है। धन, सम्पत्ति, मनुष्य, पशु आदि जड़ चेतन पदार्थ सुख के साधन हैं । इन दोनों साधनों से वह सुख भोगता है । इनके उपार्जन, रक्षण के लिये उचित-अनुचित कार्यों को करता है । इससे रागज कर्माशय उत्पन्न होता है । उसके सुख, सुख-साधनों में जो बाधा डालता है, उससे वह द्वेष करता और मोहग्रस्त होता है । इससे द्वेषमोहजन्य कर्माशय उत्पन्न होता है । क्योंकि प्राणियों को दुःख

दिये बिना भोग सिद्ध नहीं होता । विषयों का सुख अविद्या ही है अर्थात् अविद्या के कारण व्यक्ति दु:ख को सुख मान लेता है । जो भोगों को भोगने में इन्द्रियों की तृप्ति है, वह सांसारिक **सुख** है । जो उनकी चञ्चलता से अनुपशान्ति है, वह **दु:ख** है । भोगों को भोगने से इन्द्रियों को तृष्णारहित नहीं किया जा सकता । भोगाभ्यास से राग प्रवृद्ध हो जाते हैं और इन्द्रियाँ विषयभोग में कुशल हो जाती हैं । परिणाम यह निकलता है कि व्यक्ति ने जिस इच्छा की पूर्ति के लिए भोगों को भोगा था वह तो शान्त होती नहीं बल्कि इच्छाएँ और अधिक बढ़ जाती हैं । इससे मन मे अशान्ति बढ़ती है, इसे **'परिणाम दु:ख'** कहते हैं । जिन भोगों को व्यक्ति भोगता है, उनमें इन्द्रियाँ तीव्रगति से प्रवृत्त होती हैं, अन्य विषयों में उतनी नहीं । इसलिये भोगाभ्यास सुख का उचित उपाय नहीं है ।

जो लोग इन्द्रियों के भोगों से कृतकृत्य होना चाहते हैं, वे भ्रम में हैं । क्योंकि आज तक इन्द्रियों के भोग भोगने से कोई भी व्यक्ति कृतकृत्य नहीं हुआ और न आगे होगा । भोग भोगने वाले व्यक्ति की ऐसी ही स्थिति होती है जैसे बिच्छू से डरे हुए और सर्प से काटे हुए व्यक्ति की होती है अर्थात् बिच्छू के काटने से दु:ख होता है और सर्प के काटने से मृत्यु भी हो जाती है । अल्प सुख के लोभ में आकर विषयभोगी दु:खसागर में डूब जाता है । मीठा खाने के लोभ में जिस प्रकार मक्खी पिघले गुड़ में बैठ जाती है परन्तु उस गुड़ में उसके पैर फँस जाते हैं । वह निकलने का पूर्ण प्रयास करती है पुनरपि नहीं निकल पाती, उसका प्राणान्त हो जाता है । यही अवस्था विषय भोग करने वाले की होती है। सुखभोग काल में भी योगी को परिणामदु:ख, दु:ख देता है। क्योंकि यह दु:ख 'प्रतिकूलवेदनीय' है । किन्तु भोगकाल में सांसारिक व्यक्ति इसका अनुभव नहीं करता ।

तापदु:ख – सुखभोग में जो भी जड़ चेतन पदार्थ बाधा डालते हैं, उससे व्यक्ति को विविध दु:खों का अनुभव होता है । इसे **'ताप दु:ख'** कहते हैं । उन जड़, चेतन पदार्थों को उचित अनुचित उपायों से समाप्त करने का वह प्रयत्न करता है । उससे द्वेषज कर्माशय बनता है । सुख व उसके साधनों की प्राप्ति के लिये व्यक्ति शरीर, वाणी, मन से प्रयास करता है । इस कार्य की सिद्धि में जो उसको सहायता देते हैं, उनको वह सहयोग देता है और जो बाधा डालते हैं, उनकी हानि करता है । वह कहीं लोभ से, कहीं मोह से प्राणियों को दु:ख देता है, इस प्रकार मोह से, लोभ से कर्माशय बन जाता है । इसका परिणाम विविध योनियों में दु:ख भोगना पड़ता है । यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि वर्त्तमान काल में जो जड़–चेतन पदार्थ उसके विषयभोगों में बाधा डालते हैं वह केवल उनसे ही द्वेष नहीं करता है परन्तु जो भविष्यकाल में बाधा डाल सकते हैं, उनसे भी द्वेष करता है । उससे भी द्वेषज कर्माशय उत्पन्न होता है । विषयसुख को भोगते हुए यदि उस सुख में बाधा डालने वाले पदार्थ का स्मरण कर लिया जाता है तो वह सुख भी दु:ख जैसा प्रतीत होता है ।

संस्कारदु:ख – सुख अनुभव से सुखसंस्काराशय और दु:खानुभव से दु:खसंस्काराशय उत्पन्न होता है । व्यक्ति उन संस्कारों से उसी प्रकार के कर्म पुन: प्रारम्भ कर देता है । उन कर्मों से

पुनः सुख-दुःख की प्राप्ति होती है । इस प्रकार अनुभवों से संस्कार और संस्कारों से शुभाशुभ कर्म और कर्मों से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है । वह क्रम जन्म-जन्मान्तर में चलता रहता है। जिन जिन वस्तुओं से व्यक्ति सुख भोगता है । उन वस्तुओं का सुख पुनः भोगने की इच्छा होने पर जब वे वस्तुएँ भोगने के लिए नहीं मिलती या अपेक्षाकृत कम मात्रा में मिलती हैं, तब पूर्व में भोगे हुए संस्कारों के कारण व्यक्ति को दुःख होता है, इसे '**संस्कार दुःख**' कहते हैं । इसी प्रकार से दुःख के संस्कारों से होने वाले दुःख के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए । सांसारिक सुख में जो दुःख मिश्रित रहता है, उसका अनुभव योगी तो कर लेता है । क्योंकि योगी का आत्मा शुद्ध होता है । अतः वह सुख में मिश्रित दुःख को जान जाता है । परन्तु सांसारिक व्यक्ति नहीं जान पाता । क्योंकि उसका आत्मा अज्ञान, अधर्म, कुसंस्कारों से अशुद्ध हो जाता है। सांसारिक व्यक्ति ''मैं और मेरा'' रूप में रहने वाले इस स्वस्वामी सम्बन्ध से युक्त हो जाता है । इससे अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार से उसकी पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है । उसका परिणाम यह है कि वह स्वयं दुःखी रहता है और अन्यों को भी दुःख देता रहता है । इस प्रकार से योगी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से सन्तप्त प्राणिसमुदाय को और स्वयं को देखकर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है ।

गुणवृत्तिविरोधदुःख - सत्त्वगुण सुख स्वभाव वाला है । रजस् दुःख स्वभाव वाला है । तमस् मोह स्वभाव वाला है । जब सत्त्वगुण की प्रधानता और रजस् तमस् की अप्रधानता होती है तब सुख की अनुभूति होती है । जब रजोगुण की प्रधानता और सत्त्वगुण और तमोगुण की अप्रधानता रहती है तब दुःख अनुभव होता है । जब तमोगुण की प्रधानता और शेष दो गुणों की अप्रधानता होती है तब मोह का अनुभव होता है । इस प्रकार इन तीन गुणों के परस्पर विरुद्ध स्वभाव से व्यक्ति अशान्त रहता है । इसका नाम '**गुणवृत्तिविरोध दुःख**' है । यहाँ पर यह जानना चाहिये कि जब सुख प्रबल रूप में रहता है जब वहाँ पर अभिभूत रूप में दुःख और मोह भी रहते हैं । इसी प्रकार से जब दुःख प्रबल रूप में रहता है तब वहाँ दबे हुए रूप में सुख और मोह भी रहते हैं । इसी प्रकार से मोह के प्रबल होने पर सुख और दुःख दबे हुए रहते हैं ।

इस महान् दुःख समुदाय का कारण '**अविद्या**' है । उस अविद्या के निराकरण का उपाय तत्त्व ज्ञान है । यह योगदर्शन चार विभागों में विभाजित है - दुःख और दुःख का कारण, सुख और सुख का कारण । जो व्यक्ति इन चारों को अच्छे प्रकार से जान लेता है और तदनुसार अनुष्ठान करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है । जिस प्रकार से आयुर्वेद के चार विभाग हैं - रोग, रोग का कारण, स्वास्थ्य और चिकित्सा । इन चारों को जो व्यक्ति जान लेता है, वह स्वस्थ और सुखी हो जाता है ।

दुःखमिश्रित सांसारिक सुख छोड़ने योग्य हैं । प्रकृति, बुद्धि आदि विकृति और जीवात्मा का अज्ञानजनित जो संयोग है, वह दुःख का कारण है । ईश्वर, जीव, प्रकृति, विकृति का शुद्ध ज्ञान,

शुद्ध निष्काम कर्म, शुद्ध उपासना नित्य आनन्द (मोक्ष) प्राप्ति का उपाय है । मोक्ष सुख प्राप्य है जीवात्मा का स्वरूप न प्रापणीय है और न त्याज्य । यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋषियों ने सुख दुःख को हेय माना है । यदि सुख दुःख को जीवात्मा का स्वाभाविक गुण मान लिया जाता है तो जीवात्मा हेय = त्याज्य हो जाता है । यदि जीवात्मा लौकिक सुख के समान उपादेय माना जाता है तो जीवात्मा की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि लौकिक सुख उत्पन्न होता है। इन दोनों वादों को छोड़ने से जीवात्मा का नित्यत्ववाद सिद्ध होता है । यह वास्तविक ज्ञान है ।

सूत्रकार ने विवेकप्राप्ति और उससे वैराग्य प्राप्ति कैसे हो यह बतलाया है । जो साधक परिणाम दुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख और गुणवृत्तिविरोधदुःख के स्वरूप को सूक्ष्मता से जान लेता है, उसको शीघ्र ही वैराग्य की प्राप्ति होती है । जब तक साधक इन चारों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से नहीं जानता तब तक वैराग्य को प्राप्त नहीं कर सकता । विवेक, वैराग्य और अभ्यास के बिना समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये समाधि की सिद्धि के लिये परिणामादि दुःखों का स्वरूप अवश्य जानना चाहिये ॥ १५ ॥

अव० – तदेतच्छास्त्रं चतुर्व्यूहमित्यभिधीयते ।

अर्थ – वह यह (योग) शास्त्र चार विभाग वाला है (यह अगले सूत्रों के द्वारा) कहा जाता है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ – (हेयम्) त्याज्य है (दुःखम्) दुःख (अनागतम्) जो अभी आया नहीं अर्थात् भविष्य में आने वाला ।

सूत्रार्थ – भविष्य में आने वाला दुःख ही त्याज्य है अर्थात् जो दुःख अभी प्राप्त नहीं हुआ उसे ही दूर किया जा सकता है, उससे ही बच सकते हैं ।

व्या० भा० – दुःखमतीतमुपभोगेनातिवाहितं न हेयपक्षे वर्तते । वर्त्तमानं च स्वक्षणे भोगारूढमिति न तत्क्षणान्तरे हेयतामापद्यते । तस्माद्यदेवानागतं दुःखं तदेवाक्षिपात्रकल्पं योगिनं क्लिश्नाति, नेतरं प्रतिपत्तारम् । तदेव हेयतामापद्यते ॥ १६ ॥

व्या० भा० अ० *– व्यतीत दुःख उपभोग के द्वारा भोगा जा चुका है इसलिये वह हेय कोटि में नहीं आता और वर्त्तमान दुःख अपने भोगक्षण में भोग के रूप में विद्यमान है, इस कारण वह अगले क्षण में हेयता को प्राप्त नहीं होता । इसलिये जो ही दुःख अनागत (भविष्यकालिक) है वह ही नेत्रगोलक सदृश योगी को क्लेशयुक्त करता है, अन्य भोक्ता को नहीं । वह (दुःख) ही हेय (छोड़ने योग्य) है ॥ १६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **आगामी दुःख** को **छोड़ने योग्य** माना है ।

जो दुःख भूतकाल में भोग लिया है वह छोड़ने योग्य नहीं है क्योंकि वह अब भोक्ता के समीप नहीं है । और जो दुःख वर्त्तमान क्षण में भोगा जा रहा है, वह आगामी क्षण में समाप्त हो जायेगा, उसका भी त्याग नहीं हो सकता, इसलिये जो भविष्यत् काल में आने वाला दुःख है, वही छोड़ने योग्य है । बाधा, पीड़ा, अशान्ति, बन्धन, पराधीनता का नाम दुःख है । अथवा जिससे पीड़ित होकर प्राणी उसका नाश करने का प्रयत्न करते हैं, वह दुःख है । इसलिये दुःख एक वस्तु है, अभाव का नाम दुःख नहीं है । यदि अभाव का नाम दुःख होता तो उसके त्याग का विधान करना व्यर्थ हो जाता । इसलिये दुःख एक गुण है और वह प्राकृतिक पदार्थों में रहता है । जब प्राकृतिक पदार्थों से जीवात्मा का सम्बन्ध होता है तब दुःख की प्राप्ति होती है । जो व्यक्ति अनागत दुःख को और दुःख के कारण को जान जाता है, वही दुःख से छूट सकता है।

दुःख के अनेक कारण हैं – अविद्या, अन्याय, अशुभ उपासना, कुसंस्कार, कुसंग, आलस्यादि । जो व्यक्ति यह जानता है कि अविद्या दुःख का कारण है । वह अपनी अविद्या का नाश करने का पूर्ण प्रयास करता है । क्योंकि कारण के होने से कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक दुःख के कारण को अच्छे प्रकार जानकर उसको दूर करने का प्रयास करना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति यह विचार करता है कि मनुष्य और पशु, पक्षी आदि के शरीर में अन्तर क्या है ? परीक्षा करने से परिज्ञात होता है कि मनुष्य शरीर में जो सुख सुविधायें हैं वे पशु, पक्षी आदि के शरीर में नहीं हैं । इसलिये मनुष्य शरीर सुखप्रद और पशु आदि का शरीर दुःखप्रद है ।

मनुष्य शरीर की प्राप्ति किस कारण से होती है, इस विषय में विचार करने से यह ज्ञात होता है कि धर्माचरण से होती है । मनुष्य को ऐसा विचारना चाहिए ''यदि मैं धर्माचरण करूँगा तो मनुष्य योनि मिलेगी और अधर्माचरण करूँगा तो पशु पक्षी आदि की योनि मिलेगी । यदि मुझे पशु आदि योनि मिलेगी तो बहुत दुःख भोगना पड़ेगा'' ऐसा विचारकर अधर्माचरण को छोड़ देने से दुःख का निवारण हो सकता है । मनुष्य शरीर मिलने पर क्या सुख ही मिलता है अथवा दुःख भी ? इसका परीक्षण करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य शरीर मिलने पर जो सुख मिलता है वह क्षणिक और दुःख मिश्रित होता है । इसलिये मनुष्य शरीर मिलने पर भी अनागत दुःख से मुक्ति नहीं हो सकती । इसलिये अनागत दुःख से नितान्त छूटने का उपाय जानना चाहिये ।

अनागत दुःख को दूर करने वाला व्यक्ति अत्यन्त सावधान रहता है । वह चार बातों को जानने का प्रयास करता है कि **दुःख** क्या है ? **दुःख का कारण** क्या है ? **सुख** क्या है ? और **सुख का कारण** क्या है ? इन चार विषयों के परिज्ञान से और उसके लिये आवश्यक कर्त्तव्य से अनागत दुःख दूर किया जा सकता है । प्रत्येक प्राणी जो भी मन, वाणी और शरीर से क्रिया करता है उस क्रिया के करने से पूर्व परीक्षा करनी चाहिये कि इस क्रिया का परिणाम क्या होगा ? यदि सुख परिणाम दिखाई देता है तो उसको करना चाहिये और दुःख परिणाम सिद्ध होता है तो तत्काल छोड़ देना चाहिये । प्रायः व्यक्ति क्रिया के परिणामों को बिना जाने क्रिया करता है और उसके दुःखद परिणाम होने पर पश्चाताप करता है । इसका कारण – **हेयं दुःखमनागतम्** को न जानना ही है ।

दैनिक जीवन में ऐसी मानसिक क्रियायें बहुत होती हैं जिनका फल दु:ख होता है । यदि मनुष्य उन मानसिक क्रियाओं से होने वाले अनागत दु:खों को जान लेता है तो उनको बन्द कर देता है।

आलस्य और प्रमाद अनागत दु:ख को दूर करने में बाधक होते हैं । यदि व्यक्ति आलस्य और प्रमाद को दूर कर देता है तो भविष्य में होने वाली अनेक हानियों से बच जाता है । आलसी व्यक्ति न शारीरिक परिश्रम करता है, न विद्या पढ़ता है, न सत्पुरुषों का संग करता है । इसलिये भविष्यकाल में उसको विविध दु:ख भोगने पड़ते हैं ।

वेद में अनागत दु:ख को दूर करने के लिये मनुष्य को चेतावनी दी है कि –

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाजऽइत् किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ यजु० १२/७९, ३५/४ ॥

भावार्थ – हे मनुष्यों ! (अश्वत्थे) कल तक रहेगा वा नहीं रहेगा विश्वास नहीं है ऐसे शरीर में (वः) तुम्हारा (निषदनम्) निवास है। (ईश्वर ने) (वः) तुम्हारा (वसतिः) निवास (पर्णे) चलायमान संसार में किया है । इसलिये (यत्) जिस (पूरुषम् किल) परमात्मा को ही (सनवथ) सेवन करो इसके साथ (गोभाजः) पृथिवी का सेवन करने वाले (इत्) ही तुम लोग धर्म में स्थिर (असथ) होओ ॥ १६ ॥

अव० – तस्माद् यदेव हेयमित्युच्यते तस्यैव कारणं प्रतिनिर्दिश्यते –

अर्थ – इसलिये जो छोड़ने योग्य कहा जाता है उसी का कारण बतलाया जाता है –

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ – (द्रष्टृ-दृश्ययोः) जीवात्मा और सत्त्व, रज, तम तथा उनसे उत्पन्न बुद्धि आदि समस्त पदार्थों का जो (संयोगः) अज्ञानपूर्वक सम्बद्ध होना है वह (हेय-हेतुः) त्याज्य दु:ख का कारण है ।

सूत्रार्थ – जीवात्मा और सत्त्व-रज-तम तथा उनसे उत्पन्न बुद्धि आदि समस्त पदार्थों का जो अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध है, वह त्याज्य = दु:ख का कारण है ।

व्या० भा० – द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः । दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः । अनुभवकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम् ।

तयोर्दृग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथा चोक्तम्-तत्संयोग-हेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः । कस्मात् ? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तद्यथा-पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्त्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम् । एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति । कस्मात् ? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति । अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम् । कस्मात् ? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात् । सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे । दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति ॥ १७ ॥

व्या० भा० अ० *– द्रष्टा का अर्थ–बुद्धि में विद्यमान चित्रों को देखने वाला पुरुष है । दृश्य का अर्थ–बुद्धि में विद्यमान शब्द स्पर्शादि समस्त धर्म हैं । वह यह दृश्य अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के समान समीप होने मात्र से (जीव का) उपकार करने वाला दृश्य होने के कारण द्रष्टा रूपी पुरुष स्वामी का स्व (सम्पत्ति) बन जाता है । क्योंकि अनुभव रूपी कर्म का विषय बन जाता है । (जीवात्मा के सानिध्य से) चेतन सदृश स्वरूप को प्राप्त, स्वतन्त्र होने पर भी परार्थ (जीवात्मा के लिये) होने से परतन्त्र हैं ।*

जीवात्मा एवं बुद्धि इन दोनों का, प्रयोजन के लिए किया हुआ संयोग (प्रवाह से) अनादि है यह 'दुःख का कारण' है । और वैसा कहा है – उस संयोग के कारण को दूर करने से दुःख का पूर्ण प्रतिकार होवे । क्यों ? छोड़ने योग्य दुःख के हेतु का प्रतिकार देखे जाने से । वह जैसा कि – पादतल की भेद्यता, काँटे का भेदन सामर्थ्य, काँटे का परिहार–काँटे पर पैर न रखना अथवा जूता पहनकर रखना है । लोक में जो इन तीनों को जानता है वह वहाँ प्रतिकार को करता हुआ काँटा चुभने से उत्पन्न दुःख को प्राप्त नहीं करता । क्यों ? तीनों (भेद्यत्व, भेदकत्व, प्रतीकार) के सामर्थ्य को जानने के कारण । यहाँ पर भी तापक रजस् का तप्य सत्त्व गुण ही है । क्यों ? ताप क्रिया के कर्म में होने के कारण । सत्त्वगुणरूपी द्रव्य में ही ताप क्रिया होती है । अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में नहीं । बुद्धि में विद्यमान विषयों को देखने वाला होने से सत्त्व के तप्त होने पर उसके स्वरूप को ग्रहण करने वाला पुरुष अनुतप्त होता है, यह देखा जाता है ॥ १७ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्त्वादि कार्य जगत् के साथ जीवात्मा के अज्ञानपूर्वक संयोग को **दुःख का कारण** बताया है ।

बुद्धि में जो सांसारिक पदार्थों के चित्र उतरते हैं, उनका अनुभव करने वाला जीवात्मा है । जिन पदार्थों का बुद्धि में चित्र उतरता है उनको **'दृश्य'** कहते हैं । प्रकृति को भी दृश्य कहते हैं क्योंकि इसी से बुद्धि, अहंकार आदि समस्त दृश्य जगत् उत्पन्न होता है और इस दृश्य से अज्ञान के कारण जीवात्मा का संयोग होता है । उसी संयोग से दुःख की उत्पत्ति होती है ।

यह दृश्य अयस्कान्तमणि के तुल्य है । अयस्कान्तमणि (चुंबक) समीपता के कारण लोहे को अपनी ओर खींच लेती है । वैसे ही यह दृश्य जीवात्मा का समीपता के कारण उपकार करता है । अर्थात् भोग और अपवर्ग को सिद्ध करता है । इसी कारण से जीवात्मा का यह स्व बन जाता है । यदि जीवात्मा दृश्य के साथ स्वस्वामिसम्बन्ध बना लेता है तो दृश्य इसके बन्धन का कारण बन जाता है । बुद्धि जीवात्मा के अनुभव का विषय बनती है अर्थात् जीवात्मा अनुभव करने वाला कर्त्ता और बुद्धि अनुभव क्रिया का कर्म बनती है । चेतन पुरुष के सानिध्य से बुद्धि चेतनसदृश स्वरूप को प्राप्त कर लेती है । वास्तव में बुद्धि जड़ पदार्थ है । बुद्धि का उपादान कारण प्रकृति है और वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है । परन्तु जीवात्मा के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने वाली होने से परतन्त्र है । जीवात्मा दृक्शक्ति और बुद्धि दर्शनशक्ति इन दोनों का प्रयोजनकृत एवं प्रवाह से अनादि संयोग बन्धन का कारण है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि अज्ञान के कारण आत्मा और दृश्य का संयोग होता है यह संयोग ही बन्धन का कारण है। ज्ञानपूर्वक संयोग बन्धन का कारण नहीं है। यदि सम्बन्धमात्र से बन्धन का कारण माना जाये तो ईश्वर का भी बन्धन होना चाहिये क्योंकि दृश्य का सम्बन्ध ईश्वर से भी है। संयोग के हेतु को दूर कर देने से दुःख की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि **''कारणाभावात् कार्याभावः''** ॥ वै० द० १-२-१ ॥ कारण के अभाव होने से कार्य का अभाव हो जाता है। जो व्यक्ति यह जानता है कि कांटे के द्वारा पैर के तल भाग में आघात होने से दुःख होता है तो वह उस काँटे पर पैर नहीं रखता। यदि रखता है तो पादत्राण (जूते) धारण करके रखता है। इससे उसको काँटे से उत्पन्न होने वाला दुःख सन्तप्त नहीं करता। जो भेद्यता, भेदकत्व और उसके परिहार के साधन को जानता है, वह दुःख को प्राप्त नहीं होता। यहाँ पर सत्त्वगुण भेद्य है। रजोगुण भेदक है और तत्त्वज्ञान परिहार का साधन है। यहाँ रजोगुण तपाने वाला है अर्थात् दुःख देने वाला है। सत्त्वगुण तपने वाला अर्थात् तपनक्रिया वाला है। क्योंकि तपनक्रिया कर्मस्थ है। अपरिणामी जीवात्मा में नहीं होती।

सत्त्वगुण के तपने पर बुद्धि के माध्यम से विषयों का अनुभव करने वाला जीवात्मा अज्ञानता के कारण उस तपनक्रिया को अपने अन्दर मान लेता है। वास्तव में दुःखगुण रजस् द्रव्य का है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन सूक्ष्म द्रव्यों से समस्त संसार की उत्पत्ति होती है। संसार में जो सुख है वह सत्त्वगुण का धर्म है। दुःख रजोगुण का और मोह तमोगुण का। अज्ञानता के कारण जीवात्मा सुख, दुःख और मोह को अपना गुण मान लेता है। जब ज्ञानपूर्वक दृश्य का प्रयोग करता है तो जीवात्मा समस्त बन्धनों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

योगदर्शनकार ने यह कहा है कि यह दृश्य भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के लिये है। जो लोग अज्ञानयुक्त हैं, वे भोगों में ही सन्तोष कर लेते हैं और जो तत्त्ववेत्ता हैं वे भोगों में दुःख देखकर उनका परित्याग कर देते हैं और मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिये प्रत्येक योगाभ्यासी को यह जानना चाहिये कि अज्ञानपूर्वक प्रयोग करने से संसार के पदार्थ बन्धन का कारण बनते हैं और ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने से मोक्ष का कारण बनते हैं। वेद में भी यह बात कही है कि जो व्यक्ति कारण और कार्य को ठीक प्रकार से जानता है, वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है –

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ सह।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ यजु० ४०।११ ॥

भावार्थ – हे मनुष्यो ! कार्य्यकारणरूप वस्तु निरर्थक नहीं है किन्तु कार्य कारण के गुण कर्म और स्वभावों को जानकर धर्मादि मोक्ष के साधनों में संयुक्त करके अपने शरीरादि कार्य कारण को नित्यत्व से जान के मरण का भय छोड़कर मोक्ष की सिद्धि करो ॥ १७ ॥

अव० – दृश्यस्वरूपमुच्यते।

अर्थ – 'दृश्य का स्वरूप' बताया जाता है –

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ – (प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलम्) प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है (भूत-इन्द्रिय-आत्मकम्) भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है (भोग-अपवर्गार्थम्) भोग और अपवर्ग जिसका अर्थ = प्रयोजन है, वह (दृश्यम्) दृश्य है ।

सूत्रार्थ – प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील, भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला जो पुरुष के भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध कराने वाला है, वह 'दृश्य' हैं ।

व्या० भा० – प्रकाशशीलं सत्त्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसंनिधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद् दृश्यमित्युच्यते ।

तदेतद् दृश्यं भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति । तत्तु नाप्रयोजनमपितु प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगो, भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति । द्वयोरतिरिक्तमन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम्-अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान्सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कत इति ।

तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति । यथा च जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति । बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थावसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः, स हि तत्फलस्य भोक्तेति ॥ १८ ॥

व्या० भा० अ० *– सत्त्व प्रकाश स्वभाव वाला है । रजस् क्रिया स्वभाव वाला है । तमस् स्थिति स्वभाव वाला है । ये गुण परस्पर अनुरक्त अंश वाले, परिणामी संयोग विभाग धर्मों से युक्त एक दूसरे के आश्रय से मूर्त द्रव्यों के रूप में प्रकट होने वाले, परस्पर अङ्गाङ्गी होने पर भी अपनी-अपनी शक्ति को भिन्न रखने वाले, समानजातीय असमानजातीय द्रव्यों में शक्ति भेद से विद्यमान रहने वाले, अपनी प्रधानता के समय अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करने वाले, गौण होने पर भी व्यापारमात्र से प्रधान गुण में अन्तर्भावित सत्ता वाले अनुमान से जानने योग्य, पुरुषार्थ रूपी कर्त्तव्य के कारण प्रयुक्त सामर्थ्य वाले, सन्निधिमात्र से उपकार करने वाले, चुम्बक के समान,*

(धर्मादि) प्रत्यय को अभिव्यक्त न करते हुये किसी एक की वृत्ति का अनुसरण करने वाले प्रधान शब्द से कहे जाते हैं । यह 'दृश्य' कहा जाता है ।

वह यह दृश्य, भूत एवं इन्द्रियात्मक है। पृथिवी आदि भूतरूप से सूक्ष्म स्थूल रूप से (में)परिणत होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय रूप से श्रोत्रादि सूक्ष्म स्थूल रूप से (में)परिणत होता है। यह निष्प्रयोजन नहीं अपितु प्रयोजन को स्वीकार करके प्रवृत्त होता है इसलिये वह दृश्य पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए है । उन (दोनों) में से इष्ट अनिष्ट गुणों के स्वरूप का अविभक्त रूप से निश्चय करना 'भोग' है । भोक्ता के स्वरूप का निश्चय करना 'अपवर्ग' है । दोनों से भिन्न अन्य कोई ज्ञान नहीं । और ऐसा कहा है - यह (पुरुष) कर्तृभूत तीन गुणों में तथा समान एवं असमान उन गुणों के साक्षिभूत चतुर्थ अकर्त्ता पुरुष में समर्पित किये जाने वाले उपस्थापित सभी (सुखदुःखादि) भावों को जानता हुआ (यह अविवेकी पुरुष) अन्य प्रकार के ज्ञान की शङ्का भी नहीं करता है ।

वे ये बुद्धि के द्वारा निष्पादित होने वाले बुद्धि में ही रहने वाले भोगापवर्ग पुरुष में किस प्रकार कहे जाते हैं ? जिस प्रकार योद्धाओं में विद्यमान जय वा पराजय स्वामी में कही जाती है क्योंकि वह ही उस फल का भोक्ता होता है इसी प्रकार बुद्धि में ही वर्तमान बन्ध और मोक्ष पुरुष में कहे जाते हैं क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है बुद्धि का ही पुरुषार्थ (प्रयोजन) का पूर्ण न होना बन्ध है उस प्रयोजन का परिसमापन मोक्ष है । इसके द्वारा ग्रहण = ज्ञान, धारण = स्मृति, ऊह = कल्पनारूपी ज्ञान, अपोह = अनावश्यक ज्ञान को दूर करना, तत्त्वज्ञान = निश्चयात्मक ज्ञान, अभिनिवेश = तत्त्वज्ञान के आधार पर ग्राह्याग्राह्य का निश्चय, बुद्धि में होते हैं पुरुष में अध्यारोपित होते हैं क्योंकि कि वह ही उस फल को भोगता है ॥ १८ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **दृश्य का स्वरूप** बतलाया है ।

प्रकाश स्वभाव वाला सत्त्वगुण, क्रिया स्वभाव वाला रजोगुण और स्थिति स्वभाव वाला तमोगुण है । ये तीन द्रव्य हैं, किसी द्रव्य के गुण नहीं । इन तीन के समुदाय को ही **प्रकृति** कहते हैं। ये गुण एक दूसरे से मिलने वाले और पृथक् रहने वाले हैं । अर्थात् तीनों मिलकर रहते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं । सृष्टि की रचना में ये मिलकर पदार्थों का उपादान कारण बनते हैं । अर्थात् ईश्वर इन तीनों से सभी पदार्थों की रचना करता है, ये स्वयं सृष्टि नहीं बना सकते । इन तीनों का अङ्गाङ्गी भाव है । कभी कोई गुण अप्रधान और कोई प्रधान रहता है । गौण मुख्य होने पर भी दूसरे से भिन्न अपनी शक्ति वाले होते हैं । तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय शक्ति भेद से विद्यमान रहते हैं । अर्थात् सत्त्वगुण जिन द्रव्यों की उत्पत्ति में मुख्य उपादान कारण है और रजोगुण, तमोगुण गौण कारण हैं, वे सत्त्वगुण के तुल्यजातीय पदार्थ हैं और जिन पदार्थों की उत्पत्ति के रजोगुण वा तमोगुण मुख्य उपादान कारण हैं, वे इनके **तुल्यजातीय** हैं । इसी प्रकार से जिस द्रव्य का जो गौण उपादान कारण है, उसका वह **अतुल्यजातीय** है । जब जिस गुण की प्रधानता होती है तब वह विशेष रूप से अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है । जब गौण रूप में रहता है तो अनुमान से उसका ज्ञान होता है इन तीनों गुणों में जीवात्मा के भोग और अपवर्ग का सामर्थ्य है; इन के बिना आत्मा इन

दोनों प्रयोजनों की सिद्धि नहीं कर सकता । ये जीवात्मा से सम्बद्ध होकर उसका उपकार करते हैं, दूर से नहीं । परन्तु केवल ये गुण भी बिना आत्मा के भोगापवर्ग की सिद्धि नहीं कर सकते । जब तीनों में से एक प्रमुख होता है तो दो उसका अनुकरण करते हैं । इस रूप में इनको 'प्रधान' कहा जाता है । इन तीनों गुणो के समूह का नाम प्रधान, प्रकृति और अव्यक्त भी है ।

दूसरा रूप इन गुणों का **भूतेन्द्रियात्मक** है । 'भूत' शब्द से पृथिवी आदि स्थूलभूत और तन्मात्रा आदि पाँच सूक्ष्मभूतों का ग्रहण होता है । इन तीन गुणों को लेकर ईश्वर समस्त पदार्थों की रचना करता है । स्वयं ये गुण वा प्रकृति किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं कर सकते । जो लोग यह मानते हैं कि प्रकृति स्वयं संसार की रचना करती है; वे प्रकृति के स्वरूप को अच्छे प्रकार से नहीं जानते । क्योंकि ज्ञानरहित पदार्थ किसी भी पदार्थ की रचना नहीं कर सकता । जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान ईश्वर है, वह जीवों के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिये इस सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक करता है । भोग और अपवर्ग का यह दृश्य साधन है। इसको केवल भोग का साधन समझना भयंकर भूल है । आजकल संसार में केवल इन्द्रियों के भोग को ही लक्ष्य बनाकर चलने वालों की संख्या बहुत अधिक है । इसी कारण संसार के प्राणी अत्यन्त दुःखी हैं। जब जीवात्मा इन्द्रियों के भोग को ही लक्ष्य बनाकर चलता है, तब वह उसकी भोग की स्थिति है । जब विषय भोगों को छोड़कर ईश्वर के आनन्द को भोगता है तब वह उसकी योग की स्थिति है । जो व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को और इन तीन गुणों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से नहीं जानता, वह इन गुणों से बने पदार्थों को ही सब कुछ समझता है । आत्मा, परमात्मा के विषय में कुछ नहीं जानने से वह शुभ अशुभ कर्मों को भी मानना छोड़ देता है । और जो कार्य उसके स्वार्थ को सिद्ध करता है उसी को अच्छा मानता है ।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि जीवात्मा न कर्त्ता है, न भोक्ता है । वास्तव में यह मत ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं जड़ पदार्थ न ज्ञानपूर्वक किसी पदार्थ की रचना कर सकते हैं और न उनका भोग कर सकते हैं । भूमि, जल, भवन आदि जड़ पदार्थ उद्देश्य बनाकर बुद्धिपूर्वक किसी भी कार्य को नहीं कर सकते और न पदार्थों का भोग कर सकते हैं । यह प्रकृति और इससे बनी सृष्टि ज्ञान, कर्म, उपासना का साधन है । जीवात्मा सृष्टि के पदार्थों से कर्म करता है और शुभ अशुभ कर्मों का फल ईश्वर की व्यवस्था से भोगता है ।

यहाँ व्यास भाष्य में सत्त्वादि गुणों (गुणों से बने अहंकार, इन्द्रिय आदि पदार्थों) को **'कर्त्ता'** कहा है । और जीव को 'अकर्ता एवं साक्षी' नाम से कहा है । इन शब्दों का तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये कि – जीव अकेला स्वयं किसी कार्य को नहीं कर पाता । इसलिये उसे **'अकर्ता'** कहा है । वस्तु देना, लेना, दौड़ना आदि कार्यों का सम्पादन जीवात्मा, अहंकार, मन, इन्द्रियों, शरीर आदि की सहायता से ही कर पाता है । इसलिये सत्त्वादि गुणों (या अहंकार आदि पदार्थों) को इस अर्थ में कर्त्ता कहा है कि कार्य सम्पादन में ये पदार्थ सीधे सहायक होते हैं । जबकि कर्मों की अच्छाई–बुराई या अच्छे–बुरे फल भोगने का उत्तरदायित्व जीवात्मा का ही होता है ।

जीवात्मा को **'साक्षी'** इसलिये कहा है – क्योंकि वह अपने मन–इन्द्रियों–शरीर आदि के द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कर्मों और स्वयं भोगे जाने वाले सुख–दुःखों को स्वयं देखता भी है । इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि कर्त्ता–भोक्ता कोई और है, जीव तो केवल देखता है; देखने के कारण जीव को साक्षी कह दिया गया है । वास्तव में उपर्युक्त विवरण के अनुसार कर्मों का उत्तरदायित्व भी जीव का है, वही अपने कर्मों के फल = (सुख–दुःख) का भोक्ता भी है । और इन सब को वह देखने वाला भी है, इसलिये वह साक्षी भी है ।

भोग और अपवर्ग को बुद्धि में वर्त्तमान कहा जाता है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ये दोनों बुद्धि में रहते हैं और जीवात्मा का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।यहाँ पर जानना चाहिये कि भोग सांसारिक सुख दुःख है और अपवर्ग मोक्ष अथवा ईश्वर का नित्य आनन्द है । सांसारिक सुखदुःख प्राकृतिक पदार्थों का गुण है और नित्य आनन्द ईश्वर का गुण है । ये दोनों बुद्धि अथवा ज्ञान के द्वारा भोगे जाते हैं । अर्थात् लौकिक सुखदुःख अन्तःकरण रूपी बुद्धि से और मोक्ष का नित्य सुख ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से भोगा जाता है । इसलिये इनको बुद्धिस्थ कहा जाता है । इनके भोगने से जीवात्मा में कुछ घुलता मिलता नहीं है । इनका भोग करने पर भी जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध ही बना रहता है ।

यो० द० १/२४ के व्यासभाष्य में भी यह बात कही है कि **''स हि तत्फलस्य भोक्ता''**, अतः कर्त्ता, भोक्ता जीवात्मा ही है, अन्य नहीं । इसलिये ग्रहण, धारण, ऊहा, अपोह, तत्त्वज्ञान, अभिनिवेश का भी अनुभव करने वाला जीवात्मा ही है । इन शब्दों का अर्थ भाष्यानुवाद में देख लेवें ॥ १८ ॥

अव० – दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिदमारभ्यते ।

अर्थ – दृश्यगुणों के स्वरूप भेद के निर्णयार्थ यह सूत्र कहा जाता है –

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ – (विशेष–अविशेष–लिङ्गमात्र–अलिङ्गानि) विशेष = पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, एक मन, पाँच स्थूलभूत । अविशेष = पाँच तन्मात्राएँ, एक अहंकार । लिङ्ग = एक महत्तत्व । अलिङ्ग = प्रकृति = सत्त्व, रज, तम । (गुण–पर्वाणि) गुणों के पर्व = विभाग अर्थात् अवस्थायें हैं ।

सूत्रार्थ – विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये गुणों के चार विभाग हैं ।

व्या० भा० – तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः । तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि । वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाणि । एकादशं मनः सर्वार्थम्, इत्येतान्यस्मितालक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः । गुणानामेष षोडशको विशेषपरिणामः ।

षडविशेषाः । तद्यथा-शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेत्येकद्वित्रि-चतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाविशेषाः, षष्ठश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति । एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः । यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्य-

वस्थाय विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति, प्रतिसंसृज्यमानश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्थाय यत्तन्निः-सत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानं तत्प्रतियन्ति । एष तेषां लिङ्मात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति ।

अलिङ्गावस्थायां न पुरुषार्थो हेतुः । नालिङ्गावस्थायामादौ पुरुषार्थता कारणं भवतीति न तस्याः पुरुषार्थता कारणं भवति । नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते । त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति । स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते । गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते । व्यक्तिभिरेवातीतानागतव्ययागमवतीभिर्गुणान्वयिनीभिरुपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते । यथा देवदत्तो दरिद्राति । कस्मात् ? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति । गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता न स्वरूपहानादिति समः समाधिः ।

लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते, क्रमानतिवृत्तेः । तथा षडविशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्टा विविच्यन्ते, परिणामक्रमनियमात् । तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि विविच्यन्ते, तथा चोक्तं पुरस्तात् । न विशेषेभ्यः परं तत्त्वान्तरमस्तीति विशेषाणां नास्ति तत्त्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥ १९ ॥

व्या० भा० अ० *– उनमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा भूमि, (पाँच) भूत हैं, वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धतन्मात्रा नामक अविशेषों के विशेष (पर्व) हैं । इसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राण (पाँच) ज्ञानेन्द्रियाँ । वाक्, हाथ, पांव, मलेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय (पाँच) कर्मेन्द्रियाँ । ग्यारहवाँ मन सर्वार्थ (उभयेन्द्रिय) है ये अस्मिता लक्षण वाले अहंकार नामक अविशेष के विशेष हैं । सोलह का यह (समूह) गुणों का 'विशेष परिणाम' है ।*

छः 'अविशेष' हैं । जैसे कि शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये एक, दो, तीन, चार, पञ्च लक्षण वाले शब्दादि पाँच अविशेष हैं, षष्ठ अविशेष 'अस्मिता मात्र' है । ये सत्तामात्र महत्तत्व के छः अविशेष परिणाम हैं । जो वह अविशेषों से परे लिङ्गमात्र महत्तत्व उस सत्तामात्र महत्तत्व में रहकर विवृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं । और प्रलय को प्राप्त होते हुए उसी सत्तामात्र महत्तत्व में अवस्थित होकर अभिव्यक्ति और अभाव से रहित, अभिव्यक्ति और अभाव से विलक्षण, भावात्मक, अव्यक्त, अलिङ्ग प्रधान में लीन हो जाते हैं । यह उन (गुणों) का लिङ्गमात्र परिणाम है और निःसत्तासत्त अनभिव्यक्त, भावरूप स्थिति 'अलिङ्ग परिणाम' है ।

अलिङ्गावस्था में पुरुषार्थ (भोगापवर्ग) हेतु नहीं है । अलिङ्गावस्था में आदि में पुरुषार्थता हेतु नहीं होती । इसलिये अलिङ्गावस्था का पुरुषार्थ कारण नहीं होता, पुरुषार्थ के लिये न होने से वह नित्य कही जाती है । तीनों अवस्था विशेषों की उत्पत्ति में पुरुषार्थता कारण होती है । और वह अर्थ (प्रयोजन) हेतु, निमित्त, कारण होता है इस कारण (वे अवस्थाएँ) अनित्य कही जाती हैं । गुण तो सब धर्मों में रहने वाले होने के कारण न प्रलीन होते हैं, न उत्पन्न होते हैं । गुणों में रहने वाली अतीत, अनागत और व्यय आगम वाली अभिव्यक्तियों द्वारा ही उपजनापाय धर्म वाले जैसे प्रतीत होते हैं । जैसा कि देवदत्त दरिद्र बन गया है । किसलिए ? क्योंकि इसकी गौएँ मर

गई हैं । गौओं के ही मरने से उसकी दरिद्रता है, स्वरूप के नाश से नहीं । इसी प्रकार गुण के उपजनापाय धर्मों से गुणों के स्वरूप में कोई हानि नहीं होती । यह समाधान समान है ।

लिङ्गमात्र अलिङ्ग का निकटवर्ती (कार्य) है । वहाँ (अलिङ्ग में) अविभक्त वह लिङ्गमात्र क्रम का उल्लङ्घन न करता हुआ पृथक् होता है (भिन्न रूप = कार्यरूप को धारण करता है) । उसी प्रकार छः अविशेष लिङ्ग मात्र में अविभक्त रहते हुए परिणाम के क्रम का उल्लङ्घन न करते हुए भिन्न रूप को धारण करते हैं । उन अविशेषों में भूत, इन्द्रिय संसृष्ट (सम्बद्ध) होते हुए पृथक् होते हैं (अर्थात् कार्यरूप को धारण करते हैं) । और इसी प्रकार पूर्व कह दिया है । विशेषों से परे कोई तत्त्वान्तर नहीं है अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता । उनके धर्म, लक्षण अवस्था परिणामों का व्याख्यान करेंगे ॥ १९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों की विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग, ये **चार अवस्थायें** बतलाई हैं ।

उनमें से आकाश आदि पाँच स्थूलभूत, शब्दादि पाँच तन्मात्र अविशेषों का 'विशेष परिणाम' है । अर्थात् ये पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ ग्यारहवाँ मन (जो उभयेन्द्रिय है) ये अहंकार अविशेष का 'विशेष परिणाम' है अर्थात् इनका अहंकार उपादान कारण है । यह सत्त्व आदि गुणों का सोलह संख्या वाला 'विशेष परिणाम' है । अर्थात् गुणों की अभिव्यक्ति विशिष्ट रूप में होने से इस अवस्था का नाम '**विशेष**' रखा है । इनका 'विशेष' नाम रखने का कारण यह है कि १६ पदार्थ महत्तत्त्व अहंकार, तन्मात्राओं की अपेक्षा अधिक व्यक्त (स्पष्ट) स्वरूप वाले हैं ।

शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा ये एक, दो, तीन, चार, पाँच लक्षण वाली हैं अर्थात् आकाशतन्मात्रा एक लक्षण वाली (= शब्द धर्म वाली), स्पर्शतन्मात्रा दो लक्षण वाली (= शब्द, स्पर्श धर्म वाली), रूपतन्मात्रा तीन लक्षण वाली (= शब्द, स्पर्श एवं रूप धर्म वाली) इसी प्रकार रसतन्मात्रा चार लक्षण वाली, गन्धतन्मात्रा पाँच लक्षण वाली है । ये शब्द आदि तन्मात्रा और अहंकार सत्त्वादि गुणों का 'अविशेष परिणाम' है । इस अवस्था में इनकी विशेष अभिव्यक्ति न होने से '**अविशेष**' नाम रखा है ।

यह अविशेष परिणाम महत्तत्त्व से उत्पन्न होता है अर्थात् महत्तत्त्व इसका उपादान कारण है । महत्तत्त्व '**लिङ्गमात्र**' है । क्योंकि इसमें प्रकृति से भिन्न कुछ-कुछ लक्षण प्रकट होते हैं । इसका उपादान कारण 'प्रकृति' है । प्रकृति **अलिङ्ग** है, क्योंकि उसका कोई भी लक्षण प्रकट नहीं होता ।

यहाँ पर बतलाया गया है कि पृथिवी आदि पाँच भूतों का 'उपादान कारण' पाँच तन्मात्रायें हैं । दशेन्द्रियाँ एक मन इनका उपादान कारण 'अहंकार' है । अहंकार का उपादान कारण 'महत्तत्त्व' है । महत्तत्त्व का उपादान कारण 'प्रकृति' है । परन्तु व्यासभाष्य में पाँच तन्मात्राओं का और अहंकार का उपादान कारण 'महत्तत्त्व' को बतलाया है । तन्मात्राओं का उपादान कारण 'महत्तत्व' को बतलाने वाले भाष्य पाठ

में कोई असावधानी हो गई प्रतीत होती है। क्योंकि **सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्** ॥ १/४५ ॥ के व्यासभाष्य में तन्मात्राओं का सूक्ष्म विषय 'अहंकार' को माना है। सांख्यदर्शन के अनुसार भी 'अहंकार' से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानी गई है। इस सन्दर्भ में **सांख्यदर्शन** के निम्न सूत्रों को देखा जा सकता है।

एकादश पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥ २/१७ ॥

अर्थ – [एकादशपञ्चतन्मात्रम्] ग्यारह (इन्द्रिय) और पाँच तन्मात्रा [तत्कार्यम्] उस (अहङ्कार) का कार्य है।

महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् ॥ १।६५ ॥

अर्थ – [महतः अहङ्कारः] महत् से अहंकार, [अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम्] अहङ्कार से पाँच तन्मात्रा और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

यहाँ सत्त्वादि तीन गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है। जब ईश्वर सृष्टि का प्रलय करता है तो पृथिवी आदि स्थूलभूत तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं। पाँच तन्मात्रायें, दशेन्द्रियाँ और मन, अहंकार में लीन हो जाते हैं। अहंकार महत्तत्त्व में लीन हो जाता है। महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि सृष्टि का प्रलय अपने आप नहीं होता। प्रलय करने वाला **ईश्वर** है।

गुणों की अलिङ्गावस्था में जीवात्मा के भोग और अपवर्ग उसके हेतु नहीं होते। अर्थात् ये दोनों प्रयोजन प्रकृति को उत्पन्न करने के कारण नहीं होते। क्योंकि प्रकृति अनादि है। भोग और अपवर्ग को तथा विशेष अविशेष और लिङ्गमात्र इन तीन अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले कारण हैं। सत्त्व आदि तीन गुण संसार के उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान रहते हुए उत्पत्ति और विनाश स्वरूप वाले जैसे प्रतीत होते हैं। वास्तव में इन गुणों की न उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। जैसे देवदत्त दरिद्र हो रहा है। क्योंकि इसकी गौएं मर रही हैं। गौओं के मरने से देवदत्त की आत्मा का नाश नहीं होता। वैसे ही महत्तत्त्वादि समस्त सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। परन्तु इनके उपादान कारण सत्त्वादि तीन गुणों की न उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। सूत्रकार ने तीनों गुणों की **चार अवस्थायें** बतलाई हैं।

योगाभ्यासी इन गुणों की चारों अवस्थाओं को जानकर आत्मा, परमात्मा के स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है। इनके स्वरूप को ठीक प्रकार से न जानने से भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि कुछ लोग यह मानते हैं कि प्रकृति का विकास होते–होते चेतन पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं और वे चेतन पदार्थ विनाश को प्राप्त होते–होते जड़ बन जाते हैं। वास्तविकता यह है कि जड़ पदार्थ कभी भी चेतन नहीं बनता और चेतन पदार्थ कभी भी जड़ नहीं बनता। ये सत्त्वादि गुण जड़ पदार्थ हैं अर्थात् ज्ञानरहित हैं। इनसे चेतन पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। सांख्यकार महर्षि कपिल जी ने इस विषय में कहा है कि "**उपादाननियमात्**" ॥ सांख्य० १/११५ ॥ अर्थात् उपादान में जो गुण होते हैं वे ही उससे उत्पन्न कार्य में आते हैं, अन्य नहीं। इसलिये जड़ प्रकृति से चेतन जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रकृति से भिन्न चेतन

पदार्थ दो हैं। एक जीवात्मा और दूसरा ईश्वर। इनका कोई उपादान कारण नहीं है और ये भी किसी के उपादान कारण नहीं हैं । इसलिये इन तीन गुणों की चार अवस्थाओं को जानकर ईश्वर को साध्य, जीवात्मा को साधक और प्रकृति को साधन मान करके कृतकृत्यता को सिद्ध करना चाहिये ॥ १९ ॥

अव० - व्याख्यातं दृश्यमथ द्रष्टुः स्वरूपावधारणार्थंभिदमारभ्यते ।

अर्थ - दृश्य का व्याख्यान हो गया है । अब द्रष्टा के स्वरूप के निश्चय के लिये यह सूत्र लिखा जाता है ।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

शब्दार्थ - (द्रष्टा) देखने वाला (दृशिमात्रः) ज्ञान स्वरूप जीवात्मा (शुद्धः) प्राकृतिक पदार्थों के सम्मिश्रण से रहित तथा अज्ञान, अधर्म, विकार आदि दोषों से स्वभावतः रहित होता हुआ (अपि) भी (प्रत्यय-अनुपश्यः) चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है ।

सूत्रार्थ - प्राकृतिक पदार्थों के सम्मिश्रण तथा अज्ञान, अधर्म, विकारादि दोषों से रहित होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला चेतन पदार्थ 'जीवात्मा' है ।

व्या० भा० - दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः । स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी । स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात् ? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति ।

सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात् ? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुष-विषयश्च स्याद् गृहीताऽगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किं च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धि-स्त्रिगुणत्वादचेतनेति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति । अतो न सरूपः ।

अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात् ? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते । तथा चोक्तम्-अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रह-रूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥ २० ॥

व्या० भा० अ० *- 'दृशिमात्र' का अर्थ विशेषणों से रहित ज्ञान स्वरूप ही है । वह पुरुष बुद्धि वृत्ति को जानने वाला है । वह न बुद्धि के समानरूप वाला है न ही अत्यन्त विरुद्धरूप वाला है । समानरूप वाला नहीं है । क्यों ? विषयों के जानने न जानने वाली होने से बुद्धि परिणाम वाली है । और उसके गौ आदि वा घट आदि विषय ज्ञात-अज्ञात होते हैं, (ये बुद्धि के) परिणाम को दिखाते हैं ।*

सदा ज्ञात विषय वाला होना तो पुरुष के अपरिणामित्व को प्रकट करता है । क्यों ? बुद्धि जो पुरुष का विषय है वह कभी ज्ञात-अज्ञात नहीं होती । उस से पुरुष सदा ज्ञात विषय वाला

है यह और पुरुष का परिणामरहित होना सिद्ध है । और क्या (हेतु है कहते हैं) बुद्धि (तीन गुणों का) संघात रूप होकर कार्य करने के कारण परार्थ (पुरुषार्थ) है जबकि पुरुष स्वार्थ है । उसी प्रकार सब विषयों का ज्ञान कराने वाली होने से बुद्धि त्रिगुण वाली है, तीन गुणों से युक्त होने के कारण अचेतन है। पुरुष गुणों को निकटता से जानने वाला है अतः बुद्धि के समानरूप वाला नहीं है ।

तो फिर (पुरुष को बुद्धि से) विरुद्ध स्वरूप वाला मान लिया जाय ? पूर्ण रूप से विरुद्ध स्वरूप वाला नहीं है । क्यों ? शुद्ध होने पर भी वह बुद्धिवृत्ति के अनुसार जानता है । क्योंकि वह बुद्धिवृत्ति के अनुसार देखता है । उसको देखता हुआ बुद्धिवृत्ति स्वरूप न होने पर भी उस स्वरूप वाला प्रतीत होता है । और वैसा ही कहा है – भोक्ता परिणाम धर्म से रहित है और बुद्धि एवं बुद्धि से सम्बद्ध विषयों में घुलता मिलता नहीं है, परिणामिनी बुद्धि में घुले मिले के समान उस (बुद्धिवृत्ति) का अनुकरण करता है । चेतन के सम्बन्ध से चेतनता को प्राप्त करने वाली उस बुद्धिवृत्ति का अनुकरण करने के कारण ज्ञानवृत्ति बुद्धिवृत्ति के समान ही कही जाती है ॥ २० ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **जीवात्मा का स्वरूप** बतलाया है ।

जीवात्मा द्रष्टा है अर्थात् जानने वाला है और वह बुद्धि की वृत्तियों के अनुसार देखता है । आत्मा को दृशिमात्र कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा चेतन पदार्थ है, जड़ नहीं । आत्मा में ज्ञानगुण स्वाभाविक है । और बल, इच्छादि भी उसके स्वाभाविक गुण हैं । मन, इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों के जो आकार–प्रकार बुद्धि में उतरते हैं, उसी के अनुसार जीवात्मा देखता है । आत्मा बुद्धि के साथ कुछ समानता रखता है और कुछ असमानता । बुद्धि के समक्ष जो पदार्थ उपस्थित होते हैं, उनका वह चित्र उतारती है और जो पदार्थ उसके समक्ष नहीं होते, उनका चित्र नहीं उतारती । जिनका चित्र उतरता है वे ज्ञात हैं और जिनका चित्र नहीं उतरता वे अज्ञात हैं अर्थात् चित्र वाले पदार्थों को आत्मा जानता है अन्यों को नहीं । यह पदार्थों का ज्ञात और अज्ञात रहना बुद्धि के परिणामित्व को सिद्ध करता है । बुद्धि में पदार्थों का जो भी आकार प्रकार उतरता है, उसको जीवात्मा सदा जानता है । कभी भी ऐसा नहीं होता कि बुद्धि में कोई चित्र उतरे और उसको जीवात्मा न जाने । इसी कारण से जीवात्मा **अपरिणामी** है । इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि परिवर्तनशील है, आत्मा नहीं । बुद्धि सत्त्वादि तीन गुणों का संघातरूप होकर कार्यों को सिद्ध करती है । इसलिये वह परार्थ है । अर्थात् आत्मा के लिये है । जैसे भवन आदि पदार्थ संघातरूप में होकर जीव के प्रयोजन की सिद्धि करते हैं, बुद्धि भी वैसे ही करती है । इसलिये परार्थ–दूसरे के लिये कही जाती है । आत्मा दूसरे के लिये नहीं । अतः वह स्वार्थ कहा जाता है ।

बुद्धि सत्त्वादि तीन गुणों से बनी है । इसलिये वह जड़ है । जीवात्मा तीन गुणों का भोक्ता है अतः वह चेतन है । यही बुद्धि और आत्मा की असमानरूपता कही जाती है । बुद्धि और आत्मा की समानरूपता यह है कि बुद्धि में जो विविध पदार्थों के आकार–प्रकार उतरते हैं उनको उसी रूप में देखता हुआ आत्मा अज्ञानता के कारण उनको और स्वयं को एक समझता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि प्राकृतिक पदार्थों के गुण हैं । परन्तु अज्ञानता के कारण जीवात्मा इनको

अपने से भिन्न नहीं समझता । बुद्धि और जीवात्मा का निकटतम सम्बन्ध है ।

अज्ञानता के कारण कभी–कभी जीवात्मा बुद्धि जैसा जड़ पदार्थ दिखता है और कभी जीव के सम्बन्ध से बुद्धि चेतनवत् दिखाई देती है । वास्तव में ये दोनों भिन्न–भिन्न हैं । बुद्धि जड़ पदार्थ है और जीवात्मा चेतन पदार्थ । जब आत्मा बुद्धिवृत्तियों को स्वयं से पृथक् नहीं जानता तब अस्मिता क्लेश की उत्पत्ति होती है । जब व्यक्ति अपने स्वरूप को ठीक प्रकार से जान जाता है तो यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि मैं और बुद्धि एक हैं । आत्मा के स्वरूप को ठीक प्रकार से जानने से व्यक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों के आधीन नहीं होता । इनको अपने वश में करके मोक्ष की सिद्धि करता है । अपने स्वरूप को समझने पर ईश्वर का स्वरूप भी शीघ्र ज्ञात हो जाता है । जो व्यक्ति अपने स्वरूप को नहीं जानता, वह ईश्वर के स्वरूप को भी नहीं जान सकता ।

संसार में अनेक लोग यह मानते हैं कि जीवात्मा ईश्वर का ही एक अंश है । कुछ लोग कहते हैं कि यह आत्मा प्रकृति के अंशों से बना है, इत्यादि अनेक मान्यतायें हैं । यदि जीवात्मा के स्वरूप को ठीक प्रकार से जान लिया जाय तो ये सब भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं । प्रायः व्यक्ति यह समझते हैं कि मन विषयों में स्वयं चला जाता है । इस भ्रान्ति का कारण यही है कि वे जीवात्मा के स्वरूप को नहीं जानते । यदि व्यक्ति शान्त वातावरण में राग, द्वेष से रहित होकर निरीक्षण, परीक्षण करे तो यह परिज्ञान हो जायेगा कि मन आदि सभी उपकरणों को मैं चलाता हूँ । उपनिषत्कार ने इस विषय में कहा है कि –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

॥ कठोपनिषद् ॥ ३/३–४ ॥

अर्थ – (आत्मानं रथिनं विद्धि) आत्मा को रथ का स्वामी जानो (शरीरं तु रथम् एव) शरीर को तो रथ ही जानो (बुद्धिं तु सारथिं विद्धि) बुद्धि को सारथि जानो (च मनः प्रग्रहम् एव) और मन को लगाम ही जानो (इन्द्रियाणि हयान् आहुः) इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं (तेषु विषयान् गोचरान्) विषयों को उनमें गोचर = भूमि = मार्ग कहते हैं । (मनीषिणः) मनीषी = विद्वान् (इन्द्रियमनोयुक्तम् आत्मा) इन्द्रियों एवं मन से युक्त आत्मा को (भोक्ता इति आहुः) भोक्ता है, यह कहते हैं ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ – (तद्–अर्थः) उस जीवात्मा द्रष्टा के भोग और अपवर्ग के लिये (एव) ही (दृश्यस्य) दृश्य का (आत्मा) स्वरूप है अर्थात् दृश्य का अपना कोई प्रयोजन नहीं है।

सूत्रार्थ – उस द्रष्टा जीवात्मा के भोग और अपवर्ग के लिये ही 'दृश्य का स्वरूप' है अर्थात् इसका कोई अपना प्रयोजन नहीं है ।

व्या० भा० – दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

व्या० भा० अ० *– दृश्य, द्रष्टा रूप पुरुष की कर्मरूपता को प्राप्त होता है इसलिये उसी (पुरुष) के लिये दृश्य का आत्मा (अर्थात्) स्वरूप होता है ॥ २१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि उस **जीवात्मा के लिये ही 'दृश्य का आत्मा'** है ।

दृश्य के स्वरूप का वर्णन ॥ २/१८ ॥ में कर दिया है । इस सूत्र में विशेष निर्णय किया है कि सत्त्व आदि तीन गुणों से, महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी आदि स्थूलभूतों तक की रचना जीवात्मा के लिये होती है । ईश्वर पूर्णकाम है । उसको अपने लिये किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है । प्रकृति जड़ होने से न सृष्टि की रचना कर सकती और न उससे बने पदार्थों का भोग कर सकती है । जीवात्मा चेतन पदार्थ है और उसमें बल भी है । परन्तु आत्मा में आनन्द नहीं है अतः वह आनन्दस्वरूप नहीं है । जो प्रकृति से बने पदार्थों में सुख है वह भी जीव में नहीं है । सृष्टि की रचना के बिना न जीवात्मा कर्म कर सकता है और न कर्मों का फल भोग सकता है । महत्तत्व से लेकर शरीरपर्यन्त सृष्टि की रचना हो जाने पर जीव कर्म करने में, भोग भोगने में तथा मोक्ष प्राप्ति में समर्थ होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवात्मा आनन्दस्वरूप है । यदि आनन्दस्वरूप होता तो योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि जी यह न कहते कि जीवात्मा के लिये ही सृष्टि की रचना हुई है । दूसरी बात यह है कि आत्मा आनन्दस्वरूप होता तो वह दुःखमिश्रित सांसारिक भोगों में क्यों पड़ता ? यदि जीव का आनन्द गुण स्वाभाविक है तो ईश्वर के आनन्द की प्राप्ति के लिये ऋषियों ने योगाभ्यास का विधान क्यों किया ? इसलिये आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है ॥ २१ ॥

अव० – तत्स्वरूपं तु पररूपेण प्रतिलब्धात्मकं भोगापवर्गार्थतायां कृतायां पुरुषेण न दृश्यत इति । स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तः । न तु विनश्यति । कस्मात् ?

अर्थ – दृश्य का स्वरूप अन्य (जीवात्मा) के कारण अपने अस्तित्व को प्राप्त करने वाला (पुरुष के) भोगापवर्ग चरितार्थ होने पर पुरुष के द्वारा नहीं देखा जाता । इसलिए स्वरूप की स्थिति न होने से इस (दृश्य) का नाश प्राप्त होता है परन्तु वह विनष्ट नहीं होता है । क्यों ?

कृतार्थम्प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ – (कृतार्थम्-प्रति) जिस जीवात्मा का भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, उसके लिये (नष्टम्) नष्ट हुआ जैसा (अपि) भी (अ-नष्टम्) नष्ट नहीं होता (तद्-अन्य-साधारणत्वात्) उस कृतार्थ पुरुष से भिन्न पुरुषों के लिये सामान्य रूप से भोग और अपवर्ग की सिद्धि कराने वाला होने से ।

सूत्रार्थ – कृतार्थ जीवात्मा के लिये नष्ट हुआ जैसा भी दृश्य नष्ट नहीं होता, अन्य अकृतार्थ जीवात्माओं के लिये सामान्य रूप से भोग और अपवर्ग की सिद्धि कराने वाला होने से ।

व्या० भा० - कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् । कुशलं पुरुषं प्रति नाशं प्राप्तमप्यकुशलान्पुरुषान्प्रति न कृतार्थमिति तेषां दृशेः कर्मविषयतामापन्नं लभत एव पररूपेणात्मरूपमिति । अतश्च दृग्दर्शनशक्त्योर्नित्यत्वादनादिः संयोगो व्याख्यात इति । तथा चोक्तम्-''धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोग'' इति ॥ २२ ॥

व्या० भा० अ० *- कृतार्थ एक पुरुष के प्रति दृश्य नष्ट = नाश को प्राप्त भी (यह) नष्ट नहीं हुआ - उस (मुक्त) पुरुष से अन्यों के द्वारा समान रूप से धारण किये जाने से अर्थात् उपयोगी होने से । कुशल पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त भी अकुशल (बद्ध) पुरुषों के प्रति कृतार्थ नहीं हुआ है अतः उन (बद्ध पुरुषों) की दर्शन क्रिया का कर्म विषय बना हुआ है । पररूप जीवात्मा के स्वरूप के द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है । और इसलिए दृक्शक्ति (पुरुष), दर्शनशक्ति (बुद्धि आदि) के (प्रवाह से) नित्य होने से (इनका) संयोग (प्रवाह से) अनादि है - ऐसी व्याख्या की गई है । और ऐसा भी कहा है कि धर्मियों (सत्त्वादि गुणों) के (पुरुष के साथ) अनादि संयोग के कारण (बुद्धि आदि) धर्मों का भी संयोग (प्रवाह से) अनादि है ॥ २२ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि **कृतकृत्य पुरुष के लिये दृश्य-नष्ट जैसा होने पर भी** अन्य पुरुषों के लिये प्रयोजन वाला होने से **नष्ट जैसा नहीं** है ।

जो व्यक्ति योगाभ्यास करते-करते ईश्वर साक्षात्कार तक पहुँचकर मुक्ति का अधिकारी बन जाता है, उसके लिये यह संसार **'प्रयोजनहीन'** हो जाता है । परन्तु जिन जीवात्माओं ने अभी तक भोग और मोक्ष को सिद्ध नहीं किया है, उनके लिये इसकी सार्थकता बनी रहती है । अर्थात् उनके लिये भोग और मोक्ष को सिद्ध करने का सामर्थ्य सांसारिक पदार्थों में बना रहता है । इसी कारण से जीवात्मा और बुद्धि आदि प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का संयोग प्रवाह से अनादि है । पूर्व सृष्टि में जो बुद्धि शरीर आदि उपकरण जीवात्मा के थे, वे प्रलय अवस्था में नष्ट हो गये । उसको ईश्वर ने उसी प्रकार के साधन इस सृष्टि में दिये हैं । यदि जीवात्मा इस सृष्टि काल में अथवा आने वाली अनेक सृष्टियों में मोक्ष को प्राप्त न करे तो उसके साथ उन बुद्धि आदि साधनों का सम्बन्ध प्रवाह से चलता रहेगा । जीव का बुद्धि आदि के साथ सृष्टि में संयोग होना, प्रलय में वियोग होना प्रवाह से अनादि कहलाता है । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों अनादि हैं । जीवात्मा का सत्त्वादि तीन गुणों एवं इनसे उत्पन्न बुद्धि, अहंकार, मन आदि के साथ सम्बन्ध प्रवाह से अनादि है । यद्यपि मोक्षकाल में यह संयोग समाप्त हो जाता है, परन्तु मुक्ति से पुनरावृत्ति होने पर यह पुनः प्रवृत्त हो जाता है । अर्थात् जीवात्मा के शुभ-अशुभ कर्मानुसार ईश्वर इस संयोग की स्थापना कर देता है ।

यह संयोग प्रवाह से अनादि और अनन्त है । प्रत्येक योगाभ्यासी को यह जानना चाहिये कि बुद्धि, शरीर आदि समस्त पदार्थ ईश्वरकृत हैं और इनका व मेरा सम्बन्ध अनित्य है अतः शीघ्र ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि कर लेनी चाहिये । क्योंकि जो व्यक्ति इन सांसारिक पदार्थों को ईश्वर के न मानकर अपने मानता है और इनके साथ अपना सम्बन्ध भी नित्य मानता है । वह बन्धन का भागी होता है । इसलिये समस्त पदार्थों को ईश्वरकृत मानकर, उनके

साथ अपने सम्बन्ध को अनित्य जानकर, ईश्वरप्राप्ति को लक्ष्य बनाने से व्यक्ति कृतार्थ होता है, अन्यथा नहीं ॥ २२ ॥

अव० - संयोगस्वरूपाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रववृते ।

अर्थ - 'संयोग के स्वरूप' को बतलाने की इच्छा से यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है -

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ - (स्व-स्वामि-शक्त्योः) स्वशक्ति = प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव । स्वामिशक्ति = जीवात्मा और उसके गुण-कर्म-स्वभाव, इन दोनों के (स्वरूप-उपलब्धि-हेतुः) स्वरूप के ज्ञान का हेतु (संयोगः) संयोग है ।

सूत्रार्थ - प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव तथा जीवात्मा और उसके गुण-कर्म-स्वभाव । इन दोनों के स्वरूप के ज्ञान का कारण 'संयोग' है ।

व्या० भा० - पुरुषः स्वामी दृश्येन स्वेन दर्शनार्थं संयुक्तः । तस्मात्संयोगाद् दृश्यस्योपलब्धिर्या स भोगः, या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः सोऽपवर्गः । दर्शनकार्यावसानः संयोग इति दर्शनं वियोगस्य कारणमुक्तम् । दर्शनमदर्शनस्य प्रतिद्वन्द्वीत्यदर्शनं संयोगनिमित्तमुक्तम् । नात्र दर्शनं मोक्षकारणम्, अदर्शनाभावादेव बन्धाभावः स मोक्ष इति । दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञानं कैवल्यकारणमुक्तम् । किं चेदमदर्शनं नाम ?

१-किं गुणानामधिकारः ?

२-आहोस्विद् दृशिरूपस्य स्वामिनो दर्शितविषयस्य प्रधानचित्तस्यानुत्पादः स्वस्मिन्दृश्ये विद्यमाने दर्शनाभावः ?

३-किमर्थवत्ता गुणानाम् ?

४-अथाविद्या स्वचित्तेन सह निरुद्धा स्वचित्तस्योत्पत्तिबीजम् ?

५-किं स्थितिसंस्कारक्षये गतिसंस्काराभिव्यक्तिः ? यत्रेदमुक्तं-प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात् तथा गत्यैव वर्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात् । उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते, नान्यथा । कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः ।

६-दर्शनशक्तिरेवादर्शनमित्येके; प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिरिति श्रुतेः । सर्वबोध्यबोधसमर्थः प्राक्प्रवृत्तेः पुरुषो न पश्यति, सर्वकार्यकरणसमर्थं दृश्यं तदा न दृश्यत इति ।

७-उभयस्याप्यदर्शनं धर्म इत्येके । तत्रेदं दृश्यस्य स्वात्मभूतमपि पुरुषप्रत्ययापेक्षं दर्शनं दृश्यधर्मत्वेन भवति, तथा पुरुषस्यानात्मभूतमपि दृश्यप्रत्ययापेक्षं पुरुषधर्मत्वेनेवादर्शनमवभासते ।

८-दर्शनज्ञानमेवादर्शनमिति केचिदभिदधति । इत्येते शास्त्रगता विकल्पाः । तत्र विकल्पबहुत्वमेतत्सर्वपुरुषाणां गुणानां संयोगे साधारणविषयम् ॥ २३ ॥

__व्या० भा० अ०__ - स्वामी पुरुष, दर्शन (तत्त्वज्ञान) के लिए दृश्यरूपी स्व से संयुक्त है । उस संयोग से दृश्य की जो उपलब्धि होती है (ज्ञान होता है) वह 'भोग' कहलाता है । जो तो द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि ज्ञान है, वह 'अपवर्ग' कहलाता है । दर्शनकार्य की समाप्ति होने

पर संयोग का अवसान होता है इसलिए 'दर्शन' को वियोग का कारण कहा गया है। दर्शन, अदर्शन का विरोधी है, अतः 'अदर्शन' को संयोग का कारण कहा गया है। यहाँ 'दर्शन' मोक्ष का कारण नहीं कहा गया है। अदर्शन (अज्ञान) के अभाव से ही बन्ध का अभाव होता है, वह 'मोक्ष' है। दर्शन के होने पर बन्धकारण जो अदर्शन है उसका नाश होता है इसलिए दर्शन (ज्ञान) को कैवल्य का कारण कहा गया है। यह 'अदर्शन' क्या है ?

***(१)** क्या (सत्त्व, रजस्, तमस्) गुणों का अधिकार (अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने का जो सामर्थ्य है, वह अदर्शन) है ? अथवा*

***(२)** द्रष्टा स्वामी के प्रति शब्दादि विषयों को दिखाने वाले प्रधान चित्त का प्रकट न होना अर्थात् दृश्य के स्वरूप के विद्यमान रहने पर भी (दोनों स्वरूप का) जो यथार्थ ज्ञान का अभाव है, क्या वह अदर्शन है ?*

***(३)** क्या गुणों की अर्थवत्ता अर्थात् भोगापवर्ग के सम्पादन में युक्त रहना (प्रवृत्त रहना अदर्शन) है ?*

***(४)** अथवा स्वचित्त के साथ (प्रलयकाल में) निरुद्ध एवं (सर्गकाल में) बने चित्त की अभिव्यक्ति का कारण जो अविद्या है, वही अदर्शन है ?*

***(५)** किंवा स्थिति (प्रलय) संस्कारों के क्षीण होने पर गति (सृष्टिकाल के) संस्कार की अभिव्यक्ति अदर्शन है ? जिसके विषय में कहा गया है कि - प्रधान स्थिति में रहने पर विकारों के न करने के कारण प्रधान नहीं कहलायेगा। उसी प्रकार गति में ही रहने पर विकारों के नित्य होने से प्रधान नहीं कहलायेगा। (स्थितिगत इन) दोनों प्रकार से इसकी प्रवृत्ति के रहने पर यह प्रधान कहलाता है। अन्यथा (अर्थात् अन्य प्रकार से रहने पर) प्रधान कहला नहीं सकता। अन्य कारणों की कल्पना करने पर भी यही बात रहेगी (अर्थात् परमाणु से सृष्टि मानने पर भी यही स्थिति रहेगी)।*

***(६)** दर्शनशक्ति (बुद्धि) ही अदर्शन है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। "प्रधान की प्रवृत्ति अपने को ख्यापित करने के लिए है" इस श्रुति के अनुसार (वे ऐसा मानते हैं)। इसलिए कि सब ज्ञेयों को जानने में समर्थ पुरुष (प्रधान = बुद्धि की) प्रवृत्ति से पूर्व नहीं देखता। सब कार्यों को करने में समर्थ दृश्य तब (बुद्धि की प्रवृत्ति से पूर्व) नहीं दिखाई देता।*

***(७)** कुछ लोग मानते हैं कि अदर्शन द्रष्टा व दृश्य इन दोनों का ही धर्म है। इन दोनों में से अदर्शन, दृश्य का निजी धर्म होने पर भी पुरुष ज्ञान की अपेक्षा से (पुरुषाधीन होने के कारण) ही दृश्य धर्म के रूप में होता है। इसी प्रकार अदर्शन पुरुष का निजी धर्म न होने पर भी दृश्यज्ञान की अपेक्षा से (दृश्य = बुद्धिवृत्ति के ज्ञान की अपेक्षा के कारण) पुरुष धर्मरूप से अवभासित होता है।*

***(८)** दर्शन ज्ञान ही अदर्शन है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।*

अदर्शन के विषय में ये शास्त्रगत आठ पक्ष हैं। उन बहुत विकल्पों में, सब पुरुषों का, (जीव के साथ) गुणों के संयोग के विषय में समान मत है ॥ २३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **स्व-स्वामी के स्वरूप की उपलब्धि का कारण संयोग** बतलाया है। '**स्व**' शब्द से प्रकृति और उससे उत्पन्न पदार्थों का ग्रहण होता है। '**स्वामी**' शब्द से जीवात्मा का ग्रहण होता है।

अज्ञानता के कारण व्यक्ति मन, इन्द्रियों, शरीर आदि के द्वारा विषय भोग में लिप्त होता है तो वह दृश्य की उपलब्धि है। उसका नाम '**भोग**' है। जब शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्धोपासना से अपना और ईश्वर का साक्षात्कार करता है तो वह पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि है, उसका नाम '**मोक्ष**' है। वास्तविक ज्ञान से अर्थात् प्रकृति, विकृति, आत्मा और परमात्मा के ज्ञान से संयोग का नाश होता है। इसलिये वास्तविक ज्ञान संयोग का नाशक माना जाता है। विशुद्ध ज्ञान अज्ञान का विरोधी है और अज्ञान संयोग का कारण है। जब शुद्ध ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है तब मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। यहाँ पर ज्ञान का तात्पर्य प्रकृति, जीवात्मा और ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करना है अर्थात् व्यावहारिक रूप से जानना है, शाब्दिक रूप से नहीं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। शुद्ध निष्काम कर्म और शुद्धोपासना ये भी मुक्ति के अनिवार्य साधन हैं।

वेद में मुक्ति के तीन साधन माने हैं –

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय᳖ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ यजुः ४०/१४॥

भावार्थ – जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ साथ ही जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।

(सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)

शुद्ध ज्ञान–कर्म–उपासना से तीन पदार्थों का वास्तविक ज्ञान, उससे अशुद्ध ज्ञान–कर्म–उपासना की निवृत्ति और समस्त दुःखों का विनाश तथा नित्यानन्द की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का स्वरूप है। जीवात्मा केवल अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके मुक्त नहीं हो सकता। अज्ञान का नाश ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से होता है, केवल जीवात्मा के अपने ज्ञान से नहीं। केवल ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है, किन्तु ज्ञान, आनन्द और स्वतन्त्रता की प्राप्ति मोक्ष है। मुक्ति का देने वाला ईश्वर है। जीवात्मा स्वयं मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। जिस अज्ञान को बन्धन का कारण माना जाता है, उसके स्वरूप को जानना आवश्यक है। अज्ञान के स्वरूप को जानने के लिये अनेक विद्वानों ने अपने–अपने ढंग से प्रयास किया है।

(१) जब सत्त्वादि गुण आत्मा के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने में प्रवृत्त रहते हैं, क्या इसका नाम 'अज्ञान' है?

(२) द्रष्टा = स्वामी = आत्मा का जो देखने का विषय प्रधान चित्त है, उसकी उत्पत्ति का न होना अज्ञान है? अर्थात् जिस चित्त के द्वारा आत्मा, प्रकृति और पुरुष का विवेक प्राप्त करता है, उसका उत्पन्न न होना 'अज्ञान' है।

(३) क्या सत्त्वादि गुणों की भोगापवर्गरूप प्रयोजनवत्ता 'अज्ञान' है ?

(४) क्या अपने चित्त के साथ निरुद्ध हुई अविद्या जो अपने चित्त की पुनः उत्पत्ति का कारण है वह 'अज्ञान' है ?

(५) क्या प्रलय की स्थिति समाप्त होने पर सृष्टि की स्थिति का बना रहना 'अज्ञान' है? प्रकृति की दो अवस्थायें हैं । एक है साम्यावस्था–प्रलय । दूसरी है विषमावस्था सृष्टि । इन दोनों अवस्थाओं के होने से प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण माना जाता है ।

(६) कुछ लोगों का यह मत है कि दर्शनशक्ति ही अज्ञान है । प्रधान की प्रवृत्ति अपने स्वरूप को जनाने के लिये होती है। उसकी प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि के बिना प्रकृति का स्वरूप जीवात्मा के द्वारा नहीं जाना जाता, इसका नाम 'अज्ञान' है ।

(७) कुछ लोगों का यह मत है कि प्रकृति और जीवात्मा दोनों का ही धर्म 'अज्ञान' हैं।

(८) कुछ लोगों का यह मत है कि शब्दादि विषयों का ज्ञान ही 'अज्ञान' है ।

इन आठ में से चौथी मान्यता में अज्ञान का स्वरूप स्पष्ट है और यही बन्धन का कारण है । योगदर्शनकार ने अगले २४ वें सूत्र में इसी को कहा है कि **'तस्य हेतुरविद्या'** जिस संयोग से जीव का बन्धन होता है, उसका कारण 'अविद्या' है। बुद्धि आदि प्राकृतिक पदार्थों के साथ अज्ञानपूर्वक सम्बन्ध और उनका अनुचित प्रयोग बन्धन का कारण है, केवल विषय सुख अर्थात् भोग विलास के लिये प्रयोग करना, 'अनुचित प्रयोग' कहा जाता है। ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध और उचित प्रयोग मोक्ष का कारण है। ईश्वर साक्षात्कार करने करवाने के लिए प्रयोग करना 'उचित प्रयोग' कहा जाता है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होते हैं, जीवात्मा के नहीं । यह मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि प्रकृति जड़ होने से बन्ध और मोक्ष का अनुभव नहीं कर सकती । जीवात्मा चेतन होने से बन्ध–मोक्ष का अनुभव कर सकता है । जीवात्मा प्रकृति से बने पदार्थों के साथ अज्ञानपूर्वक व्यवहार करता है तो बन्धन को प्राप्त होता है, प्रकृति नहीं ।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद्विमोचयत्येकेन रूपेण ॥ सांख्य० ३/७३ ॥

भावार्थ – प्रकृति जीवात्मा को सात प्रकार से बाँधती है, कोशकार (रेशम का कीड़ा) के समान और एक प्रकार (तत्त्वज्ञान) से मुक्त करती है ।

यहाँ आत्मा शब्द से जीवात्मा का ग्रहण होता है, प्रकृति का नहीं ।

(क) प्रकृति और पुरुष का संयोग दो प्रकार का होता है (१) अज्ञानपूर्वक (२) ज्ञानपूर्वक । इन संयोगों के कारण क्या हैं, यह जानना आवश्यक है । माता, पिता, आचार्य, समाज, राजा, शिक्षाप्रणाली, पूर्वजन्म के अशुभ संस्कार और केवल विषय भोगों को ही लक्ष्य बना करके चलना आदि अज्ञानपूर्वक संयोग के कारण हैं । इससे व्यक्ति बन्धन को प्राप्त होता है ।

(ख) इन सबके ठीक होने से जीवात्मा का प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है । इससे व्यक्ति मोक्ष का भागी बनता है ।

(ग) अज्ञानयुक्त इस संयोग की परम्परा को दूर करके ज्ञानयुक्त परम्परा को सञ्चालित करना चाहिये ।

''**उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः, इतरथा ह्यन्धपरम्परा ॥** सांख्यदर्शन सूत्र ३-७९, ८१ ॥

भावार्थ – उच्च कोटि के शिष्य तथा तत्त्ववेत्ता गुरु होते हैं तो प्रकृति पुरुष का संयोग ज्ञानपूर्वक होता है । अन्यथा भोग की अंधपरम्परा चलती रहती है ॥ २३ ॥

अव० – यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धिसंयोगः –

अर्थ – जीव का अपनी बुद्धि के साथ जो संयोग है (उसका कारण सूत्र से बताया जाता है)

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

शब्दार्थ – (तस्य) उस संयोग का (हेतुः) कारण (अविद्या) मिथ्याज्ञान है ।

सूत्रार्थ – उस संयोग का कारण 'अविद्या' है ।

व्या० भा० – विपर्ययज्ञानवासनेत्यर्थः । विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठं पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति, साधिकारा पुनरावर्तते । सा तु पुरुषख्यातिपर्यवसाना कार्यनिष्ठां प्राप्नोति, चरिताधिकारा निवृत्तादर्शना बन्धकारणाभावान्न पुनरावर्तते ।

अत्र कश्चित्षण्डकोपाख्यानेनोद्घाटयति–मुग्धया भार्ययाभिधीयते षण्डकः । आर्यपुत्र ! अपत्यवती मे भगिनी किमर्थं नाहमिति । स तामाह–मृतस्तेऽहमपत्यमुत्पादयिष्यामीति । तथेदं विद्यमानं ज्ञानं चित्तनिवृत्तिं न करोति, विनष्टं करिष्यतीति का प्रत्याशा ।

तत्राचार्यदेशीयो वक्ति–ननु बुद्धिनिवृत्तिरेव मोक्षः, अदर्शनकारणाभावाद् बुद्धिनिवृत्तिः । तच्चादर्शनं बन्धकारणं दर्शनान्निवर्तते । तत्र चित्तनिवृत्तिरेव मोक्षः । किमर्थमस्थान एवास्य मतिविभ्रमः ॥ २४ ॥

व्या० भा० अ० – *अविद्या का अर्थ 'मिथ्याज्ञान की वासना' है । मिथ्याज्ञान की वासना से भरी हुई बुद्धि विवेकख्याति रूप कार्य की परिसमाप्ति को प्राप्त नहीं करती । अधिकार (पुरुष के लिए भोगापवर्ग को सम्पादित करने की क्षमता) के कारण पुनः भोगापवर्ग के लिए प्रवृत्त होती है । और वह (बुद्धि) विवेकख्याति पर्यन्त रहने वाली होने के कारण कार्य को परिसमाप्त कर लेती है । तब समाप्तधिकार अर्थात् कार्य को सम्पन्न कर चुके होने से मिथ्याज्ञान से मुक्त हुई बन्धन के कारण के अभाव के कारण पुनः प्रवृत्त नहीं होती ।*

इस विषय में कोई (पूर्वपक्षी) नपुंसक के उपाख्यान के द्वारा आक्षेप करता है । कोई भोली पत्नी नपुंसक पति से कहती है कि ''आर्यपुत्र! मेरी बहिन सन्तान वाली है, मैं क्यों नहीं ?'' वह उस पत्नी से कहता है कि ''मर कर मैं तेरी सन्तान को उत्पन्न करूँगा'' । इसी प्रकार यह विद्यमान विवेकज्ञान चित्त की निवृत्ति को नहीं करता है विनष्ट होकर (चित्तनिवृत्ति को) करेगा, यह आशा कैसे की जा सकती है ?

कोई आचार्य सदृश व्यक्ति समाधान करता है कि ''बुद्धिनिवृत्ति ही मोक्ष है'' । अदर्शन रूपी कारण के अभाव होने पर बुद्धिनिवृत्ति होती है । और वह अदर्शन बन्ध का कारण (है वह) दर्शन

(ज्ञान) से निवृत्त होता है। सारांश यह है कि चित्तनिवृत्ति ही 'मोक्ष' है। (इसलिए) पूर्वपक्षी को इस सन्दर्भ में भ्रान्त होने का कोई अवसर नहीं है ॥ २४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में अज्ञानपूर्वक संयोग का कारण अविद्या को कहा है। विपरीत ज्ञान की जो वासना है, वह **अविद्या** है।

सूत्रकार ने योगदर्शन २।५ में बतलाया है कि अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा जानना 'अविद्या' है। अज्ञान अवस्था में बुद्धि और आत्मा में अशुभ वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। उन वासनाओं से बुद्धि अपवर्ग को सिद्ध नहीं करती। उन वासनाओं के कारण बुद्धि बार-बार पुनर्जन्म का कारण बनती है। विवेकख्याति उत्पन्न होने पर मिथ्याज्ञान की वासनायें दूर हो जाती हैं। उन वासनाओं के दूर होने से बुद्धि, भोग और अपवर्ग को सिद्ध करके रुक जाती है। अर्थात् आगामी जन्म का कारण नहीं बनती। विवेकख्याति मोक्ष का कारण मानी जाती है। मोक्ष प्राप्ति काल में वह नहीं रहती।

यहाँ पर शंका होती है कि मोक्षकाल में विवेकख्याति के न रहने से वह मोक्ष का उपाय क्यों मानी जाती है? इसका समाधान यह है कि सम्प्रज्ञात समाधि से विवेकख्याति उत्पन्न होती है उससे परवैराग्य उत्पन्न होता है। उससे असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है। उससे मोक्ष की सिद्धि होती है। विवेकख्याति परम्परा से मोक्ष का कारण है, साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष का अन्तरङ्ग साधन तो ईश्वर प्रदत्त ज्ञान है। इसलिये विवेकख्याति परवैराग्य तक पहुँचाने में ही मोक्ष का उपाय है। अज्ञानावस्था में उत्पन्न मिथ्याज्ञान की वासना जन्म-जन्मान्तर में जीवात्मा के साथ रहती है। उससे अज्ञान, अज्ञान से अशुद्ध कर्म और अशुद्ध उपासना, उनसे पुनः मिथ्याज्ञान, उस (मिथ्याज्ञान) से आत्मा अशुभ कर्म और उपासना करता है। उसी के परिणामस्वरूप पशु, पक्षी आदि योनि के रूप में बन्धन की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर यह जानना चाहिये कि अविद्या और उससे उत्पन्न वासना चाहे कितने जन्मों की क्यों न हो, उसको दूर किया जा सकता है। **उदाहरण** – अज्ञान के कारण व्यक्ति यह मान लेता है कि "मन एक चेतन पदार्थ है। वह स्वयं चलता है।" इस मिथ्यावासना को शुद्ध ज्ञान के संस्कारों से दूर किया जाता है। मिथ्यावासना के कारण जब यह प्रतीति हो कि मन चेतन पदार्थ है, तब इसके विपरीत विचारना चाहिये कि "मन जड़ पदार्थ है। उसको मैं चलाता हूँ।" इससे मिथ्यावासना समाप्त हो जाती है। मिथ्याज्ञान के कारण मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को चेतन मानता है, विषयभोगों में दुःखरहित सुख, अपने को ईश्वर का अंश, हिंसा आदि को शुभ कर्म, अपने को ईश्वर रचित पदार्थों का स्वामी मानता है। इत्यादि विषयों में विद्यमान मिथ्याज्ञान की वासना को भी मन के चेतन मानने स्वरूप मिथ्याज्ञान वासना को दूर करने के समान दूर किया जाता है। इसमें दीर्घकाल, निरन्तरता और सत्कारपूर्वक अभ्यास की आवश्यकता है ॥ २४ ॥

अव० – हेयं दुःखं हेयकारणं च संयोगाख्यं सनिमित्तमुक्तम्। अतः परं हानं वक्तव्यम् –

अर्थ – हेय 'दुःख' और हेय का कारण 'संयोग' कारण सहित बतला दिया। इससे आगे हान को कहना है –

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ – (तद्-अभावात्) उस अविद्या का अभाव होने से (संयोग-अभावः) द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव हो जाता है । वह (हानम्) मोक्ष है अर्थात् समस्त दुःखों की निवृत्ति तथा नित्य सुख की प्राप्ति (तद् दृशेः) वही जीवात्मा का (कैवल्यम्) कैवल्य है।

सूत्रार्थ – उस अविद्या का अभाव होने से द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव हो जाता है । वह हान है, वही जीवात्मा का 'कैवल्य' है ।

व्या० भा० – तस्यादर्शनस्याभावाद् बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव आत्यन्तिको बन्धनोपरम इत्यर्थः । एतद् हानम् । तद् दृशेः कैवल्यं, पुरुषस्यामिश्रीभावः पुनरसंयोगो गुणैरित्यर्थः । दुःखकारणनिवृत्तौ दुःखोपरमो हानम् तदा स्वरुपप्रतिष्ठः पुरुष इत्युक्तम् ॥ २५ ॥

व्या० भा० अ० *– उस अदर्शन (अज्ञान) के नाश से बुद्धि और पुरुष के संयोग का नाश होता है, वह बन्धन का पूर्ण रूप से उपराम है । वह हान है । इसका अर्थ यह है कि यह द्रष्टा (पुरुष) का कैवल्य, गुणों से पुरुष का अमिश्रीभाव है, पुनः (फिर से) गुणों के साथ असंयोग है । दुःख के कारण की निवृत्ति होने पर दुःख का उपराम (निवर्तन) 'हान' कहलाता है । उस स्थिति में पुरुष स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, ऐसा कहा गया है ॥ २५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव, उससे मोक्ष की सिद्धि बतलाई है और उसी को **जीवात्मा का 'कैवल्य'** कहा है ।

अविद्या के अभाव से बुद्धि और जीवात्मा के अज्ञानजनित संयोग का अभाव हो जाता है । उससे जीवात्मा के बन्धन का नितान्त विनाश हो जाता है । यह हान है अर्थात् **मोक्ष** है । इसी को आत्मा का कैवल्य कहा जाता है । दुःख के कारण की निवृत्ति होने से दुःख की निवृत्ति हो जाती है ।[१] इसी को **स्वरूप-प्रतिष्ठा** कहा है ।

'स्वरूपप्रतिष्ठा' का इतना ही अभिप्राय नहीं है कि केवल जीवात्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और इसी का नाम मोक्ष है । किन्तु जीवात्मा प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि आदि पदार्थों को अच्छे प्रकार से जानकर, अपने वास्तविक स्वरूप को जान जाता है । और ईश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार कर उसके आनन्द को भोगता है और पराधीनता से छूटकर स्वतन्त्र हो जाता है । यह पूर्व भी कहा गया है कि जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं है । ईश्वर के आनन्द को प्राप्त करके आनन्दी होता है । यहाँ पर यह जानना चाहिये कि जीवात्मा ईश्वर की सहायता के बिना, केवल अपने सामर्थ्य से ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकता । क्योंकि उसका स्वाभाविक ज्ञान, बल आदि सामर्थ्य अल्प है । इसलिये अविद्या के अभाव को सिद्ध करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥ २५ ॥

---

१. "**कारणाभावात् कार्याभावः**" ॥ वैशेषिक दर्शन १/२/१ ॥

अव० – अथ हानस्य कः प्राप्त्युपायः ? इति –

अर्थ – अब हान की प्राप्ति का क्या उपाय है (इसको बतलाते हैं) –

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ – (विवेक–ख्यातिः) प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों बुद्धि आदि का तथा पुरुष का पृथक्–पृथक् भेदज्ञान (अविप्लवा) परिपक्व अवस्था को प्राप्त (हान–उपायः) मोक्ष का साधन है ।

सूत्रार्थ – परिपक्व अवस्था को प्राप्त, प्रकृति तथा प्राकृतिक पदार्थों बुद्धि आदि का तथा पुरुष का पृथक्–पृथक् भेदज्ञान 'मोक्ष का साधन' है ।

व्या० भा० – सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययो विवेकख्यातिः, सा त्वनिवृत्तमिथ्याज्ञाना प्लवते । यदा मिथ्याज्ञानं दग्ध-बीजभावं बन्ध्यप्रसवं संपद्यते तदा विधूतक्लेशरजसः सत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य विवेकप्रत्ययप्रवाहो निर्मलो भवति । सा विवेकख्यातिरविप्लवा हानस्योपायः । ततो मिथ्याज्ञानस्य दग्धबीजभावोपगमः पुनश्चाप्रसव इत्येष मोक्षस्य मार्गो हानस्योपाय इति ॥ २६ ॥

व्या० भा० अ० – *सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान 'विवेकख्याति' कहलाती है। वह (विवेकख्याति) मिथ्याज्ञान से रहित न होने पर खण्डित होती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीजभाव अङ्कुरोत्पादन में असमर्थ होता है, तब क्लेशों एवं रजोगुण से रहित बुद्धि के उत्कृष्ट वैशारद्य एवं परवशीकार अनुभूति में स्थित होने पर विवेकज्ञान का प्रवाह निर्मल होता है । वह अखण्डित विवेकख्याति हान (मोक्ष) का उपाय है । उससे मिथ्याज्ञान की दग्धबीजावस्था हो जाती है और मिथ्याज्ञान की पुनः उत्पत्ति नहीं होती । यह मोक्ष का मार्ग 'हान का उपाय' है ॥ २६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **विचलित न होने वाली विवेकख्याति** को 'मोक्ष का उपाय' बतलाया है।

मोक्ष का उपाय होने के कारण विवेकख्याति के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये । प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण से वस्तु का स्वरूप जाना जाता है । जो अनुमान और शब्द प्रमाण से ज्ञान होता है उसकी गणना विवेकख्याति में नहीं है । क्योंकि उस ज्ञान से आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर के स्वरूप की पृथक्–पृथक् अनुभूति नहीं होती । परन्तु विवेकख्याति से इन पृथक्–पृथक् पदार्थों की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है इसलिये विवेकख्याति को मोक्ष का विशेष उपाय कहा है । अविप्लवा विवेकख्याति की प्राप्ति के लिये सम्प्रज्ञात समाधि का विशेष अभ्यास करना पड़ता है । सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति अभ्यास वैराग्य से होती है । सम्प्रज्ञात समाधि की अपरिपक्व अवस्था में विवेकख्याति विचलित होती रहती है । सांसारिक विषय भोगों के संस्कार इसके विचलित होने के कारण हैं । जब तक वे संस्कार दग्धबीजभाव को प्राप्त नहीं होते तब तक विवेकख्याति अस्थिर होती रहती है । दीर्घकालपर्यन्त योगाभ्यास करते रहने से अशुभ संस्कार दग्धबीजभाव की

अवस्था में चले जाते हैं । इस स्थिति में विवेकख्याति सतत स्थिर बनी रहती है । यही मोक्ष का उपाय है । इसी को **'अविप्लवा विवेकख्याति'** कहते हैं ।

जब व्यक्ति को वैराग्य होता है, तब उसका ज्ञान बढता रहता है परन्तु लौकिक संस्कारों के कारण सम्प्रज्ञात समाधि मध्य-मध्य में भंग होती रहती है । यह विवेकख्याति की विप्लव अवस्था है । इसको यम-नियमों के पालन से, ईश्वरप्रणिधानादि साधनों से अविप्लव अवस्था में ले जाना चाहिये । इससे मिथ्याज्ञान की निवृत्ति और परवैराग्य की उत्पत्ति होती है । परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि और ईश्वरसाक्षात्कार होता है । ईश्वरसाक्षात्कार से योगी मोक्ष का अधिकारी बनता है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईश्वरसाक्षात्कार होते ही योगी मोक्ष का भागी नहीं होता । मोक्ष का अधिकारी बनने के लिये दीर्घकालपर्यन्त अभ्यास की अपेक्षा रहती है । योगदर्शनकार ने ३/९ में यह कहा है कि व्युत्थानसंस्कार के अभिभूत होने पर और निरोधसंस्कारों के उद्‌बुद्ध होने से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है और व्युत्थानसंस्कारों से निरोधसंस्कारो के अभिभूत होने से असम्प्रज्ञात समाधि भंग हो जाती है । इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरसाक्षात्कार होते ही मोक्ष नहीं होता। यह बात पूर्व लिखी गई है कि विवेकख्याति परम्परा से मोक्ष का उपाय है और असम्प्रज्ञात समाधि साक्षात् मोक्ष का उपाय है ॥ २६ ॥

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ – (तस्य) उस विवेकख्याति को प्राप्त हुये योगी की (सप्तधा) सात प्रकार की (प्रान्तभूमिः) प्रकृष्ट रूप से अन्तिम अवस्था वाली अर्थात् सबसे ऊँची (प्रज्ञा) प्रज्ञा = बुद्धि होती है ।

सूत्रार्थ – उस विवेकख्याति प्राप्त योगी की सात प्रकार की प्रकृष्ट अवस्था वाली बुद्धि होती है ।

व्या० भा० – तस्येति प्रत्युदितख्यातेःप्रत्याम्नायः । सप्तधेत्यशुद्ध्यावरणमलापगमाच्चित्तस्य प्रत्ययान्तरानुत्पादे सति सप्तप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति । तद्यथा –

(१) परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति । (२) क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति । (३) साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् । (४) भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपाय इति । एषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिः प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी । (५) चरिताधिकारा बुद्धिः । (६) गुणा गिरिशिखर कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः, प्रयोजनाभावादिति । (७) एतस्यामवस्थायां गुणसंबन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुष इति ।

एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते । प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति, गुणातीतत्वादिति ॥ २७ ॥

व्या० भा० अ० *– सूत्र में प्रयुक्त 'तस्य' शब्द विवेकख्याति प्राप्त योगी को लक्षित करता है । (सूत्र में प्रयुक्त) सप्तधा का अर्थ – (रजस्, तमस् रूपी) अशुद्धि के आवरण रूपी दोष के दूर होने से चित्त में अन्य प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति न होने पर विवेकख्याति वाले योगी की सात प्रकार की ही प्रज्ञा होती है । जैसा कि –*

(१) *वह हेय (छोड़ने योग्य) पूर्ण रूप से जान लिया गया है । इस (हेय) का फिर कुछ परिज्ञेय नहीं है ।* ***(२)*** *हेय के हेतुभूत क्लेश क्षीण हो गए हैं । इनका क्षीण करने योग्य और कुछ नहीं है ।* ***(३)*** *निरोध समाधि के द्वारा हान का साक्षात्कार हो गया है ।* ***(४)*** *विवेकख्याति रूप हानोपाय सिद्ध हो गया है । यह प्रज्ञा की चार प्रकार की कार्य से विमुक्ति है । चित्तविमुक्ति तीन प्रकार की है ।* ***(५)*** *बुद्धि चरिताधिकारा (चरितार्थ) हो गई है ।* ***(६)*** *जैसे पर्वत के शिखर से फिसले पत्थर मध्य में न रुकते हुए भूमि के तल पर जाने के लिए प्रवृत्त होते हैं वैसे सत्त्वादिगुण (स्थूलसूक्ष्म शरीर) चित्त के साथ प्रलयाभिमुख हो विलीन हो जाते हैं । प्रयोजन न होने से कारण में लीन इन तीन गुणों की उत्पत्ति पुनः नहीं होती।* ***(७)*** *इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से पृथक्, स्वरूपमात्र प्रकाशवाला, निर्मल पुरुष केवल अपने विशुद्ध स्वरूप में भासित होता है ।*

इस सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव करता हुआ पुरुष 'कुशल' इस नाम से कहा जाता है । चित्त के अपने कारण में लीन होने पर भी गुणसम्बन्ध से रहित होने के कारण मुक्त 'कुशल' ऐसा ही कहा जाता है ॥ २७ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में विवेकख्याति प्राप्त योगी की ऊँचे स्तर वाली सात प्रकार की **प्रज्ञा** = बुद्धि बतलाई है ।

(१) जो छोड़ने योग्य है मैंने उसे पूर्णरूपेण जान लिया है । उसका कोई जानने योग्य भाग शेष नहीं रहा है, ऐसा योगी अनुभव करता है; यह उसकी **प्रथम अनुभूति** है । संसार में स्थूल रूप से दु:ख को सभी जानते हैं । जब शरीर के किसी भी अङ्ग पर आघात होता है तब प्रत्यक्ष रूप से दु:ख का अनुभव होता है । परन्तु प्रत्येक सांसारिक सुख में परिणाम दु:ख, ताप दु:ख, संस्कार दु:ख और गुणवृत्तिविरोध दु:ख मिश्रित रहता है । इसको पूर्णरूपेण योगी ही जान सकता है, अन्य नहीं । इसलिये कहा है कि छोड़ने योग्य दु:ख को पूर्णरूप से जान लिया है ।

(२) जो दु:ख के उत्पादक कारण हैं उनको मैंने पूर्णरूप से क्षीण कर दिया है, उनका कोई भाग क्षीण करने योग्य शेष नहीं रहा है योगी ऐसा अनुभव करता है, यह उसकी **द्वितीय अनुभूति** है । दु:ख का कारण क्या है, यह जानना आवश्यक है । इसके बिना दु:ख से मुक्ति नहीं हो सकती । क्योंकि ''**कारणभावात् कार्यभावः ॥**'' वैशेषिक दर्शन ४/१/३ ॥ कारण के होने से कार्य होता है ।

(३) असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा जीवन काल में ही मोक्ष का साक्षात्कार कर लिया है । अर्थात् जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त कर लिया है । अब और कुछ प्राप्त करने योग्य शेष नहीं

रहा है, योगी ऐसा अनुभव करता है । यह उसकी **तृतीय अनुभूति** है । ईश्वरप्राप्ति के पश्चात् कोई प्राप्तव्य पदार्थ नहीं रहता ।

(४) मोक्षप्राप्ति के जो साधन हैं उनको मैंने सिद्ध कर लिया है । अब कोई साधन सिद्ध करने योग्य शेष नहीं है, योगी ऐसा अनुभव करता है । यह उसकी **चतुर्थ अनुभूति** है ।

(५) बुद्धि के दो प्रयोजन हैं (भोग और अपवर्ग) वे पूर्ण हो गए हैं, योगी ऐसा अनुभव करता है । यह उसकी **पञ्चम अनुभूति** है । ईश्वर ने इन दो प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिये प्रकृति से बुद्धि का निर्माण किया है । इनके सिद्ध होने पर बुद्धि समाप्त हो जाती है ।

(६) सत्त्वादि तीन गुण प्रलयाभिमुख हो गये हैं । जैसे पर्वत के शिखर से गिरे पत्थर भूमितल पर आ गिरते हैं, मध्य में नहीं ठहरते हैं । वैसे ही ये गुण = (स्थूल सूक्ष्म शरीर आदि) भी अपने कारण प्रकृति में चित्त के साथ लीन हो जाते हैं अर्थात् अब वे जीवात्मा का अगला जन्म नहीं कर सकते । यह योगी की **षष्ठ अनुभूति** है ।

(७) इस अवस्था में जीवात्मा सत्त्वादि तीन गुणों से अतीत हो जाता है । अर्थात् प्रकृति और उससे उत्पन्न बुद्धि आदि पदार्थों से स्वयं को पृथक् जानता है और अविद्या, राग, द्वेषादि मलों से रहित होकर अपने स्वरूप में और ईश्वर के स्वरूप में स्थित हो जाता है । यह योगी की **सातवी अनुभूति** है । यह ईश्वरसाक्षात्कार की अवस्था है । इसी का नाम 'मुक्ति' है ।

इस सात प्रकार की उत्कृष्ट बुद्धि को प्राप्त योगी जीवनकाल में ही **कुशल** अर्थात् **मुक्त** कहा जाता है । जब बुद्धि, मन, शरीर आदि प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं, तब भी उसको कुशल अथवा मुक्त ही कहते हैं । जीवित शरीर में रहते हुये जब आत्मा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, तब **जीवनमुक्त** कहाता है और जब देहावसान होने पर मोक्ष में रहता है तब भी उसको कुशल अथवा मुक्त ही कहते हैं । योगजिज्ञासु यह जानना चाहते हैं कि समाधि अवस्था में योगी को कैसा अनुभव होता है । इस सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि समाधि की अन्तिम अवस्था में अमुक अमुक अनुभव होते हैं । इससे यह बात भी ज्ञात हो जाती है कि योगाभ्यासी के लौकिक संस्कारों की दग्धबीजभाव अवस्था सिद्ध हुई अथवा नहीं। यदि योगी को उपर्युक्त अनुभव होते हैं तो संस्कारों की दग्धबीजभाव अवस्था प्राप्त हो गई है यदि इन अनुभवों से विपरीत अनुभव होते हैं तो दग्धबीज–भाव अवस्था प्राप्त नहीं हुई है ऐसा जानना चाहिए। समाधि अवस्था में अमुक–अमुक अनुभव होते हैं । इससे यह बात भी ज्ञात हो जाती है कि योगाभ्यासी की समाधि सिद्ध हुई वा नहीं । यदि ये अनुभव होते हैं तो समाधि प्राप्त हो गई है, ऐसा समझना चाहिये । यदि इन अनुभवों से विपरीत अनुभव होते हैं तो समाधि प्राप्त नहीं हुई है, ऐसा जानना चाहिये ।

संसार में समाधि के नाम से विविध मान्यतायें प्रचलित हैं । कोई कहता है कि भूमि में गुफा बनाकर लम्बे काल तक बन्द रहना समाधि है । कोई कहता है कि भूखे रहकर मूर्छित होने का नाम समाधि है । कोई कहता है कि श्वासप्रश्वास को रोक लेने का नाम समाधि है इत्यादि निराधार

मान्यतायें लोगों ने बना रखी हैं। इन अनुचित मान्यताओं से संसार की बहुत हानि होती है। इसलिये विशुद्ध समाधि और उससे होने वाले विशुद्ध अनुभवों को जानना चाहिये। इसी से मानव का जीवन सफल होता है, अन्यथा नहीं ॥ २७ ॥

अव० - सिद्धा भवति विवेकख्यातिर्हानोपाय इति। न च सिद्धिरन्तरेण साधनमित्येतदारभ्यते -

अर्थ - सिद्ध की हुई विवेकख्याति 'हानोपाय' है। साधन के बिना सिद्धि नहीं होती है। इसलिये (साधनों को बतलाने वाला सूत्र) कहा जाता है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ - (योग-अङ्ग-अनुष्ठानाद्) मन-वाणी-शरीर से यम-नियम आदि योग के आठ अङ्गों का आचरण करने से (अशुद्धि-क्षये) अशुद्धि का नाश होने पर (ज्ञान-दीप्तिः) ज्ञान का प्रकाश (आविवेकख्यातेः) विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

सूत्रार्थ - मन, वाणी, शरीर से योग के आठों अङ्गों के आचरण से अशुद्धि का नाश होने पर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान का विकास होता है।

व्या० भा० - योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्या विवेकख्यातेः। आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् यथा परशुश्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्।

कति चैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति ? नवैवेत्याह। तद्यथा-

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥ इति ।

तत्रोत्पत्तिकारणं-मनो भवति विज्ञानस्य। स्थितिकारणं-मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं-यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्, विकारकारणं-मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं-धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं-योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोगकारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा - सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्, तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्, तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति।

एवं नव कारणानि। तानि च यथासंभवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति ॥ २८ ॥

व्या० भा० अ० – *(आगे) कहे जाने वाले योग के आठ अङ्ग हैं। उनके अनुष्ठान से पांच पर्वों वाले अशुद्धि रूपी विपर्यय का क्षय = नाश होता है। उसके क्षय होने पर सम्यक् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) की अभिव्यक्ति होती है। और जैसे-जैसे साधन आचरण में लाये जाते हैं वैसे-वैसे अशुद्धि क्षीणता को प्राप्त होती है। और जैसे-जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है वैसे-वैसे क्षीणता के क्रम के अनुसार ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है। वह यह विवृद्धि विवेकख्यातिपर्यन्त अर्थात् गुण एवं पुरुष के स्वरूप के ज्ञान तक प्रकर्षता को अनुभव करती है। योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है जैसे कि परशु (छेद्य लकड़ी के वियोग का कारण होता है)। विवेकख्याति का तो प्राप्ति का कारण है, जैसा कि सुख का कारण धर्म है। योगाङ्गो का अनुष्ठान अन्य प्रकार का कारण नहीं है। अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण और विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है, इससे अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कारण नहीं है।*

शास्त्र में ये कारण कितने होते हैं ? नौ ही हैं ऐसा कहा है। वह जैसे कि – उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व, धृति। इस प्रकार कारण नौ प्रकार से बतलाये हैं। (क्रमशः) उनमें –

(१) मन विज्ञान का उत्पत्तिकारण है। (२) मन की स्थिति का कारण पुरुषार्थता है जैसे कि शरीर की स्थिति का कारण आहार है। (३) अभिव्यक्ति का कारण – जिस प्रकार रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश है उसी प्रकार रूप का ज्ञान (भी) रूप की अभिव्यक्ति का कारण है। (४) मन के विकार का कारण विषयान्तर होना जैसे कि पकाने योग्य पदार्थ का कारण अग्नि (होता है)। (५) ज्ञान का कारण – जैसे कि धूमज्ञान अग्नि के ज्ञान का कारण होता है। (६) प्राप्ति का कारण-योगाङ्गों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है। (७) वियोगकारण-योगाङ्गानुष्ठान ही अशुद्धि के वियोग का कारण है। (८) अन्यत्वकारण – जैसे कि सोने के रूपान्तर का सुवर्णकार कारण होता है। इसी प्रकार एक स्त्री के ज्ञान में मोह का कारण अविद्या, दुःख का कारण द्वेष, सुख का कारण राग और माध्यस्थ (तटस्थता) का कारण तत्त्वज्ञान है। (९) धृतिकारण – इन्द्रियों को धारण करने वाला कारण शरीर है और वे इन्द्रियाँ शरीर को धारण करने में कारण हैं। शरीर को धारण करने में महाभूत कारण हैं। और वे सब एक दूसरे के धारण करने में कारण हैं। तिर्यक् (पशुपक्ष्यादि) मनुष्य और देवता परस्पर एक-दूसरे के निमित्त (सहयोगी) होने से परस्पर धृति के कारण हैं।

इस प्रकार नौ कारण हैं। यथासम्भव उनको अन्य पदार्थों में भी घटाना चाहिये। योगाङ्गों का अनुष्ठान तो दो प्रकार का ही कारण बनता है ॥ २८ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि यमनियमादि योग के आठ अङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर **ज्ञान की प्रवृद्धि विवेकख्यातिपर्यन्त** होती है।

योग के आठ अङ्ग आगे कहे जायेंगे। उन आठ अङ्गों का मन, वचन और शरीर से अनुष्ठान करने से पाँच प्रकार की अविद्या का नाश हो जाता है, और विशुद्ध ज्ञान की अभिव्यक्ति हो

जाती है । इस ज्ञान की वृद्धि का आधार ईश्वर और अपने (विद्या के) संस्कार हैं । जीवात्मा ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है तो ईश्वर उसको विद्या प्रदान करता है । जितने स्तर पर योगाभ्यासी अङ्गों का अनुष्ठान करता है उतने स्तर पर अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होती जाती है । यह ज्ञान की विवृद्धि विवेकख्यातिपर्यन्त पहुँचती है । जिस स्थिति में योगी जीवात्मा, बुद्धि, मन, शरीरादि जड़ पदार्थों का पृथक्-पृथक् स्पष्ट रूप से अनुभव करता है और वह प्राकृतिक पदार्थों की उपासना का परित्याग करके ईश्वर की उपासना करता है, उस स्थिति को विवेकख्याति कहते हैं । व्यासभाष्य में नव प्रकार के कारण गिनाये गये हैं । परन्तु योगाङ्गानुष्ठान दो प्रकार का ही कारण है । यह अशुद्धि अर्थात् अविद्या, अधर्मादि का नाश करता है और विद्या धर्म की प्राप्ति करवाता है ।

(१) उत्पत्ति कारण – मन, ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है । आत्मा मन के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति करता है ।

(२) स्थिति कारण – मन की स्थिति का कारण भोग और अपवर्ग है । जैसा शरीर की स्थिति का कारण आहार है । जब तक भोग और अपवर्ग सिद्ध नहीं होते, तब तक मन विद्यमान रहता है । उनके सिद्ध होने पर प्रलय को प्राप्त हो जाता है । जैसे कि शरीर को आहार मिलने से विद्यमान रहता है और न मिलने पर नष्ट हो जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि जैसे शरीर की स्थिति का कारण आहार है वैसे ही मन की स्थिति का कारण भोगापवर्ग है ।

(३) अभिव्यक्ति कारण – प्रकाश पदार्थ के रूप की अभिव्यक्ति का कारण है । वैसे ही रूपज्ञान भी अभिव्यक्ति का कारण है ।

(४) विकार कारण – मन के विकार का कारण वे अन्य विषय हैं जिन के कारण वह ज्ञेय विषय को छोड़ देता है । जैसे अग्नि चावलादि के पकाने में कारण है । अर्थात् पकाये जाने वाले पदार्थ के विकार का कारण है ।

(५) प्रत्यय कारण – धूमज्ञान, अग्निज्ञान का कारण है ।

(६) प्राप्ति कारण – योगाङ्गानुष्ठान, विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है ।

(७) वियोग कारण – योगाङ्गानुष्ठान, अशुद्धि के वियोग का कारण है ।

(८) अन्यत्व कारण – सुवर्णकार, सुवर्ण के अन्यत्व का कारण है । अर्थात् सुवर्णकार कुण्डल रुचकादि विविध आभूषणों को बनाकर सुवर्ण में अन्यत्व को उत्पन्न कर देता है । इसी प्रकार एक सुन्दर व्यक्ति के विषय में अविद्या मूढत्व में, द्वेष दुःखत्व में, राग सुखत्व में और तत्त्वज्ञान उदासीनता में कारण है ।

(९) धृतिकारण – शरीर, इन्द्रियों के धारण का कारण है और इन्द्रियाँ, शरीर के धारण का कारण हैं । इसी प्रकार से मनुष्य, पशु, पक्षी, औषधी आदि परस्पर एक दूसरे के धारण के कारण हैं । इस प्रकार से नव प्रकार के कारण हैं । इनको यथास्थान समझ लेना चाहिये । अर्थात् जो

कारण जहाँ पर सार्थक सिद्ध होता हो, उसको वहाँ पर कारणरूप में मानना चाहिये । योगाङ्गानुष्ठान तो दो प्रकार का ही कारण है अन्य प्रकार का नहीं ।

इससे यह जानना चाहिये कि अविद्या, अधर्म आदि अशुद्धि को योग के आठ अङ्गों के अनुष्ठान से ही दूर किया जा सकता है, अन्य प्रकार से नहीं । विवेकख्याति की प्राप्ति भी इन्हीं अङ्गों के आचरण से हो सकती है । अष्टाङ्गयोग के आचरण से व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व की लौकिक उन्नति भी होती है और मोक्ष की प्राप्ति भी होती है । इसलिये इन आठ योगाङ्गों का सभी को पालन करना चाहिये ।

शंका – कुछ लोग योग के छः अंग मानते हैं ।

समाधान – **'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः''** ॥ महाभारत शान्तिपर्व ३१७/७ ॥ अर्थात् मनीषिगण वेदों में योग को अष्टगुणी (अष्टाङ्ग = आठ अङ्गों वाला) कहते हैं ॥ २८ ॥

अव० – तत्र योगाङ्गान्यवधार्यन्ते ।

अर्थ – योगाङ्गों का (स्वरूप एवं संख्या द्वारा) अवधारण = निश्चय किया जाता है –

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ – (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयः) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (अष्टौ) ये योग के आठ (अङ्गानि) अङ्ग हैं ।

सूत्रार्थ – यम-नियमादि योग के आठ अङ्ग हैं ।

व्या० भा० – यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ॥ २९ ॥

व्या० भा० अ० – क्रम के अनुसार इनके अनुष्ठान और स्वरूप को कहेंगे ॥ २९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यमनियमादि योग के **आठ अङ्गों के नाम** बतलाये हैं ।

इन आठ अङ्गों में समाधि को भी योग का अङ्ग बतलाया है ।[१] इसका कारण यह है कि योगदर्शन के तीसरे पाद में धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन बतलाया है । इसलिये इस सूत्र में उक्त समाधि, सम्प्रज्ञातसमाधि का अङ्ग है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँच सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं । परन्तु धारणा ध्यान समाधि भी निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग हैं । जिस सम्प्रज्ञात समाधि के ये तीन अन्तरङ्ग साधन हैं । **तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य** ॥ योग० ३/८ ॥ वह सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधि का बहिरङ्ग है । निर्बीज समाधि का अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है । इस प्रकार बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग को समझना चाहिये।

---

१. विशेष जानने के लिये लेखक की पुस्तक **''सरल योग से ईश्वर साक्षात्कार''** पढ़ें ।

योगजिज्ञासुओं को इन आठ अङ्गों का मन, वचन और शरीर से श्रद्धापूर्वक पालन करना चाहिये। इनमें से प्रथम अङ्ग यम का परिवार, समाज, देश और विश्व से अधिक सम्बन्ध रहता है और व्यक्ति से कुछ न्यून सम्बन्ध रहता है । अर्थात् अन्य प्राणियों के साथ इसका विस्तृत व्यवहार होता है और अपने साथ कुछ न्यून व्यवहार होता है । दूसरे अङ्ग नियम का व्यक्ति से अधिक सम्बन्ध रहता है और अन्य प्राणियों से न्यून सम्बन्ध । जैसे–वैरभाव को छोड़कर प्रेम से रहना, इसका सम्बन्ध अन्य प्राणियों से अधिक है और स्वयं से अपेक्षाकृत न्यून है । शरीर, मन आदि की शुद्धि का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक है और अन्य प्राणियों से न्यून। यमों का पालन करना अधिक परिश्रमसाध्य है । नियमों का पालन करना न्यून परिश्रमसाध्य है।

यमनियमों का पालन करना नैतिकता है । इनके पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का निर्माण होता है । इनका पालन न करने से व्यक्ति और समाज दोनों का चरित्र अशुद्ध हो जाता है । इसलिये व्यवहार को शुद्ध करने के लिये और ईश्वरप्राप्ति के लिये इनका श्रद्धापूर्वक आचरण करना चाहिये । आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का सम्बन्ध व्यक्ति से अधिक है और समाज से न्यून । यमनियमों के पालन करने से अन्य अङ्गों का पालन करना सरल होता है । अन्य अङ्गों का पालन करने से यमनियमों का पालन सरल होता है । शुद्ध व्यवहार से उपासना की शुद्धि होती है और शुद्ध उपासना से व्यवहार की शुद्धि होती है । जो व्यक्ति इन दोनों में से किसी एक का ही आचरण करता है उसको सफलता नहीं मिलती ।

कुछ लोगों का यह विचार है कि पहले योग के आसनादि छः ही अङ्ग थे । पश्चात् उनमें यम–नियमों को मिलाकर आठ बनाये गये हैं । यह ठीक नहीं है । प्राचीन काल से ही यमनियम योग के अङ्ग रहे हैं । इसमें कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं –

(१) उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽ एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममव नयामि । अथा न ऽ इन्द्र ऽ इद्विषोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ यजु० ७/२५ ॥

उपयामगृहीतः = यमानां समूहो यामम्, उपगतं च तद्यामं चोपयामम्, उपयामेन गृहीतः उपयामगृहीतः परमेश्वरः असि । हे परमेश्वर ! आप यम और नियमों से ग्रहण करने के योग्य हो।

– महर्षि दयानन्द कृत वेदभाष्य

(२) यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधैः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।। मनु० ४/२०४ ॥

यमों का सेवन नित्य करे, केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों को न करता हुआ और केवल नियमों का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित हो जाता है । इसलिये यम सेवन पूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ।

– महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि

(३) तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ न्याय० ४/२/४६ ॥

उस अपवर्ग की सिद्धि के लिये यमनियमों के द्वारा आत्म संस्कार अर्थात् अधर्म को दूर करना एवं धर्म का आचरण करना चाहिये । योगशास्त्र से अध्यात्मविधि जाननी चाहिये ॥ २९ ॥

अव० - तत्र -

अर्थ - उन में से -

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ - (अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये (यमाः) यम हैं ।

सूत्रार्थ - अहिंसादि ये पाँच यम कहलाते हैं । अर्थात् योगप्राप्ति के ये पाँच आवश्यक कर्त्तव्य हैं ।

व्या० भा० - **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्-स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।**

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे । यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति । एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ ३० ॥

व्या० भा० अ० *- उन (यमों) में से सब प्रकार से सब कालों में समस्त भूतों को पीड़ा न देना 'अहिंसा' है । अगले यम नियम अहिंसामूलक हैं । अर्थात् अहिंसा पर आश्रित हैं । उस (अहिंसा) की सिद्धि के हेतु होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए (शेष यम और नियमों का) प्रतिपादन किया जाता है । उस (अहिंसा) को निर्मल करने के लिए ही अपनाये जाते हैं । और वैसा कहा है - निश्चय ही वह यह ब्राह्मण (योगी) जैसे-जैसे बहुत सारे व्रतों को अपनाना चाहता है वैसे-वैसे असावधानी के कारण होने वाले हिंसा के कारणों से निवृत्त होता हुआ उसी उच्चस्तर की अहिंसा का (आचरण) करता है ।*

जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी और वैसा ही मन में होना 'सत्य' है । जिस प्रकार देखा (प्रत्यक्ष किया), जिस प्रकार अनुमान से जाना और जिस प्रकार सुना उसी प्रकार

वाणी और मन का होना (सत्य है) । अपने ज्ञान को दूसरों में पहुँचाने के लिए कही गई वह वाणी यदि धोखा देने वाली न हो, भ्रान्त न हो, अभिप्राय को व्यक्त करने में असमर्थ न हो (तो वह सत्य है) । यह (वाणी) समस्त प्राणियों के उपकार के लिये प्रवृत्त होती है, प्राणियों के अपकार के लिए नहीं । और यदि (उपकार के लिए) कही जाती हुई प्राणियों के अपकार (पीड़ा) के लिए होवे तो वह सत्य न होवे, पाप ही होवे । उस पुण्य के समान दीखने वाले अपुण्य से अत्यन्त दुःख प्राप्त होवे । इसलिए परीक्षण करके समस्त प्राणियों के लिए हितकर सत्य को बोले ।

अशास्त्रीय अर्थात् अवैधरूप से दूसरों के पदार्थों को लेना 'स्तेय' है । उसका प्रतिषेध अर्थात् उसको छोड़ना, अभिलाषा न करना 'अस्तेय' है ।

गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम 'ब्रह्मचर्य' है । अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोषों के दीखने से विषयों को स्वीकार न करना 'अपरिग्रह' है । ये यम हैं ॥ ३० ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **अहिंसादि पाँच यमों का कथन** है ।

अहिंसा – सर्वथा सर्वदा सभी प्राणियों के साथ वैरभाव को छोड़कर प्रीति से वर्त्तना, अहिंसा है । यदि किसी व्यक्ति को चोरी आदि अशुभ कर्म करने पर उसके सुधार के लिये और अन्यों के उपकार के लिये प्रेमपूर्वक उचित दण्ड दिया जाय तो वह अहिंसा है, हिंसा नहीं । माता, पिता, आचार्य आदि बालक-बालिकाओं को दोषों से दूर करने के लिये और उनको गुणवान् बनाने के लिये प्रेमपूर्वक उनको उचित दण्ड देते हैं तो वह हिंसा नहीं, अहिंसा है । इसी प्रकार से अहिंसा के विषय में सर्वत्र जानना चाहिये । अहिंसा का पालन करने से व्यक्ति अपने सूक्ष्म दोषों को जानने में और उनको दूर करने में समर्थ हो जाता है ।

सत्य – जैसा देखा हो, अनुमान से जाना हो और सुना हो, वैसा ही मन और वाणी में होना सत्य है । ऐसा भी कह सकते हैं कि जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना, मानना, बोलना और शरीर से उसको आचरण में लाना, सत्य है । यदि सत्य बोलने से सुनने वाला लाभ नहीं उठाता तो वहाँ पर मौन रहना ही उत्तम है । इसलिये जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानना, मानना, हितार्थ बोलना और आचरण में लाना, सत्य है । सत्य को परीक्षापूर्वक जानना और उसका सर्व हितार्थ ही प्रयोग करना, सत्य है । वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानना, मानना, बोलना, आचरण में लाना, असत्य है । परन्तु हित के नाम से सत्य के स्थान में असत्य का आचरण करना सत्य नहीं है ।

अस्तेय – मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग करके उत्तम कार्यों में तन, मन, धन से सहायता करना, अस्तेय है । केवल चोरी को छोड़ देना ही अस्तेय नहीं है ।

ब्रह्मचर्य – वेदों को पढ़ना, ईश्वरोपासना करना और वीर्य की रक्षा करना, ब्रह्मचर्य है ।

अपरिग्रह – विषयों में उपार्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोष देखकर विषयभोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना, अपरिग्रह है । इसको इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि हानिकारक, अनावश्यक वस्तु और अभिमानादि हानिकारक, अनावश्यक अशुभ विचारों को त्याग देना, अपरिग्रह है । जो–जो वस्तु और विचार ईश्वर प्राप्ति में बाधक हैं उन सबका परित्याग और जो–जो वस्तु, विचार ईश्वर प्राप्ति में साधन हैं उनका ग्रहण करना, अपरिग्रह है ।

यमों के विषय में वेद में उपदेश है –

(१) दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

॥ यजु० ३६/१८ ॥

अर्थ – हे (दृते) अविद्यारूपी अन्धकार के निवारक जगदीश्वर वा विद्वन् ! जिससे (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (मा) मुझको (सम्, ईक्षन्ताम्) सम्यक् देखें (अहम्) मैं (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (सर्वाणि, भूतानि) सब प्राणियों को (समीक्षे) सम्यक् देखूँ, इस प्रकार सब हम लोग परस्पर (मित्रस्य) मित्र की (चक्षुषा) दृष्टि से (समीक्षामहे) देखें, इस विषय में हमको (दृꣳह) दृढ़ कीजिये ।

– महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य

(२) अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजु० १/५ ॥

अर्थ – हे (व्रतपते !) सत्यभाषणादि व्रतों के पालक ! (अग्ने !) सत्य धर्म के उपदेशक ईश्वर ! (अहम्) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा वाला मैं जो (इदम्) इस सत्यव्रत को (अवृतात्) मिथ्या भाषण, मिथ्या आचरण, मिथ्या बात को मानने से अलग होकर (सत्यम्) जो वेद–विद्या, प्रत्यक्षादि प्रमाणों, सृष्टिक्रम, विद्वानों का संग, श्रेष्ठ विचार और आत्म–शुद्धि के द्वारा जो भ्रान्ति से रहित, सबका हितकारक, तत्त्वनिष्ठ, सत्प्रभव है और जो अच्छी प्रकार परीक्षा करके निश्चय किया जाता है, जो (व्रतम्) सत्यभाषण, सत्याचरण, सत्य मानना रूप व्रत है, उसका (चरिष्यामि) पालन करूँगा, (तत् मे) मेरे उस व्रत का अनुष्ठान और पूरा होना, आपकी कृपा से (राध्यताम्) सिद्ध हो । जिस (उपैमि) जानने, प्राप्त करने और आचरण में लाने के लिए (शकेयम्) समर्थ होऊँ, (तत्) वह व्रत भी सब आपकी कृपा से (राध्यताम्) सिद्ध होवे ।

– महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य

(३) ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ यजु० ४०/१ ॥

हे मनुष्य ! तू (यत्) जो (इदम्) प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्य्यन्त (सर्वम्) सब (जगत्याम्) प्राप्त होने योग्य सृष्टि में (जगत्) चरप्राणिमात्र (ईशा) संपूर्ण ऐश्वर्य से युक्त सर्वशक्तिमान् परमात्मा

से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् सब ओर से व्याप्त होने योग्य है (तेन) उस (त्यक्तेन) त्याग किये हुए जगत् से (भुञ्जीथाः) पदार्थों के भोगने का अनुभव कर (किंच) किन्तु (कस्य, स्वित्) किसी के भी (धनम्) वस्तुमात्र की (मा) मत (गृधः) अभिलाषा कर ।

- महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेदभाष्य

(४) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ।। अथर्व० ११/५/१९ ।।

अर्थ - (देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण, तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (मृत्युम्) मौत को (अपाघ्नत) मार डालते हैं । (इन्द्र) परमेश्वर व आत्मा (ह) भी निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (देवेभ्यः) देवों के लिए (स्वः) सुख व तेज को (आभरत्) लाता है, प्राप्त करता है ।

- आचार्य अभयदेव कृत वैदिक विनय

(५) शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । अथर्व० ३/२४/५ ।।

अर्थ - सौ हाथों से कमाओ और हज़ार हाथों से दान करो ।

अव० - ते तु -

अर्थ - वे यम तो -

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।। ३१ ।।

शब्दार्थ - (जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः) जाति = मनुष्य, पशु आदि । देश = पुण्य स्थल । काल = पर्व, अमावस्यादि तिथियाँ । समय = नियम विशेष । इन से (अनवच्छिन्नाः) अबाधित (सार्वभौमाः) सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य (महाव्रतम्) महाव्रत हैं ।

सूत्रार्थ - जाति, स्थान, काल, नियम विशेष । इन सबसे अबाधित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य अहिंसा आदि महाव्रत हैं ।

व्या० भा० - **तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना-मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशावच्छिन्ना-न तीर्थे हनिष्यामीति । सैव कालावच्छिन्ना-न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति । सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति । यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति । एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना । अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः । सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ।। ३१ ।।**

व्या० भा० अ० *- उनमें से जाति से सीमित अहिंसा का स्वरूप-मछली को मारने वाले की मछलियों में ही हिंसा होती है, अन्यत्र नहीं । वही देश से सीमित - जैसे कि तीर्थ में नहीं*

मारूँगा । वही काल से सीमित-जैसे कि चतुर्दशी के दिन, पुण्य दिन नहीं मारूँगा । वही इन तीनों से पृथक् अर्थात् जाति, देश, काल से सीमित न होकर भी समय (किसी नियम) से सीमित जैसे कि देवों एवं ब्राह्मणों के लिये मारूँगा, अन्य प्रकार से नहीं । जैसे कि क्षत्रियों की युद्ध में ही हिंसा होती है, अन्यत्र नहीं । इन जाति, देश, काल, समयों की सीमाओं से रहित अहिंसादि सब प्रकार से आचरण करने योग्य हैं । सभी भूमियों में सब विषयों में सब प्रकार से अव्यभिचरित 'सार्वभौम महाव्रत' कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में सार्वभौम रूप में **यमों के पालन करने का कथन** है ।

किसी जाति, देश, काल और किसी के द्वारा अपने अनुकूल बनाये नियम से इन यमों को सीमित नहीं किया जा सकता है । सर्वत्र भूगोल में, सभी विषयों में, सब प्रकार से मन, वचन, शरीर से इनका पालन करना महाव्रत कहा जाता है ।

जाति से सीमित अहिंसा – जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं केवल मछली को ही मारुँगा, अन्य प्राणियों को नहीं । यह मेरी अहिंसा है ।

देश से सीमित अहिंसा – जैसे कोई यह कहे कि मैं पुण्य स्थान पर हिंसा नहीं करूँगा, अन्यत्र करूँगा, यह मेरी अहिंसा है ।

काल से सीमित अहिंसा – जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं अमावस्यादि पर्व के दिन हिंसा नहीं करूँगा, अन्य दिनों में करूँगा, यह मेरी अहिंसा है ।

समय से सीमित अहिंसा – जैसे कोई व्यक्ति अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये नियम बना लेवे कि अमुक अवसर पर ही हिंसा करूँगा, इससे भिन्न अवसर पर नहीं । यह मेरी अहिंसा है । इस प्रकार से जाति, देश, काल, समय के द्वारा इन पाँच यमों को सीमित नहीं बनाया जा सकता ।

संसार में एक 'आदर्शवाद' और दूसरा 'अवसरवाद' है । इन दोनों वादों का परस्पर संघर्ष चलता रहता है । आदर्शवादी कहता है कि सदा मन, वचन, शरीर से सत्य का ही आचरण करना चाहिये, असत्य का नहीं । अवसरवादी कहता है कि जहाँ जहाँ पर प्राणों की रक्षा होती हो और लाभ होता हो वहाँ-वहाँ पर असत्य का आचरण करना चाहिये । वास्तविकता यह है कि आदर्शवाद से ही लौकिक सुख और मोक्ष सुख की सिद्धि होती है और अवसरवाद से इन दोनों प्रकार के सुखों का नाश और दु:ख की प्राप्ति होती है । इसलिये वेद में ईश्वर ने असत्य में अश्रद्धा और सत्य में श्रद्धा रखने का उपदेश किया है –

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा ꣳ सत्ये प्रजापतिः ।

॥ यजु० १९-७७ ॥

भावार्थ – जो (प्रजापतिः) प्रजापति परमात्मा (सत्यानृते) सत्य और असत् जो (रूपे) निरूपित किये गए हैं उनको (दृष्ट्वा) ज्ञान दृष्टि से देखकर (व्याकरोत्) विविध प्रकार से उपदेश करता है जो (अनृते) मिथ्याभाषणादि में (अश्रद्धाम्) अप्रीति को (अदधात्) धारण कराता और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) प्रीति को धारण कराता है, वह सब के लिये उपासनीय है ।

इस वर्त्तमान काल में आदर्शवादी व्यक्तियों की अत्यधिक न्यूनता होने से और अवसरवादियों की अत्यधिकता होने से आदर्शवाद हेय = त्याज्य और अवसरवाद ग्राह्य मान लिया गया है । इस मान्यता के कारण ही आदर्शवादी का अपमान और अवसरवादी का सम्मान किया जाता है । इससे आदर्शवादी व्यक्ति न्यून होते जाते हैं । इसका परिणाम अज्ञान, अधर्म, दु:ख की वृद्धि और विद्या, धर्म, सुख का विनाश होता जा रहा है । प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि मेरा दु:ख और उसके कारण दूर हो जायें तथा मुझे सुख और सुख के साधन प्राप्त हो जायें । इन चारों विषयों में कहीं भी किसी का भी मतभेद नहीं है । परन्तु आदर्शवाद के ग्रहण और अवसरवाद के परित्याग के बिना ये चारों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकते । विशुद्ध योगानुष्ठान से ही आदर्शवाद की स्थापना हो सकती है और अवसरवाद का परित्याग हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ३१ ॥

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ – (शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (नियमाः) ये नियम हैं ।

सूत्रार्थ – शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।

व्या० भा० – तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् । आभ्यन्तरं चित्तमला-नामाक्षालनम् । संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा । तपो द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च । व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् ।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी ॥

यत्रेदमुक्तं-ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (१।२९) इति ॥ ३२ ॥

व्या० भा० अ० *– उनमें से 'शौच' – मिट्टी, जल आदि से होने वाला और पवित्र भोजन आदि बाह्य (शौच) हैं । चित्त के मलों को दूर करना आभ्यन्तर (शौच) है । 'सन्तोष' – अपने पास में विद्यमान साधन से अधिक (साधन) को ग्रहण करने की अनिच्छा। 'तप' – द्वन्द्वों को सहना । और द्वन्द्व भूख प्यास, शीतोष्ण, खड़ा होना बैठना, काष्ठ मौन (लकड़ी के समान मौन)*

आकार मौन (मुख से कुछ न बोलना) और अनुकूलता के अनुसार व्रत कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपनादि[1] तप कहलाते हैं । 'स्वाध्याय' - मोक्ष (के उपदेश करने वाले) शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव (ओम्) का जप। 'ईश्वरप्रणिधान' - सब कर्मों को उस परमगुरु (परमेश्वर) में अर्पित करना । शय्या वा आसन पर स्थित अथवा मार्ग पर चलता हुआ आत्मनिष्ठ, वितर्क जाल से रहित, संसार के बीजरूपी अविद्या के क्षय को देखता हुआ नित्यमुक्त, अमृत भोगने वाला होता है । जिसके प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि ''उस (ईश्वरप्रणिधान) से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान, ईश्वरसाक्षात्कार और अन्तरायों का अभाव होता है'' ॥ ३२ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **पाँच नियमों का कथन** किया है ।

शौच - शौच अर्थात् शुद्धि । शुद्धि दो प्रकार की है । एक बाह्य और दूसरी आन्तरिक । शरीर, वस्त्र, स्थान, पात्र, भोजन आदि को शुद्ध रखना और धन, सम्पत्ति को न्यायपूर्वक उपार्जित करना बाहर की शुद्धि है । अविद्या, मिथ्याभिमान, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को दूर करना आन्तरिक शुद्धि है । बाहर की शुद्धि न्यून परिश्रम साध्य है और आन्तरिक शुद्धि अधिक परिश्रम साध्य है । बाहर की शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि करने में अधिक प्रयत्न करना चाहिये ।

सन्तोष - सम्पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् जो भी उपलब्धि हो, उसी में सन्तुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना, सन्तोष है ।

तप - धर्माचरण करते हुवे हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि को शान्त चित्त से सहन करना, तप है । जिन उत्तम कार्यों के करने से स्वयं का और अन्यों का दुःख दूर होता है और सुख की प्राप्ति होती है उनको करते रहना और न छोड़ना, धर्माचरण है ।

स्वाध्याय - वेद और वेदानुकूल मोक्ष के स्वरूप को एवं उसके साधन, बाधकों को बतलाने वाले ग्रन्थों को पढ़ना-पढ़ाना और ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले मन्त्रों एवं प्रणव आदि का अर्थसहित जप करना, स्वाध्याय है ।

ईश्वरप्रणिधान - समस्त विद्याओं को देने वाले परमगुरु ईश्वर में समस्त कर्मों को समर्पित कर देना, उसकी भक्ति करना, व्यवहार में उसके आदेशों का पालन करना, शरीर आदि पदार्थों को उसके मानकर धर्माचरण करना, कर्मों का लौकिक फल न चाहना, ईश्वरसाक्षात्कार को ही लक्ष्य

---

१. मनुस्मृति में 'चान्द्रायण व्रत' का वर्णन निम्न प्रकार से है -

एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णो शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ मनु० ११/२१६.

अर्थ - दिन (प्रातः, मध्याह्न व सायं) तीन बार स्नान करके कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाता जाये और फिर शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास बढ़ाता जाये । इस प्रकार १५ दिन तक भोजन कम करते-करते फिर १५ दिन तक क्रमशः ग्रासों को बढ़ाने से **चान्द्रायण-व्रत** कहलाता है ।

बनाकर कार्यों को करना, ईश्वरप्रणिधान है । मोक्षप्राप्ति का ईश्वरप्रणिधान विशेष साधन है। इसका पहले उल्लेख कर दिया है । ईश्वरप्रणिधान को अच्छे प्रकार से जानकर तदनुसार आचरण करने से ईश्वर सहायता देता है । जिससे शीघ्र ही समाधि की सिद्धि और विघ्नों का निराकरण हो जाता है । योगदर्शनकार ने प्रथम पाद के २८ वें सूत्र **(ततः प्रत्यक्चेतना.....)** में ईश्वरप्रणिधान का फल बतलाया है कि इससे ईश्वर एवं जीवात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार और विघ्न तथा उपविघ्नों का नाश होता है ॥ ३२ ॥

अव० - एतेषां यमनियमानाम् -

अर्थ - इन यमनियमों के -

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ - (वितर्क-बाधने) वितर्कों से बाधा उपस्थित होने पर (प्रतिपक्ष-भावनम्) विरुद्ध पक्ष का विचार करना चाहिये ।

सूत्रार्थ - यम-नियमों के पालन में वितर्कों द्वारा बाधा उपस्थित होने पर विरुद्ध पक्ष का विचार करना चाहिये । अर्थात् यम-नियम के भङ्ग होने से बहुत बड़ी हानि होती है ऐसा मानकर उन वितर्कों को रोक देना चाहिये ।

व्या० भा० - यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्का जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि, द्रव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति । एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत्-''घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः । स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेने''ति भावयेत् । यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इत्येवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम् ॥ ३३ ॥

व्या० भा० अ० *- जिस समय इस ब्राह्मण (योगी) को हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न होवें कि मैं अपकारी की हत्या करूँगा, असत्य भी बोलूँगा, इसके द्रव्य को लूँगा (अपहरण करुँगा), इसकी स्त्री के साथ अनाचार करूँगा, इसके परिग्रह (सञ्चित धन) पर अधिकार करुँगा । इस प्रकार अति तीव्र कुमार्गोन्मुख वितर्क ज्वर के द्वारा पीड़ित होने पर उसके प्रतिपक्षों की (अर्थात् प्रतिकूल विचारों की) भावना करे । जैसे कि ''घोर संसाररूपी अङ्गारों मे झुलसते हुए मैंने सब प्राणियों को अभयदान कर योगधर्म की शरण ली है । वही मैं वितर्कों को त्याग कर पुनः उनको ग्रहण करता हुआ कुत्ते के समान व्यवहार करने वाला हो गया हूँ ।'' जिस प्रकार कुत्ता वमन किए को ग्रहण करने वाला होता है, उसी प्रकार (मैं) छोड़े हुए को पुनः ग्रहण करने वाला हूँ । इसी प्रकार अन्य सूत्रों में कहे हुए साधनों में वितर्कों के उठने पर प्रतिपक्ष की भावना जाननी चाहिये ॥ ३३ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में वितर्कों से बाधित होने पर साधक को **प्रतिपक्ष भावना का निर्देश** है ।

जब योगाभ्यासी के मन में अहिंसादि व्रतों के विरुद्ध हिंसा आदि करने की तीव्र इच्छा हो अर्थात् वह इन अहिंसादि के विरुद्ध हिंसा आदि का आचरण करने का विचार करने लग जाय कि ''मैं हिंसा करूँगा, क्योंकि इस व्यक्ति ने मेरी हानि की है।'' इसी प्रकार सत्य को छोड़कर असत्य आचरण करने का विचार करे कि ''मैं असत्य बोलूँगा।'' ऐसी स्थिति में वह प्रतिपक्ष भावना करे कि काम, क्रोध, लोभ आदि के द्वारा उत्पन्न क्लेशों से सन्तप्त होते हुए मैंने योग की शरण ली है। पुनः उन्ही भयंकर शत्रुओं को ग्रहण कर रहा हूँ। यह मेरा आचरण कुत्ते के समान है। जैसे कुत्ता मांस आदि को खाकर पेट भर लेता है और उसका वमन करके पुनः उसी को खा लेता है। वैसा ही मैं भी हूँ। ऐसी **प्रतिपक्ष भावना** को उत्पन्न करे।

जन्म-जन्मान्तरों के अशुभ संस्कार अत्यन्त बलवान् होते हैं। उनको सूक्ष्मता से जानकर दीर्घकाल पर्यन्त दूर करने का प्रयास करते रहना चाहिये। योगाभ्यासी को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। यदि वह असावधान रहता है तो तत्काल वितर्क उग्ररूप में उभर आते हैं। प्रथम अपने दोषों को दूर करने का प्रयास अधिक करना चाहिये और दूसरों के दोषों को देखने का अभ्यास न्यून करना चाहिये। काम, क्रोध आदि दोषों से न प्रेम करना चाहिए और न ही उनको छोटा जानना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वे प्रबल होकर आक्रमण करते हैं। समाधि भङ्ग होने पर साधक को वितर्क बाधित करते हैं। यदि साधक सावधान रहता है तो तत्काल ही इनको रोक देता है यदि इनको तत्काल नहीं रोकता तो ये बलवान् हो जाते हैं, ऐसी अवस्था में इनको दूर करना कठिन होता है। परन्तु योगाभ्यासी को सदा यह जानना चाहिये कि हिंसादि दोषों को मन के द्वारा मैं ही उठाता हूँ। ये स्वयं नहीं उठ सकते। ऐसा जानने से और इनके निराकरण के लिये प्रयत्न करने से इनका उग्ररूप दूर हो सकता है।

यदि साधक यह मानता है कि मन चेतन पदार्थ है, वह ही इन दोषों को उठाता है तो मैं क्या कर सकता हूँ? ऐसी स्थिति में इन दोषों को रोकना कठिन है। असावधानी एवं कुसंस्कारों के कारण व्यक्ति वितर्कों को उठा लेता है और उनको रोकने का प्रयास भी करता है पुनरपि वे नहीं रुकते तो तत्काल ईश्वरोपासना प्रारम्भ कर देनी चाहिये। उससे इनको हटाने में सफलता मिलेगी। मृत्यु का स्मरण भी वितर्कों को रोकने का एक उपाय है। जैसे कि यह शरीर नाशवान् है, मृत्यु के मुख में है, पता नहीं यह किस क्षण समाप्त हो जाए। इस प्रकार मृत्यु को स्मरण करने से काम, क्रोधादि वितर्क रुक जाते हैं।

शब्दप्रमाण भी वितर्कों को रोकने का एक उपाय है। शब्दप्रमाण को स्मरण रखना चाहिए। जब वितर्क सन्तप्त करें तो शब्दप्रमाण को सत्य मानकर वितर्कों को रोक देना चाहिये। अर्थात् शब्दप्रमाण में जो बात कही है, वह सत्य है और मैं जो मानता हूँ कि विषयभोगों में सुख है, यह असत्य है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर वितर्क उभरते हैं वहाँ-वहाँ शब्दप्रमाण को सत्य मानकर रोक देना चाहिये। वेद में वितर्कों के विनाश का उपदेश है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ अथर्ववेद ८/४/२२ ॥

भावार्थ – हे इन्द्र ! तू उल्लू की चाल वाले (रात्रि में घूमने वाले) को, भेड़िये की चाल वाले (क्रोधी) को, कुत्ते की चाल वाले (परस्पर झगड़ने वाले) को, चिड़िया के समान चाल वाले (कामी) को, बाज के समान चाल वाले (आक्रमणकारी) को, गृध्र के समान चाल वाले (लोभी) को पत्थर से पीसने के समान मार डाल । राक्षसों को मार दे ॥ ३३ ॥

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ – (वितर्काः) वितर्क हैं (हिंसा-आदयः) हिंसा आदि [यम-नियमों के विरोधी भाव] (कृत-कारित-अनुमोदिताः) स्वयं किये हुये, दूसरों से करवाये हुये और समर्थन किये हुये (लोभ-क्रोध-मोहपूर्वकाः) लोभ-क्रोध-मोह कारण वाले (मृदु-मध्य-अधिमात्रा) मंद, मध्य और तीव्र भेद वाले (दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः) अत्यधिक दुःख और अत्यधिक अज्ञान फल वाले (इति) इस प्रकार (प्रतिपक्ष-भावनम्) प्रतिपक्ष का विचार करे अर्थात् दूर रहने का प्रयत्न करे ।

सूत्रार्थ – यम-नियम के विरोधी भाव 'वितर्क' कहलाते हैं जो कि स्वयं किये हुये, दूसरों से करवाये हुये और अनुमोदन किये हुये तीन प्रकार के होते हैं । ये तीनों ही लोभ, क्रोध और मोह कारण वाले होते हैं । मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद वाले होते हैं । इनका फल अत्यधिक दुःख और अत्यधिक अज्ञान होता है । इस प्रकार प्रतिपक्ष का विचार कर इनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

व्या० भा० – तत्र हिंसा तावत्-कृतकारितानुमोदितेति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति । लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति । एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः । मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः– मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति । तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति । तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधि-मात्रतीव्र इति । एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति । सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राण-भृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् ।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्, दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम् । तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति । ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्न-रकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति । यदि च कथञ्चित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम् । एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन् न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत ॥ ३४ ॥

व्या० भा० अ० *- उन में से हिंसा - की गई, करवायी गई और अनुमोदित की गई इस प्रकार त्रिविध है । इन में से एक एक फिर तीन प्रकार की है । जैसे कि मांस चर्म के लिए की हुई (हिंसा अर्थात्) लोभ से । इसने अपकार किया (इस भावना से की हुई हिंसा) अर्थात् क्रोध से । (इस हिंसा से) मुझे धर्म (पुण्य) मिलेगा (ऐसी भावना से की हुयी हिंसा) अर्थात् मोह से। लोभ, क्रोध, मोह भी मृदु (मन्द), मध्य (पहले से अधिक), अधिमात्र (सबसे अधिक) ऐसे तीन-तीन प्रकार के होते हैं । इस प्रकार हिंसा के सत्ताईस भेद होते हैं । ये मृदु, मध्य, अधिमात्र फिर तीन-तीन प्रकार के होते हैं जैसे कि मृदुमृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु । इसी प्रकार मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्र मध्य (और) मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र । इस प्रकार हिंसा इक्यासी भेद वाली होती है । फिर वह (हिंसा) नियम, विकल्प, समुच्चय भेद से प्राणधारियों के प्रकार अगणित होने के कारण असङ्ख्य भेद वाली होती है । इस प्रकार असत्यादि वितर्कों में भी (भेदों को) समझ लेना चाहिए ।*

''वे ये वितर्क दुःख, अज्ञानरूपी अनन्त फल वाले होते हैं'', इस प्रकार जानकर (वितर्क विरोधी) भावना करनी चाहिए । दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फल हैं जिन-जिन हिंसादि वितर्कों के (ऐसा समझकर) वितर्कों के विरुद्ध (अहिंसा आदि) प्रतिपक्षों की भावना करनी चाहिए। और (अब वितर्कों के विरुद्ध प्रतिपक्ष भावना के स्वरूप को बतलाते हैं) जैसे कि-और उसी प्रकार हिंसक प्रथम वध्य (प्राणी) के बल को अवरुद्ध करता है । पश्चात् शस्त्रादि के प्रहार के द्वारा दुःखी करता है । आगे जीवन से भी वियुक्त कर देता है । उस (पशु) के बल के अवरुद्ध करने से (हिंसक) के चेतन-अचेतन साधन निर्बल हो जाते हैं । दुःख उत्पन्न करने से हिंसक नरक दुःखदायी = (पशु, पक्षी आदि), तिर्यक् = (कीड़े, मकोड़े आदि) के तथा मृतक शरीरों में (कीट के रूप में जन्म लेकर) दुःख-अनुभव करता है । जीवन से वियुक्त करने से क्षण-क्षण जीवन की मरणासन्न अवस्था में वर्तमान, मरण को चाहता हुआ भी दुःखफल निश्चितरूप से भोग्य होने के कारण केवल किसी प्रकार श्वास लेता है । और यदि वह हिंसा (हिंसक के) पुण्य के साथ मिलकर फल देवे, तो उस हिंसक को सुख प्राप्ति होने पर वह (हिंसक) अल्पायु होता है । इसी प्रकार असत्य आदि में भी यथा सम्भव योजना कर लेनी चाहिए । इस प्रकार (हिंसादि) वितर्कों का अनुगमन करने वाले अनिष्ट फल को जानता हुआ वितर्कों में मन को न लगावे ॥ ३४ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **वितर्कों के विषय में प्रतिपक्ष भावना** का निर्देश है ।

वितर्कों में से हिंसा के विषय में इस प्रकार से समझना चाहिए कि हिंसा के तीन प्रकार हैं - कृत (= स्वयं की हुई), कारित (= अन्य से करवाई हुई) और अनुमोदित (= किसी के द्वारा की गई हिंसा को उचित मानना) । लोभ, क्रोध और मोह, ये हिंसा के तीन कारण हैं । लोभ से कृत, लोभ से कारित, लोभ से अनुमोदित । इसी प्रकार से क्रोध से कृत, कारित, अनुमोदित। मोह से कृत, कारित, अनुमोदित । ये ९ भेद हुए । कारणों के स्तर के भेद से हिंसा तीन प्रकार की होती है - अल्पलोभ से, मध्यम स्तर के लोभ से, अधिक लोभ से की हुई हिंसा । अल्प

क्रोध से, मध्यम स्तर के क्रोध से और अधिक क्रोध से की गई हिंसा । अल्प मोह से, मध्यम स्तर के मोह से और अधिक मोह से की गई हिंसा । इस प्रकार से कारणों के भेद से कृत हिंसा के ९ भेद हो जायेंगे । इसी प्रकार कृत तथा कारित हिंसा के ९-९ होने पर २७ प्रकार की हिंसा हुई । पुनः इन के भी मृदु, मध्य, अधिमात्र भेद होने से हिंसा ८१ प्रकार की होती है । हिंसा करने वालों के विचार तीन प्रकार के हो सकते हैं –

(१) **नियम** – एक ही प्राणी = मछली की हिंसा करूँगा,

(२) **विकल्प** – मछली या बकरी, किसी एक की हिंसा करूँगा ।

(३) **समुच्चय** – जो भी प्राणी मिले, उसकी हिंसा करूँगा ।

इस प्रकार असंख्य प्राणी होने के कारण हिंसा असंख्य प्रकार की हो सकती है । इसी प्रकार से असत्य आदि के विषय में भी जानना चाहिये । योगाभ्यासी को इन वितर्कों के विषय में इस प्रकार से विचार करना चाहिये कि यदि मैं इन वितर्कों के अनुसार आचरण करूँगा तो इनका फल पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि विविध योनियों में दीर्घकाल पर्यन्त अज्ञान में रहकर महादुःख भोगना पड़ेगा । इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना के विचारों से हिंसादि दुष्ट कर्मों से योगी बच जाता है ।

अहिंसादि कर्मों को शुभ और हिंसा आदि कर्मों को अशुभ कहा है । इसलिये अशुभ और शुभ कर्मों का निर्णय करना चाहिये । क्योंकि कोई व्यक्ति किसी कर्म को शुभ कहता है तो दूसरा व्यक्ति उसी कर्म को अशुभ कहता है । इस प्रकार से प्रमाणों से शुभाशुभ का निर्णय कर लेना चाहिये । इसके बिना अहिंसादि का पालन और हिंसादि का परित्याग नहीं हो सकता । जो कर्म प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दप्रमाण से सब के लिये सुखप्रद सिद्ध होता है वह शुभ कर्म है और जो कर्म सबके लिये दुःखप्रद सिद्ध होता है वह अशुभ कर्म है । इसको यूँ भी कह सकते हैं कि जिस कार्य को करने का आदेश ईश्वर ने दिया है, वह शुभ कर्म है । और जिस कर्म का ईश्वर ने निषेध किया है, वह अशुभ कर्म है । ईश्वर का निर्णय अन्तिम इसलिये माना जाता है कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप होने से अन्याय कभी भी नहीं करता ।

ईश्वर ने वेद में उपदेश किया है कि सभी प्राणी परस्पर मित्रता का व्यवहार करें । असत्य का परित्याग और सत्य का आचरण करें । उपरोक्त कर्म सबके लिये हितकारी होने से शुभकर्म हैं । इसके विपरीत अशुभ कर्म हैं । जब व्यक्ति यह मान लेता है कि ईश्वर शुभ कर्मों का सुख फल और अशुभ कर्मों का दुःख फल अवश्य ही देता है । तब वह अशुभ कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों को अवश्य ही करता है । इस मान्यता के आधार पर हिंसा आदि अशुभ कर्मों का परित्याग करना सरल हो जाता है । जब व्यक्ति हिंसा आदि अशुभ कर्मों को छोड़कर अहिंसा आदि शुभकर्मों को करता है तो उन दोनों प्रकार के कर्मों का परिणाम अनुभव में आता है । उससे अशुभ कर्मों के करने की इच्छा समाप्त होती है और शुभ कर्मों को करने की इच्छा तीव्र हो जाती है । इस प्रकार से वितर्कों को रोकने में सहायता मिलती है ।

कर्मों का फल विभिन्न कालों में मिलता है – **(१) तत्काल (२) कालान्तर में और (३) जन्मान्तर में ।** जन्मान्तर में मिलने वाला फल प्रत्यक्षरूप में ज्ञात नहीं होता इसलिये इस विषय में संशय होता है । इसका निवारण अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण से होता है । शब्द प्रमाण में यह कहा है कि अशुभ कर्मों के करने से पशु आदि योनि और शुभ कर्मों के करने से मनुष्य योनि की प्राप्ति होती है । अनुमान प्रमाण से भी यह बात सिद्ध होती है । मनुष्य के शरीर में जैसे सुख और सुख के साधन हैं वैसे सुख और सुख के साधन पशु, पक्षी आदि योनियों में नहीं हैं । इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य और पशु आदि योनियाँ भिन्न-भिन्न कर्मों का फल है। इस प्रकार से काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि पर विजय प्राप्त की जा सकती है ॥ ३४ ॥

अव० – प्रतिपक्षभावनाहेतोर्हेया वितर्का यदाऽस्य स्युरप्रसवधर्माणस्तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगिनः सिद्धिसूचकं भवति । तद्यथा –

अर्थ – प्रतिपक्ष भावना के कारण जब योगी के त्याज्य वितर्क उत्पन्न नहीं होते हैं तब उस अहिंसा आदि के पालन करने से प्राप्त ऐश्वर्य, सिद्धि का सूचक होता है । जैसा कि वह –

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ – (अहिंसा-प्रतिष्ठायाम्) अहिंसा का आचरण परिपक्व हो जाने पर (तत्-सन्निधौ) सब प्राणियों के प्रति उस योगी का (वैर-त्यागः) वैरभाव छूट जाता है और उसके उपदेश को समझने वाले तथा वैसा आचरण करने वालों का भी यथायोग्य अपने आचरण के अनुसार अन्य प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है ।

सूत्रार्थ – अहिंसा का आचरण परिपक्व हो जाने पर उस योगी का सब प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है और उसके उपदेश को समझने वाले और उसका आचरण करने वाले का भी अपने आचरण के अनुसार अन्य प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है ।

व्या० भा० – सर्वप्राणिनां भवति ॥ ३५ ॥

व्या० भा० अ० – सब प्राणियों का होता है ॥ ३५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **अहिंसा का फल** बताया है । जब योगाभ्यासी शरीर, वाणी और मन से सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव को छोड़कर प्रेम से वर्त्तता है और अभ्यास करते-करते अहिंसा की परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है तब सभी प्राणियों के प्रति उसका वैरभाव नितान्त समाप्त हो जाता है । और जो मनुष्य उस योगी के उपदेश को, जीवन चरित्र को समझते हैं, उसका सङ्ग करते हैं और योगी के आचरण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं उनका भी वैरभाव छूट जाता है । परन्तु योगी के समीप रहने मात्र से किसी का भी वैरभाव नहीं छूटता ।

श्री कृष्ण जी को योगी माना जाता है । उन्होंने दुर्योधन को बार-बार उपदेश देकर युद्ध न करने को कहा । परन्तु श्रीकृष्ण जी की सम्मति मानना तो दूर, बल्कि दुर्योधन ने तो श्रीकृष्ण जी को ही बन्धक बनाने का प्रयत्न किया । इससे ज्ञात होता है कि योगी श्रीकृष्ण जी के प्रति दुर्योधन का वैरभाव नहीं छूटा । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को योगी माना जाता है । उनके ऊपर बार-बार अनेक लोगों ने आक्रमण किये और अन्त में उनका देहावसान ही कर दिया । स्वामी जी के समीप आने मात्र से किसी का भी वैरभाव नहीं छूटा ।

वेद में **युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥** ऋ० १/६/१ ॥ ईश्वर को अरुष = हिंसारहित कहा है और **शन्नो मित्रः................ ॥** यजु० ३६/९ ॥ सबका मित्र भी कहा है। ईश्वर कभी भी किसी भी प्राणी से वैर नहीं करता। सदा समस्त प्राणियों के साथ मित्रता से ही रहता है और ईश्वर सर्वव्यापक है। सभी सदा उसके समीप ही रहते हैं । इस स्थिति में मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, बिच्छु आदि सबका वैरभाव छूट जाना चाहिये था । परन्तु आज तक कभी भी समस्त प्राणियों का वैरभाव नहीं छूटा और न आगे छूटेगा । इसलिये ऐसा अर्थ करना असंगत है।

व्यासभाष्य में लिखा है – ''**सर्वप्राणिनां भवति ।**''

इसका अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य योगी के उपदेश को सुनते हैं, समझते हैं । उसके व्यवहार को देखते हैं और उसके आचरण के अनुसार अपना आचरण बनाते हैं उन सबका आचरणानुसार वैरभाव छूट जाता है ।

श्री व्यास जी योगदर्शन के भाष्यकार महाभारत के युद्धकाल में विद्यमान थे, अनेक लोगों की यह मान्यता है । उनके उपदेश वा संगमात्र से दुर्योधन और उन योद्धाओं का वैरभाव क्यों नहीं छूटा ? इसलिये यह मानना ठीक नहीं कि योगी के समीप रहने मात्र से शेर और बकरी का, सर्प और नेवले का, कौए और उल्लू इत्यादि का योगी के प्रति वैरभाव छूट जाता है और वे सभी परस्पर वैरभाव छोड़कर मित्र बन जाते हैं ।

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान् प्रियान्पाणिने-
र्मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ? ॥ पंचतंत्र मित्रसम्प्राप्ति ३६ ॥

भावार्थ – व्याकरणशास्त्र के कर्त्ता पाणिनि मुनि को सिंह ने मार डाला था । मीमांसा के प्रवर्तक जैमिनि मुनि को सहसा एक हाथी ने कुचल डाला था और छन्दशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल को समुद्र के किनारे किसी ग्राह (मगरमच्छ) ने मार डाला था । अतः यह सिद्ध है कि – अज्ञानी अविवेकी तथा क्रोधी पशुओं को किसी के गुणों से प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? (पशुओं को किसी के गुण से कोई प्रयोजन नहीं होता है) ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ – (सत्य-प्रतिष्ठायाम्) मन, वाणी और शरीर से सत्य आचरण के परिपक्व हो जाने पर (क्रिया–फल–आश्रयत्वम्) योगी का कर्म उत्तम फल वाला होता है और उसके आचरण का प्रभाव अन्य प्राणियों पर भी यथायोग्य पड़ता है ।

सूत्रार्थ – मन, वाणी और शरीर से सत्य आचरण के परिपक्व हो जाने पर योगी का कर्म उत्तमफल वाला हो जाता है और उसके आचरण का प्रभाव अन्य प्राणियों पर भी यथायोग्य पड़ता है ।

व्या० भा० – धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः । स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति । अमोघास्य वाग्भवति ॥ ३६ ॥

व्या० भा० अ० *– ''धार्मिक होओ'' ऐसा कहने पर धार्मिक हो जाता है । ''स्वर्ग (सुख) को प्राप्त करो'' ऐसा कहने पर स्वर्ग (सुख) को प्राप्त करता है । इस योगी की वाणी निष्पाप = यथार्थ = सफल हो जाती है ॥ ३६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **सत्य आचरण के लाभ** बतलाये हैं ।

जब योगाभ्यासी मन, वाणी और शरीर से सत्य पालन करते–करते परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसके द्वारा की गई क्रिया सफल होती है । यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि योगी परीक्षापूर्वक वही बात कहेगा जो सम्भव हो । जो बात असम्भव होगी, उसको योगी नहीं कहेगा और किसी के कहने मात्र से असम्भव कार्य हो भी नहीं सकता । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि योगी जो कुछ भी कह देता है वह पूर्ण हो जाता है । जैसे कि योगी चलते हुए वायु को कह देवे कि हे वायु तू रुक जा, तो वायु रुक जायेगी । यदि अधिक वर्षा से बाढ़ आ गई हो और पुनरपि वर्षा हो रही हो तो योगी के कहने से वर्षा रुक जाती है । ये बातें असंगत हैं ।

व्यास भाष्य में कहा है कि ''तू धार्मिक बन जा'' तो व्यक्ति धार्मिक बन जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि योगी उसी व्यक्ति को ऐसा कहेगा, जो कि धार्मिक बन सकता है । और जो कुसंस्कार व कुसंगति आदि के कारण धार्मिक बन ही नहीं सकता उसको योगी ऐसा नहीं कहेगा । वेदों में सत्यवादी और प्रेम से रहने का उपदेश ईश्वर ने किया है । ईश्वर सदा सत्य ही बोलता है । परन्तु उसको सुनने वाले सभी लोग न सत्यवादी बनते हैं और न सभी मनुष्य प्रेम से रहते हैं । यह बात तो ठीक है कि सत्यवादी व्यक्ति का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है । परन्तु प्रत्येक व्यक्ति पर नहीं पड़ता ॥ ३६ ॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ – (अस्तेय-प्रतिष्ठायाम्) जब योगी मन–वाणी–शरीर से अच्छे प्रकार से चोरी का परित्याग कर देता है तब (सर्व–रत्न–उपस्थानम्) सब उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है ।

अर्थात् जो-जो उत्तम पुरुषार्थ करता है उसका उत्तम फल उसको मिलता है और उसके चोरी के परित्याग करने से अन्य मनुष्य उसको उत्तम पदार्थ देते हैं । ईश्वर की ओर से भी ज्ञान, बल और सुख की प्राप्ति होती है ।

सूत्रार्थ - जब योगी मन-वाणी-शरीर से अच्छे प्रकार से चोरी का परित्याग कर देता है तब सब उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है । अर्थात् उत्तम पुरुषार्थ के अनुकूल फल प्राप्ति, अन्यों से सहायता तथा ईश्वर से ज्ञान, बल और सुख की प्राप्ति होती है ।

व्या० भा० - **सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि ॥ ३७ ॥**

व्या० भा० अ० - इस योगी को सब दिशाओं में स्थित रत्न (उत्तम पदार्थ यथायोग्य) उपस्थित होते हैं ॥ ३७ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **चोरी त्याग का फल** बतलाया है ।

जब योगाभ्यासी मन, वाणी और शरीर से चोरी का नितान्त परित्याग कर देता है तो उसको यथायोग्य उत्तम पदार्थों की उपलब्धि होती है । व्यास भाष्य में अस्तेय का फल रत्नों की प्राप्ति लिखा है । रत्नों का अर्थ है उत्तम पदार्थ । चोरी का परित्याग करने वाला व्यक्ति परिश्रमी होता है इसलिये परिश्रम का फल उत्तम मिलता है । चोरी का त्याग करने वाला व्यक्ति परोपकारी होता है । अतः अन्य लोग भी उसको यथायोग्य उत्तम पदार्थ देते हैं । ईश्वर की आज्ञा का पालन करने से और उसकी उपासना करने से उसको ईश्वर की ओर से विद्या और आनन्द की प्राप्ति होती है। ये उपलब्धियाँ चोरी त्याग से और पुरुषार्थ से होती हैं, केवल चोरी त्यागने मात्र से नहीं । वेद में शुभ कर्म करने का भी विधान है, केवल अशुभ कर्म छोड़ने का नहीं ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥ यजु० ४०/२ ॥

भावार्थ - वेदोक्त शुभ कर्म करते हुए ही सौ और उससे भी अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ - (ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम्) जब योगी मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ बना लेता है तब (वीर्य-लाभः) बौद्धिक और शारीरिक बल की प्राप्ति होती है । इससे वह अपनी तथा अन्यों की रक्षा करने में तथा विद्याप्राप्ति एवं विद्यादान में समर्थ हो जाता है ।

सूत्रार्थ - जब योगी मन, वचन और शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन दृढ़ बना लेता है तब बौद्धिक और शारीरिक बल की प्राप्ति होती है । उससे वह अपनी तथा अन्यों की रक्षा करने में, विद्याप्राप्ति तथा विद्यादान में समर्थ हो जाता है ।

व्या० भा० - यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ॥ ३८ ॥

व्या० भा० अ० - जिसकी प्राप्ति से (योगी अपने) अप्रतिघात = अप्रतिहत-गुणों को बढ़ाता है। स्वयं सिद्धि को प्राप्त हुआ (विनयादिगुणयुक्त) शिष्यों में ज्ञान के आधान में समर्थ होता है ॥ ३८ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **ब्रह्मचर्य का फल** बतलाया है ।

ब्रह्मचर्य के पालन से शारीरिक और बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है । शरीर का बल बढ़ने से शरीर निरोग एवं दीर्घायु होता है, और उत्तम स्वास्थ्य को प्राप्त करता है । बौद्धिक बल के बढ़ने से वह अतिसूक्ष्म विषयों को जानने में और अन्यों को विद्या पढ़ाने में सफल हो जाता है । वेद में कहा है -

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ॥ अथर्ववेद ११/५/१९ ॥

"ब्रह्मचर्य के तप से देव मृत्यु को जीत लेते हैं ।" कुछ लोगों का यह मत है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से व्यक्ति रोगी हो जाता है । परन्तु ऋषियों का मन्तव्य ऐसा नहीं है । ऋषि यह मानते हैं कि आहार, निद्रा, ब्रह्मचर्य ये स्वास्थ्य के आधार हैं । इसलिये इस भ्रान्त धारणा को छोड़ देना चाहिये कि ब्रह्मचर्य के पालन करने से व्यक्ति रोगी हो जाता है । ब्रह्मचर्य के पालन से लौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

"श्री भीष्म जी युधिष्ठिर जी से कहते हैं -

ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप ।
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥ १ ॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ।
बह्वयः कोट्यस्त्वृषीणां ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥ २ ॥
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ ३ ॥

हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन । जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेकर मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥ १ ॥ उसको कोई शुभगुण अप्राप्य नहीं रहता ऐसा तू जान कि जिसके प्रताप से अनेक कोटि ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभगुणस्वभाव-युक्त और रोगरहित पराक्रमयुक्त शरीर, ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्य शास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यासादि कर्म करते हैं वे सब बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति कराने हारे होते और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ॥ ३ ॥"

- व्यवहारभानुः (लेखक - महर्षि दयानन्द सरस्वती) ॥ ३८ ॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ – (अ–परिग्रह–स्थैर्ये) जब योगी हानिकारक तथा अनावश्यक वस्तुओं को तथा हानिकारक एवं अनावश्यक विचारों को दृढ़तापूर्वक त्याग देता है तब (जन्म–कथन्ता–सम्बोधः) वर्त्तमान जन्म में क्या कर रहा हूँ ? शरीर क्या है ? इन्द्रियाँ क्या हैं ? मैं क्या हूँ ? आदि विषयक जिज्ञासा तथा ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार भूत तथा भावी जन्म से सम्बन्धित जिज्ञासा तथा सामान्य आनुमानिक ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ – अपरिग्रह की स्थिरता होने पर भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जन्म से सम्बन्धित जिज्ञासा और आनुमानिक ज्ञान हो जाता है ।

व्या० भा० – अस्य भवति । कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदम्, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते । एता यमस्थैर्ये सिद्धयः ॥ ३९ ॥

व्या० भा० अ० *– इस योगी को (जन्मकथन्ता सम्बोध) होता है । मैं कौन था, मैं कैसा था, यह क्या है, यह कैसे हुआ है, हम कौन होंगे, कैसे होंगे ? इस प्रकार । इस योगी को पूर्वकाल परकाल और मध्यकाल की अपने जन्म विषयक जिज्ञासा स्वतः उदित हो जाती है । ये पूर्वलिखित सिद्धियाँ यम विषयक स्थिरता होने पर उदित होती हैं ॥ ३९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **अपरिग्रह पालन का फल** बतलाया है ।

जब व्यक्ति सांसारिक विषय भोगों में उपार्जन दोष, रक्षण दोष, क्षय दोष, संग दोष और हिंसा दोष देखता है तो उसकी विषय भोग में रुचि नहीं रहती । ऐसी स्थिति में वह अपने जीवन के विषय में विचारना प्रारम्भ करता है कि मैं भूतकाल में कौन था और कैसे था ? यह जीवन क्या है और कैसा है ? आगे भविष्य में हम सभी कैसे होंगे ? भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान जीवन विषयक जिज्ञासा उत्पन्न होती है । इसका परिणाम यह होता है कि आत्मा क्या है, शरीर क्या है, इन्द्रियाँ क्या हैं और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान काल में इनकी क्या–क्या स्थिति रहती है । मेरा कल्याण कैसे हो सकता है और मैं दुःखों से कैसे छूट सकता हूँ इत्यादि विषयों को जानने का प्रयास करता है । विषय भोगों में विविध दुःख देखकर भोगमार्ग को छोड़कर योगमार्ग पर चलने लगता है । इस विषय में दो प्रकार की विचारधारायें हैं । कुछ लोग यह मानते हैं कि योगाभ्यासी व्यक्ति यह जान जाता है कि मेरा पूर्वजन्म में मनुष्य, पशु आदि योनियों में से कौन सा शरीर था। मेरे माता–पिता कौन थे, परिवार में कौन–कौन थे और कितने थे, परिवार किस नगर में था, इन सब बातों को यथावत् जान लेता है । दूसरी विचारधारा यह है कि योगाभ्यासी पूर्व जन्म की उक्त बातों को उक्त प्रकार से नहीं जान सकता ।

पुनर्जन्मों की स्मृति होती है वा नहीं, यह अभी और परीक्षा की अपेक्षा रखता है । इस विषय में योगदर्शन ३।१८ के प्रसङ्ग में लिख दिया है, वहाँ पर देख लेवें । महर्षि दयानन्द सरस्वती जी

ने इस विषय में अपने विचार सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास एवं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पुनर्जन्म विषय में लिखे हैं । वे प्रमाण भी उसी सूत्र के व्याख्यान में लिख दिये हैं, वहीं देख लेवें ॥ ३९ ॥

अव० - नियमेषु वक्ष्यामः -

अर्थ - नियमों में (सिद्धियाँ) कहेंगे ।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ - (शौचात्) बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि के हो जाने पर (स्व-अङ्ग-जुगुप्सा) अपने अङ्गों से घृणा करता है = अनासक्त हो जाता है (परैः) तथा अन्यों के शरीर से भी (अ-संसर्गः) आसक्तिरहित हो जाता है ।

सूत्रार्थ - जब योगी की बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि हो जाती है तब वह अपने शरीर से अनासक्त हो जाता है तथा अन्यों के शरीरों से भी सम्पर्क नहीं रखना चाहता ।

व्या० भा० - स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति । किंच परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मृज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥ ४० ॥

व्या० भा० अ० *- अपने शरीर में जुगुप्सा = घृणा होने पर शौच का पालन करने वाला, शरीर के दोष को देखने वाला, शरीर में आसक्तिहीन यति (= संयमी) होता है । और भी, दूसरों से संसर्गरहित होता है । शरीर के स्वरूप को देखने वाला, अपने शरीर को छोड़ने की इच्छा वाला मिट्टी, जल आदि से धोता हुआ भी शरीर की शुद्धि नहीं देखने वाला, अत्यन्त ही प्रयत्न न करने वाले लोगों के शरीरों के साथ कैसे संसर्ग करे ? (अर्थात् नहीं करता है) ॥ ४० ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में पाँच नियमों में से **शौच का फल** बतलाया है ।

जब योगाभ्यासी बाह्य और आन्तरिक शुद्धि करते-करते ऊँचे स्तर की शुद्धि कर लेता है तो अपने अङ्गों से घृणा होती है । शरीर में दोष देखने से उससे योगाभ्यासी की आसक्ति हट जाती है और वह संयमी बन जाता है । अन्यों के शरीरों से भी उसका संसर्ग अर्थात् आसक्ति छूट जाती है । शरीर के स्वभाव को अशुद्ध जानकर वह उसको त्यागने का इच्छुक बन जाता है । जलादि से शुद्धि करने पर भी उसको अपना शरीर अशुद्ध ही दीखता है । शरीर की शुद्धि के लिये जो लोग विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं उनके शरीरों के साथ योगी की आसक्ति कैसे रह सकती है ?

मानव का शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन है । इसके बिना वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकता ऐसा जानना चाहिये । परन्तु अपने शरीर में जो आसक्ति उत्पन्न होती है वह ईश्वरोपासना में बाधा उपस्थित करती है । अपने शरीर के सौन्दर्य को देखकर व्यक्ति सुख का अनुभव करता है और बहुत-सा समय शरीर को सुन्दर बनाने में समाप्त कर देता है । सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना,

आत्मनिरीक्षण के लिये उसके पास समय शेष नहीं रहता । शरीर के साथ व्यक्ति का स्वस्वामी सम्बन्ध भी हो जाता है । स्वस्वामी सम्बन्ध योगाभ्यास में अत्यन्त बाधक है । शरीर को अपना मानने से मिथ्याभिमान उत्पन्न होता है कि मेरा शरीर बहुत सुन्दर है, औरों के शरीर तो कुछ भी सुन्दर नहीं हैं । यह मिथ्याभिमान योग का विरोधी है । इसलिये शरीर की अपवित्रता को देखकर उससे उत्पन्न राग को समाप्त किया जाता है । व्यक्ति दूसरे के शरीरों के सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाता है । उससे कामवासना उत्पन्न होती है । इस संदर्भ में न्याय दर्शनकार ने कहा है कि –

''**तन्निमित्तं तु - अवयवी-अभिमानः**'' ॥ न्यायदर्शन ४/२/३ ॥

अर्थात् शरीर में रागादि (आसक्ति) उत्पन्न होने का कारण शरीर को सुखदायी मानना है ।

कामवासना से युक्त व्यक्ति योग मार्ग पर नहीं चल सकता । शरीर की शुद्धि करते रहने पर उसके अशुद्ध दीखने से अपने शरीर में राग नहीं रहता, अन्यों के शरीर में भी आसक्ति नहीं रहती तथा सुन्दर शरीरों को देखने से कामवासना उत्पन्न नहीं होती । इसका परिणाम यह है कि साधक भोगमार्ग को छोड़कर योगमार्ग पर तीव्र गति से चलता है ॥ ४० ॥

अव० - किञ्च -

अर्थ - (शौच का) और भी (फल बतलाते हैं) -

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ - (सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-ऐकाग्र्य-इन्द्रियजय-आत्मदर्शन-योग्यत्वानि) (शौच से) बुद्धि की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर नियन्त्रण तथा आत्मा व परमात्मा को जानने की योग्यता प्राप्त होती है (च) और ।

सूत्रार्थ - और जब योगी की बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि हो जाती है तब बुद्धि की शुद्धि आदि योग्यता प्राप्त होती है ।

व्या० भा०- भवन्तीति वाक्यशेषः । शुचेः सत्त्वशुद्धिस्ततः सौमनस्यं तत ऐकाग्र्यं तत इन्द्रिय-जयस्ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्त्वस्य भवतीत्येतच्छौचस्थैर्यादधिगम्यत इति ॥ ४१ ॥

व्या० भा० अ० *- (सूत्रोक्त सत्त्वशुद्धि आदि) सिद्धियाँ होती हैं । शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि, उससे मन की प्रसन्नता, उससे (मन की) एकाग्रता, उससे इन्द्रियों पर विजय, उससे बुद्धि सत्त्व को आत्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है । ये सिद्धियाँ शुचि विषयक स्थिरता होने पर प्राप्त होती हैं ॥ ४१ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में **शुद्धि का शेष फल** बतलाया है ।

शरीर की शुद्धि और आन्तरिक (राग-द्वेष की) शुद्धि से बुद्धि की शुद्धि होती है । शरीर के अशुद्ध अथवा रोगी रहने से व्यक्ति की बुद्धि अशुद्ध और अल्प हो जाती है । क्योंकि शरीर का प्रभाव बुद्धि, मन, इन्द्रियों पर पड़ता है । जब व्यक्ति अतिरुग्ण हो जाता है अथवा मद्य आदि

पदार्थों का सेवन कर लेता है तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मन, इन्द्रियाँ भी शुद्ध रूप में कार्य करना छोड़ देती हैं । शरीर के स्वस्थ, मलरहित होने पर और उत्तम पदार्थों के सेवन से बुद्धि तीव्र हो जाती है । सात्त्विक भोजन खाने से वह शुद्ध होती है और तामसिक भोजन खाने से अशुद्ध। राग, द्वेष, छल, कपट करने से बुद्धि अशुद्ध होती है और रागद्वेष आदि दोषों को छोड़ने से शुद्ध।

शुद्धि का यह भी फल है कि उससे मन प्रसन्न हो जाता है और मन की एकाग्रता की सिद्धि होती है । इन्द्रियों पर विजय और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता सिद्ध होती है । बाह्य और आन्तरिक शुद्धि अपनी और अन्यों की उन्नति का कारण है । इसलिये सभी मनुष्यों को बाह्य और आन्तरिक शुद्धि करके अपना और अन्यों का कल्याण करना चाहिये । वेद में भी पवित्र होने की प्रार्थना की गई है कि –

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ यजु० १९/३९ ॥

भावार्थ – हे (जातवेदः) उत्पन्न हुए जनों में ज्ञानी विद्वन् । जिस प्रकार (देवजनाः) विद्वान् जन (मनसा) विज्ञान और प्रीति से (मा) मुझ को (पुनन्तु) पवित्र करें और हमारी (धियः) बुद्धियों को (पुनन्तु) पवित्र करें और (विश्वा) सम्पूर्ण (भूतानि) भूत प्राणिमात्र मुझको (पुनन्तु) पवित्र करें वैसे आप (मा) मुझको (पुनीहि) पवित्र कीजिए ॥ ४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ – (सन्तोषात्) पूर्ण सन्तोष का पालन करने से (अनुत्तम–सुखलाभः) सांसारिक समस्त सुखों से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।

सूत्रार्थ – पूर्ण सन्तोष का पालन करने वाले योगी को समस्त सांसारिक सुखों से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।

व्या० भा० – तथा चोक्तम्–

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति ॥ ४२ ॥

व्या० भा० अ० *– और उसी प्रकार कहा गया है कि –*

लोक में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्ग सुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं हो सकते ॥ ४२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **सन्तोष का फल** बतलाया है ।

जब व्यक्ति पूर्ण पुरुषार्थ के पश्चात् अपने उपलब्ध साधनों से अधिक पदार्थों की इच्छा नहीं करता तो उसको अनुत्तम सुख की प्राप्ति होती है । जब वह संसार के प्रत्येक सुख को क्षणिक देखता है और उसमें परिणाम, ताप, संस्कार और गुणवृत्तिविरोध दुःख इन चार प्रकार के दुःखों

को मिश्रित देखता है तो विषय भोगों में और उनके साधनों में तृष्णा नहीं रहती । तृष्णारहित अवस्था में जो सुख का अनुभव होता है वह इतना महान् होता है कि विषय भोगों का सुख उसके सोलहवें भाग के समान भी नहीं होता है । जब व्यक्ति इन्द्रियों के भोगों में आसक्त रहता है तो उसकी विषय भोग की तृष्णा बढ़ती जाती है और वह उस तृष्णा की पूर्त्ति के लिये प्रयासशील रहता है । प्रयास करने पर भी उसको विषय भोग की सामग्री नहीं मिलती तो उसको बहुत दु:ख होता है । इस स्थिति को देखकर व्यक्ति विषयभोग की इच्छा का ही परित्याग कर देता है । इससे वह व्यक्ति दु:ख से बच जाता है और सुख का अनुभव करता है । यह सन्तोष के पालन करने से मिलने वाला सात्त्विक सुख है और यह सत्त्वगुण से प्राप्त होता है ।

सन्तोष के पालन करने का यह भी फल है कि विषय भोगों को छोड़कर व्यक्ति योगाभ्यास करता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है । मोक्ष का सुख **अनुत्तम सुख** है उसके साथ किसी भी सांसारिक सुख की वास्तविक तुलना नहीं हो सकती । सन्तोष का पालन करने से व्यवहार में भी सुख की प्राप्ति और दु:ख की निवृत्ति होती है । जब कोई हानिकारक घटना घट जाती है तो सन्तोषी व्यक्ति को दु:ख नहीं होता अथवा न्यून दु:ख होता है । इसलिये सन्तोष का पालन योग सिद्धि के साथ व्यवहार की सिद्धि के लिए भी उपयोगी है ॥ ४२ ॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ – (काय–इन्द्रिय–सिद्धिः) कायसिद्धिः – स्वस्थ, बलवान्, स्वच्छ और स्फूर्त्तिमान शरीर होना । इन्द्रियसिद्धिः – विषयों को दूर से तथा स्पष्ट देखने–सुनने आदि की सामर्थ्यवृद्धि (अशुद्धि–क्षयात्) अशुद्धि = वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न हुये विकार, तमोगुणादि से उत्पन्न आलस्यादि दोषों के नाश हो जाने से (तपसः) तप के अनुष्ठान से ।

सूत्रार्थ – तप के अनुष्ठान द्वारा वात, पित्त, कफ की विषमता से उत्पन्न विकार, तमोगुण से उत्पन्न आलस्यादि दोषों के नाश हो जाने से शरीर स्वस्थ, बलवान्, स्वच्छ और स्फूर्तिमान् होता है तथा इन्द्रियों में विषयों को दूर से तथा स्पष्ट देखने–सुनने आदि की सामर्थ्य बढ़ जाती है ।

व्या० भा० – निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम् । तदावरणमलापगमात्कायसिद्धि-रणिमाद्या । तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति ॥ ४३ ॥

व्या० भा० अ० – *आचरण में लाया जाने वाला तप अशुद्धिजनित आवरणरूपी मल को नष्ट करता है । उस आवरण मल के दूर होने से काया की सिद्धि जैसे कि अणिमा आदि, हो जाती है । उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि जैसा कि दूर से, देखना सुनना आदि उत्पन्न होती हैं ॥ ४३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **तप का फल** बतलाया है ।

तप के विषय में पहले लिखा गया है कि धर्माचरण करने में जो बाधायें आती हैं, उनको सहना तप है । जब योगाभ्यासी शरीर, वाणी और मन से उचित रूप से तप का अनुष्ठान करता

है तब शरीर स्वस्थ और बलवान् हो जाता है। इन्द्रियों में दूर से सुनने, देखने आदि का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। तप से शरीर में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे योगाभ्यासी दीर्घकाल पर्यन्त आसन पर बैठकर प्राणायाम और ईश्वर का ध्यान कर सकता है। जिस साधक का शरीर तपा हुआ नहीं है, वह इन कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। दीर्घकाल तक आसन पर सुखपूर्वक बैठने से चित्त की एकाग्रता होती है।

इन्द्रियों की शुद्धि होने से साधक उनको अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में चलाने में सफल हो जाता है। जिस साधक ने इन्द्रियों को रोकने का अभ्यास नहीं किया है वह उनको अधर्माचरण से रोक कर धर्माचरण में नहीं चला सकता। मन को राग, द्वेष आदि विषयों से हटाकर योगाभ्यास में लगाना और मानापमान को सहन करना मानसिक तप है। इस तप के कारण योगी मानसिक क्षोभ से दूर हो जाता है। इसी के द्वारा वह जन्मजन्मान्तरों की वासनाओं को तनु बनाकर उनको दग्धबीजभाव की अवस्था में ले जा सकता है अन्यथा नहीं। इस तप के अभ्यास से वह मानापमान से विचलित होकर योगमार्ग को नहीं छोड़ता। मनु महाराज ने कहा है कि –

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ मनु० २/१६२ ॥

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है; और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है।

– सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

योगाभ्यासी सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अपमान की इच्छा अमृत के तुल्य करता रहे। सत्य बोलना और मोक्ष शास्त्रों को पढ़ना–पढ़ाना वाणी का तप है। इससे मोक्ष का स्वरूप ज्ञात होता है। और अनेक संशयों की निवृत्ति होती है। भूखप्यास, सर्दीगर्मी आदि प्रतिकूलताओं को सहन करना शारीरिक तप है। वेद में यह उपदेश दिया गया है कि तपस्वी व्यक्ति ही ईश्वर साक्षात्कार कर सकता है, अन्य नहीं –

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ १ ॥
तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे.......... ॥ २ ॥

॥ ऋ० मं० ९।सू० ८३।म० १, २ ॥

भावार्थ – हे ब्रह्माण्ड और वेदों के पालन करने वाले प्रभु सर्वसामर्थ्ययुक्त सर्वशक्तिमान् ! आपने अपनी व्याप्ति से संसार के सब अवयवों को व्याप्त कर रखा है। उस आपका जो व्यापक पवित्र स्वरूप है उसको ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण, शम, दम, योगाभ्यास, जितेन्द्रिय, सत्संगादि तपश्चर्या से रहित जो अपरिपक्व आत्मा अन्तःकरणयुक्त है, वह उस तेरे स्वरूप को प्राप्त नहीं होता और जो पूर्वोक्त तप से शुद्ध हैं, वे ही इस तप का आचरण करते हुए उस तेरे शुद्ध स्वरूप को अच्छे प्रकार प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

जो प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की सृष्टि में विस्तृत पवित्र आचरण स्वरूप तप करते हैं, वे ही परमात्मा को प्राप्त होने में योग्य होते हैं ॥ २ ॥

इसलिये शरीर, इन्द्रियों और मन से सदा श्रद्धापूर्वक तप का अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ – (स्वाध्यायात्) वेदादि मोक्षशास्त्रों के पठन–पाठन, प्रणव तथा गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थ सहित जप से (इष्ट–देवता–सम्प्रयोगः) ईश्वर, वैदिक विद्वान्, योगी आदि धार्मिक महापुरुषों के साथ सम्बन्ध हो जाता है (और उनसे विविध उत्तम कार्यों में सहायता प्राप्त हो जाती है) ।

सूत्रार्थ – वेदादि मोक्ष शास्त्रों के पठन–पाठन, प्रणव तथा गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थ सहित जप से ईश्वर, वैदिक विद्वान्, योगी आदि धार्मिक महापुरुषों के साथ सम्बन्ध हो जाता है तथा उनसे विविध उत्तम कार्यों में सहायता प्राप्त होती है ।

व्या० भा० – देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥ ४४ ॥

व्या० भा० अ० *– विद्वान्, वेदमन्त्रार्थों के द्रष्टा, योगसिद्ध–स्वाध्यायशील को प्राप्त होते हैं और उसके कार्य में सहायता देते हैं ॥ ४४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **स्वाध्याय का फल** बतलाया है ।

स्वाध्याय–मोक्षशास्त्रों का पढ़ना–पढ़ाना और प्रणवादि का अर्थ सहित जप करना है । स्वाध्याय से इष्ट देव की प्राप्ति होती है । जीवात्माओं का प्रमुख इष्टदेव ईश्वर है । ईश्वर–प्राप्ति से समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं । वेद और वेदानुकूल मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करने वाले शास्त्रों के पठन–पाठन से ईश्वर के स्वरूप का परिज्ञान होता है और ईश्वर प्राप्ति के साधनों तथा उसकी प्राप्ति से होने वाले लाभों का भी ज्ञान होता है । बिना स्वाध्याय के यह परिज्ञान नहीं होता । शास्त्रों के अध्ययन से–प्रथम शब्दार्थ और सम्बन्ध के माध्यम से ईश्वर का स्वरूप जाना जाता है । उसके पश्चात् मनन, निदिध्यासन किया जाता है । पश्चात् ध्यान और समाधि से साधक को इष्टदेव ईश्वर का साक्षात्कार होता है । उससे उसके समस्त दुःखों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है । इसी को 'इष्ट देव का सम्प्रयोग' अथवा प्राप्ति कहा जाता है ।

शास्त्रों के अध्ययन से और उनके अनुसार आचरण से व्यक्ति की इतनी योग्यता हो जाती है कि वह विशुद्ध योगियों को जानने में समर्थ हो जाता है । उनके गुणों के जानने से उनसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । इससे व्यक्ति के इष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है । यह इष्टदेव का सम्प्रयोग अथवा इष्टदेवों की प्राप्ति है । ओम् का अथवा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने वाले मन्त्रों का अर्थ सहित जप करने से ईश्वर से साधक का सम्बन्ध हो जाता है । ईश्वर से सम्बन्ध होने से वह

उपासक को सहायता प्रदान करता है। विद्वानों, योगियों से सम्बन्ध होने से वे भी उत्तमकार्यों में सहायता प्रदान करते हैं।

कुतः, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति' ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/९/७ ॥ यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमवज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्-भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत्, भवति, भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः, यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति। तद्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थ विज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

क्योंकि, **'नावेदवित०' ॥ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१२/९/७ ॥** वेदों को नहीं जानने वाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थ विद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो जो जहाँ जहाँ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन से सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा, वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो जो सत्यविज्ञान है, सो सो ईश्वर ने वेदों में धर रखा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है। और विद्या के बिना पुरुष अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को बिना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थ ज्ञान सहित अवश्य पढ़ने चाहिये।

– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पठन-पाठन विषय

वेद विद्या को न जानने वाला व्यक्ति, ईश्वर प्राप्ति नहीं कर सकता ॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ – (समाधि-सिद्धिः) समाधि की प्राप्ति होती है (ईश्वर-प्रणिधानात्) ईश्वर की भक्ति विशेष तथा समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित कर उनका कोई लौकिक फल न चाहने से।

सूत्रार्थ – ईश्वर की भक्ति विशेष तथा समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित कर उनका कोई लौकिक फल न चाहने से समाधि की प्राप्ति होती है अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा शरीरादि का यथार्थज्ञान हो जाता है।

व्या० भा० – ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ॥ ४५ ॥

व्या० भा० अ० *– शरीर, वाणी और मन से होने वाली क्रियाओं एवं उनके फलों को ईश्वर के अर्पित करने वाले की समाधि सिद्ध होती है। जिससे देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में होने वाले अभीष्ट को यथावत् जानता है। उससे इसकी प्रज्ञा (बुद्धि) पदार्थ को यथावत् जानती है ॥ ४५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **ईश्वर प्रणिधान का फल** बतलाया है ।

समस्त क्रियाओं को ईश्वरार्पित करना, उनका लौकिक फल न चाहना, उसकी विशेष भक्ति करना आदि, ईश्वर प्रणिधान है। ईश्वर की विशेष भक्ति का अभिप्राय विशेष प्रेम प्रीति है = संसार के समस्त पदार्थों से अधिक ईश्वर से प्रेम करना। ईश्वर प्रणिधान करने से साधक को आनन्द, ज्ञान, बल आदि की प्राप्ति और उसके अज्ञान, दुःख आदि विघ्नों का नाश होता है। व्यासभाष्य में लिखा है कि योगी देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में अभीष्ट पदार्थों को जान लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि तीन पदार्थ अनादि हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति। इन तीनों पदार्थों का जानना आवश्यक है। इनके विशुद्ध ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में ये तीन ही पदार्थ होते हैं। इन तीन का जानना योगी के लिये अभीष्ट है। ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से इनको अच्छे प्रकार से जान लेता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में जो कुछ भी पदार्थ मात्र है योगी उस पदार्थ मात्र को यथावत् जान लेता है अर्थात् ईश्वरवत् सर्वज्ञ हो जाता है ।

यहाँ पर एक शंका हो सकती है कि जब ईश्वर प्रणिधान से ही समाधि की सिद्धि हो जाती है तो अन्य योगाङ्गों का अनुष्ठान क्यों किया जाता है ? इसका समाधान यह है कि योग के अन्य अङ्ग ईश्वरप्रणिधान के सहायक हैं। उनके अनुष्ठान के बिना ईश्वर प्रणिधान नहीं हो सकता। ईश्वर प्रणिधान के बिना अन्य योगाङ्गों का भी पालन नहीं हो सकता। इसलिये परस्पर के सहयोग से अन्योन्य की सिद्धि होती है। इतना अन्तर है कि ईश्वरप्रणिधान समाधि प्राप्ति का विशेष साधन है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न उठता है कि ईश्वर अपने उपासकों को ही विशेष सहायता क्यों देता है ? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर न्यायकारी है। जिसके ज्ञान, कर्म और उपासना का जितना फल उचित है, उसको उतना विशेष फल देता है, उससे विरुद्ध नहीं ॥ ४५ ॥

अव० – उक्ताः सह सिद्धिभिर्यमनियमाः । आसनादीनि वक्ष्यामः । तत्र –

अर्थ – यम नियम सिद्धियों सहित कह दिए हैं। आसनादि को कहेंगे। उनमें से

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ – (स्थिर-सुखम्) (ध्यान के लिए जिस अवस्था में) शरीर स्थिर और सुखयुक्त हो वह (आसनम्) आसन कहाता है ।

सूत्रार्थ – जिस अवस्था में शरीर स्थिर और सुखयुक्त हो वह 'आसन' कहाता है ।

व्या० भा० – तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि ॥ ४६ ॥

व्या० भा० अ० – *वह जैसे कि पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय पर्यङ्क,*

क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख और यथासुख आदि ॥ ४६ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **आसन की परिभाषा** का कथन है ।

आसनों के अनेक भेद हैं । आसनों का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है । प्रथम प्रयोग शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने के लिये व्यायाम के रूप में किया जाता है । दूसरा प्रयोग प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिये किया जाता है । जिन आसनों का प्रयोग शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने के लिये किया जाता है, वे व्यायाम सम्बन्धी आसन हैं । जिन आसनों का प्रयोग धारणा, ध्यान, समाधि के लिये किया जाता है वे योगासन हैं । सभी आसनों का नाम योगासन नहीं है ।

आसनों के अनेक नाम है । स्वस्तिकासन, पद्मासन आदि । इनमें से जो भी अपने अनुकूल हो योगाभ्यासी को उसी आसन का प्रयोग करना चाहिये । ऐसा कोई नियम नहीं है कि किसी एक आसन से समाधि की सिद्धि होती हो और अन्य आसन से नहीं होती हो । जिस आसन में बैठकर सुखपूर्वक ईश्वर का ध्यान किया जा सके उसी में बैठकर करना चाहिये । नीचे इस प्रकार का वस्त्र आदि रखा जाये कि जिस पर बैठने से भूमि अथवा तख्त आदि पीड़ा न देवें । आसनकाल में शरीर को सीधा रखना चाहिये । टेढ़ा बैठने से आलस्य और निद्रा आती है । ऐसी स्थिति में ध्यान और समाधि की सिद्धि नहीं होती । जो साधक सीधा नहीं बैठ सकता, वह जिस प्रकार से भी बैठ सकता है उसी प्रकार से बैठकर करे । जो किसी प्रकार से भी बैठ नहीं सकता वह लेटकर ईश्वर का ध्यान करे । रुग्ण अवस्था में वा अतिवृद्ध अवस्था में चाहे लेट कर भी हो ध्यान तो करना ही चाहिये । उससे भी लाभ होता है । यदि एक आसन पर दीर्घकाल पर्यन्त न बैठा जाय तो मध्य-मध्य में आसन को परिवर्तित कर लेना चाहिये ।

यह आवश्यक नहीं है कि ३ वा ४ घण्टे तक आसन में बैठने से ही ध्यान हो सकता है। जितने काल तक बैठा जा सके, उतने काल तक ध्यान किया जा सकता है । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि यम, नियम इन दो योग के अङ्गों की ईश्वर प्राप्ति वा मोक्षप्राप्ति के लिये कोई आवश्यकता नहीं है । यह मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि यम, नियम के अनुष्ठान के बिना शुद्ध ज्ञान और शुद्ध कर्म नहीं हो सकते । इनके बिना इन्द्रियों को भी वश में नहीं किया जा सकता है । मन इन्द्रियों को जीते बिना ईश्वरोपासना नहीं हो सकती । इसलिये यह मान्यता हेय है, उपादेय नहीं । कुछ लोग आसनों को और प्राणायाम को ही योग मानते हैं । इससे योग के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न होती है । क्योंकि योग एक सूक्ष्म विद्या और आचरण का नाम है । जिससे व्यक्ति ईश्वर का साक्षात्कार करके समस्त दु:खों से छूटकर आनन्द की प्राप्ति करता है ॥ ४६ ॥

अव० – **तस्यैव स्थिरसुखत्वप्राप्त्यर्थमुपायमाह** –

अर्थ – उसी स्थिरता और सुख की प्राप्ति के लिये उपाय कहते हैं ।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ – (प्रयत्न-शैथिल्य-अनन्त-समापत्तिभ्याम्) समस्त शारीरिक चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से (आसन की सिद्धि होती है) ।

सूत्रार्थ – शारीरिक समस्त चेष्टाओं को रोक देने से और अनन्त परमात्मा में ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि होती है ।

व्या० भा० – भवतीति वाक्यशेषः । प्रयत्नोपरमात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥ ४७ ॥

व्या० भा० अ० *– (प्रयत्न की शिथिलता एवं अनन्त में समापत्ति से आसन की सिद्धि) होती है यह (सूत्र का) वाक्य शेष है । प्रयत्न के उपराम से आसन सिद्ध होता है जिससे अङ्गों में कम्पन नहीं होता । और अनन्त (परमेश्वर) में समापत्ति (एकाग्रता) को प्राप्त चित्त आसन को सम्पादित करता है ॥ ४७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **आसन सिद्धि के उपाय** बतलाये हैं ।

सामान्य रूप से व्यक्ति शरीर से कोई न कोई क्रिया करता रहता है । आसन की सिद्धि में वह क्रिया बाधा डालती है । इसलिये आसन को सिद्ध करने के लिये शरीर की समस्त चेष्टाओं को रोक देना चाहिये । 'प्रयत्नशैथिल्य' का यह अर्थ नहीं है कि शारीरिक परिश्रम न्यून करना चाहिये । क्योंकि शारीरिक परिश्रम से आसन का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । इसलिये जब साधक आसन लगाकर ईश्वर का ध्यान करता है तब शारीरिक सभी क्रियाओं को बन्द कर देना चाहिये । इससे आसन की सिद्धि होती है ।

आसन की सिद्धि का दूसरा उपाय 'अनन्त समापत्ति' है । अनन्त का अर्थ है – जिसकी कोई सीमा न हो । ईश्वर की कोई सीमा नहीं है । जब साधक ईश्वर को अनन्त मानकर उसका ध्यान करता है, तब आसन की सिद्धि होती है । योगाभ्यासी जिस वस्तु का ध्यान करता है उस वस्तु का उस पर प्रभाव पड़ता है । ईश्वर कभी भी हिलता-डुलता नहीं है । ईश्वर का ध्यान करने से व्यक्ति के शरीर का भी हिलना-डुलना बन्द हो जाता है । इससे आसन की सिद्धि होती है । जब साधक अधिक प्रेम से ईश्वर का ध्यान करता है तब भी आसन की सिद्धि में सहायता मिलती है। दीर्घकाल तक आसन में बैठकर ध्यान करने से आनन्द की प्राप्ति होती है । ऐसा जानने से भी व्यक्ति आसन की कठिनाईयों को सहन करके अधिक समय तक आसन पर बैठ जाता है । इससे आसन में बैठने का अभ्यास बढ़ जाता है । इस प्रकार से इन सभी उपायों से 'आसन की सिद्धि' करनी चाहिये । इससे प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में सुविधा होती है ॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ – (ततः) आसन की सिद्धि हो जाने से (द्वन्द्व–अनभिघातः) शीतोष्ण, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व न्यून सताते हैं (और ध्यान में सुविधा होती है) ।

सूत्रार्थ – आसन की सिद्धि हो जाने से शीतोष्ण, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व न्यून सताते हैं और ध्यान लगाने में सुविधा होती है ।

व्या० भा० – शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ४८ ॥

व्या० भा० अ० *– आसन सिद्ध होने पर (साधक) शीतोष्णादि द्वन्द्वों के द्वारा अभिभूत (बाधित) नहीं होता ॥ ४८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **आसन सिद्धि का फल** बतलाया है ।

आसन की सिद्धि हो जाने पर सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास आदि बाधा नहीं डालते हैं । सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास को सहन करने की एक सीमा है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि योगाभ्यासी के शरीर को बर्फ से ढकने पर उसको शीत कोई दुःख नहीं देगी और जलती अग्नि के मध्य में बैठने पर उसको अग्नि दुःख नहीं देगी । अतिशीत में और अति उष्णता में तो योगी की मृत्यु ही हो जायेगी । इसलिये ऐसा मानना असंगत है । प्रत्येक व्यक्ति की जितनी सहन शक्ति है वह उतना ही सहन कर सकता है । भूख और प्यास के विषय में भी यह नहीं समझना चाहिये कि योगी बिना कुछ खाये पिये पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता है । किन्तु इन द्वन्द्वों को एक सीमा तक ही सहन करने की शक्ति आ जाती है ।

आसनों के और भी अनेक लाभ हैं – आसन के सिद्ध हो जाने से प्राणायाम की सिद्धि होती है । बिना आसन सिद्धि के प्राणायाम की सिद्धि कठिन है । प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की सिद्धि के लिये आसन का सिद्ध होना आवश्यक है । **आसीनः सम्भवात्** ॥ वेदान्त दर्शन ४/१/५ ॥ सूक्ष्म विषयों को जानने के लिये और मन को वश में करने के लिये शरीर को स्थिर करना आवश्यक है । नवीन साधक इधर-उधर चलते हुए मन को एकाग्र नहीं कर सकता। बिना स्थिर आसन के नया योगाभ्यासी पाँच चित्त वृत्तियों को नहीं रोक सकता । परिपक्व समाधि वाले योगी तो चलते हुये भी चित्तवृत्तियों को रोक लेते हैं । जब व्यक्ति योग के विरुद्ध विचारों को रोकना चाहता है तो उसको आसन की आवश्यकता रहती है । क्योंकि योग के विरोधी सूक्ष्म विचार स्थिर शरीर और स्थिर बुद्धि के बिना नहीं रोके जा सकते । इसलिये योग सिद्धि के लिये आसन को सिद्ध करना आवश्यक है ॥ ४८ ॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ – (तस्मिन्) आसन की सिद्धि (सति) हो जाने पर (श्वास-प्रश्वासयोः) श्वास और प्रश्वास की (गति–विच्छेदः) गति को यथाशक्ति रोक देना (प्राणायामः) 'प्राणायाम' कहलाता है ।

सूत्रार्थ – आसन की सिद्धि हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना 'प्राणायाम' कहलाता है ।

व्या० भा० – सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः । कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः । तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

व्या० भा० अ० *– आसन के सिद्ध होने पर बाह्य वायु को भीतर भर लेना 'श्वास' है। कोष्ठगत वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। उन दोनों की गति का विच्छेद अर्थात् दोनों को रोकना 'प्राणायाम' कहलाता है ॥ ४९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्राणायाम की परिभाषा** बतलाई है ।

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना 'प्राणायाम' है। बाहर के वायु को अन्दर ले लेना 'श्वास' है। अन्दर के वायु को बाहर निकाल देना 'प्रश्वास' है। इन दोनों की गति को यथाशक्ति रोक देना प्राणायाम है। श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही यथाशक्ति रोक देना बाह्य प्राणायाम है। अर्थात् सुविधापूर्वक अपने सामर्थ्य के अनुसार जितनी देर तक रोका जा सकता है उसी के अनुसार रोकें। अधिक बलपूर्वक नहीं। श्वास को अन्दर लेकर यथाशक्ति अन्दर ही रोक देना 'आभ्यान्तर प्राणायाम' है ॥ ४९ ॥

अव० – स तु –

अर्थ – वह (प्राणायाम)

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ – (बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भवृत्तिः) बाह्यवृत्तिः = प्राण को बाहर निकालकर बाहर ही रोक देना । आभ्यन्तर वृत्तिः = प्राण को अन्दर लेकर अन्दर ही रोक देना । स्तम्भवृत्तिः = न बाहर निकालना न अन्दर लेना, = जहाँ का तहाँ रोक देना । (देश-काल-संख्याभिः) देश – जितने स्थान पर प्राण की क्रिया होती है । काल – जितने समय तक प्राण अन्दर, बाहर या जहाँ का तहाँ रुका रहता है । संख्या – एक प्राणायाम के नियत काल में जितने श्वास-प्रश्वास हो सकते हैं उनकी गणना करना । और कितने प्राणायाम किये उनकी संख्या को जानना । इन सबसे (परिदृष्टः) देखा = जाना हुआ (दीर्घ-सूक्ष्मः) लम्बा और हल्का (हो जाता है) ।

सूत्रार्थ – बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा जाना हुआ लम्बा और हल्का हो जाता है ।

व्या० भा० – यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः । तृतीयः स्तम्भवृतिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्गत्यभाव इति । त्रयोऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन

परिदृष्टा क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्‌घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः । एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्या-परिदृष्टः । स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

व्या० भा० अ० *– जिसमें श्वास को बाहर निकाल कर रोकना (होता है) वह 'बाह्य' है जिसमें भीतर भरकर रोकना (होता है) वह 'आभ्यन्तर' है । तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' (वह है जिसमें) दोनों श्वास-प्रश्वासों को प्रयत्न से तत्काल रोकना होता है । जैसे तपे पाषाण पर डाला हुआ जल चारों ओर से संकोच को प्राप्त करता है उसी प्रकार दोनों श्वास-प्रश्वासों की गति का अभाव होता है । ये तीनों देश से परीक्षित होते हैं । इतना देश इसका विषय है, इस प्रकार काल के द्वारा परीक्षित अर्थात् क्षणों की सङ्ख्या से निश्चित काल द्वारा निर्धारित सङ्ख्या द्वारा परीक्षित – इतने श्वास प्रश्वासों द्वारा प्रथम उद्‌घात, इसी प्रकार धारित (स्तम्भित) प्राणायाम का (इतने श्वास प्रश्वासों द्वारा) द्वितीय उद्‌घात एवं तृतीय उद्‌घात । ऐसा मृदु, ऐसा मध्य, ऐसा तीव्र इस प्रकार सङ्ख्या के द्वारा परीक्षित प्राणायाम हुआ । वह (तीन प्रकार का प्राणायाम) उक्त विधि से अभ्यस्त होने पर दीर्घ एवं सूक्ष्म हो जाता है ॥ ५० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में बाह्य, आभ्यन्तर, स्तम्भवृत्ति प्राणायामों का देश, काल और सङ्ख्याओं से परीक्षित करने पर दीर्घ और सूक्ष्म होने का कथन है ।

जिसमें श्वासपूर्वक गति को रोक दिया जाता है, वह **बाह्य प्राणायाम** है । जिसमें प्रश्वासपूर्वक गति को रोक दिया जाता है वह **आभ्यन्तर प्राणायाम** है । जिसमें न प्राण को बाहर निकाला जाता है और न अन्दर लिया जाता है अपितु यथास्थान रोका जाता है, वह **स्तम्भवृत्ति प्राणायाम** है । इसमें श्वास प्रश्वास को जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है । जिस प्रकार से गरम पत्थर पर जल डालने से वह सब ओर से संकुचित हो जाता है । उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास संकुचित हो जाते हैं । ये तीनों प्राणायाम देश, काल और सङ्ख्या से परीक्षित किये जाते हैं ।

देश से परीक्षित प्राणायाम – जब बाह्य प्राणायाम किया जाता है तब प्राण शरीर से बाहर होता है । उस समय बाहर निकाला हुआ प्राण जहाँ पर रहता है वही उसका देश है । जब प्राण को अन्दर रोका जाता है उस समय शरीर में जहाँ पर प्राण रहता है, वह ही उसका 'देश' है ।

काल से परीक्षित प्राणायाम – प्राणायाम करते समय जितने समय तक प्राण को रोका जाता है, उन क्षणों का नाम 'काल' है ।

संख्या से परीक्षित प्राणायाम – एक प्राणायाम के काल में कितने स्वाभाविक स्थिति में श्वास-प्रश्वास लिये जा सकते हैं यह संख्या है । अर्थात् बाहर वा भीतर जितने काल तक प्राण को रोका जाता है । उतने काल में जितने श्वास-प्रश्वास लिये जा सकते हैं वह ही उसकी 'संख्या' है । देश, काल और संख्याओं से परीक्षित = प्रयोग में लाया हुआ प्राणायाम लम्बा और हल्का होता है अर्थात् प्राणायाम का समय बढ़ता जाता है और प्राणायाम करने में हल्कापन दिखाई देता

है अर्थात् अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता और अधिक थकान नहीं आती । एक प्राणायाम में जितना समय लगता है और उस समय में जितने श्वास-प्रश्वास लिये जा सकते हैं उसको उद्घात कहते हैं अर्थात् उस काल का नाम **उद्घात** है । जैसे बाह्य प्राणायाम में जितने समय तक प्राण को बाहर रोका गया, उतने समय में बारह श्वास-प्रश्वास लिये जा सकते हैं । इतने काल का नाम प्रथम उद्घात है । जब प्राण इससे दुगुने काल तक रुकता हो तो यह दूसरा उद्घात है । इसी प्रकार से सर्वत्र जान लेना चाहिये ॥

बाह्य प्राणायाम की विधि - आसन पर बैठकर ईश्वर साक्षात्कार मानव जीवन का मुख्य प्रयोजन है, प्रथम इसका स्मरण करना चाहिये और अन्य समस्त विषयों से मन को रोक देना चाहिये । जिस आसन पर बैठकर प्राणायाम किया जाए वह ऐसा हो कि जिससे भूमि चुभे नहीं, और ध्यान में बाधा उपस्थित न हो । प्राणायाम के प्रारम्भ में मूलेन्द्रिय को ऊपर की ओर संकुचित करना चाहिये । अर्थात् मलद्वार को संकुचित करना चाहिये । इसके पश्चात् आन्तरिक प्राण को बलपूर्वक बाहर निकालना चाहिये । प्राण को बाहर निकालकर यथाशक्ति बाहर ही रोक देना चाहिये । अधिक बलपूर्वक रोकना हानिकारक है । इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये । जब कुछ घबराहट हो तब मूलेन्द्रिय के संकोच को छोड़ देना चाहिये और धीरे-धीरे नासिका के माध्यम से प्राण को अन्दर ले लेना चाहिये । किन्तु हाथ से नासिका को पकड़ना, एक नासिका छिद्र से प्राण लेना अन्य से छोड़ना ठीक नहीं । ऐसा करने से ध्यान में बाधा पडती है तथा श्वास के अधिक रुकने से हानि भी हो सकती है । जब प्राण की पूर्त्ति हो जाये, तब यह जानना कि एक प्राणायाम हो गया है । इस प्राणायाम में प्राण को अन्दर न रोका जाय । केवल प्राण की आवश्यकता पूर्ण हो जानी चाहिये । इसी प्रकार से दूसरी बार और तीसरी बार प्राणायाम करे । यदि नवीन साधक सतत तीन प्राणायाम न कर सके तो मध्य-मध्य में एक, दो, तीन श्वास ले लेवे और पुनः दूसरा प्राणायाम करे । प्रारम्भ में तीन प्राणायाम प्रातःकाल और तीन सायंकाल करे । कुछ दिनों के पश्चात् एक-एक प्राणायाम बढ़ाता जाये । इसी प्रकार से बढ़ाते-बढ़ाते जितनी अपनी शक्ति हो उतने ही प्राणायाम करे । अधिक नहीं ।

प्राणायाम के बढ़ाने और घटाने में कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है । जैसे कि -

(१) बलावस्था - शरीर में बल कितना है और अवस्था क्या है अर्थात् बाल्य, युवा, वृद्ध अवस्था इसका भी ध्यान रखना चाहिये ।

(२) भोजन - यदि भोजन पौष्टिक हो तो अधिक प्राणायाम करना चाहिये और साधारण हो तो न्यून करना चाहिये ।

(३) ऋतु - शीत ऋतु में अधिक, वर्षा ऋतु में मध्यम और उष्ण ऋतु में न्यून प्राणायाम करना चाहिये ।

(४) अनुभव - प्राणायाम करते-करते जब मुख सूखने लगे अथवा शिर अधिक भारी हो जाए वा अधिक थकान हो जाए, तब प्राणायाम नहीं करना चाहिये ।

आभ्यन्तर प्राणायाम की विधि – जब बाह्य प्राणायाम का अच्छा अभ्यास हो जाए अर्थात् सरलता से प्राणायाम होने लग जाए और प्राणायाम करते समय जप भी सरलता से होने लग जाय तब आभ्यान्तर प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिये ।

अच्छे प्रकार से आसन पर बैठकर अन्दर के वायु को बाहर निकाल देना चाहिये । पुनः बाहर के वायु को अन्दर ले लेना चाहिये और उसको अन्दर ही रोक देना चाहिये । जब कुछ घबराहट हो तो श्वास को धीरे–धीरे बाहर छोड़ना चाहिये । यह एक प्राणायाम हो गया । इसी प्रकार से दूसरी बार और तीसरी बार करना चाहिए । इस आभ्यन्तर प्राणायाम में मूलेन्द्रिय को संकुचित करने का विधान नहीं है ।

प्राणायाम से सम्बद्ध कुछ आवश्यक बातें

(१) भोजन के पश्चात् नहीं – भोजन करके वा दूध आदि पीकर प्राणायाम नहीं करना चाहिये । खाली पेट अथवा खाया पिया पदार्थ जब पच जाए तब प्राणायाम करना चाहिये ।

(२) अति रुग्णावस्था में – अधिक रुग्ण होने पर भी प्राणायाम नहीं करना चाहिये ।

(३) प्राणायाम-शिक्षक – जो प्राणायाम के विशेषज्ञ हों उनसे प्राणायाम का प्रशिक्षण लेना चाहिये, अन्यथा हानि हो सकती है ।

(४) न्यून-अधिक – न्यून से न्यून तीन और अधिक से अधिक इक्कीस प्राणायाम करने चाहिये ।

(५) जप – प्राणायाम करते समय ओ३म् अथवा प्राणायाम मन्त्र और जिस मन्त्र में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन हो, उसका अर्थ सहित मानसिक जप करना चाहिये ।

(६) शुद्ध वायु – जहाँ तक हो सके शुद्ध वायु में प्राणायाम करना चाहिये ॥ ५० ॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ – (बाह्य–आभ्यन्तर–विषय–आक्षेपी) बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम के विषय को दूर करने वाला अर्थात् उनकी स्थिति को हटाने वाला यह (चतुर्थः) बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी नामक चतुर्थ प्राणायाम है ।

सूत्रार्थ – बाह्य तथा आभ्यन्तर प्राणायाम के विषय को दूर करने वाला 'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी' नामक चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है ।

व्या० भा० – देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । तथाभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः । उभयथा दीर्घसूक्ष्मः । तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः ॥ ५१ ॥

व्या० भा० अ० *– देश काल संख्याओं द्वारा परीक्षित बाह्य विषय (वाला प्राणायाम) (बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी के द्वारा) उल्लङ्घित होता है। इसी प्रकार परीक्षित आभ्यन्तर विषय वाला (इसी के द्वारा) उल्लङ्घित होता है, दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। (दोनों प्रकार के प्राणायामों के अभ्यासपूर्वक) भूमि की सिद्धि होने पर क्रमशः दोनों (श्वास-प्रश्वासों) की गति का अभाव होने पर चतुर्थ प्राणायाम है। तीसरा (प्राणायाम) तो बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रदेशों वाले प्राणायामों का परीक्षण किये बिना ही श्वास-प्रश्वास की गति निरोध रूप एक ही बार में किया जा सकने वाला देश, काल और संख्या से परीक्षित होता हुआ दीर्घसूक्ष्म होता है। चतुर्थ तो श्वास-प्रश्वासों के देश, काल, संख्या के निश्चय हो चुकने के कारण क्रम से भूमि के जय से दोनों (श्वास-प्रश्वासों) के अतिक्रमणपूर्वक गति का अभाव रूप 'चतुर्थ प्राणायाम' है, यह विशेष है ॥ ५१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में 'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी' नामक **चौथे प्राणायाम का कथन** है।

देश, काल, संख्या के द्वारा परीक्षित बाह्य प्रदेश में होने वाला प्राणायाम इस प्राणायाम के द्वारा उल्लंघित होता है अर्थात् इस प्राणायाम के द्वारा अतिक्रान्त होता है। जब बाह्य वायु, बाहर देश से अन्दर की ओर गति करने लगती है तो यह प्राणायाम उसकी गति को रोक देता है। उसी प्रकार से आभ्यन्तर परीक्षित प्राणायाम में वायु जब भीतर से बाहर की ओर गति करती है तो यह उसकी गति को रोक देता है। इस प्रकार से दोनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं। बाह्याभ्यन्तर दोनों प्राणायामों को क्रम से परिपक्व बना लेने पर इस प्राणायाम के द्वारा दोनों की गति का अभाव हो जाता है। यह चौथा प्राणायाम है। जब बाह्य वायु अन्दर की ओर आती है तो उसको रोक देता है। जब आभ्यन्तर वायु बाहर की ओर आती है तो उसे भी यह रोक देता है। इसलिये इसका नाम 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' है।

तीसरा प्राणायाम बाह्याभ्यन्तर दोनों देश वाले प्राणायामों के देशादि के द्वारा बिना परीक्षा किये ही गतिरोध रूप एक ही बार में किया जाने वाला देश, काल और संख्या से परीक्षित दीर्घ सूक्ष्म होता है। इस प्राणायाम में वायु को न बाहर निकाला जाता है और न भीतर भरा जाता है। तत्काल जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। इससे प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है। कुछ काल के पश्चात् साधक को घबराहट होती है तो वह प्राण को छोड़ देता है। इससे प्राण बाहर वा भीतर जाने आने लगता है। पुनः साधक उसको रोक देता है। इस प्रकार प्राण की स्वाभाविक गति को रोकना और छोड़ देना **स्तम्भवृत्ति प्राणायाम** है। इस प्रकार से अभ्यास में लाया हुआ यह प्राणायाम लम्बा और हल्का होता है। जो चौथा प्राणायाम-श्वास-प्रश्वास विषय अवधारण से बाह्याभ्यन्तर प्राणायामों के देश, काल, संख्या के निश्चय करने के पश्चात्, क्रम से प्राणायाम की भूमियों को जीत लेने के पश्चात्, दोनों प्राणायामों को उल्लंघित करते हुए जो गति अवरोध है, वह **बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम** है। यही इसमें विशेषता है।

प्राणायाम के विषय में प्रथम पाद के ३४ वें सूत्र के प्रसंग और इस पाद के ४९ वें सूत्र के प्रसंग में लिखा गया है। कुछ यहाँ पर भी लिखा जाता है। यम-नियमों का पालन करते

हुए आसन की सिद्धि हो जाने पर प्राणायाम करना चाहिये । आसन की सिद्धि का यह तात्पर्य नहीं है कि ४ घण्टे तक बैठने की सिद्धि होना । १५ या २० मिनिट आसन की सिद्धि होने पर भी प्राणायाम कर सकते हैं ।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की विधि – अच्छे प्रकार से आसन पर बैठकर श्वास–प्रश्वास जहाँ भी चल रहा हो उसको जहाँ का तहाँ रोक देना चाहिये । इस प्राणायाम में न प्राण को बाहर निकाला जाता है और न भीतर लिया जाता है । जब कुछ घबराहट हो तो उसे छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार यह एक प्राणायाम पूरा हो गया ।

बाह्याभ्यान्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम की विधि – अच्छे प्रकार से आसन पर बैठकर प्राण को बाहर निकाल देना चाहिये । यथाशक्ति बाहर रोक देना चाहिये । जब प्राण ग्रहण करने की इच्छा हो तो उसको अन्दर न लेवें किन्तु अन्दर के प्राण को बाहर निकाल देवें । इसी प्रकार से पुनः ग्रहण करने की इच्छा हो तो बाहर से प्राण को न लेवें । अन्दर के शेष प्राण को बाहर निकाल देवें । इस प्रकार से एक बार, दो बार यथाशक्ति करें । इसके पश्चात् शनैः–शनैः प्राण को अन्दर ले लेवें । जब प्राण को छोड़ने की इच्छा हो तब उस प्राण को बाहर न जाने देवें । किन्तु बाहर से और प्राण को अन्दर ले लेवें । जब प्राण को पुनः छोड़ने की इच्छा हो तो उसको बाहर न जाने देवें किन्तु बाहर से और प्राण को भीतर लेवें । इस प्रकार से एक बार, दो बार यथाशक्ति करें । जब घबराहट हो तब धीरे–धीरे प्राण को बाहर छोड़ देवें । यह 'बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी' एक प्राणायाम हुआ । इसी प्रकार से दूसरी बार, तीसरी बार करना चाहिये । उपासना काल में निर्धारित रूप से किये जाने वाले प्राणायामों के पूर्ण होने पर श्वास–प्रश्वास की गति को स्वाभाविक रूप में स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए । यदि योगाभ्यासी के ध्यान में बाधा उपस्थित न हो तो नासिका के माध्यम से लम्बे श्वास–प्रश्वास ले सकता है । इससे शरीर की शुद्धि होती है, प्राणायाम करने का सामर्थ्य बढ़ता है और मन की तरंगों (वृत्तियों) को रोकने में सहायता मिलती है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस प्राणायाम के अनुष्ठान से (क्षीयते) क्षीण हो जाता है (प्रकाश–आवरणम्) विवेक ज्ञान का आवरण (= अर्थात् अज्ञान) ।

सूत्रार्थ – उस प्राणायाम के अनुष्ठान से विवेकज्ञान का आवरण = अज्ञान क्षीण हो जाता है।

व्या० भा० – प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म । यत्तदाचक्षते–महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते । तथा चोक्तम्-तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति ॥ ५२ ॥

व्या० भा० अ० *– प्राणायाम करने वाले इस योगी के विवेकज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म (पाप रूप कर्म) क्षीण हो जाता है । जिसके सम्बन्ध में कहते हैं कि महान् मोहमय विषयरूपी*

इन्द्रजाल से प्रकाश स्वरूप बुद्धि को आवृत्त कर वह ही दुष्कर्म में लगाता है। इस योगी के प्रकाश को आवृत्त करने वाला, संसार में बाँधने वाला अशुभ कर्म प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है। और उसी प्रकार कहा है कि – प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं, उससे मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति होती है ॥ ५२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्राणायाम का फल** बतलाया है ।

प्राणायाम से ज्ञान को आच्छादित करने वाला आवरण = अज्ञान क्षीण हो जाता है । उससे अशुभ संस्कार और भावी अशुभ कर्म क्षीण होते हैं । प्राणायाम करने से ये क्षीण हो जाते हैं । ये कैसे क्षीण होते हैं, इसकी प्रक्रिया निम्न लिखित है –

(१) जब व्यक्ति प्राणायाम करता है तो मन और इन्द्रियों की चंचलता रुक जाती है। उनकी चञ्चलता रुक जाने पर योगी स्थिर बुद्धि से उनके दोषों को जानकर उनको दूर करने में समर्थ हो जाता है । उनके दोषों को दूर करने से शुभ संस्कार विकसित होते हैं अर्थात् पूर्व के शुभ संस्कार उद्बुद्ध होते हैं और नवीन शुभ संस्कारों की उत्पत्ति होती है । उससे अज्ञान का नाश होता है ।

(२) प्राणायाम करने से मन–इन्द्रियों पर योगी का अधिकार हो जाता है। उससे वह विधिपूर्वक ईश्वर की उपासना करने में सफल हो जाता है । इस स्थिति में उसको ईश्वर विद्या प्रदान करता है । उस विद्या से अविद्या का नाश हो जाता है ।

(३) प्राणायाम से सत्त्वगुण की वृद्धि और रजोगुण, तमोगुण का ह्रास होता है। उससे अज्ञान का नाश और ज्ञान की वृद्धि होती है ।

(४) प्राणायाम से शरीर और नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं । इनके शुद्ध होने से ज्ञान का विकास और अज्ञान का नाश होता है । इस प्रकार से ज्ञान को ढकने वाला आवरण क्षीण होता है और ज्ञान की वृद्धि होती है । इससे मल दूर होते हैं और ज्ञान की दीप्ति होती है इसलिए यह कहा है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। प्राणायाम का जो यह फल बतलाया है उसमें यम–नियमों का अच्छे प्रकार से पालन करना भी आवश्यक है ॥ ५२ ॥

अव० – **किञ्च** –

अर्थ – (प्राणायाम से) और क्या (लाभ) होता है (यह सूत्र से कहा जाता है) –

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ – (धारणासु) धारणाओं में (च) और (योग्यता) सामर्थ्य (मनसः) मन की होती है।

सूत्रार्थ – और उस प्राणायाम के अनुष्ठान से धारणाओं में अर्थात् मस्तिष्कादि विभिन्न स्थानों में मन को लगाने की योग्यता हो जाती है अर्थात् योगाभ्यासी जहाँ कहीं भी मन को रोकना चाहे, वहाँ रोकने में समर्थ हो जाता है ।

व्या० भा० – प्राणायामाभ्यासादेव, प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (१/३४) इति वचनात् ॥५३ ॥

व्या० भा० अ० *– प्राणायाम के अभ्यास से ही (धारणाओं में मन की योग्यता भी होती है) 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (१/३४) इस वचन से ॥ ५३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में प्राणायाम का और भी **फल** बतलाया है ।

चित्त को किसी स्थान में रोक देना धारणा है । प्राणायाम करने से मन में एक विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है । उससे योगी जहाँ भी धारणा करना चाहता है, उसको सफलता मिलती है । ''**प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य**'' ॥ १।३४ ॥ इस सूत्र में प्राणायाम के अनुष्ठान से मन की स्थिरता बतलाई है । सत्यार्थप्रकाश में प्राणायाम के लाभ बतलाये हैं ।

प्राणायाम के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं महर्षि मनु महाराज के प्रमाण –

''जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है । जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है ।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ मनुस्मृति ६/७१ ॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं ।''

''इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है ।''

''.....प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं । बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है । इससे मनुष्य शरीर में वीर्य्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझ कर उपस्थित कर लेगा ।''

– सत्यार्थप्रकाश तृतीयसमुल्लास

''.....इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ।''

– ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-उपासनाविषय

अव० – अथ कः प्रत्याहारः ?

अर्थ – (प्राणायाम के) पश्चात् प्रत्याहार क्या है (इसको सूत्र द्वारा कहा जाता है) ।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ – (स्व-विषय-असम्प्रयोगे) अपने-अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर (चित्तस्य-स्वरूप-अनुकार) रुके हुवे चित्त के स्वरूप के (इव) तुल्य (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का अनुकरण (रुक जाना) (प्रत्याहारः) 'प्रत्याहार' कहलाता है ।

सूत्रार्थ – इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है ।

व्या० भा० – स्वविषयसंप्रयोगाभावे चित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते । यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनि-विशन्ते तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

व्या० भा० अ० – *इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती । जिस प्रकार मधु मक्खियों की रानी के उड़ने पर मधुमक्खियाँ उड़ती हैं, बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध होती हैं, यह 'प्रत्याहार' है ॥ ५४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्रत्याहार का लक्षण** किया है ।

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में सम्बन्ध न रहने पर वे चित्त का अनुकरण करती हैं । जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तो इन्द्रियाँ भी रुक जाती हैं । यह **प्रत्याहार** है । इसकी सिद्धि होने पर एक-एक इन्द्रिय को वश में करने के लिये भिन्न-भिन्न अभ्यासों की आवश्यकता नहीं रहती । जैसे मधुमक्खियों की रानी चलती है तो सभी मधु मक्खियाँ उसके साथ-साथ चलती हैं और जहाँ पर वह बैठ जाती है वहाँ पर सभी बैठ जाती हैं । इसी प्रकार से सभी इन्द्रियाँ चित्त का अनुकरण करती हैं । यहाँ पर यह जानना चाहिये कि चित्त स्वयं नहीं चलता । क्योंकि वह जड़ पदार्थ है । **कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥** वैशे० २/१/२४ ॥ जैसे कारण में गुण होते हैं वैसे ही उसके कार्य में भी गुण होते हैं । चित्त का उपादानकारण सत्त्वादि तीन गुण हैं । वे तीनों जड़ पदार्थ हैं । उनसे उत्पन्न चित्त भी जड़ पदार्थ है । चित्त को जीवात्मा चलाता है । जब जीवात्मा उसको एकाग्र करता है तब एकाग्र हो जाता है । जीवात्मा प्रथम इच्छा करता है, पश्चात् प्रयत्न करता है । उसके प्रयत्न से चित्त गतिशील हो जाता है । उस चित्त से इन्द्रियाँ गतिशील हो जाती हैं । इसके पश्चात् बाहर के विषय का परिज्ञान करता है । जब योगाभ्यासी चित्त को एकाग्र कर लेता है तो इन्द्रियाँ भी चित्त का अनुकरण करती हैं । इस स्थिति में इन्द्रियाँ ध्यान में बाधा नहीं डालती । जहाँ पर बाहर से शब्दादि विषयों का अति तीव्र प्रभाव पड़ता है । वहाँ पर उनको रोकना कठिन होता है । इसलिये बाहर के तीव्र इन्द्रियविषयों से योगाभ्यासी को दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५४ ॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस प्रत्याहार की सिद्धि से (परमा) उत्कृष्ट (वश्यता) नियंत्रण होता है (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का ।

सूत्रार्थ – उस प्रत्याहार के सिद्ध होने से इन्द्रियों की 'उत्कृष्ट वश्यता' होती है अर्थात् इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण वश में आ जाती हैं ।

व्या० भा० – शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्तिर्व्यसनं व्यस्तत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये । रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः । ततश्च परमात्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥ ५५ ॥

व्या० भा० अ० *– शब्दादि (विषयों) में अव्यसन इन्द्रियजय है, ऐसा कुछ (कहते हैं) । सक्ति (आसक्ति) व्यसन कहलाता है क्योंकि यह कल्याण से वञ्चित करती है, इस प्रकार । अविरुद्ध प्राप्ति (अर्थात् अविरुद्ध भोग) न्यायसङ्गत है (यह व्यसन नहीं है) । स्वेच्छा से शब्दादि का प्रयोग (इन्द्रियजय है) ऐसा अन्य (मानते हैं) । रागद्वेष का अभाव होने पर सुख-दुःख रहित शब्दादि का ज्ञान (इन्द्रियजय है) ऐसा और कुछ लोग मानते हैं । चित्त की एकाग्रता से इन्द्रियों की शब्दादि में अप्रवृत्ति (अर्थात् इन्द्रियों का शब्दादि से) सन्निकर्ष न होना ही (इन्द्रिय जय है) ऐसा जैगीषव्य (का कथन है) । और उनसे तो यह वश्यता उत्कृष्ट है जो कि चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, दूसरे इन्द्रियजय के समान योगीजन प्रयत्नजनित अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रखते ॥ ५५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्रत्याहार का फल** बतलाया है ।

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण योगी के वश में आ जाती हैं । इन्द्रियों की वश्यता के विषय में लोगों की विविध मान्यतायें हैं । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में आसक्त न होना ही उनकी **'वश्यता'** है । क्योंकि इन्द्रियों के भोग व्यक्ति को श्रेयमार्ग से दूर कर देते हैं । एक सीमा में रहकर विषयभोग करना हानिकारक नहीं है, कुछ लोगों का यह मत है कि अपनी इच्छा से शब्दादि विषयों का भोग करना 'इन्द्रियजय' है । कुछ लोगों का यह मत है कि राग-द्वेष के न रहने पर सुख-दुःख रहित शब्दादि विषयों का ज्ञान करना 'इन्द्रियजय' है । **'जैगीषव्य'** का मत यह है कि चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों के विषयभोग का अभाव ही 'इन्द्रियजय' है । उससे इन्द्रियों की उत्कृष्ट वश्यता होती है । क्योंकि चित्त का निरोध होने पर इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं । उससे एक-एक इन्द्रिय को वश में करने के लिये जो भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा नहीं रहती । कुछ योगाभ्यासी श्रोत्रेन्द्रिय को वश में करने के लिये पृथक् से अभ्यास करते हैं और रसना इन्द्रिय को जीतने के लिये पृथक् रूप से प्रयत्न करते हैं । चित्त को जीत लेने के पश्चात् सभी इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं । उनको वश में करने के लिये भिन्न-भिन्न उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इन्द्रियों को वश में करने के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये और चित्त को वश में

करने से ही प्रयोजन सिद्ध होता है । जिस प्रकार चित्त को वश में करने का प्रयास करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करना भी आवश्यक है ।

प्रत्येक योगाभ्यासी को सतत यह ध्यान रखना चाहिये कि मेरी कौन सी इन्द्रिय किस विषय में सम्बद्ध होकर किस शुभ–अशुभ विषय का ग्रहण कर रही है । अथवा किस इन्द्रिय के द्वारा मैं किस शुभाशुभ विषय को ग्रहण कर रहा हूँ । यदि मैं किसी इन्द्रिय के द्वारा अशुभ विषय का ग्रहण कर रहा हूँ तो मुझे शीघ्र ही अशुभ विषय से अपनी इन्द्रिय को हटा देना चाहिये । भोजन करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि मैं शरीर की रक्षा के लिये भोजन कर रहा हूँ वा रसना इन्द्रिय की तृप्ति के लिये । इसी प्रकार से नेत्रेन्द्रिय से देखते हुए यह जानना चाहिये कि क्या मैं किसी उत्तम कार्य की सिद्धि के लिये रूप देख रहा हूँ वा नेत्रेन्द्रिय की तृष्णा शान्त करने के लिये देख रहा हूँ । इस प्रकार से साधक को इन्द्रियों पर सदा नियन्त्रण रखना चाहिये। मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षणों में एक इन्द्रिय निग्रह को माना है और जितेन्द्रिय व्यक्ति का स्वरूप भी बतलाया है कि जो खाकर, स्पर्श करके, देखकर, सूँघकर, सुनकर न हर्ष अनुभव करता है और न शोक अनुभव करता है, वह व्यक्ति जितेन्द्रिय है । इस प्रकार चित्त को और इन्द्रियों को वश में करने का सदा प्रयत्न करना चाहिये । इससे इन्द्रियों की उत्कृष्ट वश्यता प्राप्त होती है ॥ ५५ ॥

इति द्वितीयः साधनपादः ॥ २ ॥

❑ ❑ ❑

अथ तृतीयो विभूतिपादः

अव० - उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि । धारणा वक्तव्या ।

अर्थ - पाँच बहिरंग साधन बता दिये गये । अब धारणा कही जानी चाहिए -

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

शब्दार्थ - (देश-बन्धः) देश विशेष में बाँधना (चित्तस्य) चित्त को (धारणा) धारणा है ।

सूत्रार्थ - चित्त को देशविशेष अर्थात् नाभि, हृदय, मस्तक, आदि में स्थिर करना 'धारणा' है ।

व्या० भा० - **नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥ १ ॥**

व्या० भा० अ० - नाभि चक्र में, हृदय कमल में, मस्तकगत प्रकाश में, नासिका के अग्र भाग में, जिह्वा के अग्रभाग आदि प्रदेशों में अथवा बाह्य विषय में चित्त का केवल वृत्ति से बाँधना 'धारणा' कही जाती है ॥ १ ॥

विशेष - योगदर्शन के इस विभूतिपाद में योग के अन्तरंग साधनों = धारणा, ध्यान - तथा समाधि और योगाभ्यास के द्वारा योगी को जो विभूतियाँ प्राप्त होती हैं उनका वर्णन है । योगाभ्यास के करने से जो ज्ञान, बल, स्वास्थ्य आदि की प्राप्ति, मन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्तिरूप ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, उनको '**विभूति**' कहते हैं ।

यो० प्र० - इस सूत्र में '**धारणा' का लक्षण** किया है ।

किसी देश विशेष में वृत्तिमात्र = ज्ञानमात्र से चित्त को बाँधना = रोकना = स्थिर करना 'धारणा' है । धारणा के दो स्थान हैं । एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य । नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, मस्तक आदि आन्तरिक स्थान हैं । वृक्ष, पर्वतादि बाह्य स्थान हैं । जब योगाभ्यासी यम, नियम आदि का पालन करते-करते प्रत्याहार तक पहुँच जाता है तो मन उसके अधिकार में हो जाता है । मन के अधिकार में हो जाने से साधक अपनी इच्छानुसार जहाँ पर मन को स्थिर करना चाहता है । वहाँ पर स्थिर कर लेता है ।

'धारणा' का प्रयोग दो प्रकार से होता है । एक ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने के लिए और दूसरा किसी पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए । जब प्रातःकाल और सायंकाल ईश्वर की उपासना की जाती है तब हृदय आदि प्रदेश में चित्त को स्थिर करके की जाती है । इस स्थिति में धारणा का स्थान शरीर का एक अङ्ग है । उसमें चित्त को स्थिर करके ईश्वर का ध्यान किया जाता है। इस स्थिति में ईश्वर उपास्य है और जीवात्मा उसका उपासक है । जब साधक अपने स्वरूप को जानने के लिये शरीर के हृदय आदि अङ्ग में धारणा करता और ध्यान करता है तो इस स्थिति में उपास्य-उपासक भाव नहीं है । जब साधक अपने शरीर के विषय में विशेष

रूप से जानना चाहता है तब शरीर के ही हृदय आदि अङ्ग में धारणा करता और ध्यान के माध्यम से उसके स्वरूप को जान लेता है। ईश्वर की उपासना के लिए और किसी अन्य पदार्थ के स्वरूप को जानने के लिए धारणा का प्रयोग किया जाता है। योग की ऊँची अवस्था में सीधे ही ईश्वर, जीव आदि में तीनों कार्य अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि किये जा सकते हैं।

बाहर के देश में 'धारणा' का प्रयोग – कोई व्यक्ति किसी वृक्ष के स्वरूप को जानने के लिए अपने चित्त को वृक्ष के किसी भाग में स्थिर करके उसके स्वरूप को जानना चाहता है। यह बाह्य देश में धारणा का प्रयोग है। जो बाहर के देश में धारणा की जाती है वह ईश्वरोपासना के लिए नहीं है। यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है फिर भी जीवात्मा शरीर से बाहर ईश्वर के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। इसलिए ईश्वर की उपासना अपने शरीर एवं आत्मा में होती है बाहर नहीं॥ १ ॥

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ – (तत्र) जिस स्थान में धारणा की हुई है उस स्थान में (प्रत्यय-एकतानता) ज्ञेय विषयक ज्ञान का एक समान बना रहना (ध्यानम्) ध्यान है।

सूत्रार्थ – जिस स्थान में धारणा की हुई है उसी स्थान में ज्ञेय-विषयक ज्ञान का एक समान बना रहना अर्थात् ज्ञेय विषयक ज्ञान से भिन्न ज्ञान को उपस्थित न करना 'ध्यान' है।

व्या० भा० – तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥ २ ॥

व्या० भा० अ० *– उस (धारणा विषयक) प्रदेश में ध्येय रूपी आलम्बन वाले ज्ञान की एकरूपता (ज्ञान का) एक समान प्रवाह अर्थात् दूसरे ज्ञान से अमिश्रित ज्ञान प्रवाह 'ध्यान' कहलाता है॥ २ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **ध्यान का स्वरूप** बतलाया गया है।

योग जिज्ञासुओं को ध्यान के विषय में विशेष रूप से जानना चाहिये। ईश्वर का ध्यान करने वाले साधकों को प्रथम शब्द प्रमाण अथवा अनुमान प्रमाण से ईश्वर के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान लेना चाहिये। यदि साधक ईश्वर के स्वरूप को ठीक प्रकार से नहीं जानते अथवा विपरीत जानते हैं तो ध्यान में सफलता नहीं मिलती। जैसे शब्द प्रमाण से यह जान लिया कि ईश्वर सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दस्वरूप है। ध्यान करते समय भी इसी प्रकार से ईश्वर को वैसा ही जानकर उसका ध्यान करना चाहिये। जो वस्तु जैसी है उसको वैसी ही जानकर ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते समय जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है उसको छोड़कर अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना चाहिये। और न इन्द्रियों से किसी पदार्थ को देखने का प्रयत्न ही करना चाहिये। यदि ध्यान के मध्य में मन से ध्येय से भिन्न विषय को उठा लिया जाता है तो उसको रोक देना चाहिये। महर्षि कपिल जी ने ध्यान के विषय में कहा है कि –

''**रागोपहतिर्ध्यानम्**''॥ सांख्य० ३/३० ॥

राग का रुक जाना 'ध्यान' है । अर्थात् ईश्वर का ध्यान करते समय अन्य किसी भी विषय में राग का न होना 'ध्यान' है ।

''**ध्यानं निर्विषयं मनः**'' सांख्य० ६/२५ ॥

योग के विषय से भिन्न विषय में मन का न जाना 'ध्यान' है ।

योगाभ्यासी रूपवान् पदार्थ के साक्षात्कार के लिए रूपवान् पदार्थ का ध्यान करता है। उस समय वह रूप के भोग के लिए रूपवान् का ध्यान न करे। यदि करता है तो वह निर्विषय नहीं, सविषय है। 'निर्विषय' का अर्थ यह भी है कि वह रूपवान् पदार्थ के साक्षात्कार के समय मन से रसवान् पदार्थ का विचार न करें। रूपवान् पदार्थ के साक्षात्कार के लिए रूपवान् विषय का ध्यान करना निर्विषय ही है। योग के अनुकूल ही है। इस लिए प्रथम-पदार्थ का स्वरूप शब्द प्रमाण वा अनुमान प्रमाण से अच्छे प्रकार से जानकर फिर जहाँ पर धारणा की गई है, वहीं पर ध्यान करना चाहिये। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि कुछ भी न विचारने का नाम ध्यान नहीं है। ध्यानकाल में जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है वह पदार्थ और उसका नाम दोनों का ज्ञान साधक को होना चाहिये। जैसे ईश्वर का ध्यान करते समय उसका नाम ओम् है और वह नामी है अर्थात् ईश्वर वाच्य है और ओम् उसका वाचक (शब्द) है। ओम् का अर्थ सहित बार-बार जप करना और अन्य विषय में मन को न लगाना ध्यान है। इसलिये किसी भी विषय में कुछ भी न विचारना ध्यान नहीं है ॥ २ ॥

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ – (तद्-एव) वह ध्यान = ध्येय विषयक ज्ञान ही (अर्थमात्र-निर्भासं) केवल वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला (स्वरूप-शून्यम्-इव) अपने स्वरूप से शून्य हुआ जैसा (समाधिः) समाधि है ।

सूत्रार्थ – वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अपने ध्यानात्मक स्वरूप से शून्य बना जैसा अर्थात् ज्ञानस्वरूप से गौण हुआ 'समाधि' है ।

व्या० भा० – ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ॥ ३ ॥

***व्या० भा० अ०** – ध्येयाकार में भासित होने वाला ध्यान ही जब अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से रहित जैसा हो जाता है ध्येय के स्वभाव को प्राप्त होने के कारण, तब 'समाधि' कहा जाता है ॥ ३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **समाधि का स्वरूप** बतलाया गया है ।

ध्यानकाल में ध्याता = ध्यान करने वाला, ध्यान = जिस ज्ञान के द्वारा ध्येय की गवेषणा की जाती है वह ज्ञान और ध्येय = जिस की गवेषणा की जाती है वह पदार्थ, तीनों भिन्न-भिन्न रूप से भासित होते हैं। परन्तु समाधि अवस्था में ध्येय का स्वरूप मुख्य रूप से प्रकाशित होता है

अर्थात् समाधि अवस्था में ध्यान गौण हो जाता है और पदार्थ का स्वरूप प्रधान रहता है। स्वरूपशून्य का अभिप्राय यह नहीं कि योगाभ्यासी ज्ञान से शून्य हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ का साक्षात्कार समाधि अवस्था में मुख्य रहता है।

समाधि के विषय में अनेक लोगों ने कुछ ऐसी मान्यतायें बना रखी हैं, जिनके कारण से योग जिज्ञासु भ्रम में पड़ जाते हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि भूमि में एक लम्बा और गहरा गड्ढा खोदकर उसमें एक सप्ताह, दो सप्ताह अथवा इससे भी अधिक दिन पर्यन्त उस में रहना और कुछ भी न खाना–पीना इसी का नाम समाधि है। कुछ लोग कहते हैं कि विचारों की शून्यता का नाम समाधि है। इसी प्रकार से अनेक अनुचित मान्यतायें समाधि के नाम से प्रचलित हैं। जब तक योग जिज्ञासु प्रचलित अनुचित मान्यताओं और विशुद्ध मान्यताओं को ठीक प्रकार से नहीं जानते तब तक योग मार्ग पर चल कर सफल नहीं होते।

समाधि के विषय में विशुद्ध रूप से ऋषियों ने बतलाया है कि चित्त की वृत्तियों को रोक देना योग है। इसी '**वृत्तिनिरोध**' का नाम समाधि है। वृत्तिनिरोध अथवा समाधि के प्रमुख दो भेद हैं। एक सम्प्रज्ञात समाधि और दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि। समाधि प्राप्ति के कुछ आवश्यक साधन हैं, जैसे ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति। इन तीनों का शुद्ध ज्ञान समाधि प्राप्ति में एक आवश्यक साधन है। इसी प्रकार से वैराग्य, अभ्यास और यम नियमादि का पालन। ये भी समाधि के प्रमुख साधन हैं। इन्हीं साधनों के द्वारा योगाभ्यासी अपने मन को वश में करके धारणा की सिद्धि करते हैं। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि को सिद्ध करते हैं। धारणा, ध्यान और सम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास करते करते सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्वावस्था आ जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था से भी परवैराग्य उत्पन्न हो जाता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। उससे ईश्वर साक्षात्कार होता है और ईश्वर साक्षात्कार से समस्त क्लेशों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये सभी योग जिज्ञासुओं को समाधि के विषय में भ्रान्त मान्यताओं को छोड़कर ऋषियों की विशुद्ध मान्यताओं को स्वीकार करना चाहिये।

योग के विषय में कुछ अनुभवात्मक प्रयोग

मन को धारणा की स्थिति में ले जाने के लिए अनेक उपायों का प्रयोग होता है। जिनमें से कुछ प्रयोगों को यहाँ पर बतलाया जाता है –

धारणा विषयक पहला प्रयोग – मन को जड़ पदार्थ समझ करके नियंत्रण में लाना यह एक उपाय है। जब साधक मन को एक जड़ (ज्ञानरहित) प्राकृतिक पदार्थ व अपना उपकरण समझता है और उसको धारणा के क्षेत्र में स्थिर करना चाहता है तब मन धारणाक्षेत्र में स्थिर होने लगता है। जिस प्रकार से एक कार का चालक, कार को जड़ पदार्थ समझकर अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अधिकारपूर्वक चलाता है, तो वह सरलता से अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार साधक मन को कार की भांति जड़ पदार्थ समझकर अपने लक्ष्य धारणा पर स्थिर करना चाहता है, तो उसको सफलता मिलती है। परन्तु जड़ समझने पर भी पूर्व संस्कारों, असावधानी

आदि के कारण वह साधक बिना विचार किये ही अपने लक्ष्य से विरुद्ध विषय में मन को लगा देता है । और उसके पश्चात् साधक को पता चलता है कि मैंने असावधानी से योग से विरुद्ध विषय में मन को लगा दिया है । ऐसी स्थिति में साधक पुनः सावधान होकर फिर उसको जड़ समझकर प्रयोग करता है, तब उसको सफलता मिलती है ।

धारणा विषयक दूसरा प्रयोग – जब साधक अपने मन को अधिकार में करने का प्रयास करता है, तो लौकिक सुख व सुख के साधनों में रुचि होने के कारण वह अपने मन को अधिकार में नहीं कर पाता । परन्तु जब साधक यह देखता है कि यह सुख व सुख के साधन अनित्य हैं और समस्त सांसारिक सुख, दुःख से मिश्रित हैं । यदि मैं किसी भी सुख को ग्रहण करने का प्रयास करूँगा, तो सुख की प्राप्ति के साथ साथ महान् दुःख की प्राप्ति भी अवश्य ही होगी । इस परिणाम को देखकर वह अपने मन को नियंत्रण में करने का प्रयास करता है तो धारणा के केन्द्र में मन को स्थिर करने में सफल हो जाता है ।

धारणा विषयक तृतीय प्रयोग – मन को धारणा में केन्द्रित करने के लिए समय–२ पर यह देखना चाहिए कि मन को अस्थिर करने वाले विचार कैसे और कहाँ से उत्पन्न होते हैं । ऐसा करने से परिज्ञात हो जाता है कि विचारों को उठाने वाला मैं आत्मा ही हूँ और मुझसे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है । इस प्रयोग से मन को धारणा केन्द्र में स्थिर करने में सफलता मिलती है।

धारणा केन्द्र में मन को स्थिर करने के लिए साधक को यह विचार करना चाहिए कि यदि मैं धारणा केन्द्र में मन को स्थिर करने में सफल हो जाता हूँ, तो इससे ध्यान और समाधि की सिद्धि होगी और उससे मैं ईश्वर साक्षात्कार तक पहुँच जाऊँगा । अन्यथा मैं ईश्वर–प्राप्ति, जो मेरा मुख्य लक्ष्य है, उसको छोड़कर सांसारिक विषयों में ही आसक्त होकर विविध दुःखों को भोगूँगा।

जब धारणा की स्थिति अच्छी बन जाती है तो ध्यान करने में सुविधा हो जाती है । ध्यानकाल में साधक को निम्न सावधानियाँ रखनी चाहिएँ ।

(१) पहले साधक को ईश्वर के, गुण–कर्म–स्वभाव को बताने वाले मंत्र व वाक्यों का अर्थ अच्छी प्रकार से जान लेना चाहिए । ध्यान करते समय अर्थसहित जपवाक्य का प्रयोग करते रहना चाहिए । किन्तु कभी–कभी साधक मानसिक जप करता हुआ जप वाक्य को बन्द कर देता है, यदि जप वाक्य का उच्चारण बन्द हो जाये तो तत्काल उसको पुनः प्रारम्भ कर देता चाहिए ।

(२) ध्यान करते समय, जप वाक्य का प्रयोग करते हुए, उसका अर्थ चिन्तन करते हुए, इन समस्त क्रियाओं तथा अपनी आत्मा को ईश्वर समर्पित रखना चाहिए । जैसे कि लोक में एक शिष्य अपने गुरुजी के समक्ष बैठकर गायत्री मंत्र को अर्थ सहित सुनाता है, ऐसे ही साधक को ध्यान–काल में यह अनुभूति बनायी रखनी है कि मेरे परम गुरु परमेश्वर मेरे अर्थ सहित मंत्रोच्चारण को, मेरे पुरुषार्थ को तथा मेरे स्वरूप को अच्छी प्रकार से देख रहे हैं ।

(३) ध्यानकाल में जो ध्येय ईश्वर है, उसको छोड़कर अन्य किसी भी विषय पर विचार नहीं उठाना चाहिये । अन्य समस्त विचारों पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये ।

अब समाधि प्राप्ति हेतु कुछ मुख्य उपायों का वर्णन किया जाता है –

विवेक, वैराग्य, अभ्यास – समाधि प्राप्ति का एक प्रमुख उपाय यह है कि साधक को ईश्वर, जीव और प्रकृति विषयक यथार्थज्ञान कर लेना चाहिये । क्योंकि इन तीनों पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के बिना समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती । इन तीनों के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना '**विवेक**' है ।

जो दु:ख और दु:ख के कारण – अविद्या, अधर्म, ममत्व, कुसंस्कार आदि हैं, उनका परित्याग करके विद्या, धर्म, ईश्वर प्रणिधान, सुसंस्कार आदि, जो सुख और सुख के साधन हैं, उनका ग्रहण करना '**वैराग्य**' है ।

वैराग्य को प्राप्त करने तथा उसे स्थिर रखने के लिये सब प्रकार से सतत प्रयत्न करना '**अभ्यास**' है ।

प्रलयावस्था सम्पादन – साधक को संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का ज्ञान अच्छी प्रकार से कर लेना चाहिये । साधक को इस प्रकार से प्रयोग तथा चिन्तन करना चाहिये कि इस सृष्टि से पूर्व जो प्रलय की अवस्था थी, अर्थात् घोर अन्धकार की अवस्था थी । कोई निर्मित पदार्थ सूर्य, चन्द्र, तारे आदि कुछ भी नहीं थे । उस समय सत्त्व, रजस्, तमस् ये गुण अपनी साम्यावस्था में थे । साधक बौद्धिक स्तर पर इस अन्धकार की स्थिति को देखे । प्रलय के पश्चात् सत्त्व, रज, तम से ईश्वर ने क्रमशः महत्तत्व, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें, पाँच स्थूलभूत तथा स्थूलभूतों से निर्मित इस दृष्टिगोचर जगत तथा शरीर की उत्पत्ति की, साधक ऐसा चिन्तन करे । इसके पश्चात् अपने शरीर के सम्बन्ध में चिन्तन करे, कि यह नाशवान है; क्योंकि यह उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार अन्यों के शरीर भी नाशवान हैं, ऐसा विचारे । प्राणीमात्र के ये समस्त शरीर एक दिन नष्ट हो जायेंगे और नष्ट होकर पञ्च स्थूलभूतों में लीन हो जायेंगे । तत्पश्चात् ये स्थूल भूत तन्मात्राओं में लीन हो जायेंगे । फिर तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ और मन, अहंकार में लीन हो जायेंगे । फिर अहंकार, महत्तत्व में और महत्तत्व, मूल प्रकृति में लीन हो जायेंगे । ऐसा विचारपूर्वक चिन्तन करने से भावी प्रलय बौद्धिक स्तर पर समझ में आ जायेगी । साधक ने इस सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था को घोर अन्धकार के रूप में बौद्धिक स्तर पर सम्पादित किया था, उसे और उपर्युक्त चिन्तनानुसार भावी प्रलय के बौद्धिक स्तरों को परस्पर मिला देने पर, साधक वर्त्तमान संसार को भी बौद्धिक स्तर पर प्रलय रूप में देखने में सफल हो जाता है । ऐसी बौद्धिक स्थिति में वस्तुमात्र का आकार प्रकार समाप्त हुआ दिखता है, इससे वृत्तियों का निरोध हो जाता है ।

यह प्रलयवत् अवस्था प्रारंभ में आँख बन्द करके बनाई जाती है । फिर अभ्यास करते-२ आँख खोलकर भी बनाई जा सकती है । वृत्तियों के निरोध हेतु यह विशेष उपाय है । योग जिज्ञासु को इसका प्रयोग योग में उन्नति हेतु अवश्य करना चाहिये । इस प्रलयवत् बौद्धिक अवस्था की

प्राप्ति होने पर साधक घोर अन्धकार की स्थिति में ईश्वर को सर्वव्यापक और स्वयं (आत्मा) को सर्वव्यापक ईश्वर में डूबा हुआ देखता है । उसी स्थिति में ईश्वर के साथ माता, पिता, आचार्य आदि के सम्बन्ध बनाकर उसकी उपासना करने में सफल हो जाता हैं ।

व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध – जो साधक अपने समस्त दैनिक क्रिया व्यवहारों में तथा उपासनाकाल में ईश्वर को सर्वत्र 'व्यापक' तथा जीवात्माओं, समस्त लोक लोकान्तरों एवं कारणरूप मूल प्रकृति को 'व्याप्य' समझता है, वह साधक समाधि प्राप्ति में सफल हो जाता है । व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध बनाने में कभी-कभी साधक कुछ भूलें कर देता है । जैसे ध्यान काल में ईश्वर को कहीं दूर देश में मानकर, उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है, सर्वत्र व्यापक मानकर नहीं करता । और ऐसे ही कभी-कभी ईश्वर को शरीर के दाँयें, बाँयें, ऊपर, नीचे मानकर तो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है परन्तु शरीर में ईश्वर को व्यापक मानना भूल जाता है । इसी प्रकार से कभी-२ साधक शरीर के बाहर और अन्दर भी ईश्वर को व्यापक मानकर उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना करता है परन्तु स्वयं (आत्मा) में ईश्वर को व्यापक स्वीकार नहीं कर पाता । ऐसी भूलों के कारण समाधि-प्राप्ति में कठिनाईयाँ उत्पन्न हो जाती हैं । इसलिये साधक को अपनी आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों, शरीर, लोक-लोकान्तर, कार्य जगत और सत्त्व, रज, तम, (प्रकृति) में ईश्वर को 'व्यापक' और इन्हें 'व्याप्य' मानकर ईश्वर की उपासना करनी चाहिये । ऐसा करने पर समाधि-प्राप्ति में सरलता हो जाती है ।

ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वरसमर्पण – यह समाधि प्राप्ति हेतु विशेष उपाय है । इसके विषय में प्रथम पाद के सूत्र २३ '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**' में देखें ।

समाधि की स्थिति में कुछ अनुभूतियाँ

(१) जब समाधि प्राप्त होती है तब हमारे शरीर पर कुछ प्रभाव होते हैं । उन प्रभावों में से एक प्रभाव यह है कि साधक के मस्तक के मध्य भाग में एक विशेष दबाव अनुभव में आता है, मानो कि कोई वस्तु मस्तक में चिपका दी गई हो ।

(२) दूसरा प्रभाव यह अनुभव में आता है कि समाधि अवस्था में साधक में शीत व उष्णता को सहने का विशेष सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । उदाहरण के लिये साधक को समाधि की स्थिति से पूर्व यदि शीत से शरीर की रक्षा के लिये एक कुर्ता व कम्बल धारण करने पडे थे । उसी साधक को समाधि की स्थिति में अब इन शरीर रक्षक वस्त्रों के न धारण करने पर भी शीत बाधित नहीं करता है । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि साधक को बर्फ से ढकने पर भी उसे शीत बाधित नहीं करेगा । एक सीमा तक ही सहनशक्ति में वृद्धि माननी चाहिये ।

(३) इसी प्रकार से रुग्ण अवस्था में भी एक सीमा तक साधक को रोग बाधित नहीं करता।

(४) समाधि के प्राप्त होने पर साधक को यह मानसिक अनुभूति होती है कि मैं समस्त दु:खों, क्लेशों व बन्धनों से छूट गया हूँ और संसार के अन्य समस्त प्राणी बन्धनों, क्लेशों से ग्रस्त हैं।

(५) बौद्धिक स्तर पर वह आकाशवत् अवस्था का अनुभव करता है अर्थात् उसे संसार की प्रलयवत् अवस्था दिखाई देती है । उस स्थिति में वह मृत्यु आदि समस्त भयों से मुक्त हो जाता है।

(६) इस अवस्था में संसार के समस्त पदार्थों का स्वामी ईश्वर को ही मानता है और अपने तथा समस्त प्राणियों के बने हुवे स्वस्वामी सम्बन्ध को समाप्त कर देता है । यह अवस्था उसे इतनी प्रिय और सुखप्रद लगती है कि संसार के समस्त सुखों को वह दु:खरूप देखता है । इस स्थिति व सुख को वह छोड़ना नहीं चाहता । इस स्थिति को छोड़कर के वह रात्रि में सोना नहीं चाहता परन्तु स्वास्थ्य रक्षा हेतु उसे रात्रि में सोना पड़ता है ।

(७) ईश्वरप्रणिधान से युक्त इस बौद्धिक स्तर पर सम्पादित की गई प्रलयावस्था में सम्प्रज्ञात समाधि का प्रारम्भ हो जाता है । इस अवस्था में साधक को देहादि से पृथक् अपने स्वरूप की अनुभूति होनी प्रारम्भ हो जाती है । सम्प्रज्ञात समाधि का जैसे–जैसे उत्कर्ष होता चला जाता है वैसे–वैसे शरीर, इन्द्रियों, मनादि उपकरणों से पृथक्, अपने स्वरूप की अनुभूति होनी प्रारम्भ हो जाती है । धीरे धीरे अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति में भी स्पष्टता बढ़ती चली जाती है अर्थात् साधक का अपने स्वरूप विषयक ज्ञान प्रवृद्धि को प्राप्त होता चला जाता है । साधक सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम उत्कर्षता को प्राप्त करके भी पूर्णरूपेण सन्तुष्ट नहीं हो पाता है । क्योंकि अभी उसकी ईश्वर साक्षात्कार की अभिलाषा पूर्ण नहीं हो पाई है ।

(८) ईश्वरसाक्षात्कार के लिये वह परमात्मा, ओम् आदि शब्दों को लेकर बार बार ईश्वर के नाम को जपता हुआ ईश्वरप्रणिधान की ऊँची स्थिति को बना लेता है । जिस प्रकार से एक छोटा बालक अपनी माता के भीड़ में खो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिये अत्यन्त लालायित होता है, उस समय उस बालक को अपनी माता के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता । वह बार–बार माताजी, माताजी.......ऐसा बोलता है । इसी प्रकार से साधक ईश्वर साक्षात्कार के लिये बार–बार हे परमात्मा हे परमात्मा.......ऐसा बोलता है । ऐसी स्थिति में ईश्वर उसको सुपात्र मानकर अपनी शरण में ले लेता है और उसको अपना विशिष्ट ज्ञान देकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करवा देता है । इस ईश्वरसाक्षात्कार की अवस्था में साधक को ईश्वर के विशिष्ट नित्य आनन्द तथा विशिष्ट ज्ञान की अनुभूति होती है । इस अवस्था में सर्वव्यापक ईश्वर का साक्षात्कार ऐसे ही होता है जैसे कि लोहे के गोले में अग्नि सर्वव्यापक दिखाई देती है ।

(९) साधक सब जीवों तथा लोक लोकान्तरों को ईश्वर में व्याप्य तथा ईश्वर को इनमें व्यापक प्रत्यक्षरूप में अनुभव करता है । और साधक यह अनुभव करता है कि मैंने जो पाना था सो पा

लिया और जो जानना था वह जान लिया। अब इस से अतिरिक्त कुछ और पाने योग्य और जानने योग्य शेष नहीं रहा ॥ ३ ॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ – (त्रयम्) धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का (एकत्र) एक विषयक होना (संयमः) संयम है ।

सूत्रार्थ – धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का एक विषय के साक्षात्कार के लिये प्रयोग करना 'संयम' है। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों का इस शास्त्र में यह पारिभाषिक नाम है।

व्या० भा० – तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते । तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ॥ ४ ॥

व्या० भा० अ० *– एक विषयक (धारणा, ध्यान, समाधि नामक) तीनों साधन संयम कहे जाते हैं। (अर्थात् इन तीनों का समुदित नाम संयम है) इस कारण इन तीनों की शास्त्रीय परिभाषा 'संयम' है ॥ ४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **संयम का लक्षण** किया गया है ।

जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषय में किये जाते हैं तब इन तीनों साधनों को **संयम** कहा जाता है। यह योगदर्शनकार ने परिभाषा बनाई है कि इस शास्त्र में धारणा, ध्यान और समाधि को संयम कहा जायेगा । जहाँ–जहाँ पर संयम शब्द का प्रयोग होगा वहाँ–वहाँ पर इन तीनों का ग्रहण होगा। इससे यह सुविधा होगी कि तीनों का नाम पृथक्–पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं होगी । इस शास्त्र में बतलाई विविध विभूतियों की प्राप्ति के लिए इन धारणा, ध्यान और समाधि का एक काल में प्रयोग किया जाता है। कभी–कभी धारणा किसी अन्य विषय पर की जाती है और ध्यान किसी अन्य विषय का किया जाता है। जैसे शरीर के हृदय आदि अङ्गों में धारणा की जाती है और ध्यान ईश्वर का किया जाता है । जब शरीर के स्वरूप को जानने के लिए इन तीनों का प्रयोग होता है तो शरीर में ही धारणा, ध्यान, समाधि तीनों का प्रयोग होता है। यहाँ पर तीनों का एक विषय शरीर ही है । जब योगाभ्यासी शरीर से बाहर किसी वृक्ष के स्वरूप को जानना चाहता है तो धारणा, ध्यान और समाधि उसी एक वृक्ष के विषय में ही होते है अर्थात् तीनों का प्रयोग एक को जानने के लिए ही किया जाता है । दूसरी बात यह भी है कि प्रारंभ में धारणा का अभ्यास किया जाता है उस समय ध्यान और समाधि का प्रयोग नहीं होता है। इसलिए एक काल में एक विषय में जब इन तीनों का प्रयोग होता है तब इनको 'संयम' शब्द से कहा जाता है ॥ ४ ॥

तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ – (तत्–जयात्) उस संयम के सिद्ध होने से (प्रज्ञा–आलोकः) समाधि प्रज्ञा का उत्कर्ष होता है ।

सूत्रार्थ – उस संयम के जय अर्थात् परिपक्वता (वश्यता) के होने से समाधि प्रज्ञा का विकास होता है ।

व्या० भा० – तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको, यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा[1] समाधिप्रज्ञा विशारदीभवति ॥ ५ ॥

व्या० भा० अ० *– उस संयम के जीत लेने पर समाधि प्रज्ञा का आलोक (उत्कर्ष) होता है । जैसे जैसे संयम दृढ़ (परिपक्व) होता जाता है वैसे वैसे समाधि प्रज्ञा निर्मल होती जाती है ॥ ५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **संयम की सिद्धि का फल** बतलाया है ।

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का अभ्यास करते–करते जब परिपक्व अवस्था आ जाती है तब बुद्धि का विशेष विकास होता है ।

(१) जब यम, नियम आदि अङ्गों का पालन करते हुए धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास किया जाता है तब रजोगुण, तमोगुण निर्बल हो जाते हैं और सत्त्वगुण प्रबल हो जाता है । सत्त्व गुण के प्रबल होने से बुद्धि का विकास होता हैं, कुसंस्कार निर्बल हो जाते है और सुसंस्कार प्रबल हो जाते हैं ।

(२) वैशेषिककार महर्षि कणाद जी ने संस्कार दोष से अविद्या की उत्पत्ति बतलाई है । **इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या** ॥ वैशेषिक ९/२/१० ॥ इससे अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि सुसंस्कार से विद्या उत्पन्न होती है ।

(३) यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ईश्वर भी उपासकों को विद्या प्रदान करता है । उससे ज्ञान की वृद्धि होती है । जो लोग यह मानते हैं कि ज्ञान का विकास स्वयं हो जाता है ज्ञानदाता ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है । क्योंकि ज्ञान बिना ज्ञाता के नहीं रह सकता । इसलिए ज्ञान का आधार ईश्वर है और उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान से ही जीवात्मा सफल होता है । वेद में ईश्वर ने कहा है कि –

यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ऋ० १०।१२५।५ ॥

भावार्थ – मैं जिस–जिस को चाहता हूँ उस–उस को बलवान् करता हूँ और जिसको चाहता हूँ, उसको ब्रह्मा (चतुर्वेदवित्) बनाता हूँ और जिसको चाहता हूँ उसको ऋषि और जिसको चाहता हूँ, उसको उत्तमबुद्धि से युक्त करता हूँ । इसलिये प्रज्ञा लोक की सिद्धि होती है ।

तं सुमेधाम्.....यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो व्यक्ति ईश्वर की आज्ञा का पालन करता है और उसकी उपासना करता है उसको ईश्वर मेधावी बना देता है । सब को नहीं बनाता तथा स्वेच्छा से वा बिना पुरुषार्थ किये भी किसी को नही बनाता ॥ ५ ॥

---

१. अत्र क्वचिद् 'ईश्वरप्रसादाद्' इत्यापि लिखितम् ।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ – (तस्य) उस संयम का (भूमिषु) योगभूमियों = अवस्थाओं में (विनियोगः) प्रयोग करना चाहिये ।

सूत्रार्थ – योग की स्थूल भूमियों में वश्यता प्राप्त होने पर उसके अनन्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम भूमियों में संयम का प्रयोग करना चाहिये ।

व्या० भा० – तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः । न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते । तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः ! ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः । कस्मात् ? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात् । भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः । कथम् ? एवं ह्युक्तम् –

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥ इति ॥ ६ ॥

व्या० भा० अ० *– उस संयम की जितभूमि की जो अगली भूमि है उसमें विनियोग = प्रयोग करना चाहिये । निम्न भूमि को न जीतनेवाला योगी तदनंतर भूमि को छोड़कर अगली ऊँची भूमियों में संयम नहीं कर सकता । उस संयम के न होने से प्रज्ञा लोक = (उस योगी की प्रज्ञा का उत्कर्ष) कैसे हो सकता है ? ईश्वर की कृपा से अगली भूमियों को जीते हुए योगी का परचित्त ज्ञान आदि पिछली भूमियों में संयम अपेक्षित नहीं है । क्यों ? वह अर्थ (उत्तरभूमिजय) अन्य कारण (ईश्वरप्रसाद) से ज्ञात होने से । इस भूमि के अनन्तर यह यह भूमि है इस विषय में योग ही गुरु = मार्गदर्शक है । कैसे ? ऐसा ही कहा है –*

योग, योग के द्वारा जानने योग्य है । योग, योग से आगे बढ़ता है । योग में जो अप्रमत्त = (असावधान नहीं होता) है, वह दीर्घकाल तक योग में रमण करता है अर्थात् योगजन्य आनन्द का अनुभव करता है ॥ ६ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि उस **विकसित बुद्धि का प्रयोग योग की भूमियों में** (योग के भिन्न–भिन्न स्तरों में) करना चाहिये ।

जब योगी को योग की एक स्थिति प्राप्त हो जाये तब आगे की स्थिति को प्राप्त करने के लिए उसे प्रज्ञालोक का प्रयोग करना चाहिये । कोई व्यक्ति पर्वत पर चढ़ना चाहता है तो अंधेरा होने पर उसको ऊपर चढ़ने के लिए दीपकादि की आवश्यकता होती है । इसी प्रकार से ऊँचे योग की प्राप्ति के लिये योगी को ऊँची बुद्धि की आवश्यकता होती है । इसलिये कहा है कि – उस प्रज्ञालोक का योग की अवस्थाओं में प्रयोग करना चाहिये । योग की एक अवस्था को प्राप्त करके उसके पश्चात् उससे आगे की अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्रयास करना चाहिये । यदि निकट वाली अवस्था को छोड़कर ऊँची (दूर वाली) अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तो योगी को उसमें सफलता नहीं मिलती । इसलिये क्रमशः योग की एक एक अवस्था

को प्राप्त करते हुए ही योगी को आगे की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। ईश्वरप्रणिधान से योगी को ईश्वर ज्ञान प्रदान करता है। उसके द्वारा आगे की भूमियों की प्राप्ति हो जाती है तो अन्य भूमियों में संयम करने की आवश्यकता नहीं हैं। इस योगभूमि के निकट यह आगे की भूमि है, इस विषय में योग को ही **'उपाध्याय'** माना जाता है अर्थात् योग की एक अवस्था को प्राप्त करने पर उसके आगे की अवस्था ज्ञात होती है। जैसे सवितर्का समाधि की प्राप्ति होने पर निर्वितर्का समाधि को प्राप्त करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। इसलिये यह कहा जाता है कि योग ही योग का शिक्षक है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि योगविद्या का प्रशिक्षण देने वाले गुरु की आवश्यकता ही नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि योग की प्रथम अवस्था का अनुभव होने पर आगे की अवस्था का अनुभव स्वयं करना पड़ता है। केवल गुरु के उपदेशमात्र से वह अनुभव नहीं होता। योगविद्या का प्रशिक्षण देने वाला आचार्य शिष्य को उपदेश के माध्यम से योग के स्वरूप को बतला देता है। उस उपदेश के अनुसार आचरण करने से योग की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अनुभव साधक को स्वयं करना पड़ता है, जो व्यक्ति विधिपूर्वक योगाभ्यास करता है, उसको अवश्य ही सफलता मिलती है। कुछ लोग यह कहते हैं कि हमने योगाभ्यास किया और उसमें कोई सफलता नहीं मिली। सफलता न मिलने का कारण योग झूठा है ? ऐसा नहीं है; किन्तु योगाभ्यास विधिपूर्वक न करना, यहाँ कारण है ॥ ६ ॥

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ – (त्रयम्) ये तीन (अन्तरङ्गम्) निकटतम साधन है (पूर्वेभ्यः) यम-नियम आदि की अपेक्षा से।

सूत्रार्थ – पूर्वपाद में बतलाये हुए यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार की अपेक्षा से ये तीन धारणा, ध्यान और समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरङ्ग अर्थात् समीपतम साधन हैं।

व्या० भा० – तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमन्तरङ्गं संप्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादिभ्यः पञ्चभ्यः साधनेभ्य इति ॥ ७ ॥

व्या० भा० अ० *– वह यह (धारणा, ध्यान, समाधि) तीनों यमादि की अपेक्षा 'सम्प्रज्ञात समाधि' के 'अन्तरङ्ग साधन' हैं ॥ ७ ॥*

यो० प्र० – इस में धारणा, ध्यान और समाधि को **सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन** बतलाया है।

यम, नियम, आसन, आदि पाँच अङ्गों को सम्प्रज्ञात समाधि का 'बहिरङ्ग साधन' बतलाया है। इस तीसरे पाद में धारणा, ध्यान और समाधि को सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन बतलाया है। जो कार्य की सिद्धि में दूर से सहायता करे वह बहिरङ्ग है, और जो निकटता से करे वह अन्तरङ्ग है। यम, नियम, आसन आदि पाँच अङ्ग सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि में दूर से सहायता करते हैं

इसलिये ये बहिरङ्ग हैं । धारणा, ध्यान, समाधि ये सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि में निकटता से सहायता करते हैं । इसलिये ये अन्तरङ्ग साधन हैं । इस तीसरे पाद में ईश्वरप्रणिधान को सम्प्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग साधन कहा है ।

यहाँ पर यह बात विचारणीय है कि ईश्वरप्रणिधान समाधि का बहिरङ्ग ही होता है अथवा अन्तरङ्ग भी होता है ? साधकों के स्तर और प्रयोग की न्यूनता, अधिकता, स्थूलता, सूक्ष्मता के आधार पर ईश्वर प्रणिधान बहिरङ्ग वा अन्तरङ्ग होता है । यहाँ पर तीसरे पाद में ईश्वरप्रणिधान को सम्प्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग कहा है । यहाँ पर साधक अल्प स्तर का है और ईश्वरप्रणिधान का प्रयोग अल्प काल तक, अल्पमात्रा और स्थूल रूप में करता है । जैसे ईश्वरप्रणिधान में अल्प समय लगाना, मन, वाणी, शरीर से होने वाली क्रियाओं को अल्पमात्रा में ईश्वरार्पण करना वा कुछ को अर्पित करना और कुछ को न करना, कुछ कर्मों का लौकिक फल चाहना और कुछ का न चाहना । ईश्वर के प्रति न्यून प्रेम रखना, स्वयं को कभी ईश्वरार्पण करना और कभी न करना, ईश्वराज्ञा का कभी पालन करना और कभी न करना, इस स्थिति में ईश्वरप्रणिधान बहिरङ्ग साधन माना जायेगा। जहाँ पर इसके विपरीत ईश्वर-प्रणिधान का प्रयोग होगा वहाँ पर अन्तरङ्ग साधन माना जायेगा । जैसे "**ईश्वर-प्रणिधानाद्वा**" ॥ योग० १/२३ ॥ यहाँ पर ईश्वरप्रणिधान, असंप्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन है । यहाँ योगाभ्यासी उच्चकोटि का है, ईश्वरप्रणिधान को सूक्ष्मता से करता है, उसमें अधिक समय लगाता है, ईश्वराज्ञा का पालन अधिक मात्रा में करता है, उससे अधिक प्रेम करता है, समस्त क्रियाओं को उसको अर्पित करता है । उसने परवैराग्य की प्राप्ति की है इत्यादि कारणों से ईश्वर-प्रणिधान अन्तरङ्ग साधन है । "**यमैवैष वृणुते**" ॥ कठोपनिषद् २/२३ ॥ अर्थात् "जिस योगी को ईश्वर चुन लेता है" इस प्रकरण में भी ईश्वरप्रणिधान अन्तरङ्ग साधन है । इसी प्रकार से इसकी बहिरङ्गता और अन्तरङ्गता जाननी चाहिये ॥ ७ ॥

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ – (तद्-अपि) वह अन्तरङ्ग साधन भी (बहिरङ्गम्) बहिरङ्ग साधन है (निर्बीजस्य) असम्प्रज्ञात समाधि का ।

सूत्रार्थ – वह अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि का बहिरङ्ग = बाहर का अङ्ग है ।

व्या० भा – तदप्यन्तरङ्गं साधनत्रयं निर्बीजस्य योगस्य बहिरङ्गं भवति । कस्मात् ? तद्भावे भावादिति ॥ ८ ॥

व्या० भा० अ० *– वे अन्तरङ्ग (धारणा, ध्यान, समाधि नामक) तीन साधन निर्बीज योग के बहिरङ्ग (साधन) हैं । किस कारण ? उनका अभाव होने पर निर्बीज समाधि की सिद्धि होने से ॥ ८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि को **निर्बीज समाधि का बहिरङ्ग साधन** बतलाया है ।

यम–नियम आदि पाँच सम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग हैं । धारणा, ध्यान, समाधि भी निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। ये धारणा आदि तीन साधन, सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि में निकटता से सहायक हैं और निर्बीज समाधि की सिद्धि में परम्परा से सहायक होते हैं। इन धारणा, ध्यान और समाधि के बहिरङ्ग होने का कारण यह है कि इन तीनों के हट जाने पर असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है । सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची स्थिति सिद्ध होने पर विवेकख्याति उत्पन्न होती है । विवेक–ख्याति में भी योगी दोष देखता है। उससे परवैराग्य की उत्पत्ति होती है। परवैराग्य से निर्बीजसमाधि की सिद्धि होती है। इसलिए परवैराग्य निर्बीजसमाधि का अन्तरङ्ग साधन है और धारणा, ध्यान, समाधि परम्परा से सहायक होने से बहिरङ्ग साधन हैं। बहिरङ्गता और अन्तरङ्गता का यह भी कारण है कि सम्प्रज्ञात समाधि सालम्बन है और उसके साधन धारणा, ध्यान, समाधि भी सालम्बन हैं । इसलिए वे उसके अन्तरङ्ग साधन हैं। निर्बीज समाधि निरालम्बन है और उसका साधन परवैराग्य भी निरालम्बन है। इसलिए वह उसका अन्तरङ्ग साधन है ॥ ८ ॥

अव०- अथ निरोधचित्तक्षणेषु चलं गुणवृत्तमिति कीदृशस्तदा चित्तपरिणामः -

अर्थ० - गुणों का स्वभाव चंचल है। इसलिए चित्त के निरोधकाल में चित्त का परिणाम किस प्रकार का होता है अब (इसको सूत्र के द्वारा कहा जाता है) -

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ - (व्युत्थान–निरोध–संस्कारयोः) व्युत्थान और निरोध संस्कारों का (अभिभव–प्रादुर्भावौ) छिपना–प्रकट होना होता है (निरोध–क्षण–चित्त–अन्वयः) निरोधकालिक चित्त इन दोनों व्युत्थान निरोध संस्कारों से युक्त होता है (निरोध–परिणामः) यह 'निरोध परिणाम' है ।

सूत्रार्थ - व्युत्थान संस्कारों का दबना अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों का दब जाना और निरोध संस्कारों का प्रकट होना अर्थात् असंप्रज्ञात–समाधि के संस्कारों का प्रकट होना, निरोध कालिक चित्त का व्युत्थान और निरोध संस्कारों से युक्त होना, यह चित्त का 'निरोध परिणाम' है ।

व्या० भा० - व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मका इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः । निरोधसंस्कारा अपि चित्तधर्माः । तयोरभिभवप्रादुर्भावौ । व्युत्थानसंस्कारा हीयन्ते, निरोधसंस्कारा आधीयन्ते। निरोधक्षणं चित्तमन्वेति। तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वं निरोधपरिणामः। तदा संस्कारशेषं चित्तमिति निरोधसमाधौ (१।१८) व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

व्या० भा० अ० *- व्युत्थान संस्कार चित्त के धर्म हैं। वे ज्ञानात्मक नहीं होते इसलिए ज्ञान के निरोध होने पर निरुद्ध नहीं होते। निरोध संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। उन दोनों का अभिभव*

प्रादुर्भाव (तिरोभाव-प्रादुर्भाव) होता रहता है। व्युत्थान संस्कार दबते जाते हैं। निरोध संस्कार प्रादुर्भूत (प्रकट) होते जाते हैं। निरोधकालिक चित्त में यह परिणाम अन्वित रहता है (निरोध कालिक चित्त उन दोनों प्रकार के संस्कारों के साथ अन्वित रहता है)। इसलिए एक चित्त का क्षण-क्षण में होने वाला यह अन्यथाभाव 'निरोध परिणाम' कहलाता है। उस समय (निरोध परिणाम के समय) चित्त निरोधकालीन संस्कारमात्र शेष वाला होता है, यह निरोध समाधि (योगदर्शन सूत्र १/१८) में बताया जा चुका है ॥ ९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **निरोध परिणाम का स्वरूप** बतलाया है।

क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त चित्त की इन तीन अवस्थाओं में जो चित्त पर संस्कार पड़ते हैं, वे सम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से व्युत्थान संस्कार हैं। सम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में जो चित्त पर संस्कार पड़ते हैं, वे असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा से व्युत्थान संस्कार कहे जाते हैं। व्युत्थान संस्कार चित्त का धर्म है और निरोध संस्कार भी चित्त का धर्म है। इन दोनों प्रकार के संस्कारों से चित्त सम्बद्ध रहता है। जब योगी ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों को रोक देता है तो निरोध संस्कार उत्पन्न होते हैं। निरोध संस्कारों के तीव्र होने से व्युत्थान संस्कार अभिभूत हो जाते हैं अर्थात् अपना कार्य करना छोड़ देते हैं। इस स्थिति में निरोध संस्कार अपना कार्य करना प्रारंभ कर देते है। यह है व्युत्थान संस्कारों का अभिभव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव। निरोधकाल में चित्त इन दोनो प्रकार के संस्कारों से युक्त रहता है। यह चित्त का '**निरोध परिणाम**' है।

चित्त में प्रतिक्षण सत्त्वादिगुणों में परिवर्तन होता रहता है, गुणों के इस परिवर्तन को भी इस सूत्रभाष्य में '**व्युत्थान संस्कार**' के नाम से कहा गया है। ये संस्कार ज्ञानात्मक नहीं हैं। इसलिए वृत्तियों के रुक जाने पर भी ये नहीं रुकते। क्योंकि वृत्तियाँ इनका कारण नहीं हैं। किन्तु सत्त्व, रजस्, तमस् का स्वभाव ही इनका कारण है। यह व्युत्थान संस्कारों का अभिभव हो जाना और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होना योगी के प्रयत्न से होता है, स्वयं नहीं। जब सुषुप्ति अवस्था होती है जब योगी प्रयत्न नहीं करता तो निरोध संस्कार अभिभूत हो जाते हैं अर्थात् दब जाते हैं और व्युत्थान संस्कारों का प्रादुर्भाव हो जाता है। उस समय में निर्बीज समाधि नहीं रहती। जब योगी निद्रा से उठता है तो अपने प्रयत्न से व्युत्थान संस्कारों को रोक देता है और निरोध संस्कारों को उद्बुद्ध कर लेता है। तब निर्बीज समाधि प्रारम्भ हो जाती है। इससे यह बात भी ज्ञात होती है कि अनेक बार निर्बीज समाधि भङ्ग होती है और अनेक बार प्रयत्न से उसको सिद्ध किया जाता है। ऐसा नहीं जानना चाहिए कि एक बार असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होते ही जीवात्मा का मोक्ष हो जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि के समय ईश्वर का साक्षात्कार होता है। उससे क्लेशों की निवृत्ति, आनन्द, ज्ञान, निर्भयतादि गुणों की प्राप्ति होती है। जब निद्राकाल से योगी उठता है तो असम्प्रज्ञात समाधि में आनन्द, ज्ञान के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के कारण शीघ्र ही असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है। योगाभ्यासी प्रथम क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त अवस्थाओं के संस्कारों को रोकता है, उसके पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कारों को रोकता है। उनके रुक जाने से और

निरोध संस्कारों के जागृत होने से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । इस निरोध परिणाम का वेद में वर्णन है –

तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ यजुर्वेद ४०/७ ॥

भावार्थ – (तत्र) उस परमात्मा आदि में (एकत्वम्) अद्वितीय भाव की (अनुपश्यतः) अनुकूल योगाभ्यास से साक्षात् देखते हुए योगिजन को (कः) कौन (मोहः) मूढ़ावस्था और (कः) कौन (शोकः) शोक वा क्लेश होता है अर्थात् कुछ भी नहीं ।

– महर्षि दयानन्द वेदभाष्य

ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या और क्लेश नहीं रहते ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ – (तस्य) उस चित्त का (प्र-शान्त-वाहिता) प्रशान्तरूप से रहना (संस्कारात्) निरोध संस्कारों से होता है ।

सूत्रार्थ – निरोध संस्कारों के लगातार अभ्यास से निरोध अवस्था वाले चित्त की, व्युत्थान संस्कार रूप मल से रहित, निरोध संस्कार परम्परामात्र-वहनशील स्थिति होती है अर्थात् उस काल में निरोध संस्कारों के विमलधाराप्रवाह से चित्त युक्त हो जाता है ।

व्या० भा० – निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति । तत्संस्कारमान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयत इति ॥ १० ॥

व्या० भा० अ० – निरोध संस्कारों के अभ्यास की पटुता की अपेक्षा रखने वाली चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति निरोध संस्कार से होती है । निरोध संस्कार के मन्द होने पर व्युत्थानधर्म युक्त संस्कार के द्वारा निरोधधर्म युक्त संस्कार दबाया जाता है ॥ १० ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **निरोध परिणाम वाले चित्त की स्थिति** का कथन है ।

निरोध संस्कारों का अधिक अभ्यास करने से चित्त की 'प्रशान्तवाहिता स्थिति' होती है अर्थात् चित्त प्रशान्त रूप में रहता है । व्यासभाष्य १/५ में कहा है कि – **आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते** असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त आत्मा के तुल्य पवित्र होकर रहता है । इस प्रशान्तवाहिता को स्थिर करने के लिए योगी को दीर्घकाल पर्यन्त सतत निरोधावस्था का अभ्यास करना पड़ता है । परवैराग्य आदि साधनों का ग्रहण एवं व्युत्थान संस्कार आदि बाधकों का परित्याग करने से समाधि भंग नहीं होती। यदि योगी आलस्य आदि के कारण पुरुषार्थ करना छोड़ देता है अथवा असावधान हो जाता है तो पुनः व्युत्थानसंस्कार निरोध संस्कारों को दबा लेते हैं । उससे असम्प्रज्ञात समाधि भंग हो जाती है । इसलिये इस निरोधावस्था को स्थिर रखने के लिये पूर्ण प्रयास करना चाहिये । संसार में कहीं भी ऐसी अन्य अवस्था नहीं है । इस अवस्था को प्राप्त करके योगी यह मानता है कि ''**प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाःक्षेतव्याः क्लेशाः**'' ॥ योग० १-१६ व्या० भा० ॥ अर्थात् जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है, नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ – (सर्वार्थता-एकाग्रतयोः) सर्वार्थता और एकाग्रता का (क्षय-उदयौ) क्षय और उदय होना (चित्तस्य) चित्त का (समाधि-परिणामः) समाधि परिणाम है ।

सूत्रार्थ – सर्वार्थता = चित्त का अनेक विषयों में प्रवृत्त होना, एकाग्रता = चित्त का एक ही विषय में प्रवृत्त होना, इन दोनों का अर्थात् सर्वार्थता का क्षय (= तिरोभाव) और एकाग्रता का उदय (= प्रकट होना), यह चित्त का 'समाधिपरिणाम' है ।

व्या० भा० – सर्वार्थता चित्तधर्मः । एकाग्रतापि चित्तधर्मः । सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः । एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तम् । तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

व्या० भा० अ० *– सब विषयों की ओर उन्मुख होना (अनेकाग्रता) चित्त का धर्म है । एकाग्रता भी चित्त का धर्म है । सर्वार्थता का क्षय अर्थात् = तिरोभाव, यह अर्थ है । एकाग्रता का उदय, उदय का अर्थ आविर्भाव = प्रकट होना है । उन दोनों (सर्वार्थता व एकाग्रता) धर्मों के साथ चित्त धर्मी के रूप में अनुगत रहता है । तिरोहित होने और प्रकट होने रूप अपने में होने वाले (सर्वार्थता व एकाग्रता) धर्मों के साथ अनुगत रहनेवाला वह यह चित्त समाहित होता है, वह चित्त का 'समाधि परिणाम' है ॥ ११ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **चित्त के समाधि परिणाम** का वर्णन है ।

चित्त का विविध विषयों में प्रवृत्त होना अर्थात् व्यक्ति के द्वारा चित्त को अनेक विषयों में लगा देना, यह सर्वार्थता है । अभ्यास वैराग्य के द्वारा उसको योग से सम्बद्ध किसी एक विषय में स्थिर कर देना यह एकाग्रता है । सर्वार्थता चित्त का धर्म है । एकाग्रता भी चित्त का धर्म है । योगी द्वारा प्रयत्न से चित्त की सर्वार्थता दूर कर दी जाती है । अर्थात् उसका क्षय = (तिरोभाव) कर दिया जाता है । चित्त में एकाग्रता को वह उत्पन्न कर देता है । सर्वार्थता और एकाग्रता इन दोनों धर्मों में धर्मीरूप से चित्त सम्बद्ध रहता है । यह चित्त की सर्वार्थता का हट जाना और किसी एक पदार्थ में एकाग्र हो जाना चित्त का 'समाधि परिणाम' है ।

चित्त को क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त अवस्थाओं से रोककर, योग से सम्बद्ध किसी एक विषय में अधिकारपूर्वक स्थिर करना साधक का कर्तव्य है । अपने आप चित्त एकाग्रता को प्राप्त नहीं होता । यद्यपि एकाग्रता चित्त का धर्म है । परन्तु यह स्वयं उत्पन्न नहीं होता । सर्वार्थता भी चित्त का ही धर्म हैं । यह भी स्वयं उत्पन्न नहीं होता । इन दोनों को उत्पन्न करने वाला जीवात्मा है । यदि व्यक्ति यह मानता है कि चित्त एक चेतन वस्तु है, वह स्वयं चंचल होता है और स्वयं एकाग्र होता है तो उसका चित्त को अधिकारपूर्वक दीर्घकाल तक एकाग्र करना असम्भव है । योगाभ्यासी और भौतिक वैज्ञानिक जो चित्त को जड़ न भी जान पाये हों, वे योग के प्रति श्रद्धा होने और अत्यन्त परिश्रम करने के कारण मन को किसी सीमा तक एकाग्र करते हैं । उस स्थिति में आत्मा,

परमात्मा, मन आदि पदार्थों का साक्षात्कार नहीं कर सकते । वे दीर्घकाल पर्यन्त साधिकार किसी विषय में मन को एकाग्र नहीं कर सकते । इसलिए मन को जड़ और प्रकृति से उत्पन्न जानकर एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिये ॥ ११ ॥

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ – (ततः पुनः) उस स्थिति के पश्चात् (शान्त–उदितौ) शान्त और उदित हुये (तुल्य–प्रत्ययौ) समान ज्ञान (चित्तस्य–एकाग्रता परिणामः) चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है ।

सूत्रार्थ – चित्त के समाधि परिणाम के पश्चात् एक ही वस्तु विषयक समान ज्ञानों का शान्त होना और उभरना रूपी क्रम चलता रहता है, यह चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है ।

व्या० भा० – समाहितचित्तस्य पूर्वप्रत्ययः शान्त उत्तरस्तत्सदृश उदितः । समाधिचित्तमुभयोरनुगतं पुनस्तथैवा समाधिभ्रेषादिति । स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

व्या० भा० अ० – समाहित चित्त का पूर्व ज्ञान शान्त हो जाता है । पश्चात् उसी प्रकार का ज्ञान उदित होता है । दोनों धर्मों के साथ अनुगत वह समाहित चित्त समाधि भंग होने तक उसी प्रकार (एकाग्र ही) रहता है । वह धर्मी चित्त का 'एकाग्रता परिणाम' है ॥ १२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **चित्त का एकाग्रता परिणाम** बतलाया है ।

एकाग्र चित्त का पूर्वज्ञान अर्थात् एकाग्रता की स्थिति में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शान्त होता जाता है और उसी के सदृश अन्य–अन्य ज्ञान उत्पन्न होता जाता है । जब तक समाधि भंग नहीं होती, तब तक यह स्थिति बनी रहती है । यह धर्मी चित्त का एकाग्रता परिणाम है । इन दोनों धर्मों में चित्त अनुगत रहता है । उदित ज्ञान और शान्त ज्ञान चित्त के धर्म हैं तथा चित्त इनका धर्मी है । जब जीवात्मा चित्त को अनेक विषयों में चलाता है, तब वह अनेक विषयों के चित्र उतार लेता है और जब अधिकारपूर्वक एक विषय में चित्त को स्थिर करता है तब एक पदार्थ का चित्र उतार लेता है । एकाग्रता की अवस्था में जो पदार्थ के स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह दीर्घकाल पर्यन्त सदृश रूप में रहता है । चित्त के द्वारा आत्मा, पदार्थ के स्वरूप का अनुभव करता है, चित्त नहीं । जैसे नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष किये पदार्थ के स्वरूप का अनुभव आत्मा करता है, नेत्र नहीं। इसी प्रकार से चित्त की एकाग्रतावस्था में भी जानना चाहिये । चित्त में जो विविध प्रकार के परिवर्तन होते हैं, उनको 'परिणाम' कहते हैं । निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम ये चित्त के तीन परिणाम बतलाये हैं। यदि क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त इन तीन अवस्थाओं का व्युत्थान परिणाम मान लिया जाये तो चित्त के चार परिणाम हो जायेंगे ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ – (एतेन) इस [चित्त के परिणामों की व्याख्या] से (भूत–इन्द्रियेषु) भूतों और इन्द्रियों में (धर्म–लक्षण–अवस्था–परिणामाः) धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था परिणाम (व्याख्याताः) व्याख्यात जानने चाहिये ।

सूत्रार्थ – चित्त के इन निरोधपरिणाम, समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणामों से भूतों और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम का व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

व्या० भा० – एतेन पूर्वोक्तेन चित्तपरिणामेन धर्मलक्षणावस्थारूपेण भूतेन्द्रियेषु धर्मपरिणामो लक्षणपरिणामोऽवस्थापरिणामश्चोक्तो वेदितव्यः। तत्र व्युत्थाननिरोधयोर्धर्मयोरभिभवप्रादुर्भावौ धर्मिणि धर्मपरिणामः। लक्षणपरिणामश्च निरोधस्त्रिलक्षणस्त्रिभिरध्वभिर्युक्तः। स खल्वनागतलक्षणमध्वानं प्रथमं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तो वर्तमानलक्षणं प्रतिपन्नो यत्रास्य स्वरूपेणाभिव्यक्तिः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तः।

तथा व्युत्थानं त्रिलक्षणं त्रिभिरध्वभिर्युक्तं वर्तमानं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तमतीतलक्षणं प्रतिपन्नम्। एषोऽस्य तृतीयोऽध्वा। न चानागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तम्। एवं पुनर्व्युत्थान-मुपसंपद्यमानमनागतं लक्षणं हित्वा धर्मत्वमनतिक्रान्तं वर्तमानं लक्षणं प्रतिपन्नम्। यत्रास्य स्वरूपाभि-व्यक्तौ सत्यां व्यापारः। एषोऽस्य द्वितीयोऽध्वा। न चातीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यां वियुक्तमिति। एवं पुनर्निरोध एवं पुनर्व्युत्थानमिति।

तथावस्थापरिणामः। तत्र निरोधक्षणेषु निरोधसंस्कारा बलवन्तो भवन्ति दुर्बला व्युत्थानसंस्कारा इति। एष धर्माणामवस्थापरिणामः। तत्र धर्मिणो धर्मैः परिणामो धर्माणां लक्षणैः परिणामो लक्षणा-नामप्यवस्थाभिः परिणाम इति। एवं धर्मलक्षणावस्थापरिणामैः शून्यं न क्षणमपि गुणवृत्तमवतिष्ठते। चलं च गुणवृत्तम्। गुणस्वाभाव्यं तु प्रवृत्तिकारणमुक्तं गुणानामिति। (भाष्यं द्रष्टव्यम् २/१५, १८) एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मधर्मिभेदात्त्रिविधः परिणामो वेदितव्यः।

परमार्थतस्त्वेक एव परिणामः। धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मो धर्मिविक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपञ्च्यत इति। तत्र धर्मस्य धर्मिणि वर्तमानस्यैवाध्वस्यतीतानागतवर्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति, न तु द्रव्यान्यथात्वम्। यथा सुवर्णभाजनस्य भित्त्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वमिति।

अपर आह–धर्मानभ्यधिको धर्मी पूर्वतत्त्वानतिक्रमात्। पूर्वापरावस्थाभेदमनुपतितः कौटस्थ्यैनैव परिवर्तेत यद्यन्वयी स्यादिति। अयमदोषः। कस्मात्? एकान्तानभ्युपगमात्। तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति। कस्मात्? नित्यत्वप्रतिषेधात् अपेतमप्यस्ति। विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्या-च्चानुपलब्धिरिति।

लक्षणपरिणामो धर्मोऽध्वसु वर्तमानोऽतीतोऽतीतलक्षणयुक्तोऽनागतवर्तमानाभ्यां लक्षणाभ्याम-वियुक्तः। तथानागतोऽनागतलक्षणयुक्तो वर्तमानातीताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्तः। तथा वर्तमानो वर्तमानलक्षणयुक्तोऽतीतानागताभ्यां लक्षणाभ्यामवियुक्त इति। यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति।

अत्र लक्षणपरिणामे सर्वस्य सर्वलक्षणयोगादध्वसंकरः प्राप्नोतीति परैर्दोषश्चोद्यत इति। तस्य परिहारः–धर्माणां धर्मत्वमप्रसाध्यम्। सति च धर्मत्वे लक्षणभेदोऽपि वाच्यो, न वर्तमानसमय एवास्य धर्मत्वम्। एवं हि न चित्तं रागधर्मकं स्यात्क्रोधकाले रागस्यासमुदाचारादिति।

किञ्च, त्रयाणां लक्षणानां युगपदेकस्यां व्यक्तौ नास्ति संभवः। क्रमेण तु स्वव्यञ्जकाञ्जनस्य भावो भवेदिति। उक्तं च–रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते। तस्मादसंकरः। यथा रागस्यैव क्वचित्समुदाचार इति न तदानीमन्यत्राभावः, किं तु केवलं सामान्येन समन्वागत इत्यस्ति तदा तत्र तस्य भावः, तथा लक्षणस्येति।

न धर्मी त्र्यध्वा। धर्मास्तु त्र्यध्वानः। ते लक्षिता अलक्षिताश्च तां तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्तेऽवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दशैका चैकस्थाने, यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।

अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यप्रसङ्गदोषः कैश्चिदुक्तः। कथम्? अध्वनो व्यापारेण व्यवहितत्वात्। यदा धर्मः स्वव्यापारं न करोति तदानागतो, यदा करोति तदा वर्तमानो, यदा कृत्वा निवृत्तस्तदातीत इत्येवं धर्मधर्मिणोर्लक्षणानामवस्थानां च कौटस्थ्यं प्राप्नोतीति परैर्दोष उच्यते।

नासौ दोषः। कस्मात्? गुणिनित्यत्वेऽपि गुणानां विमर्दवैचित्र्यात्। यथा संस्थानमादिमद्धर्ममात्रं शब्दादीनां विनाश्यविनाशिनामेवं लिङ्गमादिमद् धर्ममात्रं सत्त्वादीनां गुणानां विनाश्यविनाशिनाम्, तस्मिन्विकारसंज्ञेति।

तत्रेदमुदाहरणं मृद्धर्मी पिण्डाकाराद्धर्माद्धर्मान्तरमुपसंपद्यमानो धर्मतः परिणमते घटाकार इति। घटाकारोऽनागतं लक्षणं हित्वा वर्तमानलक्षणं प्रतिपद्यत इति लक्षणतः परिणमते। घटो नवपुराणतां प्रतिक्षणमनुभवन्नवस्थापरिणामं प्रतिपद्यत इति। धर्मिणोऽपि धर्मान्तरमवस्था, धर्मस्यापि लक्षणान्तर-मवस्थेत्येक एव द्रव्यपरिणामो भेदेनोपदर्शित इति। एवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यमिति। त एते धर्म-लक्षणावस्थापरिणामा धर्मिस्वरूपमनतिक्रान्ता इत्येक एव परिणामः सर्वानमून्विशेषानभिप्लवते। अथ कोऽयं परिणामः? अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः॥ १३॥

व्या० भा० अ० *– चित्त के इस (निरोध परिणाम, समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम) के द्वारा भूतों एवं इन्द्रियों में धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम कहा गया है ऐसा जान लेना चाहिये। उनमें से व्युत्थान एवं निरोध धर्मों का अभिभव प्रादुर्भाव धर्मी (चित्त) में धर्म परिणाम है और लक्षण परिणाम कहा जाने वाला निरोध तीन लक्षणों वाला तीन अध्वाओं–स्थितियों से युक्त है। यह अनागत (भविष्यत्) कालिक अपनी पहली स्थिति को छोड़कर (अपने) धर्मत्व को सुरक्षित रखता हुआ वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुआ जहाँ इसकी स्वरूप के द्वारा अभिव्यक्ति है। यह इस (निरोध) की दूसरी स्थिति है। यह (वर्तमान स्थिति वाला निरोध) अतीत अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं हैं।*

उसी प्रकार व्युत्थान तीन लक्षणों वाला, तीनों स्थितियों से युक्त वर्तमान लक्षण को छोड़कर अपने धर्मत्व को सुरक्षित रखता हुआ अतीत लक्षण (स्थिति) को प्राप्त होता है। यह इसकी तीसरी स्थिति है। और (यह स्थिति) अनागत (भविष्यत्) और वर्तमान (कालिक) लक्षणों से (स्थितियों से) वियुक्त नहीं है। इसी प्रकार प्रादुर्भूत होने वाला व्युत्थान अनागत स्थिति को छोड़कर (अपने) धर्मत्व को न छोड़ता हुआ वर्तमान स्थिति को प्राप्त हुआ है। जिस स्थिति में इसके स्वरूप की

अभिव्यक्ति (प्रकटता) होने पर (वर्तमान कालिक) कार्य होते हैं। यह इस व्युत्थान की दूसरी स्थिति है। यह स्थिति अतीत, अनागत (भूत, भविष्यत्) कालिक लक्षणों से वियुक्त नहीं होती है। इसी प्रकार पुनः निरोध, इसी प्रकार पुनः व्युत्थान होता है।

इसी प्रकार अवस्था परिणाम है। उसमें निरोध (काल)के क्षणों में निरोध संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थान संस्कार निर्बल होते हैं। यह धर्मों का अवस्था परिणाम है उन तीनों (प्रकार के) परिणामों में धर्मी का धर्मों के द्वारा परिणाम, तीन स्थितियों वाले धर्मों का लक्षणों के द्वारा परिणाम और लक्षणों का भी अवस्थाओं के द्वारा परिणाम होता है।

इस प्रकार धर्म, लक्षण अवस्था से रहित होकर (गुणों का व्यवहार) एक क्षण भी स्थित नहीं होता। गुणों का व्यवहार चञ्चल होता है। गुणों का स्वभाव ही गुणों के परिणाम का कारण कहा गया है। (इस संबंध में योगसूत्र २/१५ व १८ का भाष्य द्रष्टव्य है)। इस (चित्तपरिणाम) के द्वारा भूतों एवं इन्द्रियों में धर्मधर्मी भेद से तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये।

वास्तव में एक ही परिणाम है। (क्योंकि) धर्म तो धर्मी का स्वरूप मात्र है। धर्म के द्वारा धर्मी का यह विकार (परिणाम) ही प्रपञ्चित होता है। उस (धर्मी) में रहनेवाले धर्म का ही अतीत, अनागत, वर्तमान स्थितियों में भाव (विकार) की ही अन्यता होती है द्रव्य (धर्मी) का अन्यथात्व नहीं होता। जैसे कि तोड़कर अन्य प्रकार से बनाये जाने वाले सुवर्णपात्र का अन्य प्रकारत्व होता है, सुवर्ण का अन्य प्रकारत्व नहीं।

दूसरा कहता है – धर्मों से अतिरिक्त धर्मी नहीं है। पूर्वतत्त्व (धर्मी) का अतिक्रमण न होने से। यदि पूर्व एवं पर अवस्था में अनुगत रहने वाला कोई धर्मी होवे (तो वह) कूटस्थता से ही परिवर्तित होवे ? (इस पक्ष में) यह दोष नहीं है। क्यों ? नित्यत्व के प्रतिषेध से (ऐकान्तिक नित्यता को स्वीकार न करने से)। यह सारा जगत् व्यक्तता से च्युत होता है। क्यों ? नित्यत्व के प्रतिषेध से। व्यक्तता से च्युत होने पर भी विद्यमान रहता है, विनाश का प्रतिषेध होने से। अपने कारण में लीन होने से (जगत् की) सूक्ष्मता होती है। और सूक्ष्मता के कारण ही इसकी (अभिव्यक्ति की) उपलब्धि नहीं होती है।

लक्षण परिणाम धर्म (तीनों) कालों में विद्यमान होता हुआ अतीत होता है, अतीत लक्षणयुक्त (धर्म) अनागत एवं वर्तमान लक्षणों से अवियुक्त होता है। इसी प्रकार अनागत (धर्म) अनागत लक्षण युक्त होता हुआ वर्तमान एवं अतीत लक्षणों से अवियुक्त होता है। इसी प्रकार वर्तमान (धर्म) वर्तमान लक्षण से युक्त होता हुआ अतीत एवं अनागत लक्षणों से अवियुक्त होता है। जैसे कोई पुरुष एक स्त्री में रक्त (रागयुक्त) शेष (स्त्रियों) में विरक्त नहीं होता है।

इस लक्षण परिणाम में प्रत्येक लक्षण का सब लक्षणों के साथ कालसाङ्कर्य दोष होता है ऐसा इस पक्ष में दोष बतलाया जाता है। उसका समाधान :– धर्मों का धर्मत्व (सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं) सिद्ध ही है। धर्मत्व है तो लक्षण भेद भी कहना होगा। इस (धर्म का) धर्मत्व केवल

वर्तमान समय में ही नहीं है । इसी प्रकार चित्त क्रोध काल में राग के अभिव्यक्त न होने से राग धर्मक सिद्ध नहीं होवे ।

और क्या ? एक ही समय एक (पदार्थ में) अभिव्यक्ति में तीन लक्षणों का होना सम्भव नहीं है । क्रमशः तो अपने व्यञ्जक से अभिव्यक्त होने वाले की अभिव्यक्ति होती है । और कहा है कि – अभिव्यक्तरूप और अभिव्यक्त वृत्तियों का परस्पर विरोध होता है । अनभिव्यक्तरूप वृत्ति तो अभिव्यक्त रूप वृत्तियों के साथ वर्तमान रहते हैं । इसलिये यह काल का साङ्कर्य दोष नहीं रहता है । जैसे कि राग की किसी विषय में अभिव्यक्ति है तो तब अन्यत्र राग का अभाव नहीं होता । किन्तु केवल अपने अव्यक्तरूप से समनुगत रहता है इसलिये तब वहाँ उस (राग) का भाव है, उसी प्रकार लक्षण की (विद्यमानता होती है) ।

धर्मी तीन अवस्था वाला नहीं है । धर्म (वर्तमान, अतीत, अनागत) तीन लक्षणों वाले हैं । वे जाने जाते हुवे और न जाने जाते हुवे धर्म उस उस अवस्था को प्राप्त होते हुए अवस्था के भेद से भिन्न रूप से व्यवहृत होते हैं द्रव्य भेद से नहीं । जैसे कि एक रेखा सौ के स्थान में सौ, दश के स्थान में दश, एक के स्थान में एक कही जाती है । और जिस प्रकार स्त्री के एक होने पर भी, माता कही जाती है, और पुत्री कही जाती है और बहिन भी ।

अवस्था परिणाम में कुछ लोगों ने कूटस्थता की प्रसक्ति का दोष दिया । किस प्रकार ? अनागतादि काल का (केवल) व्यापार से व्यवधान होने से । जब (घटादि) धर्म (जलाहरणादि) स्वकार्य को नहीं करता तब अनागत, जब करता है तब वर्तमान, जब करके उपरत होता है तब अतीत होता है । इस प्रकार धर्मधर्मी के, लक्षणों का और अवस्थाओं का कूटस्थ (नित्यता) दोष आता है, ऐसा अन्यों के द्वारा दोष दिया जाता है ।

(वास्तव में) वह दोष नहीं है । किस कारण ? गुणी के नित्य होने पर भी गुणों के न्यूनाधिकतारूप विमर्द की विचित्रता से । जैसा कि अविनाशी शब्दादि तन्मात्राओं के विनाशशील कार्यरूपी पृथिवी (आदि पञ्चभूत) धर्ममात्र है इसी प्रकार अविनाशी सत्त्वादि गुणों का, कारणवाला, विनाशी महत्तत्व धर्ममात्र है । उस (पञ्चभूत महत्तत्व) में विकार संज्ञा है ।

उसमें यह उदाहरण है – मृत् धर्मी पिण्डाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ धर्म के रूप से घटरूप में परिणत होता है । घटाकार अनागत लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त होता है, इस प्रकार लक्षण के द्वारा परिणत होता है । घट क्षण क्षण नये से पुराना होता हुआ अवस्था परिणाम को प्राप्त करता है । धर्मी (मृत्) का भी धर्मान्तर (घट) अवस्था, धर्म (घट) का भी लक्षणान्तर (अनागतता से वर्तमानता को प्राप्त होना) अवस्था है एक ही द्रव्यपरिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाया है । इस प्रकार की योजना अन्य (भूत, इन्द्रिय, प्रकृति) में भी कर लेनी चाहिए । वे ये धर्मलक्षणावस्था परिणाम धर्मी के (अपने) स्वरूप) का अतिक्रमण न करते हुए (धर्मी में रहते) हैं इसलिए एक ही धर्मी का परिणाम इन समस्त विशेषणों को प्राप्त होता है । इसके पश्चात्,

यह परिणाम क्या है ? विद्यमान द्रव्य के पूर्वधर्म निवृत्त होने पर अन्यधर्म की उत्पत्ति परिणाम है ॥ १३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि ९, ११, १२ सूत्रों में जिस प्रकार से चित्त के निरोध परिणाम, समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम बतलाये हैं, उसी प्रकार से भूतों और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम जानने चाहियें । यद्यपि चित्त के परिणामों में धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम, अवस्था परिणाम पढ़े नहीं गये हैं । पुनरपि वहाँ पर इन तीनों का ग्रहण होता है।

प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म (गुण) रहते हैं, किंतु यह आवश्यक नहीं कि वे सदा प्रकट ही हों । कुछ धर्म प्रकट रहते हैं कुछ अप्रकट, कुछ धर्म प्रकट रहकर अप्रकट हो जाते हैं, कुछ धर्म अप्रकट से प्रकट हो जाते हैं । सत्कार्यवाद की दृष्टि से कोई भी धर्म अभाव से भावरूप में और भाव से अभावरूप में नहीं आता । वे मात्र प्रकट–अप्रकट रूप में आते जाते रहते हैं ।

किसी वस्तु के प्रकट–धर्म का अप्रकट हो जाना और अप्रकट–धर्म का प्रकट हो जाना '**धर्म–परिणाम**' कहलाता है । जैसे मिट्टी के लौंदे में पिण्ड–धर्म प्रकट है किन्तु घट–धर्म अप्रकट है, जब मिट्टी के लौंदे से घट बन जायेगा तब 'पिण्ड–धर्म' प्रकट से अप्रकट हो जाता है व 'घट–धर्म' अप्रकट से प्रकट हो जाता है । एक (पिण्ड) धर्म का हट जाना और दूसरे (घट) धर्म का आ जाना, 'धर्म–परिणाम' है ।

किसी वस्तु के एक धर्म को देखें तो उसे भविष्यत्, वर्तमान और भूत इन तीन कालों में रख सकते हैं । वस्तु में प्रकट होने से पूर्व वह धर्म, भविष्यकाल में है, जब प्रकट हो गया तब वह वर्तमानकाल में है और प्रकट होने के पश्चात् जब अप्रकट हो गया तब भूतकाल में है। किसी धर्म का इन कालों में होना '**लक्षण–परिणाम**' कहलाता है । यदि वह धर्म भविष्यकाल में है तो यह उसका 'अनागत–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । यदि वह धर्म वर्तमानकाल में है तो यह उसका 'वर्तमान–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । यदि वह धर्म भूतकाल में है तो यह उसका 'अतीत–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । जैसे – घट बनने से पूर्व मिट्टी में घट–धर्म प्रकट नहीं है, वह भविष्य में प्रकट होगा अर्थात् घट–धर्म भविष्यकाल में है, इसे घट–धर्म का 'अनागत–लक्षण–परिणाम' कहते हैं । घड़ा बनने पर मिट्टी में घट–धर्म प्रकट है अर्थात् घट–धर्म वर्तमानकाल में है, उसे घट–धर्म का 'वर्तमान–लक्षण–परिणाम' कहते हैं । घड़ा टूट जाने पर मिट्टी में घट–धर्म नहीं रहा अर्थात् वह भूत–काल में चला गया, उसे घट–धर्म का 'अतीत–लक्षण–परिणाम' कहते हैं ।

किसी वस्तु के एक धर्म की भविष्यकाल से वर्तमानकाल में अथवा वर्तमानकाल से भूतकाल में जाने की प्रक्रिया को देखें तो ज्ञात होता है कि ये परिवर्तन एकदम एक साथ नहीं होते, क्रमश: होते हैं । वस्तु के धर्म का भविष्यकाल (= अनागत–लक्षण) से वर्तमानकाल (= वर्तमान–लक्षण) में क्रमश: आना और वर्तमानकाल (= वर्तमान–लक्षण) से भूतकाल

(= अतीत–लक्षण) में क्रमशः जाना '**अवस्था–परिणाम**' कहलाता है । जैसे–मृतपिण्ड में घट–धर्म अनागत–लक्षण के रूप में है, अब इस मृत्पिण्ड में क्रमशः परिवर्तन लाकर घड़ा बना दिया गया तो घट–धर्म वर्तमान–लक्षण के रूप में है । मृत्पिण्ड से घड़ा बनने के बीच मिट्टी में क्रमशः जो परिवर्तन हुए, उन्हें 'अवस्था–परिणाम' कहते हैं । अवस्था–परिणाम का अग्रिम उदाहरण–घड़ा बनने के कुछ मास या वर्ष पश्चात् वह पुराना, जीर्ण–शीर्ण और नष्ट देखा जाता है, अर्थात् घट–धर्म वर्तमानकाल से भूतकाल में चला गया । नवीन घडे से पुरातन घड़ा बनना व जीर्ण–शीर्ण होकर नष्ट हो जाना इनके बीच में तो धीरे–धीरे क्रमशः परिवर्तन हुए ये 'अवस्था–परिणाम' कहलाते हैं ।

चित्त के धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामः – चित्त के परिणामों को इस प्रकार जानना चाहिये– जब योगी प्रयत्न के द्वारा व्युत्थान–संस्कारों को रोक देता है और निरोध–संस्कारों को उत्पन्न कर देता है, तब चित्त–धर्मी का 'निरोध–परिणाम' कहलाता है, यह 'धर्म–परिणाम' है, क्योंकि यहाँ व्युत्थान–धर्म हटकर निरोध–धर्म आ गया है । चित्त की निरुद्ध–स्थिति में चित्त का निरोध–धर्म प्रकट अर्थात् वर्तमान रहता है, यह निरोध–धर्म का 'वर्तमान–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । इसी स्थिति में चित्त का व्युत्थान–धर्म हट (अर्थात् भूतकाल में चला) जाता है, यह व्युत्थान–धर्म का 'अतीत–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । जब असंप्रज्ञात–समाधि में निरोध–संस्कार मंद हो रहे होते हैं और व्युत्थान–संस्कार प्रबल हो रहे होते हैं तब निरोध–धर्म के वर्तमान–लक्षण को प्रतिक्षण बदलना अर्थात् अतीत में जाते जाना और व्युत्थान–धर्म के अनागत–लक्षण को प्रतिक्षण बदलना अर्थात् वर्तमान में आते जाना यह 'अवस्था–परिणाम' कहलाता है ।

जब सर्वार्थता (विविध विषयों की वृत्तियाँ) दब जाती है और एकाग्रता (एक विषय की वृत्ति) उभर जाती है तब चित्त का 'समाधि–परिणाम' होता है, यह चित्त का 'धर्म–परिणाम' कहलाता है, क्योंकि यहाँ सर्वार्थता–धर्म हटकर एकाग्रता–धर्म आ गया है । चित्त की एकाग्र–स्थिति में उसका एकाग्रता–धर्म प्रकट (अर्थात् वर्तमानकाल में) रहता है, यह एकाग्रता–धर्म का 'वर्तमान–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । इसी स्थिति में सर्वार्थता–धर्म हट गया (अर्थात् भूतकाल में) होता है, यह सर्वार्थता–धर्म का 'अतीत–लक्षण–परिणाम' कहलाता है । जब संप्रज्ञात–समाधि में एकाग्रता–धर्म मंद पड़ रहा हो व सर्वार्थता–धर्म उभर रहा हो, तब एकाग्रता–धर्म के वर्तमान–लक्षण का प्रतिक्षण बदलना अर्थात् वर्तमान–लक्षण से अतीत–लक्षण में चले जाना और सर्वार्थता–धर्म के अनागत–लक्षण का प्रतिक्षण बदलना अर्थात् अनागत–लक्षण से वर्तमान–लक्षण में आते जाना, यह 'अवस्था–परिणाम' कहलाता है ।

जिस प्रकार से ये धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम चित्त के हैं, उसी प्रकार से पृथिवी आदि भूतों और इन्द्रियों के भी होते हैं ।

भूतों में तीन परिणाम – जब मिट्टी चूर्ण के रूप में होती है, तब उसमें पानी डालकर पिण्ड बनाते हैं । उसके पश्चात् पिण्ड का घट बना लेते हैं और उसको सुखाकर पका लेते हैं । यह मिट्टी

का चूर्ण–धर्म से पिण्ड–धर्म में आना, पिण्ड–धर्म से घट–धर्म में आना 'धर्म–परिणाम' है । जब मिट्टी का घट–धर्म अपने स्वरूप में प्रकट है, यह घट–धर्म का 'वर्तमान–लक्षण–परिणाम' है । घडे का धीरे–धीरे निर्बल होते जाना घट–धर्म के वर्तमान–लक्षण का 'अवस्था–परिणाम' है ।

जिस प्रकार से मिट्टी में धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम होते हैं, वैसे मनुष्य शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था के रूप में धर्म, लक्षण, अवस्था परिणाम होते हैं ।

इन्द्रियों में धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणाम - उदाहरण के लिये एक नेत्रेन्द्रिय का ग्रहण कर रहे हैं । जब नेत्रेन्द्रिय बंद है तब उसमें 'दर्शन–धर्म' अप्रकट है । नेत्रेन्द्रिय के खुलने पर जब वह किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करा रही होती है, तब 'दर्शन–धर्म' प्रकट है । नेत्रेन्द्रिय में दर्शन–धर्म का अप्रकट से प्रकट होना नेत्रेन्द्रिय का 'धर्म–परिणाम' है । नेत्रेन्द्रिय की बंद स्थिति में दर्शन–धर्म प्रकट नहीं है, वह भविष्य में प्रकट होगा अर्थात् दर्शन–धर्म भविष्यकाल में है, इसे दर्शन–धर्म का 'अनागत–लक्षण–परिणाम' कहते हैं । नेत्रेन्द्रिय के खुलने पर जब वह किसी वस्तु का प्रत्यक्ष कर रही होती है तब दर्शन–धर्म प्रकट है अर्थात् वर्त्तमानकाल में है, इसे दर्शन–धर्म का 'वर्त्तमान–लक्षण–परिणाम' कहते हैं । वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेने के बाद जब नेत्रेन्द्रिय बंद हो गई, तब उसका दर्शन–धर्म अप्रकट है अर्थात् भूतकाल में है, इसे दर्शन–धर्म का 'अतीत-लक्षण–परिणाम' कहेंगे ।

नेत्रेन्द्रिय की बंद स्थिति में दर्शन–धर्म अप्रकट (अनागत–लक्षण में) रहता है, नेत्रेन्द्रिय के खुलने पर दर्शन–धर्म प्रकट (वर्तमान–लक्षण में) रहता है । दर्शन–धर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में आते समय जो अनेक परिवर्तन हुए, उन्हें 'अवस्था–परिणाम' कहते हैं ।

ये धर्म, लक्षण, अवस्था, धर्मी के परिणाम बतलाये हैं । परन्तु वास्तव में तो एक धर्म परिणाम ही है । यहाँ परिणाम के स्वरूप को जानना आवश्यक है । विद्यमान पदार्थ के पूर्व धर्म का निवृत्त होना और धर्मान्तर की उत्पत्ति होना परिणाम होता है जैसे चूर्ण मिट्टी से पिण्ड, पिण्ड से घट उत्पन्न होता है । यहाँ पर मिट्टी धर्मी का पिण्ड धर्म निवृत्त हो जाता है और घट धर्म उत्पन्न हो जाता है । यह परिणाम है । चित्त के व्युत्थान परिणाम, निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम, इनके जानने से योगी सरलता से व्युत्थान अवस्था को अभिभूत करने में और समाधि, एकाग्रता को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ हो जाता है । भूतेन्द्रियों के धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों को जानने से भौतिक पदार्थों के स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाता है । समस्त उत्पन्न पदार्थों का उपादान कारण सत्त्व, रजस्, तमस् मूल धर्मी है । परन्तु महत्तत्व, अहंकार, तन्मात्रा, ये प्रकृति धर्मी के धर्म हैं । और ये जिस पदार्थ के उपादान कारण हैं, उसके धर्मी हैं । ये धर्म और धर्मी दोनों प्रकार के हैं । जो किसी पदार्थ का उपादान कारण है; वह धर्मी और जो उससे उत्पन्न कार्य है; वह धर्म है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १३ ॥

अव० - तत्र

अर्थ - उस - सन्दर्भ में ('धर्मी का स्वरूप' बतलाया जाता है) ।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शब्दार्थ – (शान्त–उदित–अव्यपदेश्य–धर्म–अनुपाती) शान्त = अतीत, उदित = वर्तमान, अव्य–पदेश्य = अनागत, धर्मानुपाती = धर्मों में वर्तमान रहने वाला पदार्थ (धर्मी) धर्मी है।

सूत्रार्थ – भूत, वर्तमान, भविष्यत् धर्मों में जो एक वस्तुतत्त्व निरन्तर विद्यमान रहता है, वह 'धर्मी' है ।

व्या० भा० – योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेव धर्मः । स च फलप्रसवभेदानुमितसद्भाव एकस्यान्योऽन्यश्च परिदृष्टः । तत्र वर्तमानः स्वव्यापारमनुभवन्धर्मो धर्मान्तरेभ्यः शान्तेभ्यश्चाव्यपदेश्येभ्यश्च भिद्यते । यदा तु सामान्येन समन्वागतो भवति तदा धर्मिस्वरूपमात्रत्वात्कोऽसौ केन भिद्यते ।

तत्र ये खलु धर्मिणो धर्माः शान्ता उदिता अव्यपदेश्याश्चेति, तत्र शान्ता ये कृत्वा व्यापारानुपरताः । सव्यापारा उदिताः, ते चानागतस्य लक्षणस्य समनन्तराः । वर्तमानस्यानन्तरा अतीताः । किमर्थमतीतस्यानन्तरा न भवन्ति वर्तमानाः ? पूर्वपश्चिमताया अभावात् । यथानागतवर्तमानयोः पूर्वपश्चिमता, नैवमतीतस्य । तस्मान्नातीतस्यास्ति समनन्तरः । तदनागत एव समनन्तरो भवति वर्तमानस्येति ।

अथाव्यपदेश्याः के ? सर्वं सर्वात्मकमिति । यत्रोक्तम्–जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्, तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जङ्गमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति ।

देशकालाकारनिमित्तापबन्धान्न खलु समानकालमात्मनामभिव्यक्तिरिति । य एतेष्वभिव्यक्तान–भिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी । यस्य तु धर्ममात्रमेवेदं निरन्वयं तस्य भोगाभावः । कस्मात् ? अन्येन विज्ञानेन कृतस्य कर्मणोऽन्यत्कथं भोक्तृत्वेनाधिक्रियेत । तत्स्मृत्यभावश्च, नान्यदृष्टस्य स्मरणमन्यस्यास्तीति । वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वमभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते । तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति ॥ १४ ॥

व्या० भा० अ० *– योग्यता से विशिष्ट धर्मी का सामर्थ्य ही 'धर्म' है । और वह (धर्म) भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति के भेद से अनुमित सत्ता वाला एक (धर्मी) का अन्य–अन्य देखा गया है । उनमें से वर्तमान धर्म अपने व्यापार को अनुभव करता हुआ शान्त (भूत) और अव्यपदेश्य (अनागत) धर्मों से भिन्न होता है । जब सामान्य (अनभिव्यक्तता) से (धर्मी में) रहता है तब केवल धर्मी स्वरूप होने से कौन किससे भिन्न होगा ?*

उनमें से धर्मी के धर्म तीन हैं शान्त, उदित और अव्यपदेश्य । उनमें से जो (स्व) व्यापार को (सम्पादित) करके उपरत हैं, वे 'शान्त' हैं। जो व्यापारयुक्त हैं, वे 'उदित' हैं। और वे अनागत लक्षण के अव्यवहित हैं । वर्तमान के अव्यवहित अतीत होते हैं । वर्तमान, अतीत के अव्यवहित क्यों नहीं होते ? पूर्व–पश्चिमता का अभाव होने से । जिस प्रकार अनागत वर्तमानों की पूर्व पश्चिमता होती है इस प्रकार अतीत की (अनन्तरता) नहीं है। इसलिए अतीत का समानन्तर नहीं है। इसलिए अनागत ही वर्तमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती होता है ।

आगे 'अव्यपदेश्य' कौन हैं ? सभी पदार्थ सर्व कार्योत्पादन शक्ति से सम्पन्न होते हैं । जैसा कि कहा है - जलभूमि का परिणाम रसादि सर्वात्मक (स्वरूप) स्थावरों में देखा गया है । उसी प्रकार स्थावरों का जङ्गमों में, जङ्गमों का स्थावरों में, इस प्रकार (जलत्वपृथिवीत्वादि) जाति का उच्छेद न होने से सभी पदार्थ सब रूपों वाले होते हैं ।

देश, काल, आकार, निमित्त (आत्मक सहकारी) कारणों के सम्बन्ध के अभाव से एक काल में सब पदार्थों की अभिव्यक्ति नहीं होती है । जो इन अभिव्यक्त अनभिव्यक्त 'धर्मों' में अनुगत सामान्य (धर्मी) विशेष (धर्म) (यह उभयरूप) अन्वयी (मृत्तिका आदि) है, वह धर्मी होता है । जिसके मत में यह चित्त केवल धर्ममात्र है । अनेकों में अनुगमन करने वाले अन्वयी नहीं हैं उसके (मत में) भोग का अभाव होता है । क्यों ? अन्य विज्ञान के द्वारा किये कर्म का अन्य (विज्ञान) भोक्ता के रूप में कैसे अधिकृत होगा ? अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता, इस आधार पर पूर्वानुभूतों का स्मृत्यभाव होगा । वस्तु के प्रत्यभिज्ञान होने तथा (सब में) अनुगमन करने वाला धर्मी है, जो धर्म रूप से अन्यथाभाव को प्राप्त होता हुआ प्रत्यक्ष का विषय बनता है । इसलिए यह अनुगमन (धर्मी रहित) धर्ममात्र नहीं है ॥ १४ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में **धर्मी का स्वरूप** बतलाया है ।

जो शान्त,उदित, अव्यपदेश्य इन तीनों धर्मों में अनुगत = (वर्तमान) रहता है, वह '**धर्मी**' है । जो धर्म अपना कार्य पूर्ण करके तिरोहित हो गये हैं, वे '**शान्त**' हैं । जो वर्तमानकाल में अभिव्यक्त होकर अपना कार्य कर रहे हैं वे '**उदित**' धर्म हैं । जो अभी अपने धर्मी में विद्यमान हैं; किन्तु अभी उद्‌बुद्ध नहीं हुये हैं वे '**अव्यपदेश्य**' हैं । मिट्टी धर्मी है । पिण्ड आदि उसके धर्म हैं । जब मिट्टी से बना घड़ा टूट गया, उस घड़े के ठीकरे हो गये । उन ठीकरों का चूर्ण हो गया और वह चूर्ण मिट्टी है । पिण्ड, घड़ा, ठीकरा धर्म अपना कार्य करके समाप्त हो गये । ये मिट्टी धर्मी के 'शान्त धर्म' हैं । जब घड़ा ठीकरा आदि वर्तमान थे तब वे धर्मी मिट्टी के 'उदित धर्म' थे। 'अव्यपदेश्य धर्म' वे हैं जो भविष्य में अभिव्यक्त होंगे । अव्यपदेश्य धर्मों के अनन्तर 'उदित धर्म' होते हैं और उदित धर्मों के अनन्तर 'अतीत धर्म' होते हैं । परन्तु अतीत धर्मों के अनन्तर और कोई धर्म नहीं होता। क्योंकि जो मिट्टी का धर्म घड़ा था, वह समाप्त हो गया । अब उसके अनन्तर कोई धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता । इसी प्रकार धर्म-धर्मी भाव जलादि भूतों में अनुगत (वर्तमान) रहता है। जो इन शान्त, उदित, अव्यपदेश्य धर्मों में अनुगत (वर्तमान) रहता है, वह '**धर्मी**' कहाता है।

कुछ लोगों का यह मत है कि सब धर्ममात्र हैं और वे क्षणिक हैं । धर्मों में रहने वाला कोई नित्य पदार्थ धर्मी नहीं है । यह उनकी मान्यता ठीक नहीं है । जिनके मत में भूत, इन्द्रिय, चित्त, ज्ञान ये सब धर्ममात्र हैं और क्षणिक है इनका अन्वयी धर्मी कोई नहीं है । पूर्व धर्म ने पाप-पुण्य किया उस पाप-पुण्य के फल का अगले क्षण में उत्पन्न होने वाला धर्म कैसे भागी बन सकता है । इस मत में यह भी दोष है कि जो प्रत्यभिज्ञा होती है अर्थात् देखे हुये धर्म की पुनः स्मृति होती है, वह नहीं होनी चाहिये । यदि कर्मों को करने वाला कोई भी नित्यकर्ता न हो तो मनुष्य, पशु आदि योनि किस आधार पर हो सकती है ? ॥ १४ ॥

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ – (क्रम-अन्यत्वम्) क्रम का भेद (परिणाम-अन्यत्वे) परिणाम के भेद में (हेतुः) कारण है ।

सूत्रार्थ – एक परिणाम का किसी अन्य परिणाम के पश्चात् होना 'क्रम' है, उसका भिन्न भिन्न होना परिणाम के भिन्न-भिन्न होने में कारण है ।

व्या० भा० – एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति । तद्यथा-चूर्णमृत्पिण्डमृद्घटमृत्कपालमृत्कणमृदिति च क्रमः । यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः । पिण्डः प्रच्यवते घट उपजायत इति धर्मपरिणामक्रमः । लक्षणपरिणामक्रमो घटस्यानागतभावाद्वर्तमानभावक्रमः । तथा पिण्डस्य वर्तमानभावादतीतभावक्रमः । नातीतस्यास्ति क्रमः । कस्मात् ? पूर्वपरतायां सत्यां समनन्तरत्वम्, सा तु नास्त्यतीतस्य । तस्माद् द्वयोरेव लक्षणयोः क्रमः ।

तथावस्थापरिणामक्रमोऽपि घटस्याभिनवस्य प्रान्ते पुराणता दृश्यते । सा च क्षणपरम्परानुपातिना क्रमेणाभिव्यज्यमाना परां व्यक्तिमापद्यत इति । धर्मलक्षणाभ्यां च विशिष्टोऽयं तृतीयः परिणाम इति ।

त एते क्रमा धर्मधर्मिभेदे सति प्रतिलब्धस्वरूपाः । धर्मोऽपि धर्मी भवत्यन्यधर्मस्वरूपापेक्षयेति । यदा तु परमार्थतो धर्मिण्यभेदोपचारस्तद्द्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते ।

चित्तस्य द्वये धर्माः परिदृष्टाश्चापरिदृष्टाश्च । तत्र प्रत्ययात्मकाः परिदृष्टाः । वस्तुमात्रात्मका अपरिदृष्टाः । ते च सप्तैव भवन्त्यनुमानेन प्रापितवस्तुमात्रसद्भावाः-

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ॥ इति ॥ १५ ॥

व्या० भा० अ० – *एक धर्मी का एक ही परिणाम (होता है) ऐसी प्राप्ति होने पर (कहा गया है कि) क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व का हेतु है । जैसे कि वह चूर्णमृत्, पिण्डमृत्, घटमृत्, कपालमृत् और कणमृत् ऐसा क्रम है । जो जिसका अव्यवहित धर्म है वह उसका क्रम है । पिण्ड च्युत होता है; घट उत्पन्न होता है, इस प्रकार धर्म परिणाम का क्रम है । लक्षण परिणाम क्रम है – घट का अनागत भाव से वर्तमान भाव में आना । उसी प्रकार पिण्ड का वर्तमान भाव से अतीत भाव क्रम है । अतीत का क्रम नहीं है । क्यों ? पूर्वभाव परभाव होने पर अव्यवहितत्व होता है । वह अतीत का नहीं है । इसलिए दो लक्षणों का ही क्रम है ।*

उसी प्रकार अवस्था परिणाम क्रम यह है कि नये घड़े के अन्त (लम्बे काल) में पुराणता दिखती है । और वह क्षणों की परम्परा से अनुगत क्रम के द्वारा अभिव्यक्त होती हुई अन्तिम अवस्था को प्राप्त होती है । यह तृतीय (अवस्था) परिणाम, धर्म (परिणाम), लक्षण (परिणाम) से भिन्न है ।

वे ये क्रम धर्म धर्मी के भेद रहने पर प्रकट होने वाले होते हैं । धर्म भी धर्मी बनता है (अपने से) अन्य धर्मों के स्वरूप की अपेक्षा से । जब वास्तविक रूप में धर्मी में अभेद की दृष्टि से कथन किया जाता है उस (अभेदोपचार) के द्वारा वह (धर्मी ही) धर्म कहा जाता है । तब यह क्रम (क्रमिक विकास) एक ही रूप (धर्मिपरिणाम क्रम के रूप) में प्रतिभासित होता है ।

चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं – प्रत्यक्ष और परोक्ष। उनमें से ज्ञानात्मक प्रत्यक्ष है। वस्तुमात्रात्मक (चित्तस्वरूप में ही स्थित) परोक्ष हैं। और वे अनुमान प्रमाण द्वारा साधित वस्तु मात्र सद्भाव वाले सात ही होते हैं। निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा और शक्ति-ये चित्त के न दिखने वाले सात धर्म हैं ॥ १५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **क्रमान्यत्व** को परिणाम के अन्यत्व में **हेतु** बतलाया है।

एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिये। क्योंकि एक का एक परिणाम होना ही उचित प्रतीत होता है। परन्तु क्रम भिन्न भिन्न होने से परिणाम भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे चूर्ण मिट्टी, पिण्ड मिट्टी, घट मिट्टी, कपाल (= ठीकरा) मिट्टी, कण मिट्टी यह क्रम है। जो एक धर्म के अनन्तर धर्म है, वह उसका 'क्रम' है। चूर्ण मिट्टी में पानी डालने से पिण्ड बन जाता है। उस पिण्ड का घड़ा बना दिया जाता है तो पिण्ड का आकार समाप्त हो जाता है और घटाकार उत्पन्न हो जाता है। यह मिट्टी धर्मी का 'धर्म परिणाम' है। घट का अनागत स्थिति से वर्तमान स्थिति को प्राप्त होना घट का 'लक्षण परिणाम' है। जब घड़ा चूर्ण होकर नष्ट हो जाता है तब कोई क्रम नहीं रहता। क्योंकि पूर्वपरता में समनन्तरता होती है। जिस घट में परिणामादि क्रम होते हैं वह ही नहीं रहा तो क्रम भी नहीं हो सकता। अतीत का क्रम नहीं है। दो ही लक्षणों का क्रम होता है। नवीन घड़े का निर्माण करने के पश्चात् उसमें धीरे धीरे पुरानापन आता है। घड़ा जीर्ण-शीर्ण हो जाता है यह अवस्था परिणाम है। यद्यपि यह नये से पुराना कैसे हो गया प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाना जाता। किन्तु अनुमान प्रमाण से जाना जाता है। इसी प्रकार से अन्य पदार्थों में भी अवस्था परिणाम जान लेना चाहिये।

प्रायः व्यक्ति यह नहीं जानता है कि मेरा शरीर क्षण क्षण में पुराना हो रहा है और धीरे धीरे इसका विनाश हो जायेगा। यदि व्यक्ति इस बात को जान लेवे तो विवेक वैराग्य उत्पन्न हो सकता है और उससे समाधि भी प्राप्त हो सकती है। ये क्रम धर्म, धर्मी के अन्दर भेद मानने से होते हैं। धर्म भी धर्मी होता है, अन्य धर्म की अपेक्षा से। जैसे महत्तत्त्व प्रकृति की अपेक्षा से धर्म है। परन्तु अहंकार उसका कार्य होने से महत्तत्त्व धर्मी भी है। इसी प्रकार से अहंकार महत्तत्त्व की अपेक्षा से धर्म है और तन्मात्राओं का कारण होने से धर्मी है। ऐसे ही तन्मात्रायें पृथ्वी आदि का कारण हैं और पृथ्वी आदि कार्य है। पृथ्वी तन्मात्राओं का कार्य है और घड़े का कारण है। इसलिये अपेक्षा से यदि धर्म धर्मी में भेद न माना जाय तो क्रम भी नहीं बनेगा। धर्म धर्मी में भेद मानकर क्रम माना जाता है।

चित्त के दो प्रकार के धर्म हैं। एक दृष्ट – जो प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने जाते हैं और दूसरे अदृष्ट – जो अनुमान अथवा शब्द प्रमाण से जाने जाते हैं। जैसे राग-द्वेषादि चित्त के **'दृष्ट धर्म'** हैं वैसे ही निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति ये चित्त के **'अदृष्ट (अपरिदृष्ट) धर्म'** हैं। इन्हें इस प्रकार समझ सकते हैं –

(१) असंप्रज्ञात समाधि में चित्त में व्युत्थान संस्कारों का दब जाना और निरोध संस्कारों का प्रकट होना, यह चित्त का **निरोध** परिणाम है ।

(२) मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो कर्म किये जाते हैं, वे **धर्माधर्म** के रूप में चित्त में संचित होते हैं ।

(३) संस्कार, स्मृतियों और रागादि क्लेशों को उत्पन्न करने वाली, चित्त में विद्यमान वासनायें **'संस्कार'** कहलाती है ।

(४) सत्त्वादि गुणों में निरन्तर क्रिया होने से चित्त में सतत परिवर्तन होता रहता है, इसे **परिणाम** कहते हैं ।

(५) शरीर को जीवित रखने के लिए चित्त के द्वारा होने वाला प्रयत्न **जीवन** है ।

(६) इन्द्रियों को अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त करने के लिए चित्त जो क्रिया करता है, उसे **चेष्टा** कहते हैं ।

(७) चित्त में अपने कार्यों को सम्पादित करने का जो सामर्थ्य है, उसे **शक्ति** कहते हैं ।

उपर्युक्त सातों धर्म चित्त के **'अपरिदृष्ट धर्म'** माने जाते हैं ॥ १५ ॥

अव० - अतो योगिन उपात्तसर्वसाधनस्य बुभुत्सितार्थप्रतिपत्तये संयमस्य विषय उपक्षिप्यते-

अर्थ० - इसके आगे योग के सब अङ्गों का अनुष्ठान कर चुके योगी के जिज्ञासित पदार्थों के परिज्ञान के लिए संयम का विषय उपस्थित किया जाता है ।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ - (परिणाम-त्रय-संयमात्) पदार्थ के तीनों परिणामों में संयम करने से (अतीत-अनागत-ज्ञानम्) उस पदार्थ के भूतकालिक और भविष्यकालिक स्वरूपों का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ - परिणाम वाले पदार्थों के तीनों परिणामों में संयम करने से उन पदार्थों के भूतकालिक और भविष्यत्कालिक स्वरूपों का ज्ञान होता है ।

व्या० भा० - धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद्योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानम् । धारणाध्यान-समाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः (३।४) । तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति ॥ १६ ॥

व्या० भा० अ० *- धर्म लक्षण अवस्था परिणामों में संयम से योगियों को अतीत, अनागत ज्ञान होता है । एक विषयक धारणाध्यानसमाधित्रय को 'संयम' कहा है । संयम के द्वारा साक्षात्कृत परिणामत्रय उनमें अनुगत (ध्येय) पदार्थों के अतीत, अनागत ज्ञान को सम्पादित करता है ॥ १६ ॥*

विशेष - योगदर्शन के तीसरे पाद के १६वें सूत्र से विभूतियों का विषय प्रारम्भ होता है। विभूतियों के विषय में अनेक मतभेद हैं । किसी भी विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षा करके

सत्य और असत्य का निर्णय करना आवश्यक है । महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने **सत्य और असत्य की परीक्षा करने के लिये पाँच आधार** माने हैं ।

(१) जो जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो, वह वह 'सत्य' उससे विरुद्ध असत्य है ।

(२) जो जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह वह सत्य और जो जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह वह असत्य है ।

(३) 'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान् सत्यवादी निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल हो वह वह ग्राह्य और जो जो विरुद्ध वह वह अग्राह्य है ।

(४) अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख, सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा ।

(५) आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ।

– सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास

इन्हीं पाँच कसौटियों के द्वारा योग के नाम से प्रचलित विभूतियों के विषय में सत्य और असत्य को जानने और जनाने का प्रयास किया जायेगा । यदि सत्य और असत्य के निर्णय में त्रुटि हो गई हो तो प्रमाणों से सिद्ध होने पर उसको स्वीकार किया जायेगा ।

यो० प्र० – इस सूत्र में **तीन परिणामों में संयम करने का फल** बतलाया है ।

धर्म, लक्षण, अवस्था इन तीन परिणामों में संयम करने से अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) काल का ज्ञान होता है । योगी जिस विषय में संयम करता है उस विषय में सीमित ज्ञान हो जाता है । जैसे आजकल के भौतिक वैज्ञानिक वस्तुओं का सामान्य ज्ञान करते हैं कि यह भवन, पत्थर पुल आदि पदार्थ कितना पुराना है और आगे कितने समय तक चल सकेगा । इसी प्रकार से योगी भी भूत, भविष्यत् के पदार्थों का सीमित ज्ञान कर लेते हैं । परन्तु यह भवन, अथवा पुल कौन से क्षण में उत्पन्न हुआ था और कौन से क्षण में नष्ट हो जायेगा, क्षण सहित काल का ज्ञान नहीं कर सकते । चालीस वर्ष के पश्चात् इतने बजकर इतने मिनट में अमुक नामक व्यक्ति इस भवन को गिरा देवेगा । यह भी नहीं जान सकते ।

दूसरी बात चेतन पदार्थों के विषय में जाननी चाहिये । योगी वा भौतिक वैज्ञानिक यह नहीं जान सकता कि यह देवदत्त नाम का व्यक्ति चालीस वर्ष के पश्चात् इतने बजे, इतने मिनट पर विष खाकर मर जायेगा । क्योंकि विष खाकर मरने वाले व्यक्ति के मन में भी यह बात नहीं है, कि मैं विष खाकर इस समय मरूँगा । जब यह बात उसके मन में ही नहीं है तो योगी उसको कैसे जानेगा ? चालीस वर्ष से लेकर आज तक किसी व्यक्ति ने मन, वचन और शरीर से कितने अच्छे और कितने बुरे कर्म कब, कहाँ पर किये हैं, यह योगी नहीं जान सकता । इसी प्रकार

से किसी व्यक्ति के भविष्य में होने वाले कर्मों के विषय में भी नहीं जान सकता। कभी कभी किसी व्यक्ति के कर्मों के विषय में किसी कर्म का सामान्य ज्ञान हो सकता है। सांसारिक व्यक्ति की अपेक्षा योगी को कुछ अधिक ज्ञान होता है। यह अन्तर है ॥ १६ ॥

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभाग-संयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ – (शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम्) शब्द, अर्थ और ज्ञान के (इतरेतर-अध्यासात्) परस्पर के अध्यास से (सङ्करः) उनका संमिश्रण होता है (तत्-प्रविभाग-संयमात्) शब्द अर्थ और ज्ञान के प्रविभाग में संयम करने से (सर्व-भूत-रुत-ज्ञानम्) सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ – शब्द, अर्थ और ज्ञानों के परस्पर अध्यास से अर्थात् एक के धर्मों को दूसरे में देखने से उन शब्द अर्थ और ज्ञानों का परस्पर संमिश्रण हो जाता है, उन शब्द अर्थ और ज्ञानों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में संयम करने से सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

व्या० भा० – तत्र वाग्वर्णेष्वेवार्थवती। श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्। पदं पुनर्नादानुसंहार-बुद्धिनिर्ग्राह्यमिति। वर्णा एकसमयासंभवित्वात्परस्परनिरनुग्रहात्मानः, ते पदमसंस्पृश्यानुपस्थाप्या-विर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

वर्णः पुनरेकैकः पदात्मा सर्वाभिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तरप्रतियोगित्वाद्वैश्वरूप्यमिवा-ऽऽपन्नः पूर्वश्चोत्तरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णाः क्रमानुरोधिनोऽर्थसंकेतेनावच्छिन्ना इयन्त एते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृता गकारौकारविसर्जनीयाः सास्नादिमन्तमर्थं द्योतयन्तीति।

तदेतेषामर्थसंकेतेनावच्छिन्नानामुपसंहृतध्वनिक्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते। तदेकं पदमेकबुद्धिविषयमेकप्रयत्नाक्षिप्तमभागमक्रममवर्णं बौद्धमन्त्यवर्णप्रत्ययव्यापारोपस्थापितं परत्र प्रतिपिपादयिषया वर्णैरेवाभिधीयमानैः श्रूयमाणैश्च श्रोतृभिरनादिवाग्व्यवहारवासनानुविद्धया लोकबुद्ध्या सिद्धवत्संप्रतिपत्त्या प्रतीयते। तस्य संकेतबुद्धितः प्रविभागः। एतावतामेवंजातीयकोऽनुसंहार एकस्यार्थस्य वाचक इति।

संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मको, योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्द इति एवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति। एवमेते शब्दार्थप्रत्यया इतरेतराध्यासात्संकीर्णा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्। य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्। सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्तेऽस्तीति गम्यते। न सत्तां पदार्थो व्यभिचरतीति। तथा न ह्यसाधना क्रियाऽस्तीति।

तथा च पचतीत्युक्ते सर्वकारकाणामाक्षेपः। नियमार्थोऽनुवादः कर्तृकरणकर्मणां चैत्राग्नितण्डुला-नामिति। दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते[1] जीवति प्राणान्धारयति[2]। तत्र वाक्ये

---

१. अष्टाध्यायी ५/२/८४।

२. धातुपाठ – भ्वादिगण – ३७५।

पदपदार्थाभिव्यक्तिस्ततः पदं प्रविभज्य व्याकरणीयं क्रियावाचकं वा कारकवाचकं वा । अन्यथा भवत्यश्वोऽजापय इत्येवमादिषु नामाख्यातसारूप्यादनिर्ज्ञातं कथं क्रियायां कारके वा व्याक्रियेतेति ।

तेषां शब्दार्थप्रत्ययानां प्रविभागः । तद्यथा श्वेतते प्रासाद इति क्रियार्थः, श्वेतः प्रासाद इति कारकार्थः शब्दः । क्रियाकारकात्मा तदर्थः प्रत्ययश्च । कस्मात् ? सोऽयमित्यभिसंबन्धादेकाकार एव प्रत्ययः संकेत इति ।

यस्तु श्वेतोऽर्थः स शब्दप्रत्यययोरालम्बनीभूतः । स हि स्वाभिरवस्थाभिर्विक्रियमाणो न शब्दसहगतो न बुद्धिसहगतः । एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इत्यन्यथा शब्दोऽन्यथार्थोऽन्यथा प्रत्यय इति विभागः । एवं तत्प्रविभागसंयमाद्योगिनः सर्वभूतरुतज्ञानं संपद्यत इति ॥ १७ ॥

व्या० भा० अ० *– उन (शब्दार्थ प्रत्ययों) में से वाणी, वर्णों से उच्चारण में चरितार्थ होती है । श्रोत्रेन्द्रिय केवल ध्वनि के परिणाम को विषय करने वाला है । और पद नादानुसंहार बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है । वर्ण एक समय में (उच्चरित) होने वाले न होने से परस्पर असम्बद्ध (स्वरूप वाले) होते हैं । वे (वर्ण) पद को स्पर्श न करके (अर्थात् पदत्व को प्राप्त न करके) उपस्थापित न करके आविर्भूत और तिरोहित होते हैं । अतः प्रत्येक (वर्ण) पदस्वरूप नहीं होता है । (यह तो वर्णों एवं पदों का भेद कहा गया) ।*

(दूसरी दृष्टि से) प्रत्येक वर्ण पदस्वरूप, सब अर्थों को बतलाने की शक्ति से युक्त, सहकारी अन्य वर्णों से सम्बद्ध होने के कारण नाना–असङ्ख्य पदरूप को प्राप्त जैसा, पूर्व (वर्ण) उत्तर (वर्ण) से और उत्तर (वर्ण) पूर्व (वर्ण) से विशेषरूप से अवस्थापित होता है । इस प्रकार बहुत वर्ण, क्रम की अपेक्षा रखने वाले अर्थ, सङ्केत से युक्त इतने (ये एक, दो, तीन, चार आदि) वर्ण समस्त अर्थों को बतलाने की शक्ति से युक्त, गकार–औकार–विसर्जनीय सास्नादियुक्त (गौः) पदार्थ को प्रकाशित करते हैं ।

अर्थ सङ्केत से युक्त ध्वनिगत क्रम से रहित, उन इन (वर्णों) की जो एक अभिव्यक्ति बुद्धि में होती है; वह वाच्य (अर्थ) का वाचक संकेतित होता है, वह पद कहाता है । वह पद एक होता है (क्योंकि) एक बुद्धि का विषय है, एक (ध्वनिरूप) प्रयत्न से सम्पादित होता है, अखण्ड एवं क्रमरहित होता है वर्णों से भिन्न (= रहित) होता है । (वह) बुद्धिनिष्ठ होता है, अन्तिम वर्ण के ज्ञान के व्यापार से अभिव्यक्त होता है । (वह पद) दूसरों को बताने की इच्छा से, (वक्ता के द्वारा) कहे जाने वाले श्रोताओं के द्वारा सुने जाने वाले वर्णों के द्वारा (परम्परा से), अनादि काल से वाग्व्यवहार की वासना से वासित, लोकबुद्धि के द्वारा नित्य के समान सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रतीत होता है । उसका सङ्केतबुद्धि के द्वारा विभाग होता है कि इतने वर्णों का इस प्रकार का मिलन एक अर्थ का वाचक है ।

संकेत तो पद एवं पदों के अर्थों का इतरेतराध्यासरूप स्मृतिरूप होता है, जैसे कि जो यह शब्द है वह अर्थ है, जो यह अर्थ है वह शब्द है । इस प्रकार संकेत परस्पर अध्यासरूप होता

है । इस प्रकार ये शब्दार्थप्रत्यय परस्पर अध्यास के द्वारा मिश्रित हैं । उदाहरण:– गौ शब्द है, गौ (ही) अर्थ है, गौ (ही) ज्ञान है । जो इनके विभागों को जानने वाला है, वह सर्ववित् है । सब पदों में (अन्य पदों के साथ मिलकर) वाक्यशक्ति (अर्थबोधकशक्ति) है (क्योंकि एक वर्ण सर्वाभिधानशक्तियुक्त होता है) । 'वृक्ष' ऐसा कहने पर 'है' ऐसा ज्ञात होता है । (क्योंकि) पदार्थ सत्ता को छोड़कर नहीं रहता और इसी प्रकार कारकरहित क्रिया नहीं होती है ।

और इसी प्रकार 'पचति' ऐसा कहने पर सब कारक उपस्थित होते हैं । कर्त्ता, करण, कर्मात्मक । चैत्र, अग्नि, तण्डुल, का अनुवाद नियम के लिये (कि अन्य कारक न लिए जायें) है । वाक्य के अर्थ में पद की रचना देखी गई है । 'छन्द का अध्ययन करता है' इस (वाक्य) के लिए 'श्रोत्रिय' पद की, 'प्राणों को धारण करता है' इस (वाक्य) के लिए जीवति पद की रचना देखी गई है । (पद एवं वाक्य के विषय में) पदों के अर्थों की अभिव्यक्ति वाक्य में होती है । उस से पद का विभाग करके व्याख्यान करना चाहिए कि (वह पद) क्रिया को कहता है वा कारक को । नहीं तो भवति, अश्व, अजापय इत्यादियों में नाम और आख्यातों के रूप समान होने के कारण ज्ञात नहीं होता कि (इनका) क्रिया में व्याख्यान करना चाहिए वा कारक में ।

उन शब्दार्थ प्रत्ययों का प्रविभाग होता है । उदाहरण:– श्वेतते प्रासाद: (प्रासाद श्वेत होता है) इस वाक्य में स्थित (श्वेतते) क्रियार्थ है । श्वेत: प्रासाद: (प्रासाद श्वेत है) यहाँ श्वेत शब्द कारकार्थक है । इन (श्वेतते, श्वेत) पदों में क्रमश: क्रियार्थ और कारकार्थ और ज्ञान भी क्रिया एवं कारक रूप में होता है । क्यों ? (शब्दार्थ ज्ञानों में भेद करना चाहिए ?) वह यह है इस प्रकार (इतरेतर अध्यास के कारण) एकाकार ही ज्ञानात्मक संकेत होता है ।

जो श्वेत अर्थ (पदार्थ) है वह शब्द और ज्ञान का आलम्बन बना है । वह (अर्थ) ही अपनी अवस्थाओं के द्वारा विकारों को प्राप्त हुआ न शब्द के साथ (सङ्कीर्ण) है न बुद्धि के साथ (सङ्कीर्ण) है । इस प्रकार शब्द है, इस प्रकार ज्ञान है, परस्पर सङ्कीर्ण है । इस प्रकार शब्द अन्य प्रकार का है, अर्थ अन्य प्रकार का है, ज्ञान अन्य प्रकार का है इस प्रकार विभाग है । इस प्रकार उनके विभागों में संयम करने से योगी को सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है ॥ १७ ॥

विशेष – शब्दगत वर्ण एक साथ उच्चरित नहीं होते हैं । क्रमश: उच्चरित होते हैं । अर्थ तो शब्दगत एक–एक अक्षर का नहीं होता है । अक्षरों से अतिरिक्त और कोई समुदाय नहीं जिससे अर्थ की प्रतिपत्ति हो । एक काल में एक अक्षर ही रहता है । 'गौ:' शब्द में जब गकार उच्चरित होता है; तब औकार विसर्जनीय नहीं, जब औकार उच्चरित होता है; तब गकार विसर्जनीय नहीं, जब विसर्जनीय होता है; तब गकार औकार नहीं । इसलिये गकारादि से अतिरिक्त कोई अन्य गौ शब्द है जिससे अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, इस आधार पर कई आचार्यों ने स्फोट की कल्पना की है, शब्द को नित्य मानने वाले वैयाकरणों ने भी इसको स्वीकार किया है । परन्तु मीमांसा भाष्यकार शब्द को नित्य मानने वाले शबर स्वामी ने स्फोट को स्वीकार नहीं किया । इसकी विवेचना

करते हुए श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने लिखा है कि **'वस्तुतः स्फोटपदार्थः काल्पनिक एव तस्यागृह्यमाणत्वात् ।'** वास्तव में स्फोट पदार्थ काल्पनिक ही है क्योंकि वह गृहीत नहीं होता है। शब्दार्थ का सम्बन्ध सामयिक है नित्य नहीं है । अतः तात्त्विक दृष्टि से स्फोट की सिद्धि नहीं होती ।

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान इनके विभागों में संयम करने से योगी को **सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान** हो जाता है ।

'गौ' यह शब्द है, 'गौ' यह अर्थ है, 'गौ' यह ज्ञान है । इस प्रकार से इनको पृथक्-पृथक् जानकर, इनमें संयम करने से अनेक प्राणियों के शब्दों का ज्ञान हो जाता है । शब्द के साथ अर्थ का समवायसम्बन्ध नहीं है । अर्थात् जहाँ शब्द हो वहाँ पर अर्थ भी सदा रहे ऐसा सम्बन्ध नहीं है। जैसे मुख से गौ शब्द बोलने पर गौ (अर्थ) भी शब्द के साथ मुख में रहे ऐसा नियम नहीं । जैसे अग्नि और उष्णता का नित्य सम्बन्ध है वैसा सम्बन्ध शब्द और अर्थ का नहीं है । संयोग सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ का नहीं है । जैसे गौ शब्द मुख से बोला गया और गौ (अर्थ) गोशाला में है । वे दोनों वा कोई एक अपने स्थान से चलकर दूसरे के साथ सम्बद्ध हो, ऐसा सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ का नहीं है ।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ वैशेषिक दर्शन ७/२/१८ ॥

शब्द और अर्थ सम्बद्ध नहीं हैं । शब्द व अर्थ का सांकेतिक सम्बन्ध है । जैसे एक नियम बनाया कि अमुक शब्द से अमुक पदार्थ का ग्रहण करना है ।

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ वैशेषिक दर्शन ७/२/२० ॥

शब्द से अर्थ की प्रतीति समय (नियम) कृत है । शब्दार्थ का सम्बन्ध सांकेतिक है ।

जिन मनुष्यों की भाषा को योगी नहीं जानता है उनकी भाषा को बार बार सुनकर और उनके सङ्केतों एवं व्यवहारों को देखकर पुनः उनके शब्दों में संयम करता है तो एक सीमा तक उनके भावों को जान लेता है । इसी प्रकार गौ आदि पशु और पक्षियों के शब्दों को बार-बार सुनता है और उनके संकेतों एवं व्यवहारों को देखता है तो उनके भावों को कुछ सीमा तक जान लेता है । यह नहीं जानना चाहिये कि जब गौ बोल रही हो तब योगी यह जान लेवे कि यह गौ यह कह रही है कि – ''मेरा दूध निकाल लो'' । क्योंकि वह गौ स्वयं भी यह नहीं जानती कि दूध निकालने का संकेत इस प्रकार के संकेत के द्वारा किया जाता है । जब बोलने वाला अपने शब्दों के अर्थों को नहीं समझता तो सुनने वाला कैसे समझ सकता है ? संसार में यह देखा जाता है कि जब चिड़ियाँ इकट्ठी होकर ऊँचे स्वर से बोलती हैं तब वहाँ पर उनके बच्चों पर आक्रमण करने वाला कोई सर्पादि मिलता है । उनका बार बार यह व्यवहार देखकर व्यक्ति उनके शब्द का भाव जान जाता है कि उनके ऊपर कोई आक्रमण हो गया है । इस प्रकार से योगी उनके शब्दों के भाव को कुछ सीमा तक समझ लेता है । योगी का यह ज्ञान सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की

अपेक्षा अधिक व्यापक और सूक्ष्म होता है । यही **'सर्वभूतरुत ज्ञान'** है । सूत्र में 'सर्वभूतरुत ज्ञान' कहा है । यहाँ पर 'सर्व' शब्द का अर्थ है जिन जिन प्राणियों के शब्दों में योगी संयम करता है उन उन प्राणियों के शब्दों का भाव समझता है, अन्य प्राणियों के शब्दों का नहीं ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ – (संस्कार–साक्षात्–करणात्) संयम के माध्यम से संस्कारों का साक्षात्कार करने से (पूर्व–जाति–ज्ञानम्) पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ – योगी संयम के माध्यम से संस्कारों का साक्षात्कार करके 'पूर्वजन्म का ज्ञान' प्राप्त कर लेता है ।

व्या० भा० – द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा, विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः । ते पूर्वभवाभिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्तिजीवनधर्मवदपरिदृष्टाश्चित्तधर्माः । तेषु संयमः संस्कार-साक्षात् क्रियायै समर्थः । न च देशकालनिमित्तानुभवैर्विना तेषामस्ति साक्षात्करणं, तदित्थं संस्कार-साक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानमुत्पद्यते योगिनः । परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्करणात्परजातिसंवेदनम् ।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते–भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्म-परिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवत् । अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच–दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसंभवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति ? भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच–दशसु महासर्गेषु भव्यत्वा-दनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनःपुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चि-दनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि । भगवानावट्य उवाच–यदिदमायुष्मतः प्रधानवशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति ? भगवाञ्जैगीषव्य उवाच–विषयसुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तम्, कैवल्यसुखापेक्षया दुःखमेव । बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मस्त्रिगुणः, त्रिगुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति । दुःखस्वरूपस्तृष्णातन्तुः, तृष्णादुःखसंतापापगमात्तु प्रसन्नमबाधं सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति ॥ १८ ॥

व्या० भा० अ० *– संस्कार दो प्रकार के हैं । (पहला) स्मृति एवं क्लेश के निमित्त = वासनारूप, (दूसरा) विपाक (कर्मफल भोग) के कारण = धर्माधर्मरूप हैं । वे (दोनों प्रकार के संस्कार) पूर्वजन्मों में निष्पादित, परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन तथा धर्म के समान चित्त के 'अपरिदृष्ट धर्म' हैं । उन (संस्कारों) में (किया गया) संयम उन संस्कारों का साक्षात्कार कराने में समर्थ (होता) है । उन संस्कारों से सम्बद्ध देशकाल निमित्तों के अनुभवों के बिना उन (संस्कारों) का साक्षात्कार नहीं होता । वह इस प्रकार संस्कारों के साक्षात्कार से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान उत्पन्न होता है । इसी प्रकार दूसरे (आत्मा के चित्तस्थ) संस्कारों के साक्षात्कार करने से दूसरे के जन्म का ज्ञान होता है ।*

इस विषय में यह आख्यान सुनने में आता है – संस्कार साक्षात्कार करने से दश महासर्गों में (व्यतीत) जन्मपरिणाम के क्रम को जानने वाले भगवान् जैगीषव्य को विवेकज ज्ञान उत्पन्न

हुआ । किसी समय शरीरधारी भगवान् आवट्य उनसे बोले कि दश महासर्गों में जन्म लेते रहने के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाले, दुःखमय एवं पश्चादि योनियों में प्राप्त होने वाले दुःख को अनुभव करते हुए देवों और मनुष्यों के रूप में बार बार उत्पन्न होने वाले आपने सुख–दुःख में से अधिक क्या प्राप्त किया ? भगवान् आवट्य से जैगीषव्य बोले कि दश महासर्गों में भव्यत्व के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाले, नारकीय, पशु–पक्षी योनियों में प्राप्त होने वाले दुःख को अनुभव करते हुए देव–मनुष्यों के रूप में बार बार उत्पन्न होने वाले मैंने जो कुछ अनुभव किया उस सारे को दुःख ही मानता हूँ । भगवान् आवट्य बोले कि जो यह आप चिरञ्जीव का प्रधान वशित्व और अत्युत्तम सन्तोष सुख है, क्या यह भी दुःख की कोटि में डाल दिया है ? भगवान् जैगीषव्य बोले कि विषय सुख की अपेक्षा से ही यह अत्युत्तम सन्तोष सुख कहा गया है (परन्तु) कैवल्य सुख की अपेक्षा यह दुःख ही है । यह (सन्तोष सुख) बुद्धि सत्त्व का धर्म है (और) त्रिगुणात्मक है । और त्रिगुणात्मक ज्ञान हेय की कोटि में डाला गया है । तृष्णातन्तु दुःखरूप है । तृष्णा (रूपी) दुःख सन्ताप की निवृत्ति होने से यह निर्मल, निर्बाध, सबके अनुकूल सुख कहा गया है ॥ १८ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **संस्कारों के साक्षात्कार करने से पूर्वजन्म का ज्ञान** होता है, यह बतलाया है ।

संस्कार दो प्रकार के हैं । एक जो कि स्मृति और क्लेशों के कारण वासनारूप हैं, दूसरे (संस्कार) कर्म फल के कारण हैं जो धर्माधर्मरूप हैं । ये दोनों प्रकार के संस्कार पूर्वजन्म के सञ्चित हैं। ये परिणाम, चेष्टा, निरोध आदि धर्मों के समान चित्त के **'अपरिदृष्ट धर्म'** हैं । इनमें किया गया संयम, संस्कारों के साक्षात्कार करने में समर्थ है । इन संस्कारों का साक्षात्कार देशकाल और निमित्तों के अनुभव के बिना नहीं हो सकता । संस्कारों का साक्षात्कार होने पर योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है । इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने की है कि क्या पूर्वजन्म का ज्ञान प्रत्यक्षस्मृति के रूप में होता है अथवा परोक्षस्मृति के रूप में होता है ।

प्रत्यक्षस्मृति–जैसे इसी जन्म में किसी व्यक्ति ने बीस वर्ष का अपना वृतान्त ज्यों का त्यों बतला दिया कि मेरा जन्म इतने वर्ष पूर्व, इस ग्राम वा नगर में इस घर में हुआ था । ये मेरे माता–पिता, भाई–बहिन हैं आदि । उस व्यक्ति को अपने जन्मस्थान, माता–पिता आदि के विषय में ठीक प्रकार से स्मरण है और अपने जन्म स्थान पर जाकर, उसको दिखा सकता है । यह है प्रत्यक्षरूप से स्मृति ।

परोक्ष रूप से स्मृति – जिसमें संस्कार के कारण स्मृति तो होती है, परन्तु उसमें यह ज्ञात नहीं होता कि ये संस्कार किस देश, काल और किन पदार्थों के माध्यम से उत्पन्न हुए हैं ।

जिस स्मृति में देश, काल और मनुष्य आदि पदार्थों का ज्यों का त्यों स्मरण होता है, वह प्रत्यक्ष रूप से स्मृति है । और जिस स्मृति में देश, काल और मनुष्य आदि पदार्थों का कुछ भी परिज्ञान नहीं होता है, वह परोक्षरूप से स्मृति है । गौ का बछड़ा उत्पन्न होते ही मां के स्तनों का

दूध पीने का प्रयास करता है, यह परोक्ष स्मृति है । उस बछड़े को यह ज्ञात है कि इन स्तनों में दूध है । यह पूर्वजन्म के संस्कारों से स्मृति उत्पन्न हुई है । परन्तु बछडे को यह ज्ञात नहीं है कि उसने किस देश में, किस काल में, किस प्रकार की गौ के स्तनों का दूध पिया था । इस स्मृति के विषय में पुनर्जन्म मानने वालों में प्रायः मतभेद नहीं है । परन्तु देश, काल और अन्य पदार्थों सहित स्मृति के विषय में मतभेद है । इस सूत्र में 'पूर्व जन्म का ज्ञान होता है' ऐसा माना है, परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, इसलिए यह विषय और विचारणीय है । महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के वचन इस प्रकार से हैं –

''**प्रश्न** – जो अनेक (जन्म) हों तो पूर्वजन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं ?

उत्तर – जीव अल्पज्ञ है त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिए स्मरण नहीं रहता । और जिस मन से स्मरण करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता । भला पूर्वजन्म की बात दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो जो बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जागृत वा स्वप्न में बहुत सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ निद्रा होती है तब जागृत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और तुम से कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पाँचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहली मिनट में तुम ने क्या किया था ? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस ओर किस प्रकार का था ? और मन में क्या विचार था ? (तो कुछ भी न बता सकोगे) जब इसी शरीर में ऐसा है, तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करनी केवल लड़कपने की बात है । और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है, नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख दुःखित होकर मर जाता । जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता । क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है । यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं ।''

– सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास

इसी प्रकार ऋषि दयानन्द सरस्वती जी ने पुनर्जन्म के विषय में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है कि – ''जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है ?'' ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ – (प्रत्ययस्य) ज्ञान में संयम करने से (पर-चित्त-ज्ञानम्) दूसरे के चित्त का ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ – जब योगी दूसरे के ज्ञान में संयम करता है तब उसको 'अन्य के चित्त का ज्ञान' हो जाता है ।

व्या० भा० – प्रत्यये संयमात्प्रत्ययस्य साक्षात्करणात्ततः परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

व्या० भा० अ० *– (दूसरे के) ज्ञान में संयम करने से (दूसरे के) ज्ञान का साक्षात्कार करने से, उस साक्षात्कार से, दूसरे के चित्त का (विशेष) ज्ञान होता है ॥ १९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **अन्य व्यक्ति के चित्त का ज्ञान** किस प्रकार से होता है ।

जब योगी अन्य व्यक्ति की आकृति, विविध चेष्टाओं और वाणी के द्वारा उसके भावों को जानकर उसके ज्ञान में संयम करता है, तब योगी को उसके चित्त की स्थिति का ज्ञान होता है कि इस व्यक्ति का चित्त राग, द्वेष, मोह, अहंकार युक्त है अथवा प्रेम, निरभिमानता, जिज्ञासा आदि से युक्त है । यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिये कि योगी को अन्य व्यक्ति के समस्त विचारों का ज्ञान हो जाता है, अपितु कुछ विचारों का ज्ञान ही योगी को हो पाता है ।

यदि योगी अन्य व्यक्ति के विचारों को जानने का विशेष प्रयास न करे तो उसको अन्य के चित्त का विशेष ज्ञान नहीं होता । जैसे स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के समीप रहने वाले पाचक का चित्त लोभयुक्त था । स्वामी जी ने उसके चित्त को जानने का विशेष प्रयत्न नहीं किया । इसी कारण से लोभयुक्त चित्त का परिज्ञान नहीं हुआ । कभी-कभी व्यक्ति आकृति, वाणी, व्यवहार से तो प्रेम, उपकार, श्रद्धा को दिखाता है और अन्दर द्वेष, स्वार्थ, हिंसा आदि दोष होते हैं । ऐसी स्थिति में परचित्त का ज्ञान प्राप्त करना कठिन होता है ॥ १९ ॥

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ – (न च) और नहीं (तत्) उस परचित्त का ज्ञान (सालम्बनम्) आलम्बन सहित होता है (तस्य) परचित्त के आलम्बन का (अ-विषयीभूतत्वात्) योगी के संयम का विषय न होने से ।

सूत्रार्थ – दूसरे के चित्त में संयम करने से परचित्त का ज्ञान आलम्बनसहित नहीं होता है, क्योंकि परचित्त का जो आलम्बन है, वह योगी के संयम का विषय नहीं है ।

व्या० भा० – रक्तं प्रत्ययं जानात्यमुष्मिन्नालम्बने रक्तमिति न जानाति । परप्रत्ययस्य यदालम्बनं तद्योगिचित्तेन नालम्बनीकृतम् । परप्रत्ययमात्रं तु योगिचित्तस्यालम्बनीभूतमिति ॥ २० ॥

व्या० भा० अ० *– रागयुक्त चित्त को जानता है, अमुक आलम्बन में अनुरक्त है, ऐसा नहीं जानता । अन्य पुरुष के चित्त का जो आलम्बन है, उसको योगी के चित्त के द्वारा आलम्बन नहीं बनाया गया । क्योंकि केवल दूसरे का प्रत्यय (चित्त) योगी के चित्त के द्वारा आलम्बन बनाया गया है ॥ २० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में पर व्यक्ति के **चित्त के आलम्बन का ज्ञान होने का निषेध** किया है।

अन्य व्यक्ति के ज्ञान में संयम करने से योगी उसके चित्त में विद्यमान राग, द्वेष, प्रेम, परोपकार आदि भावों को तो जान लेता है । परन्तु उस व्यक्ति का किस पदार्थ, मनुष्य, पशु, पक्षी में राग, द्वेष, प्रेम है उनको योगी नहीं जानता । क्योंकि अन्य व्यक्ति का चित्त जिन पदार्थों के विषय में

राग, द्वेष, प्रेम, जिज्ञासा आदि रखता है, वे पदार्थ योगी के संयम का विषय नहीं होते। इसलिये योगी जिन वस्तुओं को संयम का विषय बनाता है; उसको उन्हीं के विषय में ज्ञान होता है, अन्यों के विषय में नहीं ॥ २० ॥

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ – (काय-रूप-संयमात्) अपने शरीर के रूप में संयम करने से (तद्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे) उसकी रूप की ग्राह्यशक्ति रुक जाने पर (चक्षुः-प्रकाश-असम्प्रयोगे) दूसरे की आँखों के प्रकाश का संयोग न होने पर (अन्तर्धानम्) योगी को अन्तर्धान प्राप्त होता है (दिखाई नहीं देता) ।

सूत्रार्थ – अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की ग्राह्यशक्ति रुक जाती है । इससे दूसरे की आँखों के प्रकाश का योगी के शरीर के रूप से सन्निकर्ष न होने के कारण योगी का शरीर छिप जाता है ।

व्या० भा० – कायस्य रूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्या शक्तिस्तां प्रतिष्टभ्नाति । ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानमुत्पद्यते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तं वेदितव्यम् ॥ २१ ॥

व्या० भा० अ० *– शरीर के रूप में संयम से रूप की जो ग्राह्यशक्ति है, (योगी) उसको रोक देता है । (रूप की) ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने पर, चक्षु के प्रकाश के (शरीर के रूप के साथ) संयोग न होने के कारण, योगी की अन्तर्धान की योग्यता उत्पन्न होती है । इससे (रूप के अन्तर्धान से) शब्द आदि का अन्तर्धान कहा गया जान लेना चाहिए ॥ २१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **अन्तर्धान सिद्धि** का कथन है ।

जब योगी अपने शरीर के रूप में संयम करता है, तो रूप की ग्राह्यशक्ति रुक जाती है अर्थात् रूप में जो दिखने की शक्ति है, वह रुक जाती है । नेत्र इन्द्रिय के प्रकाश का रूप के साथ सम्बन्ध न होने से अन्तर्धान की सिद्धि होती है, अर्थात् योगी के शरीर का रूप दिखाई नहीं देता । इसी प्रकार से व्यासभाष्य में शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध इन चार विषयों की भी शक्ति रोकने का कथन किया गया है । रूप, स्पर्श आदि शरीर के स्वाभाविक गुण हैं । इस अन्तर्धान सिद्धि के अनुसार योगी शरीर के रूप, स्पर्श आदि गुणों को संयम से रोक देवेगा, तो योगी का शरीर पत्थर, लोहा आदि से टकराना नहीं चाहिये और न योगी के शरीर से पत्थर आदि के टकराने पर उसकी मृत्यु होनी चाहिये ।

शरीर के रूप, स्पर्श आदि स्वाभाविक गुणों को स्तंभित कर देना सृष्टि नियम विरुद्ध होने के कारण, यह सिद्धि ठीक प्रतीत नहीं होती ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ – (सोपक्रमम्) शीघ्र फल देने वाले (निरुपक्रमम्) विलम्ब से फल देने वाले (च) और (कर्म) कर्म होते हैं (तत्-संयमात्) उन कर्मों में संयम करने से (अपरान्त-ज्ञानम्) मृत्यु का ज्ञान होता है (अरिष्टेभ्यः) मृत्यु के ज्ञापक चिह्नों से (वा) और (ज्ञान होता है) ।

सूत्रार्थ – कर्म दो प्रकार के होते हैं शीघ्र फल देने वाले और विलम्ब से फल देने वाले । उन कर्मों में संयम करने से और मृत्यु के ज्ञापक चिह्नों से योगी को 'मृत्यु का ज्ञान' होता है ।

व्या० भा० – आयुर्विपाकं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम् । यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम् । यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा सोपक्रमम् । यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुपक्रमम् । तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधम्-सोपक्रमं निरुपक्रमं च । तत्संयमादपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम् । अरिष्टेभ्यो वेति ।

त्रिविधमरिष्टमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च । तत्राध्यात्मिकं घोषं स्वदेहे पिहितकर्णो न शृणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति । तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्पश्यति पितॄनतीतानकस्मात्पश्यति । तथाधिदैविकं स्वर्गमकस्मात्सिद्धान्वा पश्यति, विपरीतं वा सर्वमिति । अनेन वा जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति ॥ २२ ॥

व्या० भा० अ० *– आयु रूपी फल को देने वाला कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम (नाम से) दो प्रकार का है । उनमें से सोपक्रम (कर्म) ऐसा होता है जैसा कि गीला वस्त्र फैलाया हुआ अल्पकाल से सूख जाय । और जिस प्रकार वही एकत्रित पिण्ड बनाया हुआ देर में सूखे, इस प्रकार (का) निरुपक्रम (कर्म) होता है । और जिस प्रकार अग्नि सूखे तिनकों के समूह पर डाली हुई चारों ओर से वायु से युक्त स्वल्पकाल में जलावे उसी प्रकार सोपक्रम (कर्म) और जिस प्रकार वही अग्नि घास के ढेर में क्रमपूर्वक एक एक अवयव में डाली हुई देर में जलावे, इस प्रकार निरुपक्रम (कर्म) होता है । वह एक जन्म में होने वाला कर्म, आयुरूपी फल देने वाला दो प्रकार का है- सोपक्रम और निरुपक्रम । उसमें (किये गये) संयम से अपरान्त (= मरण का ज्ञान) होता है अथवा अरिष्टों से (होता है) ।*

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक (नाम से) तीन प्रकार का अरिष्ट है । उनमें से आध्यात्मिक – कर्णों को बन्द किये हुए (व्यक्ति) स्वशरीर में स्थित ध्वनि को नहीं सुनता अथवा नेत्रों को बन्द कर लेने पर प्रकाश को नहीं देखता । उसी प्रकार आधिभौतिक – (मरणासन्न मानव की मानसिक स्थिति भयभीत असन्तुलित होती है । अतः वह मारने के लिए आने वालों की कल्पना करता है अतः कल्पना से) मारने वालों को देखता है, मृत (परिचित वा) पारिवारिक जनों को

अकस्मात् देखता है । उसी प्रकार आधिदैविक - (स्वयं निर्धन, दुःखों से घिरा हुआ होने पर भी अपनी कल्पना में मग्न होने से) अकस्मात् (धनधान्य, भोगभाग्य से परिपूर्ण समस्त सुखों से युक्त) स्वर्ग को देखता है, अथवा सिद्ध पुरुषों को देखता है अथवा (स्वयं धनी, साधन सम्पन्न होने पर भी) सर्वथा उसके विरुद्ध (अपने को दीन-हीन, असहाय) देखता है - इस प्रकार अरिष्टों को देखने से भी जानता है कि मरणासन्न है ॥ २२ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बात बतलायी है कि सोपक्रम-निरुपक्रम कर्मों में संयम के करने से और अरिष्टों से भी **मृत्यु का ज्ञान** होता है ।

कर्म दो प्रकार के होते हैं । शीघ्र फल देने वाले और विलम्ब से फल देने वाले । यहाँ पर आयुफल देने वाले कर्मों के विषय में विशेष विचार करना है । आयुफल देने में पूर्वजन्म के कर्म और इस जन्म के कर्म दोनों ही आयु को बढ़ाने और घटाने में कारण हैं । पूर्वजन्म में किये कर्मों के विषय में योगी संस्कारों के आधार पर सामान्य रूप से ज्ञान कर सकता है । परन्तु पूर्वजन्म के कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नहीं जान सकता । पूर्वजन्म के सम्पूर्ण कर्मों को तो ईश्वर ही जान सकता है । इस जन्म के आयुफल को देने वाले कर्मों के विषय में योगी अधिक मात्रा में जान सकता है । परन्तु इस जन्म के कर्मों को भी, जो जन्म से लेकर अब तक किये हैं उनको वह भी पूर्णरूपेण नहीं जान सकता ।

पूर्वजन्मकृत कर्मों के संस्कारों के सामान्य ज्ञान के आधार पर और इस जन्म में किये कर्मों के विशेष ज्ञान के आधार पर योगी अपनी आयु के विषय में यह जान सकता है कि मेरी आयु लगभग इतने वर्ष की हो सकती है । परन्तु इतने क्षणों तक मेरी आयु होगी, यह नहीं जान सकता । जो भूकम्प अथवा किसी व्यक्ति के द्वारा अकस्मात् मृत्यु होती है, उसके विषय में योगी नहीं जान सकता कि मेरी मृत्यु इतने दिनों में अमुक व्यक्ति के द्वारा होगी अथवा अमुक समय में भूकम्प आयेगा और मेरी मृत्यु इतने बजकर इतने क्षणों में होगी । जिस योगी ने बाल्य अवस्था से ब्रह्मचर्य का पालन किया है, उचित व्यायाम किया है, उत्तम भोजन खाया है, शरीर को स्वस्थ रखा है इत्यादि अपने कर्मों को जानकर यह बतला सकता है कि यदि कोई अकस्मात् दुर्घटना न हुई तो मेरी आयु लगभग इतनी हो सकती है । जिस योगाभ्यासी के जीवन में ऊपर बतलाये साधनों की अपेक्षाकृत न्यूनाधिकता रही होगी तो वह अपनी आयु को न्यूनाधिक बतलायेगा सांसारिक लोग अपनी आयु के विषय में न्यून जानते हैं और योगी उनसे अधिक जानता है । यह दोनों में अन्तर है ।

अरिष्टों से भी मृत्यु के विषय में ज्ञान होता है । आयुर्वेद में मृत्यु का ज्ञान करवाने वाले अरिष्टों को बतलाया है ।

आध्यात्मिक अरिष्ट - जैसे कि कानों में अँगुली डालकर बन्द करने से अव्यक्त ध्वनि सुनाई नहीं देती, इसी प्रकार आँखों को हाथ से दबाने पर प्रकाश नहीं दिखता इत्यादि ।

आधिभौतिक अरिष्ट – आध्यात्मिक अरिष्टों के सदृश ये भी होते है, इनके अन्तर्गत व्यक्ति की जीवन शक्ति के क्षीण होने से विचारों में सन्तुलन नहीं रहता । मृत्यु का भी भय बना रहता है । इस स्थिति में वह व्यक्ति अपने पूर्व संस्कारों के आधार पर कभी-कभी ऐसा सोचता है कि मुझे मारने के लिये लोग आ रहे हैं । वास्तव में ये उसके असन्तुलित विचार हैं । वहाँ कोई व्यक्ति नहीं होता । भिन्न भिन्न कल्पनाओं के अनुसार भिन्न भिन्न काल्पनिक पदार्थों को देखता रहता है । इसी प्रकार अपने मृत पूर्वजों को देखता है । यह सर्वविदित है कि मृत व्यक्ति तो रहते ही नहीं हैं ।

आधिदैविक अरिष्ट – इन्हें इसी सूत्र के व्यासभाष्य में अनुवाद में देख लेवें ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ – (मैत्री-आदिषु) मैत्री आदि में संयम करने से (बलानि) मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं ।

सूत्रार्थ – मैत्री, करुणा और मुदिता इन तीन भावनाओं में संयम करने से मैत्री, करुणा और मुदिता बलों की प्राप्ति होती है ।

व्या० भा० – मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रो भावनाः । तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबलं लभते । दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते । पुण्यशीलेषु मुदितां भावयित्वा मुदिताबलं लभते । भावनातः समाधिर्यः स संयमः, ततो बलान्यबन्ध्यवीर्याणि जायन्ते । पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना । ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यतो न बलमुपेक्षातः, तत्र संयमाभावादिति ॥ २३ ॥

व्या० भा० अ० *– मैत्री करुणा मुदिता ये तीन भावनाएँ हैं । इन तीनों में से (योगी) सुखी (प्राणियों) में मैत्री की भावना करके, मैत्रीबल को प्राप्त करता है । दुःखी (प्राणियों) में करुणा की भावना करके, करुणाबल को प्राप्त करता है । पुण्यात्माओं में मुदिता की भावना करके, मुदिता बल को प्राप्त करता है । भावना से जो समाधि (उत्पन्न) होती है, वह 'संयम' कहलाता है । उस (समाधिजन्य संयम) से अप्रतिहत सामर्थ्य वाले बल उत्पन्न होते हैं । पापियों में उपेक्षा की जाती है, भावना नहीं । इसलिये उसमें (धारणा, ध्यान) समाधि नहीं होती है इसलिए उपेक्षा से बल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसमें संयम नहीं किया जाता है ॥ २३ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **मैत्र्यादि में संयम करने से बलों की प्राप्ति** कही है । प्रथम पाद के तेतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता इन तीन भावनाओं का कथन किया है । इन तीनों भावनाओं को अभ्यास से दृढ़ बनाने से और इनमें संयम करने से बलों की प्राप्ति होती है ।

मैत्री में संयम करने से मैत्रीबल की प्राप्ति होती है । करुणा में संयम करने से करुणाबल की प्राप्ति होती है और मुदिता में संयम करने से मुदिताबल की प्राप्ति होती है । मैत्रीबल की प्राप्ति से साधक अन्यों को मित्र बनाने में सफल हो जाता है । करुणाबल की प्राप्ति से दूसरों को दयालु

बनाने में सफलता मिलती है। मुदिताबल की प्राप्ति से अन्यों को हर्षयुक्त करने में सफलता मिलती है। जब योगाभ्यासी इन तीनों भावनाओं को दृढ़ बना लेता है तो अपने अन्दर जो इन तीनों के विरुद्ध सूक्ष्म विचार हैं, उनकी परिसमाप्ति हो जाती है और उसमें अन्यों को भी इन भावनाओं से युक्त करने की शक्ति आ जाती है। मैत्री आदि भावनाओं का अभ्यास करने वाले साधक को यह नहीं सोचना चाहिए कि अन्य लोग मेरे साथ मैत्री आदि करेंगे तो मैं उनके साथ मैत्री आदि करुँगा। क्योंकि ऐसा सोचने से इनका पालन करने में कभी भी सफलता नहीं मिलती। इसलिये दूसरे लोग मेरे साथ इनका व्यवहार करें वा न करें, स्वयं इनका अनुष्ठान अवश्य करुँगा।

यद्यपि अपुण्य आत्माओं में उपेक्षा का कथन है, भावना का नहीं। परन्तु अपुण्यात्माओं के स्तर के अनुसार उनका कल्याण करने का प्रयास करना चाहिये, उनके प्रति सर्वथा ही उपेक्षा करना ठीक नहीं। क्योंकि उनमें भी, सुधारने के लिये प्रयत्न करने पर, सुधरने की योग्यता वाले होते हैं। कुछ तो ऐसे होते ही हैं कि सुधरने की योग्यता से दूर हो गए हैं परन्तु उनका भी कल्याण करने की भावना रखनी चाहिए। वेदमन्त्रों में सबके कल्याण के लिये प्रार्थना करने का विधान है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ – (बलेषु) हस्ति आदि बलों में संयम करने से, (हस्ति–बलादीनि) हस्ति बलादि प्राप्त होते हैं।

सूत्रार्थ – हाथी आदि के बलों में संयम करने से हाथी आदि के बल की भाँति अधिक बल की प्राप्ति होती है।

व्या० भा० – हस्तिबले संयमाद् हस्तिबलो भवति। वैनतेयबले संयमाद्वैनतेयबलो भवति। वायुबले संयमाद्वायुबलो भवतीत्येवमादि ॥ २४ ॥

व्या० भा० अ० *– हाथी के बल में संयम करने से (योगी) हाथी के (सदृश) बल से सम्पन्न हो जाता है। गरुड़ के बल में संयम (करने) से गरुड़ के (सदृश) बल वाला हो जाता है। वायु के बल में संयम (करने) से वायु के (सदृश) बल वाला हो जाता है। इस प्रकार अन्य भी (जान लेने चाहिए) ॥ २४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि हाथी आदि **बलयुक्त पदार्थों में संयम करने से बल की प्राप्ति** होती है।

बल की प्राप्ति का प्रकार – जब व्यक्ति किसी महान् बलवान् पुरुष को देखता है और स्वयं उस जैसा बलवान् बनना चाहता है। तब उसके खान–पान, व्यायाम आदि सभी व्यवहारों को देखता है और उसी की भांति स्वयं भी व्यवहार करता है तथा मन में उसी जैसा बनने की तीव्र इच्छा करता है, तो उसी के समान बलवान् हो जाता है। केवल महापुरुष के बल में संयम करने मात्र से उस जैसा बलवान् नहीं बन सकता। इसी प्रकार से सर्वत्र जानना चाहिये।

यदि कोई व्यक्ति यह मानता हो कि जिसमें संयम करते हैं उसका बल संयम करने वाले को प्राप्त होता है तो उसके अनुसार जिसमें संयम किया गया है उसका बल न्यून होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता । इससे यह जानना चाहिए कि संयम मात्र से बल नहीं प्राप्त होता । दूसरी बात यह भी जाननी चाहिए कि क्या योगी वायु के बल में संयम करने से वायु जितना बल प्राप्त कर लेता है अथवा नहीं । यदि वायु जितना बल प्राप्त कर लेता है तो क्या समुद्र में वायु के बल से जो तूफान आता है तो उतना तूफान समुद्र में योगी के बल से आ सकता है ? भूमि के बल में संयम करने से भूमि जितना बल योगी में आ सकता है ? इसका समाधान यह है कि वायु और भूमि जितना बल योगी में नहीं आता । किन्तु मनुष्य की स्थिति के अनुसार योगी के बल की मात्रा बढ़ जाती है । इसलिये बलशाली पदार्थों के बल को देखकर बल के साधनों का अनुष्ठान करने से योगी का बल बढ़ जाता है ॥ २४ ॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ – (प्रवृत्ति-आलोक-न्यासात्) प्रवृत्ति के प्रकाश को सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ वस्तुओं में लगाने से (सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम्) सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त तथा सुदूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

सूत्रार्थ – मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक में संयम करके उस आलोक को सूक्ष्म, आवरणयुक्त तथा दूर वाली वस्तुओं में लगाने से उन सूक्ष्म आदि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।

व्या० भा० – ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसः (१/३६) । तस्यां य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वार्थे विन्यस्य तमर्थमधगच्छति ॥ २५ ॥

व्या० भा० अ० *– मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही गई है (योगदर्शन १/३६) । उसमें जो प्रकाश है उसको (योगी) सूक्ष्म वा व्यवहित अथवा दूर के पदार्थ में डालकर उस पदार्थ को जान लेता है ॥ २५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **प्रवृत्ति के आलोक के प्रयोग से तीन सिद्धियाँ** मानी हैं ।

योगदर्शन के प्रथम पाद के ३६ वें सूत्र में **'मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'** कही है । उसका जो प्रकाश है योगी उस प्रकाश को सूक्ष्म, व्यवहित और दूर के पदार्थों में डाल करके उन के स्वरूप को जान लेता है । सत्त्वगुण प्रकाशशील है और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी सात्त्विक है । उसके माध्यम से जीवात्मा अपने स्वरूप को और अन्य अनेक सूक्ष्म विषयों को जानने में सफल हो जाता है । परन्तु परोक्ष पदार्थों को और अति दूर के पदार्थों को कैसे जानता है यह प्रयोगपूर्वक नहीं देखा गया ।

सात्त्विक प्रवृत्ति से योगाभ्यासी अपनी चित्त की सूक्ष्म वृत्तियों को जानने में सफल हो जाता है । यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है । योगाभ्यास के समय योग के विरुद्ध वृत्तियों को जानकर उनको रोक देना और सात्त्विक वृत्तियों को ईश्वर प्राप्ति की ओर लगा देना, जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति

से सिद्ध हो सकता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश को डालकर योगी भूगर्भ में विद्यमान व्यवहित पदार्थों को और हजारों मील दूर के पदार्थों को कैसे जानता है, यह विचारणीय है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ – (भुवन-ज्ञानम्) लोक-लोकान्तरों का ज्ञान (सूर्ये) सूर्य में (संयमात्) संयम करने से।

सूत्रार्थ – इस भौतिक सूर्य में संयम करने से उससे सम्बद्ध 'लोक-लोकान्तरों का ज्ञान' हो जाता है।

व्या० भा० – तत्प्रस्तारः सप्तलोकाः। तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येवं भूर्लोकः। मेरुपृष्ठा-दारभ्याऽऽध्रुवाद् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरिक्षलोकः। ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो, माहेन्द्रस्तृतीयो लोकः। चतुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः। त्रिविधो ब्राह्मः। तद्यथा – जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति।

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः ॥ इति संग्रहश्लोकः।

तत्रावीचेरुपर्युपरि निविष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रान्धतामिस्राः। यत्र स्वकर्मोपार्जितदुःखवेदनाः प्राणिनः कष्ट-मायुर्दीर्घकालमाक्षिप्य जायन्ते। ततो महातलरसातलातलसुतलवितलतलातलपातालाख्यानि सप्त पातालानि। भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः। तस्य राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। तत्र वैदूर्यप्रभानुरागान्नीलोत्पलपत्रश्यामो नभसो दक्षिणो भागः। श्वेतः पूर्वः। स्वच्छः पश्चिमः। कुरुण्डकाभ उत्तरः। दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः। यतोऽयं जम्बूद्वीपः। तस्य सूर्यप्रचाराद्रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवर्तते। तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्विसाहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति। निषधहेमकूटहिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः। तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किंपुरुषं भारतमिति। सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वाः माल्यवत्सीमानः। प्रतीचीनाः केतुमालाः गन्धमादनसीमानः। मध्ये वर्षमिलावृतम्। तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम्।

स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिना वेष्टितः। ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाककुशक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्षपराशिकल्पाः सविचित्रशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः। सप्तसमुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसंख्याताः। तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम्। अण्डं च प्रधानस्याणुरवयवो यथाकाशे खद्योत इति।

तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देवनिकाया असुरगन्धर्वकिन्नरकिंपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचा-पस्मारकाप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति। सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देवमनुष्याः। सुमेरु-स्त्रिदशानामुद्यानभूमिः। तत्र मिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि, सुधर्मा देवसभा, सुदर्शनं

पुरम्, वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमेनोपलक्षितप्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि संनिविष्टा दिवि विपरिवर्तन्ते ।

माहेन्द्रनिवासिनः षड् देवनिकायाः-त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मितवशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तिनश्चेति । ते सर्वे संकल्पसिद्धा अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेहा उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः-कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति । एते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषः ।

प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अजरामरा इति । एते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः ।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः-आभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः सर्वे ध्यानाहाराः ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृतज्ञानविषयाः ।

तृतीये ब्रह्मणः सत्यलोके चत्वारो देवनिकायाः-अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्चेति । ते चाकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषः ।

तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, संज्ञासञ्ज्ञिनश्चास्मितामात्रध्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये प्रतितिष्ठन्ति । त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति ।

एतद्योगिना साक्षात्करणीयं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि । एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ॥ २६ ॥

व्या० भा० अ० – *उस संसार के विस्तार सात लोक हैं । उनमें नीचे नरक से लेकर मेरुपृष्ठ पर्यन्त यह 'भूः' लोक है । मेरुपृष्ठ से लेकर ध्रुव पर्यन्त ग्रह, नक्षत्र, तारायुक्त विचित्र 'अन्तरिक्ष' लोक है । उसके पश्चात् 'स्वः' लोक, पुनः पाँच प्रकार का 'माहेन्द्र' नामक तृतीय लोक है । चौथा 'प्राजापत्य' नाम का 'महः' लोक है । (आगे) तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है जो कि 'जनलोक', 'तपोलोक' और 'सत्यलोक' नाम का है ।*

तीन भूमियों वाला ब्रह्मलोक, उसके पश्चात् महान् प्राजापत्यलोक है । उसके पश्चात् माहेन्द्रलोक जो कि स्वः नामक लोक कहा गया है कि जिसके अन्तरिक्ष में तारे और भूमि पर प्रजा हैं । ऐसा संग्रहश्लोक में कहा है ।

वहाँ नीचे से ऊपर ऊपर स्थित घन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश, अन्धकार में स्थित क्रमशः महाकाल, अम्बरीष रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र छः महानरक भूमियाँ हैं । जहाँ अपने कर्मों से उपार्जित दुःखानुभूति करने वाले प्राणी कष्टपूर्वक लम्बी आयु को भोग करके जन्म लेते हैं । उसके पश्चात् महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल नामक सात पाताल हैं । आठवीं यह सात द्वीपों वाली वसुमती भूमि है । जिसके मध्य में स्वर्णिम पर्वतराज सुमेरु

है । उसके राजत, वैदूर्य, स्फटिक, हेममणिमय चोटियाँ हैं । वहाँ वैदूर्यरश्मि से रंगा हुआ नीलकमल के पत्र की श्यामता के समान आकाश का दक्षिण भाग है । पूर्व भाग श्वेत है । पश्चिम भाग स्वच्छ है । उत्तर भाग कुरुण्ड (रक्त) की आभा वाला है । इसके दक्षिण पार्श्व में जम्बू वृक्ष है, जिसके कारण यह जम्बूद्वीप कहलाता है । उस जम्बूद्वीप से लगे हुये सूर्य के संचार से रात और दिन प्रवृत हो रहे हैं । उसके उत्तर में नीले और श्वेत चोटियों वाले तीन पर्वत दो-दो सहस्र योजन विस्तार वाले हैं ।

उसके बीच में रमणक, हिरण्यमय और उत्तरकुरु नामक नौ-नौ सहस्र योजन विस्तार वाले तीन वर्ष (देश) है । दक्षिण में दो-दो सहस्र योजन विस्तार वाले निषध, हेमकूट और हिमालय हैं । उसके बीच में नौ-नौ सहस्र योजनवाले तीन वर्ष हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत हैं । सुमेरु से पूर्व में माल्यवान् सीमा वाला भद्राश्व है । पश्चिम में गन्धमादन सीमा वाला केतुमाल है । बीच में इलावृत वर्ष (देश) है । वे ये सौ हजार (लाख) योजन विस्तार वाले सुमेरु के चारों दिशाओं में उसके आधे ५० सहस्र योजन वाले परिमाण वाले रचित हैं ।

वह यह एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है अपने से दुगुने विस्तार वाले वलयाकार लवणोदधि (क्षार समुद्र) से घिरा है । उससे क्रमशः दुगुने दुगुने विस्तार वाले शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, मगध, पुष्कर नामक द्वीप वाले, सरसों के ढ़ेर के समान, चित्र-विचित्र तटीय पर्वतों वाले, इक्षुरस, सुरा, घी, दही, माण्ड, दुग्ध के स्वादयुक्त जल वाले सात समुद्र हैं । सातों समुद्रों से घिरा हुआ वलयाकार लोक, आलोकादि पर्वत समूह ५० करोड़ योजन विस्तार वाले कहे गये हैं । वे ये सारे ब्रह्माण्ड के बीच में पृथक् पृथक् निबद्ध हैं । और ये अण्ड प्रकृति का छोटा सा भाग है जैसे कि आकाश में जुगनू ।

उस पाताल समुद्र और पर्वतों में देवजाति, असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड और विनायक रहते हैं । सभी द्वीपों पर पुण्यात्मा देव और मनुष्य रहते हैं । सुमेरु (पर्वत) त्रिदशों की उद्यानभूमि है । उसमें मिश्रवन, नन्दनवन और चैत्ररथ नामक तीन उद्यान सुन्दर सुन्दर फूलों से सुशोभित हैं । वहाँ सुधर्मा नाम देवसभागार है, सुदर्शन नामक नगर है तथा वैजयन्त (पताकाओं वाले) महल हैं । ग्रह नक्षत्र और तारे ध्रुव से बँधे हुये वायु से प्रेरित नियमित गति वाले सुमेरु के ऊपर स्थित धूम रहें हैं ।

माहेन्द्रलोक निवासी छः देवनिकाय है - त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित वशवर्ती और परिनिर्मित-वशवर्ती । वे सभी त्रिदशादि पूर्णमनोरथ वाले, अणिमादि [आठ] विभूति सम्पन्न, कल्प के बराबर आयुवाले, पूज्य, काम्यविषयभोगी, संकल्पमात्र निर्मित दिव्यशरीरधारी, उत्तम अनुकूल अप्सराओं के साथ परिवार बनाकर रहनेवाले होते हैं । महः नामक प्राजापत्यलोक में पाँच प्रकार के देव-निकाय (समूह) हैं - कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्राचिताभ । ये महाभूतों पर वशीत्व रखनेवाले, ध्यानसुखाश्रित सहस्र कल्प आयु वाले होते हैं ।

ब्रह्मलोक के प्रथम भाग जनलोक में चार प्रकार के देवगण हैं – ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अजरामर । ये भूत और इन्द्रियों पर अधिकार रखने वाले क्रमशः दुगुने दुगुने आयु वाले होते हैं ।

ब्रह्मलोक के द्वितीय तपोलोक में तीन प्रकार के देवगण हैं – आभास्वर महाभास्वर और सत्य महाभास्वर । ये भूतों और इन्द्रियों और प्रकृति पर अधिकार रखने वाले क्रमशः दुगुने दुगुने आयुवाले, सबके सब ध्यानसुखाजीवी, ऊर्ध्वरेता, सत्य लोक नामक ऊर्ध्वलोक के विषय में अव्याहत ज्ञानवाले, जनलोकप्रभृति अधर भूमियों के विषय सुस्पष्ट ज्ञान वाले होते हैं ।

ब्रह्मलोक के तृतीयलोक सत्यलोक में चार देवसमूह हैं – अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासञ्ज्ञी । ये सब अकृत–भवनन्यास (भवनस्थापनरहित), अपने आप में आश्रित, (निराधार) ऊपर–ऊपर स्थित, प्रकृति पर अधिकार रखनेवाले और सृष्टि के बराबर आयु वाले होते हैं ।

उनमें से अच्युतदेवगण सवितर्कसमाधिसुख सम्पन्न होते हैं । शुद्धनिवास सविचार समाधि सुख सम्पन्न होते हैं । सत्याभ आनन्द समाधिसुखसम्पन्न होते हैं । सँज्ञासञ्ज्ञी अस्मिता समाधिसुख सम्पन्न होते है । वे भी त्रिलोक के मध्य में रहते हैं । वे ये सात लोक सारे ब्रह्मलोक ही हैं । विदेहप्रकृतिलय तो मोक्ष मे रहते हैं, वे लोकों में नहीं रहते हैं ।

सूर्यद्वार में संयम करके योगियो के द्वारा ये विषय साक्षात् करने योग्य हैं । इनसे अन्यत्र विषयों में भी अभ्यास करना चाहिये जब तक कि ये सारे विषय प्रत्यक्ष न हो जायें ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **सूर्य में संयम करने से भुवन के स्वरूप को जानने का कथन** है ।

इस सूत्र के भाष्य में अनेक असंभव बातें हैं । उनमें से कुछ असंभव बातों की ओर संकेत करते हैं । देव निकायों अर्थात् शरीरधारी मनुष्यों की आयु दो सहस्र, चार सहस्र, आठ सहस्र, सोलह सहस्र, बत्तीस सहस्र, चौसठ सहस्र, एक लाख अट्ठाईस सहस्र कल्प वर्षों और सर्ग की आयु मानी है । जो कि सर्वथा असंभव है । इस विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज का लेख दिया जाता है । ''जो.....एक लाख, दश सहस्र, एक सहस्र वर्ष का आयु लिखा सो भी संभव नहीं हो सकता ।''

– सत्यार्थप्रकाश द्वादश समुल्लास

इस भाष्य के अन्त में लिखा है कि योगी को भाष्य में लिखित समस्त विषयों का पूर्णरूप से साक्षात्कार करना चाहिये । इस सारे का साक्षात्कार करना असंभव है । इस दृष्टि से इस भाष्य को मैं प्रक्षिप्त मानता हूँ । कोई कह सकता है कि इसमें कुछ बातें सत्य हैं । किन्तु इतने मात्र से इसको प्रमाण कोटि में रखना उचित नहीं है ।

अनेक व्याख्याकारों ने इस सूत्र में पठित सूर्य शब्द से 'सुषुम्णा नाड़ी' का ग्रहण किया है । परन्तु प्रकरण के अनुसार यहाँ पर सूर्य शब्द का अर्थ भौतिक सूर्य ही ग्रहण करना संगत प्रतीत होता है क्योंकि ये सूर्य चन्द्रादि संयम के बाह्य विषय हैं और ''**नाभि चक्रे......... ॥ ३/२९ ॥**''

आदि सूत्रों में संयम के आन्तरिक विषयों का ग्रहण है । सूर्य में संयम करने से सूर्य का और उससे सम्बद्ध अन्य लोकों का सामान्यज्ञान हो जाता है । जैसे - सूर्य से सम्बद्ध स्थूल ज्ञान । जैसे कि सूर्य अनेक ग्रहों उपग्रहों का आधार है । उससे सम्बद्ध ग्रहोपग्रहों को उसी से प्रकाश एवं शक्ति मिलती है । समस्त ग्रहोपग्रह नियमपूर्वक चलते हैं इसी से दिन रात होते हैं । इसी के अनुसार पूर्णिमा-अमावस्या, उत्तरायण-दक्षिणायन, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, दिन, मासादि काल होते हैं इत्यादि बातों का सामान्य ज्ञान होता है । परन्तु सूर्य एवं सूर्य से सम्बद्ध समस्त लोक लोकान्तरों का ज्ञान पूर्णरूप से नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ - (चन्द्रे) चन्द्रमा में संयम करने से (तारा-व्यूह-ज्ञानम्) तारों के संनिवेश का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ - चन्द्रमा में संयम करने से कौन सा तारा किस स्थान में अवस्थित है, यह ज्ञान हो जाता है ।

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराणां व्यूहं विजानीयात् ॥ २७ ॥

व्या० भा० अ० - चन्द्र में संयम करके तारों के संनिवेश विशेष को जाने ॥ २७ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि **चन्द्रमा में संयम करने से योगी को तारों की स्थिति का ज्ञान** होता है ।

अनेक टीकाकारों ने सूत्र में पठित चन्द्र शब्द से इड़ा (इळा) नाड़ी का ग्रहण किया है । परन्तु पूर्व सूत्र के व्याख्यान में हमारे बतलाये हेतु के अनुसार इस सूत्र में पठित चन्द्र शब्द से भौतिक चन्द्रमा का ग्रहण करना संगत है ।

चन्द्रमा में संयम करने से चन्द्रमा का और उससे सम्बद्ध अन्य लोकों का सामान्यज्ञान हो जाता है । जैसे - चन्द्र में संयम करने से योगी को तारों के व्यूहों का कुछ स्थूल ज्ञान होता है । चन्द्र प्रतिदिन भिन्न-भिन्न तारों के क्षेत्र में दिखता है कभी किसी तारे के अधिक निकट दिखता है तो कभी दूर । कभी किसी तारे के उत्तर में होता है तो कभी उसके दक्षिण में और कभी किसी तारे को ढकता हुआ दिखता है । कुछ तारों से सदा उत्तर में होता है, तो कभी कुछ के दक्षिण में होता है । परन्तु चन्द्रमा और चन्द्रमा से सम्बद्ध तारों का पूर्णरूपेण ज्ञान नहीं हो सकता है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ - (ध्रुवे) ध्रुव तारे में संयम करने से (तद्-गति-ज्ञानम्) अन्य तारों की गति का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ - ध्रुव तारे में संयम करने से अन्य तारों की गति का ज्ञान हो जाता है ।

व्या० भा० – ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा ताराणां गतिं विजानीयात् । ऊर्ध्वविमानेषु कृतसंयमस्तानि विजानीयात् ॥ २८ ॥

व्या० भा० अ० *– उसके पश्चात् ध्रुव में संयम करके तारों की गति को जाने । आगे आगे के मानयुक्त लोकों में कृतसंयम योगी उन ऊर्ध्व विमानों एवं उन लोकों की गति को जाने ॥ २८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **ध्रुव तारे में संयम करने का फल** बतलाया है ।

'ध्रुव' का अर्थ स्थिर है । निश्चित स्थान पर रहने वाले लोक को ध्रुवलोक वा ध्रुवतारा कहते हैं । चक्र का अक्ष स्थिर रहता है । इसी प्रकार इस पृथिवी का कल्पित अक्ष भी स्थिर है उस स्थान को ध्रुवस्थान कहा जाता है । उस स्थान पर और उस स्थान पर रहने वाले तारे पर संयम करने से (गतिशील) तारों की गति का ज्ञान होता है । क्योंकि स्थिर स्थान पर रह कर ही चलायमानों को चलते हुए जाना जा सकता है । इस प्रकार ध्रुव में संयम करके तारों की गति का ज्ञान करे । इससे यह ज्ञात करे कि कौन सा तारा किस समय किस स्थान पर होता है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ – (नाभि–चक्रे) नाभि चक्र में संयम करने से (काय–व्यूह–ज्ञानम्) शरीर की रचना का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ – शरीर के नाभि चक्र में संयम करने से 'शरीर की रचना का ज्ञान' होता है ।

व्या० भा० – नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणि । पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येवष विन्यासः ॥ २९ ॥

व्या० भा० अ० *– नाभि चक्र में संयम करके काया के अङ्गों के सन्निवेश को जाने । वात, पित्त और कफ तीन दोष हैं । त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातु हैं । इनमें से त्वचा आदि पूर्व पूर्व बाह्य हैं । (त्वचा सबसे बाहर, उसके भीतर रक्त, उसके भीतर मांस, उसके भीतर स्नायु, उसके भीतर अस्थि, उसके भीतर मज्जा, उसके भीतर शुक्र है) ॥ २९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **नाभि चक्र में संयम करने का फल** बतलाया है ।

नाभिचक्र में संयम करने से 'कायव्यूह' का ज्ञान होता है अर्थात् शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ ये तीन दोष हैं और त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, वीर्य ये सात धातु हैं । इनमें पूर्व पूर्व धातु बाह्य है । वीर्य से बाहर मज्जा है । मज्जा से बाहर अस्थि–हड्डी है । अस्थि से बाहर स्नायु है । स्नायु से बाहर मांस है । मांस से बाहर रक्त है । रक्त से बाहर त्वचा है । इस प्रकार से शरीर में स्थित पदार्थों का विन्यास विशेष है = स्थिति विशेष है । इन तीनों दोषों एवं सात धातुओं का अस्तित्व शरीर में है । परन्तु शरीरगत समस्त अङ्ग, धातु, उनका स्थान एवं उनकी रचना का पूर्णज्ञान नाभिचक्र में संयम करने से कैसे होता है, यह परीक्षणीय है ॥ २९ ॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ – (कण्ठ-कूपे) कण्ठ कूप में संयम करने से (क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः) भूख-प्यास की निवृत्ति होती है ।

सूत्रार्थ – कण्ठ कूप में संयम करने से कुछ काल तक भूख-प्यास बाधित नहीं करती है।

व्या० भा० – जिह्वाया अधस्तात्तन्तुः। ततोऽधस्तात्कण्ठः ततोऽधस्तात्कूपः । तत्र संयमात्क्षुत्पिपासे न बाधेते ॥ ३० ॥

व्या० भा० अ० *– जिह्वा के नीचे तन्तु है । उसके नीचे कण्ठ है । उससे नीचे कूप है। वहाँ संयम करने से भूख-प्यास (कुछ समय के लिए) बाधित नहीं करती ॥ ३० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **कण्ठकूप में संयम करने का फल** बतलाया है ।

कण्ठकूप में संयम करने से योगी की भूख-प्यास की निवृत्ति होती है । जिह्वा के अधोभाग में एक तन्तु है । तन्तु के अधोभाग में कण्ठ प्रदेश है । उस कण्ठ प्रदेश के नीचे कूप है । उसमें संयम करने से योगी की भूख और प्यास की निवृत्ति (= अनुभूति नहीं) होती है ।

इस विषय में यह बात ध्यान देने की है कि कण्ठकूप में संयम करने से कितने समय तक योगी की भूख-प्यास निवृत्त होती है । भूख और प्यास को सहन करने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती है और उसको सहन करने का अभ्यास भी भिन्न-भिन्न होता है। ध्यानाभ्यास करने वाला योगी किस प्रकार का भोजन खा कर बैठा है, यह भी भूख-प्यास के सहन करने में कारण है । ध्यानकाल में भूख और प्यास का ध्यान करना अथवा न करना भी इनके न्यून-अधिक होने का कारण है । समाधि अवस्था में ईश्वरसाक्षात्कार से जो नित्यानन्द की प्राप्ति होती है उससे भी भूख-प्यास सहन करने की शक्ति मिलती है। इसलिए इन बातों के आधार पर भूख और प्यास को सहने का काल प्रत्येक व्यक्ति का न्यून अधिक होता है ।

भूख और प्यास की निवृत्ति होने का यह अर्थ नहीं है कि आजीवन भूख-प्यास नहीं लगती। अथवा कई वर्षों तक भूख प्यास नहीं लगती । कुछ लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति १५ वर्षों से केवल वायु का सेवन करके जीवित है । वास्तविकता तो यह है कि इस भूमि पर जन्मे हुए शरीर का अन्नादि को छोड़कर केवल वायु के आधार पर जीवित रहना संभव नहीं है ।

मानवजीवन का लक्ष्य समस्त दुःखों से मुक्त होकर पूर्ण आनन्द को प्राप्त करना है । इसके लिए इस शास्त्र में प्रतिपादित योग ही एकमात्र उपाय है । योग के अनुष्ठान के लिए शरीर को निरोग, स्वस्थ, बलवान् रखना और दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है, यह योग के अन्तर्गत आता है । यह निश्चित है कि भूख-प्यास को रोकने से वा उनको रोकने के लिए औषधि आदि को लेने से शरीर क्षीण होता है। शरीर का क्षीण होना योग के लिए अपेक्षित नहीं है । इस सन्दर्भ में इतना ही विचारणीय है कि भूख-प्यास की निवृत्ति का अर्थ यही है कि

ध्यानकाल में भूख-प्यास से बाधा न हो । कण्ठकूप में संयम करने से यह सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार योगाभ्यासी कुछ काल तक भूख-प्यास से मुक्त होता है ॥ ३० ॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ – (कूर्म-नाड्याम्) कूर्म नामक नाडी में संयम करने से (स्थैर्यम्) स्थिरता आती है।

सूत्रार्थ – कूर्म नाडी में संयम करने से शारीरिक और मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है।

व्या० भा० – कूपादध उरसि कूर्माकारा नाडी । तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते । यथा सर्पो गोधा चेति ॥ ३१ ॥

व्या० भा० अ० *– (कण्ठ) कूप से नीचे उरःस्थल में कूर्माकार की नाडी है । उसमें संयम करने से योगी 'स्थिरपद' को प्राप्त करता है । जिस प्रकार सर्प वा गोधा ॥ ३१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **कूर्म नाड़ी में संयम करने का फल** बतलाया है ।

कण्ठ कूप के नीचे उरःस्थल में कछुए के आकार की नाड़ी होती है । उसमें संयम करने से योगी स्थिरत्व को प्राप्त करता है । **स्थिरत्व** का अभिप्राय है कि योगी का शरीर और मन दोनों अच्छे प्रकार से दीर्घ काल पर्यन्त स्थिर रहते हैं । इसको जानने के लिए एक प्रसिद्ध दृष्टान्त दिया गया है । जैसे-गोह और सर्प अपने बिल में प्रवेश करने के पश्चात् इतने दृढ़ हो जाते हैं कि उनकी पूँछ पकड़कर कोई बाहर निकालना चाहे तो बहुत कठिनाई होती है ॥ ३१ ॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ – (मूर्ध-ज्योतिषि) मूर्धा की ज्योति में संयम करने से (सिद्ध-दर्शनम्) सिद्ध महायोगियों को पहचानने की योग्यता प्राप्त होती है ।

सूत्रार्थ – मूर्धा के सात्त्विक प्रकाश में संयम करने से सिद्ध महान् योगियों को पहचानने की योग्यता प्राप्त होती है ।

व्या० भा० – शिरःकपालेऽन्तश्छिद्रं प्रभास्वरं ज्योतिः, तत्र संयमं कृत्वा सिद्धानां द्यावापृथिव्यो-रन्तरालचारिणां दर्शनम् ॥ ३२ ॥

व्या० भा० अ० *– शिर के कपाल के अन्दर छिद्र है उसमें प्रभास्वर-ज्योति है । उसमें संयम करने से पृथ्वी पर रहने वाले सिद्ध योगियों का, द्युलोक एवं पृथ्वी लोक के मध्य में विचरण करने वाले (ग्रहोपग्रह आदि) का दर्शन होता है ॥ ३२ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **मूर्धा के सात्त्विक प्रकाश में संयम करने का फल** बतलाया है।

मूर्धा के सात्त्विक प्रकाश में संयम करने से सिद्धों का दर्शन होता है । योगाभ्यास करने से साधक की बुद्धि सात्त्विक हो जाती है । सत्संग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना करने से योगी में सत्त्वगुण प्रधान हो जाता है और रजोगुण, तमोगुण गौण हो जाते हैं । उससे व्यक्ति विवेक-वैराग्य का विकास

करता है और ईश्वरोपासना श्रद्धापूर्वक करता है । व्यवहार में मन, वाणी, शरीर से यम-नियमों का पालन करता है तथा सात्त्विक भोजन करता है । ऐसे अनुष्ठानों के करने से जो सात्त्विक बुद्धि उत्पन्न होती है और ईश्वर की ओर से जो ज्ञान प्राप्त होता है, मेरी दृष्टि में वह मूर्ध-ज्योति है । इस मूर्धज्योति को परिपक्व बना लेने पर सिद्ध पुरुष = उच्च कोटि के योगियों को जानने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है । साधारण व्यक्ति जिन योगियों को नहीं जान सकता, उनको योगाभ्यासी जान लेता है ।

यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात है । भूमिस्थ सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है । भूमि और द्युलोक के मध्य में चलने वाले ग्रहोपग्रहादि का दर्शन होता है । द्युलोक एवं पृथिवीलोक के मध्य में सिद्ध पुरुष घूमते हैं, ऐसा मन्तव्य परीक्षणीय है ॥ ३२ ॥

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ - (प्रातिभाद्) प्रातिभ नामक ज्ञान से (वा) अथवा (सर्वम्) सब कुछ जान लेता है ।

सूत्रार्थ - अथवा 'प्रातिभ ज्ञान' से अनेक पदार्थों का ज्ञान होता है ।

व्या० भा० - प्रातिभं नाम तारकम्, तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्वरूपम्, यथोदये प्रभा भास्करस्य । तेन वा सर्वमेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति ॥ ३३ ॥

व्या० भा० अ० *- प्रातिभ तारक नामक ज्ञान होता है । वह विवेकज ज्ञान का पूर्वरूप है । वह (प्रातिभ ज्ञान) ऐसा ही होता है जैसा सूर्योदय के पूर्व प्रभा होती है । उस प्रातिभ ज्ञान की उत्पत्ति के होने पर योगी उसके द्वारा सबको (अनेक पदार्थों को) जानता है ॥ ३३ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में **'प्रातिभ ज्ञान' से अनेक पदार्थों को जानने का कथन** है ।

'प्रातिभ' उस ज्ञान का नाम है जो किसी बाहर के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता । किन्तु अपने अन्दर से ही उत्पन्न होता है । इस ज्ञान को विवेकज ज्ञान का प्रथम रूप माना जाता है । जैसे सूर्य उदय होने से पूर्व सूर्य की लाली का ज्ञान होता है वैसे ही विवेकज ज्ञान के उत्पन्न होने से पूर्व उसके उत्पन्न होने का ज्ञान होता है । सूर्योदय से पूर्व एक सूक्ष्म प्रकाश दिखाई देता है । वह सूर्योदय होने का ज्ञापक है । वैसे ही विवेकज ज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व प्रातिभ ज्ञान का उत्पन्न होना विवेकज ज्ञान उत्पन्न होने का ज्ञापक है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि यह **'प्रातिभज्ञान'** कहाँ से आता है । इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में जो धर्माचरण वेदादिशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, सत्संग, योगाभ्यास अर्थात् अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान किया जाता है । उससे सुसंस्कार उत्पन्न होते हैं । उन सुसंस्कारों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसका नाम प्रातिभज्ञान है । इस प्रातिभज्ञान से अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है । यह देखा जाता है कि इस जन्म में विशेष रूप से न पढे हुए व्यक्तियो को भी कुछ पदार्थों

का ज्ञान हो जाता है । इस सूत्र में पठित 'सर्व' शब्द का यह अर्थ नहीं है कि समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। जैसे वैशेषिकदर्शन में कुसंस्कार से अविद्या की उत्पत्ति मानी है[१] । वैसे ही सुसंस्कार से विद्या की उत्पत्ति होती है । इसलिये यह प्रातिभज्ञान सुसंस्कारों से उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ – (हृदये) हृदय में संयम करने से (चित्त-संवित्) चित्त का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ – हृदय में संयम करने से हृदयस्थ वृत्तिविशिष्ट चित्त का ज्ञान होता है ।

व्या० भा० – यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन्संयमाच्चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

व्या० भा० अ० *– यह जो इस ब्रह्मपुर (हृदय) में गर्तरूपी कमलरूपी घर है । उसमें विज्ञान है । उसमें संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है ॥ ३४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **हृदय में संयम करने का फल** बतलाया है ।

शरीर के हृदय देश में चित्त रहता है । उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान हो जाता है । उससे योगी को चित्त जड़ है, यह ज्ञान हो जाता है । और अपने चित्त में कैसी कैसी वृत्तियाँ हैं ? कैसे संस्कार हैं ? प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार क्लेश कब किस प्रकार से रहते हैं ? क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं ? चित्त को विक्षिप्त आदि अवस्थाओं से हटाकर एकाग्र अवस्था में ले जाते समय क्या क्या कठिनाई होती हैं ? आदि विषयों का ज्ञान होता है।

इस सूत्र के व्यासभाष्य में हृदय के सम्बन्ध में **छान्दोग्योपनिषद् ८/१/१** के वाक्य से कुछ मिलता जुलता विवरण है । महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने उपनिषद् के इस वाक्य की आर्यभाषा में व्याख्या की है । उसमें हृदय के स्वरूप एवं स्थान का भी स्पष्टीकरण हो गया है। उसको यहाँ अविकलरूप से दिया जाता है ।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।.....कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिलता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥

– **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उपासना विषय** ॥ ३४ ॥

---

१. इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ वैशे० ९/२/१० ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ – (सत्त्व-पुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष के (अत्यन्त-असङ्कीर्णयोः) परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न स्वरूप वालों का (प्रत्यय-अविशेषः) दोनों का भिन्न भिन्न ज्ञान न होना (भोगः) भोग है (परार्थत्वात्) बुद्धि के परार्थ होने से (स्वार्थ-संयमात्) उस भोग बुद्धि से भिन्न [स्वार्थ] पुरुषविषयक ज्ञान में संयम करने से (पुरुष-ज्ञानम्) आत्मा का ज्ञान होता है ।

सूत्रार्थ – अत्यन्त भिन्न बुद्धि और पुरुष का अभिन्न रूप में ज्ञात होना 'भोग' है । जो कि बुद्धि की परार्थता के कारण होता है । इस भोगरूप ज्ञान से भिन्न स्वार्थ = केवल पुरुष सम्बन्धी ज्ञान में संयम करने से 'पुरुष का साक्षात्कार' होता है ।

व्या० भा० – बुद्धिसत्त्वं प्रख्याशीलं समानसत्त्वोपनिबन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययेन परिणतम् । तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः । तयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः पुरुषस्य, दर्शितविषयत्वात् । स भोगप्रत्ययः सत्त्वस्य परार्थत्वाद् दृश्यः ।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चितिमात्ररूपोऽन्यः पौरुषेयः प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुषविषया प्रज्ञा जायते । न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते, पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति । तथा ह्युक्तम्-विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृहदारण्य उपनिषद् २/४/१४) इति ॥ ३५ ॥

व्या० भा० अ० *– प्रकाश-स्वभाव बुद्धि अविनाभाव सम्बन्ध से सत्त्व के साथ सम्बद्ध रहने वाले रजोगुण, तमोगुण को अभिभूत करके सत्त्वपुरुष अन्यताख्याति (बुद्धि और पुरुष भिन्न भिन्न हैं इस ज्ञान) के रूप में (अर्थात् विवेकख्याति की दशा में) परिणत होती है । उस परिणामी सत्त्व से अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाला विशुद्ध (त्रिगुणातीत) केवल चेतनस्वरूप पुरुष भिन्न है । अत्यन्त भिन्न उन (बुद्धि, पुरुषों) का अभिन्न (एकाकार) रूप से भासित होना पुरुष का भोग है । इसलिए कि पुरुष दर्शित विषय (बुद्धि के द्वारा दिखाए गए विषयों का प्रतिसंवेदी) होता है । वह भोग (नामक) ज्ञान बुद्धि के परार्थ होने के कारण (पुरुष का) दृश्य है ।*

उस भोग ज्ञान से विशिष्ट केवल चेतनस्वरूप पुरुष विषयक जो अन्य ज्ञान है, उसमें संयम करने से पुरुष विषयक ज्ञान होता है । बुद्धि के धर्मरूप पुरुष विषयक ज्ञान के द्वारा पुरुष नहीं देखा जाता है । पुरुष ही उस ज्ञान को अपने में आश्रित देखता है । ऐसा ही (बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१४ में) कहा है अरे ! विज्ञाता को किसके द्वारा जाना जाये ॥ ३५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **भोग का स्वरूप और स्वार्थ में संयम करने का फल** बतलाया है ।

बुद्धिसत्त्व और पुरुष ये दोनों अत्यन्त असङ्कीर्ण हैं अर्थात् अमिश्रित हैं । बुद्धि जड़ पदार्थ है और जीवात्मा चेतन । बुद्धि का उपादानकारण सत्त्वादि तीन गुण हैं । जबकि आत्मा का कोई

उपादानकारण नहीं है । जब सांसारिक स्तर पर इन दोनों का सम्बन्ध होता है तब आत्मा बुद्धि के द्वारा विविध पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है । उस अवस्था में आत्मा, बुद्धि में और स्वयं में भेद नहीं कर पाता अर्थात् अपने स्वरूप को और बुद्धि को पृथक्-पृथक् नहीं जानता । आत्मा ऐसी स्थिति में सुख-दु:ख का अनुभव करता है । इसी का नाम भोग है । पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने वाली होने से बुद्धि परार्थ है । इस भोग से भिन्न अपने आत्मविषयक ज्ञान में संयम करने से आत्मा का ज्ञान होता है । सात्त्विक बुद्धि जीवात्मा के साथ सम्बद्ध होकर उसके स्वरूप का ज्ञान करवाती है । परन्तु वह आत्मा के स्वरूप का सामान्यज्ञान करवा सकती है । जीवात्मा अपने स्वरूप का विशिष्ट ज्ञान तो, ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से स्वयं ही करता है ।

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ॥ बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१४ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि बुद्धि के द्वारा जीवात्मा को अपना सामान्य ज्ञान होता है और ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से जीवात्मा अपना विशिष्ट ज्ञान स्वयं करता है ॥ ३५ ॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस संयम से (प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श-आस्वाद-वार्ता) प्रातिभादि सिद्धियाँ (जायन्ते) उत्पन्न होती हैं ।

सूत्रार्थ – उस संयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ।

व्या० भा० – प्रातिभात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतज्ञानम् । श्रावणाद्दिव्यशब्दश्रवणम् । वेदनाद्दिव्यस्पर्शाधिगमः । आदर्शाद्दिव्यरूपसंवित् । आस्वादाद्दिव्यरससंवित् । वार्तातो दिव्यगन्धविज्ञान-मित्येतानि नित्यं जायन्ते ॥ ३६ ॥

व्या० भा० अ० – प्रातिभ (ज्ञान) से सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ अतीत, अनागत (पदार्थों) का ज्ञान होता है । श्रावण से दिव्य शब्द का श्रवण होता है । वेदना से दिव्य स्पर्श की प्राप्ति होती है । आदर्श से दिव्य रूप की उपलब्धि होती है । आस्वाद से दिव्य रस का ज्ञान होता है । वार्ता से दिव्य गन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है । ये योगी को नित्य प्राप्त होते हैं ॥ ३६ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि **स्वार्थ में संयम करने से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता छः सिद्धियों की प्राप्ति** होती हैं ।

यहाँ विचारणीय है कि स्वार्थ में संयम करने से ये सिद्धियाँ होती हैं या पुरुष ज्ञान से होती हैं । 'प्रातिभ सिद्धि' से सूक्ष्म, व्यवहित विप्रकृष्ट ज्ञान की उत्पत्ति मानी है । इस विषय में **''प्रवृत्त्यालोकन्यासात्०''.......... ३/२५ ॥** सूत्र में लिखा है, वहाँ देख लेवें । 'श्रावण सिद्धि' से सूक्ष्म और दिव्य (उत्तम) शब्द सुनाई देता है । 'वेदना सिद्धि' से सूक्ष्म और दिव्य स्पर्श का अनुभव होता है । 'आदर्श सिद्धि' से सूक्ष्म और दिव्य रूप दिखाई देता है । 'आस्वाद सिद्धि'

से सूक्ष्म और दिव्य रस का अनुभव होता है । 'वार्ता सिद्धि' से सूक्ष्म और दिव्य गन्ध का अनुभव होता है । प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता ये सिद्धियों के नाम हैं । श्रोत्रेन्द्रिय में सूक्ष्म शब्द सुनने की योग्यता, त्वगिन्द्रिय में सूक्ष्म स्पर्श करने की योग्यता, नेत्रेन्द्रिय में सूक्ष्मरूप देखने की योग्यता, रसना इन्द्रिय में सूक्ष्म रस जानने की योग्यता और घ्राण इन्द्रिय में सूक्ष्म गन्ध जानने की योग्यता उत्पन्न होती है ।

'**प्रातिभाद्वा सर्वम्**' ३३वें सूत्र में सूत्र के द्वारा प्रातिभ ज्ञान का फल बतलाया है । वर्त्तमान सूत्र में प्रातिभज्ञान की उत्पत्ति स्वार्थ संयम से बतलाई है । भाष्य में दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न फल बतलाये हैं । सूत्र ३०, ३१, ३२ और ३४ में तो कण्ठकूपादि स्थानों में संयम करने का फल बतलाया है किन्तु ३३वें सूत्र में किसमें संयम करने से प्रातिभ की सिद्धि होती है यह नहीं बताया गया है । इस सूत्र में श्रावणादि सिद्धियों के सन्दर्भ में प्रातिभ का नाम आया है । ऐसा क्यों लिखा गया है, यह **अन्वेषणीय** है ॥ ३६ ॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ - (ते) प्रातिभादि सिद्धियाँ (समाधौ) समाधि में (उपसर्गाः) विघ्नरूप हैं किन्तु (व्युत्थाने) व्युत्थान दशा में (सिद्धयः) सिद्धियाँ हैं ।

सूत्रार्थ - वे प्रातिभादि छः सिद्धियाँ भावी [अनन्तर] समाधि प्राप्ति में विघ्नरूप और व्युत्थान अवस्था में सिद्धियाँ हैं ।

व्या० भा० - ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तद्दर्शनप्रत्यनीकत्वात् । व्युत्थित-चित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः ॥ ३७ ॥

व्या० भा० अ० *- वे उत्पन्न होनेवाली, प्रातिभादि (सिद्धियाँ) समाहित चित्त वाले योगी के लिए विघ्न हैं । उस पुरुष साक्षात्कार की विरोधी होने से । ये उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ व्युत्थित चित्त वाले व्यक्ति के लिए सिद्धियाँ हैं ॥ ३७ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में पूर्व सूत्रोक्त **छः सिद्धियाँ समाधि में बाधक** और **व्युत्थान अवस्था में सिद्धियाँ** बतलाई हैं ।

प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता, व्युत्थान अवस्था में तो सिद्धियाँ हैं । परन्तु समाधि प्राप्ति में अर्थात् जिस समाधि में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है उस सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में विघ्न हैं । योगाभ्यासी जब इन सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है तब उसके मन में लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा, ये उभर सकती हैं । इन सिद्धियों के द्वारा वह इन एषणाओं की पूर्ति में रत हो सकता है । इसलिए इनको समाधि प्राप्ति में बाधक माना है । इन एषणाओं को बीजसहित हटा देना अर्थात् निर्मूल कर देना अत्यन्त परिश्रम साध्य है । परन्तु असंभव नहीं है ।

जब व्यक्ति को किसी कार्य में सफलता मिलती है तब वह उस कार्य का लौकिक फल प्राप्त करना चाहता है । यह सकाम कर्म की स्थिति है । सिद्धियों की प्राप्ति होने पर भी व्यक्ति उनका लौकिक फल–धन, सम्पत्ति, इन्द्रियों के भोग, सम्मान, पुत्र वा शिष्य की प्राप्ति का इच्छुक बन सकता है । यद्यपि लौकिक दृष्टि से उसको सफलता मिली है । परन्तु ये सिद्धियाँ समाधि प्राप्ति में बाधक हो जाती हैं । योगाभ्यासी को ऐसी सिद्धियों का परित्याग कर देना चाहिए । क्योंकि इस प्रकार की सिद्धियों से स्व–स्वामी सम्बन्ध हो सकता है और उससे अभिमान उत्पन्न होता है । जो साधक समस्त पदार्थों का स्वामी ईश्वर को मान लेता है और उन पर से अपना स्वामित्व छोड़ देता है तो इस प्रकार की सिद्धियाँ समाधि प्राप्ति में बाधक नहीं होती ॥ ३७ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ – (बन्ध–कारण–शैथिल्यात्) बन्ध कारणों के शैथिल्य से (प्रचार–संवेदनात् च) और मन के जाने–आने के मार्ग को जान लेने से (चित्तस्य, पर–शरीर–आवेशः) मन का परशरीर में प्रवेश होता है ।

सूत्रार्थ – अशुभ कर्म तथा सकाम शुभ कर्म एवं उनके संस्कारों को निर्बल कर देने से और मन के जाने–आने के मार्ग का परिज्ञान होने से 'चित्त का परशरीर में प्रवेश' होता है।

व्या० भा० – लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद् बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः: । तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद् भवति । प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव, कर्मबन्ध-क्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्चयोगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति । निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति । यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते, तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति ॥ ३८ ॥

व्या० भा० अ० *– चलायमान, अस्थिर मन का कर्माशय के कारण शरीर में बन्ध और स्थिति होती है । बन्ध के कारणरूप कर्म की शिथिलता समाधिबल से होती है । और चित्त की गति का ज्ञान समाधि से उत्पन्न होता है । कर्म के बन्ध के क्षीण होने से और स्वचित्त की गति के ज्ञान से योगी स्वचित्त को अपने शरीर से निकाल कर अन्य शरीरों में डाल देता है । और डाले हुए चित्त का इन्द्रियाँ अनुगमन करती हैं । जिस प्रकार मधुमक्खियाँ उड़ते हुए मधुमक्खियों के राजा के पीछे उड़ती हैं, प्रवेश करते हुए के पीछे प्रवेश करती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ दूसरों के शरीर में चित्त के प्रवेश करने पर चित्त का अनुसरण करती हैं ॥ ३८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **चित्त के परशरीर में प्रवेश करने का कथन** है ।

सकाम शुभाशुभ कर्म, कुसंस्कार चित्त के बन्धन के कारण हैं । उन अशुभ कर्मों के परित्याग से सकाम कर्मों को हटाया जाता है । कुसंस्कारों को यम, नियमादि अङ्गों के अनुष्ठान और समाधि के अभ्यास से शिथिल कर दिया जाता है । उससे योगी के शुभ संस्कार विकसित होते हैं, निष्काम

कर्मों की प्रवृद्धि होती है और सत्त्वगुण प्रधान होने के कारण ज्ञान का विकास होता है । इतनी बातें तो उचित लगती हैं परन्तु चित्त को अपने शरीर से पूरा निकालकर अन्यों के शरीरों में डाल दिया जाता है, यह बात सिद्ध नहीं है ।

चित्त, संकोच विकास धर्मी है । मन वा इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्ति की स्थिति में, इन (मन वा इन्द्रियों) में जो परिणाम होते हैं, वे ही संकोच विकास के नाम से यहाँ कहे गये हैं । इसलिये बाहर के पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध किया जा सकता है । योगदर्शन की यह मान्यता है कि शरीर में रहते हुये चित्त का सम्बन्ध बाहर की वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के द्वारा अथवा बिना इन्द्रियों के भी किया जा सकता है । यदि योगी अपने चित्त एवं इन्द्रियों को शरीर से बाहर निकालकर दूसरे के मृतक शरीर में वा जीवित शरीर में प्रवेश करा देता है और स्वयं भी उस शरीर में प्रवेश कर जाता है तो योगी का अपना शरीर मर जायेगा। जब योगी दूसरे के शरीर से निकलकर अपने शरीर में आयेगा तो वह मरा हुआ मिलेगा । उसमें योगी रह नहीं सकता । यदि कोई यह कहे कि मरे हुए शरीर को जीवित किया जा सकता है तो यह मान्यता स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की दृष्टि से असम्भव कोटि में है । स्वामी जी ने लिखा है कि ''किसी ने मृतक जिलाये..... इत्यादि सब असम्भव है'' । – **सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास**

अभी यह बात भी सिद्ध नहीं है कि बिना स्थूल शरीर के योगी केवल सूक्ष्म शरीर से दूसरों के शरीर में जाने और आने का व्यापार कर सकता है । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की इस मान्यता को मैं भी ठीक समझता हूँ । यदि कालान्तर में मृतक शरीर को जिलाने की मान्यता प्रमाणों से सिद्द हो जायेगी तो मैं इसे स्वीकार करूँगा । बिना स्थूल शरीर के योगी मन और इन्द्रियों सहित अन्यों के शरीर में प्रवेश करे, यह सिद्ध नहीं होता । इसमें साङ्ख्य–दर्शन का प्रमाण है –

न स्वातन्त्र्यात्तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥ ३/१२ ॥

भावार्थ – स्थूल शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर भोग को प्राप्त नहीं कर सकता । वैसे ही बिना स्थूल शरीर के, केवल सूक्ष्म शरीर से अन्यों के शरीर में जाना और पश्चात् अपने शरीर में आना यह व्यापार सिद्ध नहीं होता ।

प्रश्न – महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने यजुर्वेद १७/७१ मन्त्र के भाष्य में लिखा है – ''जो योगी तप आदि साधनों से योगबल को प्राप्त करके असंख्य प्राणियों के शरीरों में प्रविष्ट होकर अनेक नेत्र आदि अंगों से दर्शन आदि कार्य कर सकता है । अनेक पदार्थों और धनों का स्वामी होता है, उसकी हमें अवश्य परिचर्या = सेवा करनी चाहिये ।''

उत्तर – यहाँ पर अभिधावृत्ति से अर्थ नहीं करना चाहिये, किन्तु लक्षणावृत्ति से अर्थ करना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि – योगी अपने अनेक शिष्यों को उपदेश, अध्यापन आदि करके (उन शिष्यों को) वेदानुकूल कर्म करने की प्रेरणा देता है । वे शिष्य उस योगी के निर्देशानुसार देखना, सुनना आदि वेदानुकूल कर्म करते हैं । इसी को 'प्राणियों के शरीरों में प्रविष्ट होकर योगी

द्वारा देखना' कहा गया है । इसका अर्थ यह नहीं है कि – योगी स्वयं असंख्य प्राणियों के शरीरों में प्रविष्ट होकर देखता है । एकदेशी जीवात्मा (योगी) एक साथ अनेक शरीरों में प्रविष्ट हो नहीं सकता । कोई कहे कि – एक-एक करके अनेक शरीरों में प्रविष्ट होता है । तो प्रश्न है कि – वे जीवित शरीर होते हैं या मृत ? जीवित शरीर हों, तो एक काल में एक शरीर में दो जीवात्मा कार्य करें, (एक उस व्यक्ति का और दूसरा योगी का आत्मा), तो यह बात प्रमाणों और न्याय के विरुद्ध है । ईश्वर ने प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगने के लिये अलग-अलग शरीर दिया है । उस एक शरीर से दूसरा जीव (योगी आदि) कोई कर्म नहीं कर सकता और न ही फल भोग सकता है । यदि कहो, वे मृत शरीर होते हैं, जिनमें योगी प्रवेश करता है । तो महर्षि के अपने ही पूर्वोक्त (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास वाले) वचन से विरोध आयेगा। क्योंकि वहाँ महर्षि जी ने स्वयं ही कहा है – "किसी ने मृतक जिलाये.......इत्यादि सब असंभव है" । अतः उक्त महर्षि-भाष्य को आलंकारिक कथन समझना चाहिये । जैसे कि – अथर्ववेद ३/२४/५ में कहा है – "**शतहस्त समाहर सहस्त्रहस्त संकिर**" अर्थात् हे मनुष्य ! तू सौ हाथों से कमा और हज़ार हाथों तक पहुँचा । एक मनुष्य के तो दो ही हाथ होते हैं, वह सौ हाथों से कैसे कमाएगा ! इसका भी यही अर्थ करना पड़ेगा कि – एक व्यक्ति (व्यापारी) पचास श्रमिक रखकर एक कर्मशाला (कारखाना) चलाये तो उसके सौ हाथ हो जायेंगे । और वह इस प्रकार सौ हाथों से कमा लेगा । परन्तु तब भी उसके अपने शरीर के तो दो ही हाथ रहेंगे । पचास श्रमिकों के सौ हाथ ही उस व्यापारी के सौ हाथ हैं, ऐसा समझना चाहिये । फिर उस कमाये हुए धन को श्रमिकों में वेतन के रूप में, तथा अन्य समाज में दान के रूप में हज़ार हाथों तक पहुँचाना भी उस वैश्य (व्यापारी) का कर्त्तव्य है । इसी प्रकार से उक्त महर्षि-भाष्य की संगति भी लगानी चाहिये ॥ ३८ ॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ – (उदान-जयात्) उदान के जीतने से (जल-पङ्क-कण्टक-आदिषु-असङ्गः-उत्क्रान्तिः-च) जल, पङ्क, कण्टकादि में असङ्ग रहता है और ऊर्ध्वगति होती है ।

सूत्रार्थ – उदान की जीतने से जल, पङ्क, काँटें आदि से सङ्ग नहीं होता अर्थात् जलादि में योगी का शरीर नहीं डूबता, योगी के शरीर में काँटें आदि नहीं चुभते और मृत्यु के पश्चात् वह योगी ऊँची गति को प्राप्त करता है ।

व्या० भा० – समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम् । तस्य क्रिया पञ्चतयी-प्राणो मुखनासिकागतिराहृदयवृत्तिः । समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्तिः । अपनयनादपान आपादतलवृत्तिः । उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः । व्यापी व्यान इति । एषां प्रधानं प्राणः । उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च प्रायणकाले भवति, तां वशित्वेन प्रतिपद्यते ॥ ३९ ॥

व्या० भा० अ० – *प्राणादि लक्षणों वा सब इन्द्रियों का (सामान्य) व्यापार 'जीवन' है । उसकी क्रिया पाँच प्रकार की है । मुख तथा नासिका के द्वारा गमन करने वाला हृदय पर्यन्त रहने वाला*

'प्राण' है। (खाये पीये अन्न रस) को समान रूप से ले जाने के कारण 'समान' कहा जाता है (यह हृदय से लेकर) नाभि पर्यन्त रहता है। (मल, मूत्र, गर्भ आदि को) नीचे ले जाने के कारण 'अपान' कहलाता है (जो नाभि से लेकर) पैरों के तलुए तक रहता है। (नासिका के अग्र भाग से) ऊपर ले जाने के कारण 'उदान' कहाता है (जो नासिका के अग्रभाग से लेकर) शिर तक रहता है। (समस्त शरीर में) व्याप्त रहने से 'व्यान' कहा जाता है। उनमें से प्राण मुख्य है। उदान जय से जल, कीचड़, काँटें आदि में सङ्ग नहीं होता और मरण काल में (योगी की) ऊर्ध्व गति होती है। उस (ऊर्ध्व गति) को स्वाधीन कर लेता है ॥ ३९ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **उदान (प्राण) जय का फल** बतलाया है।

बाह्यकरण नेत्र आदि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार, मन ये दोनों प्रकार के कारण और प्राण जो मिलकर व्यापार करते हैं, वह **जीवन** है। इस जीवन के व्यापार में प्राणों का स्थान और उनके कार्यों को जानना आवश्यक है। इनमें प्राण मुख्य है। क्योंकि ये सब उसी के भेद हैं। मुख और नासिका के द्वारा गति करने वाला, नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदय पर्यन्त रहने वाला, श्वास-प्रश्वास आदि जिसका कार्य है, वह **प्राण** है। नीचे को गति करने वाला, मल मूत्र आदि को बाहर निकालने वाला, नाभि से लेकर पैरों के तलभाग तक रहने वाला **अपान** है। खान पान के रस को पहुँचाने वाला और हृदय से लेकर नाभि तक रहने वाला **समान** है। जो सम्पूर्ण शरीर में व्यापक होकर रक्त सञ्चार और विभिन्न चेष्टाओं को करने में सहायता करने वाला है, वह **व्यान** है। जो ऊपर की ओर ले जाने के कार्यों को करता है, कण्ठ से लेकर मूर्द्धा तक रहता है, वह **उदान** है।

उदान प्राण को जीत लेने पर योगी जल में नहीं डूबता, उसके शरीर में काँटें नहीं चुभते, कीचड़ में पैर नहीं धंसते और मृत्यु के पश्चात् उसकी ऊँची गति होती है। योगी पानी पर भूमि की भाँति चलता है, डूबता नहीं। यह अभी साध्य कोटि में है। हलका होने से तथा सावधानी से चलने से योगी के शरीर में काँटें कम चुभें, यह तो हो सकता है। परन्तु नितान्त कांटे न चुभें, यह साध्य है। कठोर कीचड़ में योगी का शरीर कम धंसे, यह तो हो सकता है। परन्तु नितान्त न धंसे, यह बात सिद्ध नहीं है। पूर्वोक्त उदान जय आदि योगाभ्यास से योगी की ऊँची गति होती है ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ – (समान-जयात्) समान प्राण के जीतने से (ज्वलनम्) योगी दीप्तिमान् हो जाता है।

सूत्रार्थ – समान प्राण को जीतने से योगी के शरीर में 'तेजस्विता' आ जाती है।

व्या० भा० – जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति ॥ ४० ॥

व्या० भा० अ० *– समान को जीतने वाला (योगी) तेज को उद्दीप्त करके तेजस्वी होता है ॥ ४० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **समान (प्राण) जय का फल** बतलाया है ।

समान प्राण पर विजय प्राप्त करने पर योगी का शरीर दीप्तिमान हो जाता है । उस पर विजय प्राप्त करने का प्रकार यह है कि विधिपूर्वक प्राणायाम करने से प्राण पर योगी का अधिकार हो जाता है । व्यायाम करने से जठराग्नि तीव्र हो जाती है । ब्रह्मचर्य का पालन करने से वीर्य और ओज की वृद्धि होती है। सात्त्विक और संतुलित भोजन करने से प्राण उचित मात्रा में कार्य करते हैं, इस प्रकार योगी समान प्राण पर विजय प्राप्त कर लेता है । इससे शरीर स्वस्थ हो जाता है और बल, ओज की वृद्धि होने से योगी का शरीर दीप्तिमान हो जाता है अर्थात् चमकता है । इसी का नाम **ज्वलनम्** है । 'ज्वलनम्' का अर्थ यह नहीं है कि अग्नि की भाँति प्रकाश देता है और पदार्थों को जलाने लगता है ॥ ४० ॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ – (श्रोत्र-आकाशयोः) श्रोत्र और आकाश के (सम्बन्ध-संयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (दिव्यं, श्रोत्रम्) दिव्य श्रोत्र हो जाता है ।

सूत्रार्थ – श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से श्रोत्रेन्द्रिय सूक्ष्म शब्दों को सुनने में समर्थ हो जाती है ।

व्या० भा० – **सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च । यथोक्तम्-तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवतीति । तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम् अनावरणं चोक्तम् । तथाऽमूर्तस्यानावरणदर्शनाद्विभुत्वमपि प्रख्यातमाकाशस्य । शब्दग्रहणानुमितं श्रोत्रम्, बधिराबधिरयोरेकः शब्दं गृह्णात्यपरो न गृह्णातीति, तस्माच्छ्रोत्रमेव शब्दविषयम् । श्रोत्राकाशयोः संबन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं प्रवर्तते ॥ ४१ ॥**

व्या० भा० अ० – *समस्त श्रोत्रेन्द्रियों का आधार आकाश है और सब शब्दों का भी (आधार आकाश है) । जैसा कहा है कि सभी समान स्थान में स्थित श्रोत्रेन्द्रिय वालों को एक देश वाले एक ही प्रकार के शब्दों का श्रवण होता है । इसलिये वह यह (श्रोत्रेन्द्रिय) आकाश का अनुमापक है = साधक है । और (आकाश) अनावरण कहा गया है । उसी प्रकार अमूर्त (आकाश) के अनावरण दिखने से आकाश का विभुत्व भी प्रसिद्ध है । शब्द ग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय की अनुमिति (अनुमानजनित ज्ञान) होता है । बहरे, न बहरे (इन दोनों) में एक शब्द को ग्रहण करता है, दूसरा ग्रहण नहीं करता है इसलिये श्रोत्र ही शब्द को ग्रहण करता है । श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने वाले योगी का 'दिव्य श्रोत्र' होता है ॥ ४१ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने का फल** बतलाया है।

समस्त श्रोत्रेन्द्रियों का आधार आकाश है और सभी शब्दों का आधार भी आकाश है । इस विषय में यह कहा गया है कि समान स्थान में स्थित सभी जनों को एकदेश वाले शब्द सुनाई देते हैं । इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय आकाश का ज्ञापक है । आकाश को अनावरण भी कहा गया है ।

इसलिए आकाश का सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है । शब्द ग्रहण से श्रोत्रेन्द्रिय का अनुमान होता है । क्योंकि बधिर व्यक्ति शब्द को नहीं सुनता और अबधिर सुनता है । इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द विषय है । घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध भूमि से है, वह गन्ध का ग्रहण करती है । इसी प्रकार रसना का जल से, नेत्र का अग्नि से, त्वचा का वायु से सम्बन्ध है । ये इन्द्रियाँ एक–एक विषय का ग्रहण करती हैं । क्योंकि उन–उन स्थूल भूतों से इनका विशेष सम्बन्ध है । इसी प्रकार से श्रोत्रेन्द्रिय का सम्बन्ध आकाश से है । वह शब्द का ग्रहण करती है । इस प्रकार से श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी का दिव्यश्रोत्र बन जाता है अर्थात् सूक्ष्म और दूर के शब्दों को सुनने में समर्थ हो जाता है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ – (काय–आकाशयोः) शरीर और आकाश के (सम्बन्ध–संयमात्) सम्बन्ध में संयम करने से (लघु–तूल–समापत्तेः–च) और हल्के तूल आदि पदार्थों में संयम के द्वारा समापत्ति प्राप्त होने पर (आकाश–गमनम्) आकाश में गमन सिद्ध हो जाता है ।

सूत्रार्थ – शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से अथवा हल्के रूई आदि पदार्थों में संयम के माध्यम से चित्त के तदाकार होने पर 'आकाश गमन की सिद्धि' प्राप्त होती है ।

व्या० भा० – यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात् कायस्य, तेन संबन्धः प्राप्तिः । तत्र कृत-संयमो जित्वा तत्संबन्धं लघुषु वा तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसंबन्धो लघुर्भवति । लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति । ततो यथेष्टमाकाश-गतिरस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

व्या० भा० अ० *– जहाँ शरीर होता है वहाँ आकाश होता है (शरीर की स्थिति के लिए) आकाश के (द्वारा) अवकाश देने से शरीर का उससे सम्बन्ध होता है । वहाँ संयम करने वाला (योगी) उस सम्बन्ध को जीतकर रूई आदि परमाणु पर्यन्त लघु पदार्थों में समापत्ति को प्राप्त करके उस सम्बन्ध को जीतकर लघु (हो जाता है), लघु होने से जल पर पैरों से चलता है । पश्चात् मकड़ी के जाले के तन्तुओं में विचरण कर किरणों में विचरता है । उससे इच्छानुसार योगी का आकाश में गमन होता है ॥ ४२ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में काया तथा आकाश के सम्बन्ध में किये संयम का फल और रूई आदि हल्के पदार्थों में तथा परमाणुओं तक समापत्ति करके उसके सम्बन्ध को जीतने का फल बतलाया है ।

जहाँ पर काया है, वहाँ पर आकाश है । आकाश के द्वारा अवकाश प्रदान करने से शरीर का उससे सम्बन्ध हो जाता है । उस सम्बन्ध में संयम करने वाला योगी, उस सम्बन्ध को जीतकर रूई आदि परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में समापत्ति करके, उस सम्बन्ध को जीतकर हल्का हो जाता है । हल्का होने से जल पर पैरों से गमन करता है । उसके पश्चात् मकड़ी के जाले पर विचरण

करके किरणों पर स्थूल शरीर से घूमता है। उससे अपनी इच्छानुसार स्थूल शरीर से आकाश में घूमता है। अब ऊपर लिखी सिद्धियों पर विचार किया जाता है –

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी का स्थूल शरीर कैसे इतना हल्का होता है कि जिससे स्थूल शरीर से योगी पानी पर घूमता है। मकड़ी के जाले पर घूमता है। किरणों और परमाणुओं पर घूमता है और अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में घूमता है। इतने सम्बन्धमात्र से शरीर के इतना हल्का होने का कारण कोई भी दिखाई नहीं देता और स्थूल शरीर में जो गति आई उसका भी कोई कारण परिज्ञात नहीं है। रूई, मकड़ी का जाला, परमाणु, किरण आदि में समापत्ति करके रूई आदि पदार्थों और शरीर के सम्बन्ध को जीतकर, उन सूक्ष्म पदार्थों पर स्थूल शरीर से घूमने का कोई भी कारण दिखाई नहीं देता। न तो शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से शरीर के हल्का होने का कोई कारण हमें दिखाई देता है और न स्थूल शरीर की गति का कोई कारण दिखाई देता है। इसी प्रकार से रूई, मकड़ी का जाला, परमाणु, किरण इनमें शरीर के हल्का होने का कारण हमें दिखाई नहीं देता है। और न कोई शरीर के घूमने का कारण दिखाई देता है।

प्रश्न – महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने यजुर्वेद १७/६७ मन्त्र के भाष्य में योगी के आकाश और सूर्य में आरोहण करने को लिखा है, इसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – वहाँ भी अभिधा से अर्थ नहीं करना चाहिये। अर्थात् यदि यह अर्थ किया जाये कि – योगी शरीर सहित आकाश और सूर्य में आरोहण करता है, तो संभव नहीं। क्योंकि सूर्य में करोड़ों अंश सेल्सियस तापमान है। इतने तापमान में योगी का पार्थिव शरीर जीवित ही नहीं रह सकता। यदि योगी शरीर सहित सूर्य में जायेगा, तो उसकी मृत्यु हो जायेगी। ऐसी सिद्धि तो योगी की मृत्यु का कारण बनेगी। अतः यह बात सिद्ध है कि योगी शरीर सहित आकाश और सूर्य में आरोहण नहीं कर सकता। यदि मन से आकाश गमन और सूर्य में आरोहण माना जाये, तो ठीक है। इसका अभिप्राय यह है कि योगी एकाग्र चित्त होकर बौद्धिक स्तर पर सूर्यादि लोकों का विशेष मनन चिन्तन करके उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। सूर्य आरोहण से यही अभिप्राय महर्षि दयानन्द जी का भी समझना चाहिए जो कि उनके निम्न उपदेश से स्पष्ट होता है –

''अणिमा आदि विभूतियाँ हैं। ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं। सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है। 'अणिमा' का अर्थ यह है कि [योगी का चित्त] छोटी से छोटी वस्तु का विशेष सूक्ष्म होकर नापनेवाला होता है। इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषकर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, उसे 'गरिमा' कहते हैं। ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है। इस तरह श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार हो जाने से निसन्देह स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है।''

– महर्षिदयानन्द उपदेशमञ्जरी ११वां उपदेश – (इतिहासविषय)

इसलिये ये सिद्धियाँ परीक्षा कोटि में हैं । यदि कोई व्यक्ति प्रमाणों से उपर्युक्त सिद्धियों को सिद्ध कर देवे तो, हमें स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ – (बहिः-अकल्पिता-वृत्तिः-महाविदेहा) शरीर से सम्बद्ध मन का जो बाहर के पदार्थों से वृत्ति लाभ होता है उस अकल्पिता वृत्ति का नाम महाविदेहा है । (ततः) उससे (प्रकाश-आवरण-क्षयः) प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है ।

सूत्रार्थ – शरीर से सम्बद्ध रहते हुए मन का जो बाहर के पदार्थों से वृत्तिलाभ है, वह महाविदेहा नामक धारणा है उससे बुद्धि सत्त्व का जो आवरण = रजस्तमोमूलक क्लेश-कर्म-विपाक-त्रय है, उसका विनाश होता है ।

व्या० भा० – शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा ।

सा यदि शरीरप्रतिष्ठस्य मनसो बहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते । या तु शरीरनिरपेक्षा बहिर्भूतस्यैव मनसो बहिर्वृत्तिः, सा खल्वकल्पिता । तत्र कल्पितया साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति, यया परशरीराण्याविशन्ति योगिनः । ततश्च धारणातः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्म-विपाकत्रयं रजस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति ॥ ४३ ॥

व्या० भा० अ० *– शरीर से बाहर (के किसी पदार्थ में) मन की वृत्ति 'विदेहा' नामक धारणा है।*

वह (धारणा) यदि शरीर में स्थित मन की बाह्य (पदार्थ में) वृत्तिमात्र से होती है (तो वह) कल्पिता कही जाती है । जो तो शरीराभिमानरहित बहिर्भूत मन की बाह्यवृत्ति अकल्पिता कहलाती है । (योगी) उन दोनों में से कल्पिता के द्वारा अकल्पिता नामक महाविदेहा को सिद्ध करते हैं, जिससे (वृत्तिमात्र से) परशरीरों में आविष्ट हो जाते हैं। उस धारणा से रजस्-तमस् के कारण प्रकाशात्मा बुद्धि का जो क्लेश कर्म और त्रिविध विपाकात्मक आवरण है, उसका क्षय होता है ॥ ४३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **महाविदेहावृत्ति का स्वरूप और उसका फल** बतलाया है ।

शरीर के बाहर मन की वृत्ति का होना विदेहा नाम की धारणा है । शरीर में मन के रहते हुए यदि केवल वृत्ति के द्वारा होती है तो वह **कल्पिता** कहाती है। योगी कल्पिता के द्वारा अकल्पिता महाविदेहा को सिद्ध करते हैं । उससे परशरीरों में प्रवेश करते हैं । उस धारणा से प्रकाशात्मक बुद्धिसत्त्व का जो रजोगुण-तमोगुण-जन्य आवरण = क्लेश-कर्म-विपाक है, वह नष्ट होता है । मन के शरीर में रहते हुए जो संकल्पमात्र से बाहर के पदार्थों में धारणा की जाती है, वह कल्पिता धारणा है। जो शरीर में मन के रहते हुए शरीर के अभिमान से रहित होकर बाहर के पदार्थों में उसका सम्बन्ध करके धारणा की जाती है, वह **अकल्पिता धारणा** है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि शरीर में मन के रहते हुए बाहर के पदार्थों में धारणा की जाती है अथवा मन को शरीर से नितान्त बाहर निकाल कर बाहर के पदार्थों में धारणा की जाती है । वास्तविकता यह है कि मन को शरीर से नितान्त बाहर निकाल कर यह धारणा नहीं

की जाती । किन्तु शरीर में मन के रहते हुए बाहर के पदार्थों से उसका सम्बन्ध करके धारणा की जाती है । कहीं पर इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध करके बाहर के पदार्थों में धारणा की जाती है और कहीं बिना इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध किये की जाती है । यदि मन को शरीर से नितान्त बाहर निकाल दिया जाय तो वह कार्य करना छोड़ देवेगा । यदि केवल मन को शरीर से बाहर निकाल कर उससे धारणा की जायेगी और योगी शरीर में रहेगा, तो केवल मन से बाहर के पदार्थों में धारणा नहीं की जा सकेगी । इसलिये शरीर में मन के रहते हुए उसका बाहर के पदार्थों से सम्बन्ध करके योगी इस धारणा की सिद्धि करता है । योगी परशरीर में प्रवेश नहीं करता है । इस विषय में '**योगदर्शन ३/३८**' पर लिख दिया है । वहाँ पर देख लेवें ॥ ४३ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ - (स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्म-अन्वय-अर्थवत्त्व-संयमाद्) स्थूल, सूक्ष्म, स्वरूप, अन्वय, अर्थवत्त्व, इन पाँच प्रकार के रूपों में संयम करने से (भूत-जयः) भूतजय नामक सिद्धि प्राप्त होती है ।

सूत्रार्थ - पृथिवी आदि पाँच भूतों के स्थूल आदि इन पाँच रूपों में संयम करने से भूतों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है अर्थात् योगी इन भूतों से यथेष्ट प्रयोजन सिद्ध कर लेता है तथा ये भूत योगी के बन्धन के कारण नहीं बनते हैं ।

व्या० भा० - तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाषिताः । एतद्भूतानां प्रथमं रूपम् । द्वितीय रूपं स्वसामान्यं मूर्तिर्भूमिः स्नेहो जलं वह्निरुष्णता वायुः प्रणामी सर्वतोगतिराकाश इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते । अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः । तथा चोक्तम्-एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिरिति ।

सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् । द्विष्ठो हि समूहः । प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगतः-शरीरं वृक्षो यूथं वनमिति । शब्देनोपात्तभेदावयवानुगतः समूहः-उभये देवमनुष्याः, समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागः । ताभ्यामेवाभिधीयते समूहः । स च भेदाभेदविवक्षितः । आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः, आम्रवणं ब्राह्मणसङ्घ इति ।

स पुनर्द्विविधो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च । युतसिद्धावयवः समूहोवनं सङ्घ इति । अयुतसिद्धावयवः सङ्घातः-शरीरं वृक्षः परमाणुरिति । अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः । एतत्स्वरूपमित्युक्तम् ।

अथ किमेषां सूक्ष्मरूपम् ? तन्मात्रं भूतकारणम् । तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषात्मा-ऽयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समुदाय इत्येवं सर्वतन्मात्राण्येतत्तृतीयम् । अथ भूतानां चतुर्थं रूपं ख्यातिक्रियास्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः । अथैषां पञ्चमं रूपमर्थवत्त्वम्, भोगापवर्गार्थता गुणेष्वन्वयिनी, गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत् ।

तेष्विदानीं भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति । तत्र पञ्च भूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति । तज्जयाद्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य सङ्कल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति ॥ ४४ ॥

व्या० भा० अ० – *उनमें पृथिवी आदि में रहने वाले आकारादि धर्मों सहित शब्दादि विशेष 'स्थूल' शब्द के द्वारा कहे गए हैं । यह भूतों का प्रथम रूप है । द्वितीय रूप (उनका) अपना सामान्य है । कठोरता भूमि (का अपना सामान्य धर्म है), स्नेह जल का (सामान्य धर्म है), उष्णता वह्नि (अग्नि का) धर्म है, प्रणामी = वहनशील वायु है, सर्वत्र व्यापनशील आकाश है यह 'स्वरूप' शब्द से कहा जाता है । इस सामान्य के शब्दादि विशेष हैं । और इसी प्रकार कहा गया है – एक एक सामान्य स्वरूप वाले इन भूतों की धर्ममात्र से पृथक्ता है ।*

सामान्यविशेषों का समुदाय इस (शास्त्र) में 'द्रव्य' माना गया है । समूह दो प्रकार का है । (प्रथम) जिनका भेद शब्दों से अप्रकटित है, ऐसे अवयवों में अनुगत समूह । (जैसे कि) – शरीर, वृक्ष, यूथ (झुण्ड) वन । (द्वितीय) जिनका भेद शब्दों से प्रकटित है, ऐसे अवयवों में अनुगत (समूह) जैसे देवों और मनुष्यों का समूह । समूह का एक भाग देव, दूसरा भाग मनुष्य, उन दोनों के द्वारा ही समूह कहा जाता है । वह (समूह) विवक्षित भेद वाला और अविवक्षित भेदवाला (होता है) उदाहरण:– आम्रों का वन, ब्राह्मणों का सङ्घ, आम्रवन, ब्राह्मणसङ्घ ।

वह (प्रथम समूह) फिर दो प्रकार का है । पृथक् करने योग्य अवयवयुक्त और पृथक् न करने योग्य अवयवों वाला । पृथक् करने योग्य अवयवों वाला समूह (उदाहरण के लिए) वन, सङ्घ । पृथक् न करने योग्य अवयवों वाला समूह (उदाहरण के लिए) शरीर, वृक्ष, परमाणु । पृथक् न करने योग्य अवयवों में अनुगत समूह द्रव्य है ऐसा पतञ्जलि (आचार्य) मानते हैं । यह स्वरूप कहा गया है ।

इसके आगे (प्रश्न है कि) इनका सूक्ष्मरूप क्या है ? भूत का कारण तन्मात्र (इसका सूक्ष्मरूप है), उस (भूत) का एक अवयव परमाणु (है यह) सामान्य विशेषात्मक, पृथक् न करने योग्य अवयव भेदों में अनुगत (अतः) समूह (द्रव्य) है, इस प्रकार सभी तन्मात्रायें, यह तृतीयरूप है । इसके आगे भूतों का चतुर्थरूप – प्रख्या, प्रवृत्ति, स्थिति स्वभाव वाले अपने कार्यों के स्वभाव में अनुगत रहने वाले गुण 'अन्वय' शब्द के द्वारा कहे गये हैं । इसके आगे इन भूतों का पञ्चमरूप 'अर्थवत्त्व' गुणों में अनुगत रहने वाली (इनकी) भोगापवर्गता । गुण तन्मात्राओं, भूत एवं भूतों से बने भौतिक पदार्थों में (अनुगत है) इसलिये ये सब अर्थवत् हैं ।

उनमें से अब पञ्चभूतों में उनमें विद्यमान पाँच रूपों में संयम करने से योगी को उस उस रूप का स्वरूपदर्शन और जय उत्पन्न होता है। उसमें से भूतों के पाँच रूपों को जीतकर योगी 'भूतजयी' होता है । उस जय से बछड़ों का अनुगमन करने वाली गौओं के समान भूत प्रकृतियाँ इस योगी के सङ्कल्प का अनुसरण करने वाली होती हैं ॥ ४४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में भूतों के पाँच रूपों में संयम करने का फल बतलाया है ।

भूतों के पाँच रूप

भूतों का प्रथम रूप – इन पृथिवी आदि में रहने वाले आकारादि धर्मों सहित शब्द आदि विशेष 'स्थूल' शब्द के द्वारा कहा गया है । यह भूतों का प्रथम रूप है ।

भूतों का दूसरा रूप – भूतों का दूसरा रूप 'सामान्य' है । मूर्ति भूमि अर्थात् भूमि का धर्म कठोरता है । स्नेह जल का धर्म है । उष्णता अग्नि का धर्म है । वायु का प्रचलनशील, तिर्यग् गति धर्म है । आकाश का सर्वत्र व्याप्ति धर्म है । यह 'स्वरूप' शब्द से कहा गया है । इस सामान्य के शब्दादि विशेष धर्म हैं । इसी प्रकार से यह कहा गया है कि एक सामान्य में समन्वित होने वाले इन सामान्य पृथिवी आदि का शब्द आदि धर्मों से स्वरूप स्पष्ट होता है । अर्थात् अन्य पदार्थों से पृथक् जाना जाता है । इस शास्त्र में सामान्य और विशेष के समुदाय को द्रव्य माना गया है अर्थात् जिसमें सामान्य और विशेष धर्म हों, उसको द्रव्य माना जाता है ।

समूह दो प्रकार का होता है । **पहला समूह** – जिसमे अवयवो का भेद शब्दों से प्रकट नहीं होता। जैसे शरीर, वृक्ष यूथ (झुण्ड), वन आदि । **दूसरा समूह** – जिसमें अवयवों का भेद शब्दों से ही प्रकट हो जाता है । जैसे देव और मनुष्य दोनों का समूह । इस समूह का एक भाग देव और दूसरा मनुष्य है । इन दोनों से यह 'देव–मनुष्य' समूह बना हुआ कहा जाता है और वह 'विवक्षित भेद वाला' और 'अविवक्षित भेद वाला' है । आमों का वन, ब्राह्मणों का संघ तो विवक्षित भेद वाला समूह है तथा आम्रवन, ब्राह्मणसंघ यह अविवक्षित भेद वाला समूह है ।

प्रथम प्रकार के समूह के भी दो भेद हैं – (क) युत अवयवों वाला = पृथक् अवयवों वाला (ख) अयुत अवयवों वाला = अपृथक् अवयवों वाला । पृथक् अवयवों वाला 'वन', 'संघ' है । अपृथक् अवयवों वाले समूह 'शरीर', 'वृक्ष', 'परमाणु' हैं । अपृथक् अवयवों में रहने वाला समूह द्रव्य है, ऐसा पतञ्जलि मानते हैं । यह भूतों का स्वरूप है ।

भूतों का तीसरा रूप – तन्मात्रायें ही भूतों का कारण है । भूतों का एक अवयव परमाणु है अर्थात् पृथिवी आदि भूत जिन सूक्ष्म अंशों से बनते हैं वह परमाणु है । यह परमाणु तन्मात्राओं से बनता है । यह तन्मात्रा सामान्य विशेष स्वरूप वाला अपृथक् अवयव भेदानुगत समुदायरूप है अर्थात् यह तन्मात्रारूप है । यह भूतों का सूक्ष्मरूप है ।

भूतों का चौथा रूप – प्रख्या, प्रवृत्ति, स्थिति स्वभाव वाले, अपने कार्यों के स्वभाव में अनुगत रहने वाले सत्त्वादि तीनों अन्वय नाम से कहे जाते हैं ।

भूतों का पाँचवाँ रूप – अर्थवत्त्व है । गुण, तन्मात्राओं, भूतों और भौतिक पदार्थों में विद्यमान हैं । इसलिये सभी पदार्थ अर्थवान् हैं ।

इन पाँचों रूपों वाले, पाँचों भूतों में संयम करके इनके स्वरूप को जानकर योगी इन पर विजय प्राप्त कर लेता है । भूतों पर विजय प्राप्त करने का अर्थ यह नहीं है कि समस्त सृष्टि के भूतों पर योगी विजय प्राप्त कर लेता है । किन्तु इन भूतों के कुछ अंशो पर विजय प्राप्त कर लेता है । जैसे आजकल के भौतिक वैज्ञानिक पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि भूतों के कुछ अंश को वश में करके अपने और अन्यों के अनेक प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं । वैसे ही योगी भी कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस भूतजय से (अणिमादि-प्रादुर्भावः) अणिमा आदि सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं तथा (काय-सम्पत्) शरीर का सामर्थ्य बढ़ता है (तद्-धर्म-अनभिघातः-च) और योगी के कार्य में पृथिवी आदि भूतों के धर्म एक सीमा तक बाधा नहीं डालते ।

सूत्रार्थ – उन भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने से अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व और यत्रकामावसायित्व ये आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा शारीरिक सम्पदा बढ़ती है और पृथिवी आदि पाँचभूतों के धर्म योगी के कार्यों में एक सीमा तक बाधक नहीं बनते ।

व्या० भा० – तत्राणिमो भवत्यणुः । लघिमा लघुर्भवति । महिमा महान्भवति । प्राप्तिरङ्गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम् । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके । वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम् । ईशितृत्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे । यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा सङ्कल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम् । न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति । कस्मात् ? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथाभूतेषु सङ्कल्पादिति । एतान्यष्टावैश्वर्याणि ।

कायसंपद्वक्ष्यमाणा । तद्धर्मानभिघातश्च, पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिनः शरीरादिक्रियाम्, शिलामप्यनुविशतीति, नापः स्निग्धाःक्लेदयन्ति, नाग्निरुष्णो दहति, न वायुः प्रणामी वहति । अनावरणात्मकेऽप्याकाशे भवत्यावृतकायः, सिद्धानामप्यदृश्यो भवति ॥ ४५ ॥

व्या० भा० अ० *– उनमें से 'अणिमा' (वह है जिसमें) अणु होता है, 'लघिमा' = लघु होता है, 'महिमा' = महान् होता है । 'प्राप्ति' वह है जिसमें अङ्गुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा को छूता है। 'प्राकाम्य' का अर्थ है इच्छा का निर्बाध पूर्ण होना (जिससे) भूमि में (उसी प्रकार) तैरता और डूबता है जिस प्रकार पानी में (तैरता डूबता है) । 'वशित्व' = भूतों एवं भूतों से बने पदार्थों पर (उसका) वशित्व होता है और (वह) अन्यों के वश नहीं होता । 'ईशितृत्व' = उन (भूत एवं भौतिक पदार्थों) के उत्पत्ति प्रलय तथा स्थिति के क्रम का ईशन करने में समर्थ होता है । 'यत्रकामावसायित्व' (नामक सिद्धि) सत्यसङ्कल्पता कहलाती है । (उसकी प्राप्ति होने पर) जिस प्रकार का सङ्कल्प होता है उसी प्रकार का भूत एवं उनकी प्रकृतियों का (तन्मात्राओं का) अवस्थान (= स्थिति) होती है। समर्थ होने पर भी पदार्थों को विरुद्ध (उल्टा) नहीं करता । क्यों ? पूर्व सिद्ध सत्यसङ्कल्प वाले ईश्वर का भूतों में उस प्रकार का सङ्कल्प होने से । ये आठ ऐश्वर्य हैं ।*

'कायसम्पत्' अगले सूत्र में कही जाने वाली है । और उन (भूतों) के धर्मों के द्वारा बाध न होना । पृथिवी कठिनत्व धर्म के द्वारा योगी की शरीर क्रिया को नहीं रोकती, पत्थर में भी अनुप्रवेश करता है । स्नेहगुण युक्त जल उसको आर्द्र नहीं कर सकता गला नहीं सकता । उष्ण (धर्मयुक्त) अग्नि नहीं जलाता है । वहनशील वायु नहीं डुलाती है । अनावरणरूपी आकाश में भी गुप्त शरीर वाला होता है, सिद्धों के लिए भी अदृश्य होता है ॥ ४५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में अणिमादि सिद्धि, कायसम्पत् और भूतों के धर्मों के आघात का निषेध किया है । इस सूत्र के व्यासभाष्य में अणिमादि आठ सिद्धियों के विषय में लिखा है और कुछ अन्य सिद्धियों के विषय में भी लिखा है ।

यहाँ पर उन सिद्धियों पर विचार किया जाता है ।

अणिमादि सिद्धियों के विषय में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के विचार –

''इसमें द्रष्टा से अभिप्राय ईश्वर है । योगी विभूति को शुद्ध करता है यह योगशास्त्र में लिखा है । अणिमा आदि विभूतियाँ हैं । ये योगी के चित्त में पैदा होती हैं । सांसारिक लोग जो यह मानते हैं कि ये योगी के शरीर में पैदा होती हैं, वह ठीक नहीं है । अणिमा का अर्थ यह है कि (योगी का चित्त) छोटी से छोटी वस्तु को विशेष सूक्ष्म होकर नापने वाला होता है । इसी प्रकार बड़े से बड़े पदार्थ को विशेषतर बड़ा होकर योगी का मन घेर लेता है, उसे गरिमा कहते हैं । ये मन के धर्म हैं, शरीर में इनकी शक्ति नहीं है ।''

– उपदेशमञ्जरी ११ वाँ प्रवचन, पृष्ठ ११७

अणिमादि आठ सिद्धियाँ

१. अणिमा – शरीर को अणु बना लेना – यदि पतले शरीर को अणु माना जाता है, तो ठीक है । परन्तु शरीर को चींटी जैसा अथवा परमाणु जैसा बनाना माना जाता है, तो यह सम्भव नहीं ।

२. लघिमा – शरीर को कुछ हलका बनाना माना जाता है, तो ठीक है । परन्तु विमान की भाँति आकाश में उड़ना माना जाता है, तो यह परीक्षा कोटि में है ।

३. महिमा – शरीर बलवान् व्यक्तियों की भाँति लम्बा चौड़ा बना लिया जाता है तो ठीक है । परन्तु हिमालय पर्वत जैसा माना जाता है, तो सम्भव नहीं है ।

४. प्राप्ति – चन्द्रमा को मानसिक कल्पना से अंगुलि के अग्रभाग से छूना माना जाता है, तो ठीक है और यदि स्थूल शरीर की अंगुलि से चन्द्रमा को छूना माना जाता है, तो यह सम्भव नहीं है ।

५. प्राकाम्य – इच्छा का विघात न होना । योगी चित्त को वश में करने की इच्छा करे अथवा ईश्वरसाक्षात्कार की इच्छा करे तो प्रयत्न करने पर पूर्ण हो सकती है । यदि योगी यह इच्छा करे कि मैं स्थूलशरीर से शिला में प्रवेश कर जाऊँ और पश्चात् जैसा का तैसा बाहर निकल आऊँ, यह सम्भव नहीं है ।

६. वशित्व – पृथिवी आदि कुछ भूतों और उनसे उत्पन्न कुछ पदार्थों को वश में कर लेना तो सम्भव है । जैसे आजकल के वैज्ञानिक कुछ मात्रा में स्थूल भूतों और उनसे बने पदार्थों को वश में कर लेते हैं । वैसे ही योगी भी कर सकता है । परन्तु सभी भूतों और सभी पदार्थों को वश में कर लेना सम्भव नहीं है ।

७. ईशितृत्व – भूमि आदि से बने कुछ पदार्थों को लेकर नये पदार्थ उत्पन्न कर देना और उनका नाश कर देना तथा उनको जिस स्थिति में रखना चाहे उसी स्थिति में रखना ऐसा वशित्व योगी कर सकता है । परन्तु प्रकृति अथवा परमाणुओं को लेकर नई सृष्टि बना देना, उसका विनाश कर देना, समस्त सृष्टि के पदार्थों को व्यवस्थित कर देना सम्भव नहीं है ।

८. यत्रकामावसायित्व – सत्यसङ्कल्प जो कार्य योगी के ज्ञान, बल से किये जा सकते हैं, उनको उत्पन्न करने की इच्छा करना, उनको बनाने का प्रयास करना, ऐसी स्थिति में उनकी उत्पत्ति हो सकती है और विनाश भी हो सकता है । परन्तु इच्छा मात्र से नये पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकता ।

इसी सूत्र के भाष्य में आई कुछ अन्य सिद्धियों पर विचार :-

'तद्धर्मानभिघात' भूमि योगी के स्थूल शरीर की गति को नहीं रोकती अर्थात् भूमि में स्थूल शरीर से योगी प्रवेश कर जाता है, यह सम्भव नहीं है । यदि बुद्धि से योगी भूमि में प्रवेश करता है तो यह परीक्षा कोटि में है । इसी प्रकार योगी का स्थूल शरीर से पत्थर में प्रवेश करने की बात को समझ लेवें । यदि योगी के शरीर को जल नहीं गलाता है, अग्नि नहीं जलाती है ऐसा माना जाता है तो यह सम्भव नहीं है । योगी का शरीर जल की शीतलता को अग्नि की उष्णता को किसी सीमा तक अयोगी लोगों की अपेक्षा अधिक सह लेता है, ऐसा माना जाये तो यह ठीक है ॥ ४५ ॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ – (रूप-लावण्य-बल-वज्र-संहननत्वानि) रूप, लावण्य, बल, वज्र संहननत्व = शरीर की दृढ़ता (काय-सम्पत्) यह 'शरीर की सम्पत्ति' है ।

सूत्रार्थ – पाँच भूतों पर विजय प्राप्त कर लेने से और भूतों से उत्पन्न अन्नादि के समुचित प्रयोग से योगी को यह चार प्रकार की 'शारीरिक सम्पत्ति' प्राप्त होती है ।

व्या० भा० – दर्शनीयः कान्तिमानतिशयबलो वज्रसंहननश्चेति ॥ ४६ ॥

व्या० भा० अ० *– दर्शनीय, कान्तिमान, अतिबलवान्, वज्र के समान सुदृढ़ अङ्ग सन्निवेशयुक्त (होता है) ॥ ४६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **कायसम्पत् का स्वरूप** बतलाया है ।

भूतों पर विजय प्राप्त करने वाले योगी का शरीर रूपवान् = सुन्दर रूप वाला, विशेष कान्ति युक्त, बहुत बलवान् और दृढ़ अवयवों वाला हो जाता है । 'वज्र' पत्थर को कहते हैं । यहाँ पर शरीर के अङ्गों के लिये वज्र शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि योगी का शरीर पत्थर जैसा ही दृढ़ हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के अवयव बहुत दृढ़ हो जाते हैं । शरीर की जो विशेषतायें यहाँ पर बतलाई हैं उसमें केवल योगाभ्यास ही कारण है

ऐसा नहीं मानना चाहिये । उत्तम भोजन, उचित व्यायाम, पृथिवी आदि भूतों के स्वरूप का ज्ञान, उनसे उत्पन्न हुए अन्न, फल आदि का ज्ञान, उनका उचित प्रयोग, स्वास्थ्य से सम्बद्ध नियमों का परिज्ञान इत्यादि इस शारीरिक सम्पत्ति की प्राप्ति में सहायक होते हैं । आयुर्वेद में कहा है कि (आहार, स्वप्न = निद्रा, ब्रह्मचर्य) ये तीन स्वास्थ्य के आधार हैं[१] ॥ ४६ ॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ – (ग्रहण-स्वरूप-अस्मिता-अन्वय-अर्थवत्त्व-संयमाद्) ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संयम करने से (इन्द्रिय-जयः) इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त होता है ।

सूत्रार्थ – इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, और अर्थवत्त्व ये पाँच रूप हैं । इन पाँचों इन्द्रिय रूपों में संयम करने से 'इन्द्रियजय' नाम की सिद्धि होती है ।

व्या० भा० – सामान्यविशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः । तेष्विन्द्रियाणां वृत्तिर्ग्रहणम् । न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम् । कथमनालोचितः स विषयविशेष इन्द्रियेण मनसा वानुव्यवसीयेतेति । स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य सामान्यविशेषयोरयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियम् । तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहंकारः । तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि विशेषाः । चतुर्थं रूपं व्यवसायात्मकाः प्रकाशक्रियास्थितिशीला गुणा येषामिन्द्रियाणि साहंकाराणि परिणामः । पञ्चमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थत्त्वमिति । पञ्चस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमस्तत्र तत्र जयं कृत्वा पञ्चरूपजयाद् इन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः ॥ ४७ ॥

व्या० भा० अ० *– सामान्य एवं विशेषात्मक शब्दादि 'ग्राह्य' कहलाता है । उनमें इन्द्रियों का व्यापार 'ग्रहण' (आलोचन) कहा जाता है । और वह (ग्रहण) सामान्य मात्र का ग्रहणात्मक नहीं है । क्योंकि इन्द्रिय के द्वारा अगृहीत वह शब्दादि विशेष विषय, मन के द्वारा कैसे जाना जा सकता है ? 'स्वरूप' – प्रख्या स्वरूप बुद्धि (= अहंकार) के सामान्य विशेषों के अपृथक्सिद्ध अवयवों में अनुगत रहने वाला समूह 'इन्द्रिय' (नामक) द्रव्य है । उन (इन्द्रियों) का तृतीय रूप अस्मिता लक्षण 'अहङ्कार' है । उस (अस्मितारूपी) सामान्य के इन्द्रियाँ विशेष हैं । (इन्द्रियों का) चतुर्थ रूप – निश्चयात्मक, प्रकाशक्रिया-स्थितिशील गुण जिनके परिणाम अहङ्कार सहित इन्द्रियाँ हैं । पञ्चमरूप – (वह) है जो (सत्त्व, रजस्, तमस्) गुणों में अनुगत (भोगापवर्गरूप) पुरुषार्थता है । इन्द्रियों के इन पाँचों स्वरूपों में क्रमानुसार संयम (करना चाहिये) उनमें क्रमशः जय प्राप्त करने पर पाँचों रूपों में जय करने से योगी को 'इन्द्रियजय' प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **इन्द्रियों के पाँच रूपों** = ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में **संयम करने का फल** बतलाया है । इसी पाद के ४४ वे सूत्र में भूतों के पाँच रूपों में संयम करने से भूतजय की सिद्धि बतलाई थी । अब इन्द्रियों के पाँच रूपों में संयम करने से 'इन्द्रिय जय' की सिद्धि बतलाते हैं ।

---

१. **त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति** ॥ चरकसंहिता, सूत्रस्थान ११/३४ ॥

(१) शब्दादि तथा घटादि विषय, 'ग्राह्य' कहाते हैं और शब्दादि घटादि ग्राह्यविषयों में जो इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) है, वह 'ग्रहण' कही जाती है अर्थात् विषय ग्राह्य हैं और विषयाकार वृत्ति ग्रहण कहाती है । यह **इन्द्रियों का प्रथम रूप** है । वह ग्रहण रूप इन्द्रियों की वृत्ति केवल सामान्य विषयक नहीं है अर्थात् केवल धर्ममात्र को ही विषय करने वाली नहीं है । किन्तु धर्मी का भी ज्ञान करवाती है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियों से घटादि वस्तुओं का विशेष ज्ञान नहीं होता । यदि इन्द्रियों से घटादि पदार्थों का विशेष ज्ञान होना न माना जायेगा तो इन्द्रियों से जाने गये विषय का इन्द्रियों से और मन से कैसे निश्चय होगा ? इसलिये इन्द्रियाँ धर्म, धर्मी दोनों का ही ग्रहण करवाती हैं ।

(२) महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है । अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । ये नेत्रादि इन्द्रियाँ कार्य द्रव्य रूप हैं । यही **इन्द्रियों का दूसरा रूप** हैं ।

(३) अस्मिता स्वरूप वाला अहंकार **इन्द्रियों का तीसरा रूप** है । उस सामान्य के इन्द्रियाँ विशेष हैं । व्यवसायात्मक = निश्चयात्मक प्रकाशक्रियास्थितिशील गुण है ।

(४) जिन गुणों के अहंकार सहित इन्द्रियाँ परिणाम है अर्थात् अहंकार और इन्द्रियों का उपादान सत्त्वादि तीन गुण हैं, यह **इन्द्रियों का चौथा रूप** है ।

(५) तीनों गुणों में अनुगत जो भोग और अपवर्ग सम्पादन का सामर्थ्य है, वह **इन्द्रियों का पाँचवाँ रूप** है ।

यहाँ इन्द्रियों के पाँच रूपों को जानने की रीति बतलाई है । जब व्यक्ति इन्द्रियों के इन पाँच रूपों को अच्छे प्रकार जान लेता है तो अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं । जैसे इन्द्रियों को ही आत्मा जानना, उन्हीं को भोक्ता जानना और इन्द्रियों को ही अच्छे बुरे कर्मों का कर्ता जानना इत्यादि भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं और जीवात्मा का शुद्ध स्वरूप परिज्ञात हो जाता है । इन्द्रियों के पाँचों रूपों में संयम करने से, योगी इन पर विजय प्राप्त कर लेता है । विजय प्राप्त करने पर योगी अधिकारपूर्वक इनको अधर्माचरण से रोककर धर्माचरण में चलाता है । अज्ञान ग्रहण करने से रोककर ज्ञान ग्रहण करने में लगाता है । उपासना काल में जो पाँच इन्द्रियों के विषयों से बाधा उपस्थित होती है, वह बाधा इन्द्रियों को जीत लेने पर दूर हो जाती है ॥ ४७ ॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस इन्द्रियजय से (मनोजवित्वम्) मनोजवित्व (विकरण-भावः) विकरणभाव (प्रधान-जयः-च) और प्रधानजय सिद्धियाँ होती हैं ।

सूत्रार्थ – 'मनोजवित्व' अर्थात् योगी के शरीर की गति का अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक होना, 'विकरणभाव' अर्थात् इन्द्रियों का विशेष शक्ति से युक्त हो जाना 'प्रधानजय' अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का उचित उपयोग कर अपने प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ हो जाना, ये उपरोक्त 'इन्द्रियजय' से होते हैं ।

व्या० भा० – कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम् । विदेहानामिन्द्रियाणामभिप्रेतदेशकाल-विषयापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः । सर्वप्रकृतिविकारवशित्वं प्रधानजय इति । एतास्तिस्त्रः सिद्धयो मधुप्रतीका उच्यन्ते । एताश्च करणपञ्चकस्वरूपजयादधिगम्यन्ते ॥ ४८ ॥

__व्या० भा० अ०__ – शरीर की अत्युत्तम गति का लाभ 'मनोजवित्व' कहलाता है । शरीर की अपेक्षा न रखने वाली इन्द्रियों का अभिलषित देश, काल, विषयों में व्यापार (व्याप्त होना) 'विकरणभाव' कहाता है । प्रकृति के समस्त विकारों पर वश्यता (प्राप्त कर लेना) 'प्रधानजय' कहलाता है । ये तीनों सिद्धि 'मधुप्रतीका' कही जाती हैं । और ये सिद्धियाँ पाँचों इन्द्रियों के रूपों के जय से प्राप्त की जाती हैं ॥ ४८ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **इन्द्रियजय की सिद्धियाँ** बतलाई हैं । यहाँ पर इन्द्रियजय से तीन सिद्धियाँ बतलाई हैं । मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय ।

(१) मनोजवित्व – मन अति तीव्र गति वाला पदार्थ है । इसलिये मन का उदाहरण दिया गया है । इस सिद्धि से शरीर में तीव्रता से चलने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है और दौड़ने का सामर्थ्य भी बढ़ जाता है । साधारण लोगों की अपेक्षा योगी अधिक तीव्र गति से चल सकता है और अधिक दौड़ सकता है । परन्तु मन की भाँति चलना और दौड़ना शरीर से नहीं हो सकता । मन के साथ शरीर का कुछ सादृश्य दिखाया है, पूर्णरूपेण नहीं । शरीर के रहते हुये मन, इन्द्रियों के साथ जितनी गति से सम्बद्ध होता है, उतनी गति से शरीर नहीं चल सकता ।

(२) विकरणभाव – इन्द्रियों में विषयों को ग्रहण करने का विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होता है । यह विकरणभाव है । इसको न मानकर यदि विकरणभाव का यह अर्थ किया जाता है कि इन्द्रियाँ बिना शरीर के कहीं पर रहकर अपने कार्यों को कर सकती हैं तो ऐसा सम्भव नहीं है । यह पहले लिख दिया है कि स्थूल शरीर के बिना केवल सूक्ष्म शरीर कार्य नहीं कर सकता । बिना स्थूल शरीर के केवल इन्द्रियों से योगी भी कार्य नहीं कर सकता ।

(३) प्रधानजय – प्रधान = प्रकृति से बने महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा, ये प्रकृति भी हैं और विकृति भी । महत्तत्त्व = (बुद्धि) को जीत लेना, अहंकार को जीत लेना और प्रकृति से बने उपकरणों को अपने वश में कर लेना प्रधानजय है, अर्थात् सत्त्वादि तीन गुणों से बने अपने से सम्बद्ध उपकरणों को जीत लेना प्रधानजय है । प्रधानजय का यह अभिप्राय नहीं कि पूर्ण प्रकृति और पूर्ण सृष्टिरूप विकृति को जीत लेना । अपने से सम्बद्ध बुद्धि आदि पदार्थों को और कुछ मात्रा में बाहर के पदार्थों को अधिकार में कर लेना प्रधानजय है ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ – (सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य) बुद्धि और पुरुष = जीव की भिन्नता जानने वाले योगी को (सर्व-भाव-अधिष्ठातृत्वम्) अनेक पदार्थों का स्वामित्व (सर्व-ज्ञातृत्वम् च) और अनेक वस्तुओं का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है ।

सूत्रार्थ – बुद्धि और जीव की भिन्नता जानने वाले योगी को अनेक पदार्थों का स्वामित्व प्राप्त होता है अर्थात् मन, बुद्धि, शरीर आदि पदार्थों का नियन्त्रणपूर्वक संचालक हो जाता है तथा अनेक वस्तुओं का अर्थात् मन, इन्द्रिय, शरीर तथा जीवात्मादि अनेक पदार्थों का ज्ञान होता है ।

व्या० भा० – निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । सर्वात्मानो गुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मत्वेनोपस्थिता इत्यर्थः । सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थ इति । एषा विशोका नाम सिद्धिर्यां प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ॥ ४९ ॥

व्या० भा० अ० *– रजस्-तमस् के मलों से रहित बुद्धि नामक पदार्थ के अत्यन्त शुद्ध होने पर, उत्कृष्ट वशीकार संज्ञा (वैराग्य) में स्थित, बुद्धि और पुरुष के अन्यत्व की ख्यातिमात्र के रूप में स्थित (योगी) को सब पदार्थों पर आधिपत्य (होता है) । ज्ञानात्मक एवं ज्ञेयात्मक सब प्रकार के गुण स्वामी-क्षेत्रज्ञ-(योगी) के प्रति सम्पूर्ण योग्य पदार्थों के रूप में उपस्थित होते हैं । सर्वज्ञातृत्व-भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् धर्मों के रूप में स्थित सभी रूपों वाले गुणों का बिना क्रम के (एक साथ) विवेकजनित ज्ञान होता है । यह 'विशोका' नामक सिद्धि है जिसको प्राप्त करके सर्वज्ञ, क्षीण-क्लेश-बन्धन वाला योगी, वशी होकर विचरण करता है ॥ ४९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **बुद्धि और आत्मा को पृथक्-पृथक् जानने वाले योगी को दो सिद्धियाँ** प्राप्त होती हैं ।

रजोगुण, तमोगुण के मलों से बुद्धि के अत्यन्त शुद्ध हो जाने पर उत्कृष्ट वैराग्य की प्राप्ति होने पर, बुद्धि और पुरुषान्यताख्याति रूप में प्रतिष्ठित योगी को **'सर्वभावाधिष्ठातृत्व'** और **'सर्वज्ञातृत्व'** सिद्धियाँ प्राप्त होती है ।

पहली सिद्धि 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' है – इसका अर्थ यह है कि योगी के अपने से सम्बद्ध जो पदार्थ हैं, जैसे बुद्धि अहंकार मन, इन्द्रियाँ, शरीरादि । इन सब पदार्थों का योगी अधिष्ठाता बन जाता है अर्थात् इन सबको अपने वश में रखकर धर्म मार्ग पर चलाता है । कुछ बाहर के पदार्थों को जैसे कि पृथिवी, जलादि एवं उनसे बने पदार्थों को अपने अधिकार में रख कर योगी संसार के कल्याण के लिए उनका उचित प्रयोग कर सकता है । जन समुदाय को भी अपने अधिकार में रख कर उसे मोक्षमार्ग पर चला सकता है । परन्तु वह प्रकृति, विकृति, लोक-लोकान्तर आदि समस्त पदार्थों का अधिष्ठाता नहीं बन सकता । उनका अधिष्ठाता तो केवल ईश्वर ही है । क्योंकि वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है ।

दूसरी सिद्धि 'सर्वज्ञातृत्व' है – सत्त्वादि तीन गुणों से उत्पन्न एवं भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल में विद्यमान पदार्थों का योगी ज्ञाता बन जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि तीनों कालों में जो पदार्थ विद्यमान रहते हैं उनमें से अनेक पदार्थों का विशेष ज्ञान योगी को प्राप्त होता है।

अन्य लोगों की अपेक्षा योगी को अधिक ज्ञान होता है। परन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान योगी को नहीं हो सकता क्योंकि योगी एकदेशी है। समस्त पदार्थों का पूर्णज्ञान तो केवल ईश्वर को ही हो सकता है। क्योंकि ईश्वर चेतन व सर्वव्यापक है। योगी को सर्वज्ञ इसलिए कहा जाता है कि वह मोक्ष के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है उस सबको प्राप्त कर लेता है। योगी के इस ज्ञान को 'विवेकज ज्ञान' कहते हैं। यह '**विशोका**' नाम की सिद्धि है। जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ, क्षीणक्लेशबन्धन वाला होकर स्वतंत्र विचरता है ॥ ४९ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ – (तद्) उस विशोका नामक सिद्धि से (वैराग्यात्) वैराग्य होने से (अपि) भी (दोष-बीज-क्षये) दोषों के बीज नष्ट हो जाने पर (कैवल्यम्) कैवल्य हो जाता है।

सूत्रार्थ – विवेकख्याति से उत्पन्न विशोका नाम की सिद्धि से भी वैराग्य होने से अविद्यादि क्लेश-बीजों के नष्ट होने पर 'मोक्ष' हो जाता है।

व्या० भा० – यदास्यैवं भवति क्लेशकर्मक्षये सत्त्वस्यायं विवेकप्रत्ययो धर्मः, सत्त्वं च हेयपक्षे न्यस्तं पुरुषश्चापरिणामी शुद्धोऽन्यः सत्त्वादिति। एवमस्य ततो विरज्यमानस्य यानि क्लेशबीजानि दग्धशालिबीजकल्पान्यप्रसवसमर्थानि तानि सह मनसा प्रत्यस्तं गच्छन्ति। तेषु प्रलीनेषु पुरुषः पुनरिदं तापत्रयं न भुङ्क्ते। तदेतेषां गुणानां मनसि कर्मक्लेशविपाकस्वरूपेणाभिव्यक्तानां चरितार्थानामप्रतिप्रसवे पुरुषस्यात्यन्तिको गुणवियोगः कैवल्यम्। तदा स्वरूपप्रतिष्ठा चितिशक्तिरेव पुरुष इति ॥ ५० ॥

व्या० भा० अ० *– जब क्लेशों एवं कर्माशय के क्षीण होने पर इस (योगी) को ऐसा (ज्ञान) होता है कि यह विवेकख्याति सत्त्व का धर्म है, सत्त्व हेय पक्ष में डाल दिया है, पुरुष अपरिणामी शुद्ध और सत्त्व से अन्य है। इस प्रकार उस (विवेकख्याति) से विरक्त होने वाले इस (योगी) के क्लेशों के जो बीज जले हुए धान के बीजों के समान उगने में असमर्थ रहते हैं, वे मन के साथ ही लीन हो जाते हैं। उनके लीन होने पर पुरुष इस त्रिविध ताप को पुनः अनुभव नहीं करता। मन में कर्म, क्लेश और विपाकों को रूप में अभिव्यक्त होने वाले एवं चरितार्थ हुए गुणों के (प्रकृति में) लीन होने पर पुरुष का आत्यन्तिक गुण वियोग = 'कैवल्य' कहलाता है। तब पुरुष स्वरूप में प्रतिष्ठित = चितिशक्ति मात्र ही है ॥ ५० ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **विवेकख्याति से भी वैराग्य होने के कारण और दोष बीजों का नाश होने पर योगी को कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति** होती है।

क्लेशों और अशुभ तथा सकाम कर्मों के क्षीण हो जाने पर योगी ऐसा जानता है कि यह विवेकख्याति भी सत्त्वगुण का ही धर्म है। सत्त्व गुण को हेय कोटि में रखा गया है। अपरिणामी, शुद्ध पुरुष अर्थात् जीवात्मा सत्त्व से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार से विरक्त होते हुए योगी के अङ्कुरित होने में असमर्थ जले हुए धानों के बीजों के सदृश जो क्लेशों के बीज रहते हैं, वे क्लेशों के साथ-साथ ही प्रकृति में लीन हो जाते हैं। उनके लीन हो जाने पर जीवात्मा इन तीन प्रकार

के दु:खों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) को नहीं भोगता । तब मन में कर्म, क्लेश, विपाक के रूप से अभिव्यक्त एवं कृतकृत्य हुए गुणों के प्रकृति में लीन होने पर जीवात्मा का सत्त्वादि तीन गुणों से अत्यन्त वियोग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि जीवात्मा योगाभ्यास करते करते सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति को प्राप्त करता है । इसकी प्राप्ति केवल जीवात्मा के सामर्थ्य से नहीं होती किन्तु ईश्वरप्रदत्त साधनों और ज्ञान से होती है । सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था में विवेकख्याति के दृढ़ हो जाने पर बुद्धि और जीवात्मा के पृथक्त्व का ज्ञान होता है । जब जीवात्मा विवेकख्याति में भी दोष देखता है तो उससे भी वैराग्य अर्थात् परवैराग्य हो जाता है । परवैराग्य और ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से असम्प्रज्ञात समाधि होती है । उससे जीवात्मा को अपने स्वरूप का और ईश्वर के स्वरूप का परिज्ञान होता है । इस अवस्था में आत्मा मुक्ति का अधिकारी बन जाता है और ईश्वर उसको मोक्ष प्रदान करता है । इस स्थिति में जीवात्मा के शरीर आदि प्रकृति से बने उपकरण उसी में लीन हो जाते हैं । जीवात्मा के केवल अपने स्वरूप में स्थित होने से मोक्ष नहीं होता । किन्तु ईश्वरसाक्षात्कार से ही होता है । ईश्वरसाक्षात्कार से अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ - (स्थानि-उपनिमन्त्रणे) उच्च स्थान प्राप्त व्यक्तियों के द्वारा निमन्त्रित किये जाने पर (सङ्ग-स्मय-अकरणम्) आसक्ति और अभिमान नहीं करना चाहिये । (पुन:) ऐसा करने से पुन: (अनिष्ट-प्रसङ्गात्) योगमार्ग से विचलित होने का अवसर उपस्थित होने से ।

सूत्रार्थ - समाज में उच्च स्थान प्राप्त लौकिक व्यक्तियों अर्थात् राजा-महाराजा, धन-बल, ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा निमन्त्रित किये जाने पर आसक्ति और अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से योगी के योगमार्ग से विचलित होने का अवसर उपस्थित हो जाता है ।

व्या० भा० - चत्वार: खल्वमी योगिन: प्रथमकल्पिको मधुभूमिक: प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योति: प्रथम: । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीय: । भूतेन्द्रियजयी तृतीय: सर्वेषु भावितेषु भावनीयेषु कृतरक्षाबन्ध: कृतकर्तव्यसाधनादिमान् । चतुर्थो यस्त्वतिक्रान्तभावनीय:, तस्य चित्तप्रतिसर्ग एकोऽर्थ:, सप्तविधास्य प्रान्तभूमिप्रज्ञा ।

तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवा: सत्त्वविशुद्धिमनुपश्यन्त: स्थानैरुप-निमन्त्रयन्ते-भो इहास्यतामिह रम्यतां, कमनीयोऽयं भोग:, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्यू बाधते वैहायसमिदं यानममी कल्पद्रुमा:, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षय:, उत्तमा अनुकूला अप्सरसो, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपम: काय: स्वगुणै: सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति ।

एवमभिधीयमानः सङ्गदोषान्भावयेद्-घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया जननमरणान्धकारे विपरिवर्तमानेन कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशी योगप्रदीपः। तस्य चैते तृष्णायोनयो विषयवायवः प्रतिपक्षाः। स खल्वहं लब्धालोकः कथमनया विषयमृगतृष्णया वञ्चितस्तस्यैव पुनः प्रदीप्तस्य संसाराग्नेरात्मानमिन्धनीकुर्यामिति। स्वस्ति वः स्वप्नोपमेभ्यः कृपणजनप्रार्थनीयेभ्यो विषयेभ्य इत्येवं निश्चितमतिः समाधिं भावयेत्।

सङ्गमकृत्वा स्मयमपि न कुर्यादेवमहं देवानामपि प्रार्थनीय इति। स्मयादयं सुस्थितं मन्यतया मृत्युना केशेषु गृहीतमिवात्मानं न भावयिष्यति। तथा चास्य च्छिद्रान्तरापेक्षी नित्यं यत्नोपचर्यः प्रमादो लब्धविवरः क्लेशानुत्तम्भयिष्यति। ततः पुनरनिष्टप्रसङ्गः। एवमस्य सङ्गस्मयावकुर्वतो भावितोऽर्थो दृढी भविष्यति। भावनीयश्चार्थोऽभिमुखीभविष्यति ॥ ५१ ॥

व्या० भा० अ० *– प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय नाम से वे योगी चार (प्रकार के) हैं। उनमें से प्रथम (प्रकार का योगी) अभ्यास करने वाला, ज्योति जिसको प्रवृत्तमात्र हुई हो। द्वितीय ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला, तृतीय (वह जो कि) भूतों एवं इन्द्रियों पर जय प्राप्त करने वाला, सम्पादित, असम्पादित सब विषयों में आत्मरक्षार्थ कृत-रक्षा-बन्ध विहित साधनानुष्ठानादि से युक्त है। चतुर्थ अतिक्रान्तभावनीय है, उसका चित्त का प्रलय एक ही प्रयोजन शेष रहता है। इस योगी की सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा होती है।*

उनमें से मधुमती भूमि का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मण की सत्त्वशुद्धि को देखते हुवे स्थान से सम्बद्ध देव, स्थानों के द्वारा निमन्त्रण करते हैं – श्रीमान् जी ! यहाँ बैठिए, यहाँ रमण करिए, यह भोग कामना करने योग्य है, यह कन्या सुन्दरी है, यह रसायन है जरा-मृत्यु को दूर करता है, यह आकाशीय विमान है, ये कल्पवृक्ष हैं, यह पावन नदी है, सिद्ध महर्षि हैं, श्रेष्ठ अनुकूल अप्सराएँ हैं, दिव्य श्रोत्र एवं चक्षु हैं, वज्र के समान (दृढ़) काया है। आपके द्वारा यह सारा उपार्जित है, यह देवताओं के लिए प्रिय अविनश्वर, अजर, अमर स्थान है।

इस प्रकार कहा जाता हुआ (योगी) सङ्गदोषों की भावना करे कि "भीषण संसार रूपी अङ्गारों में जलते हुवे जन्ममरण के अन्धकार में पड़ने वाले मैंने क्लेशान्धकार को नष्ट करने वाले योगप्रदीप को किसी प्रकार से प्राप्त किया है। तृष्णा को उत्पन्न करने वाले ये विषयवायु उसके विरोधी हैं। वह मैं प्राप्तप्रकाश इस विषय मृगतृष्णा से वञ्चित होकर पुनः किस प्रकार अपने को प्रज्वलित संसाराग्नि का इन्धन बनाऊँ।" हे निम्नजनों के द्वारा प्रार्थनीय स्वप्न सदृश विषयों ! ('आप मुझसे दूर ही रहें, मैं आप का संग नहीं करूँगा) आप का कल्याण हो', इस प्रकार स्थिर बुद्धि होकर (योगी) समाधि का अभ्यास करें।

(विषयों का) सङ्ग न करके ऐसा गर्व भी न करे कि मैं देवों का भी प्रार्थनीय हो गया हूँ। गर्व से अपने को महान् मानने के कारण (योगी) मृत्यु के द्वारा पकड़े गए बाल वाले के समान समाधि को सम्पादित नहीं करेगा। इस प्रकार दूसरे छिद्रों की प्रतीक्षा करने वाला प्रमाद, जो कि प्रतिदिन प्रयत्न से दूर किये जाने योग्य (होता है वह) अवकाश प्राप्त करके क्लेशों को उभारेगा।

उससे फिर अनिष्ट की प्राप्ति होगी । इस प्रकार (विषयों का) सङ्ग और गर्व न करने वाले (योगी) की सम्पादित समाधि दृढ़ होगी । सम्पादनीय समाधि सम्मुख होगी ॥ ५१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि योगी का सम्मान होने पर और विषय भोग के साधनों की प्राप्ति होने पर, यदि वह भोगों में आसक्त होता है और अभिमान करता है तो अनिष्ट को प्राप्त हो जाता है ।

योगी चार प्रकार के होते हैं । **प्राथमकल्पिक । मधुभूमिक । प्रज्ञाज्योति । अतिक्रान्तभावनीय ।**

(१) जो यमनियमादि आठ अङ्गों का अनुष्ठान करते हुए वितर्क समाधि तक पहुँचा है । परन्तु यह उसकी प्रारम्भिक अवस्था है । अभी कोई विशेष सिद्धि उपलब्ध नहीं हुई है । यह **प्राथमकल्पिक** है ।

(२) जिसने सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था प्राप्त कर ली है, वह ऋतम्भरप्रज्ञ है, इसका नाम **मधुभूमिक** है ।

(३) जो योग के साधनों का अभ्यास करते-करते भूतेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका है और योगाभ्यासी के समक्ष आने वाली बाधाओं से पार हो गया है । वह **प्रज्ञाज्योति** कहलाता है ।

(४) जो योगाभ्यास के ऊँचे स्तर को प्राप्त हो गया है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था में पहुँच गया है, चित्त को प्रकृति में लीन करना ही जिसका एक प्रयोजन शेष है । जिसकी सात प्रकार की उत्कृष्ट प्रज्ञा होती है, वह **अतिक्रान्तभावनीय** है । सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का स्वरूप **२।२७ वे सूत्र** में लिख दिया है, वहाँ पर देख लेवें ।

इन चार प्रकार के योगियों में से 'मधुभूमिक योगी' को उसके कल्याण की भावना से सूत्रकार एवं भाष्यकार ने सावधान किया है कि योगी की विशेषताओं को देखकर लौकिक साधनों से सम्पन्न व्यक्ति उसको कहते हैं कि आप महान् हैं । आपने शारीरिक बल, विद्या, धर्म से स्वयं को ऊँचा उठाया है । इसलिये ये सब प्रकार के सुख के साधन हैं । इनका आप अपनी इच्छानुसार भोग कीजिये । ऐसी स्थिति में योगी उन लौकिक सुख और सुख के साधनों में आसक्त न होवे । और न यह माने कि 'मैं महान् लोगों का भी पूज्य हो सकता हूँ' अर्थात् योगी अपनी योग की स्थिति को छोड़कर भोग की स्थिति में आ सकता है । इसलिये इस अनिष्ट से अपनी रक्षा के लिये योगी इस प्रकार से विचार करे कि मैं संसार के क्लेशों से सन्तप्त था । उनसे बचने के लिये मैंने योग की शरण प्राप्त की है । यदि मैं पुनः भोगों में पडूँगा तो मुझे महान् दुःख भोगने पड़ेंगे । ऐसा विचार करने से वह सब क्लेशों का नाश और आनन्द की प्राप्ति करवाने वाले योगमार्ग का परित्याग करके भोगों में आसक्त नहीं होता और न ही अभिमान करता है ।

यहाँ पर 'ऋतम्भरप्रज्ञ योगी' को अनिष्ट से बचाने के लिये भोगों में आसक्त न होना और अभिमान न करना बतलाया है । उसको भोगों से आसक्ति को रोकने के लिये सदा उसे भोगों में चार प्रकार के दुःख को देखते रहना चाहिये । दर्शनकार ने पिछले पाद के १५वें सूत्र में कहा है

कि परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्तिविरोध दुःख, ये संसार के प्रत्येक सुख में मिश्रित रहते हैं। ऐसा जानने से भोगों में आसक्ति नहीं होती। जब योगी इस बात को भूल जाता है तो भोगों में आसक्ति होती है। अभिमान से अपनी रक्षा करने का उपाय यह है कि जितने भी सृष्टि के पदार्थ हैं उनका बनाने वाला, उनकी रक्षा करने वाला और समस्त विद्याओं को तथा आनन्द को देने वाला ईश्वर है। इन सभी पदार्थों का तथा विद्या का स्वामी भी ईश्वर ही है, ऐसा जानने से मिथ्याभिमान नहीं हो सकता। जो योगी सदा ईश्वर समर्पित रहता है और उसी की उपासना करता है। उसके मन में न विषयासक्ति उत्पन्न होती है और न अभिमान ही होता है ॥ ५१ ॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ – (क्षण–तत्क्रमयोः) क्षण और उसके क्रम में (संयमात्) संयम करने से (विवेकजं, ज्ञानम्) विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।

सूत्रार्थ – अत्यन्त लघु काल का नाम 'क्षण' है और क्षणों के प्रवाह का न टूटना 'क्रम' है। इन क्षणों और क्रमों में संयम करने से 'विवेकज ज्ञान' उत्पन्न होता है।

व्या० भा० – यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः, तत्प्रवाहविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खवल्यं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपातो लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसंभवात्, पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविन क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षात्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ॥ ५२ ॥

व्या० भा० अ० – *जिस प्रकार छोटे से छोटा द्रव्य परमाणु (कहा जाता) है। इसी प्रकार छोटे से छोटा काल, क्षण (कहलाता) है अथवा जितने समय में चला हुआ परमाणु पूर्व देश को छोड़कर उत्तर देश को प्राप्त करे वह काल 'क्षण' (कहलाता) है। उन (क्षणों का) अविच्छिन्न प्रवाह 'क्रम' कहा जाता है। क्षण और उनके क्रम का वस्तुरूप में संग्रह नहीं (होता) है इसलिए मुहूर्त अहोरात्रादि बुद्धिगृहीत हैं। वह यह (बुद्धि के द्वारा गृहीत) अवास्तविक काल बुद्धि द्वारा निर्मित, शब्दज्ञान के पीछे चलनेवाला, लौकिक असमाहित जनों को वस्तु स्वरूप के समान प्रतीत होता है।*

'क्षण' तो वास्तविक एवं क्रम का आश्रय (होता है), और 'क्रम' क्षणों का अव्यवहित स्वरूप है। कालवेत्ता योगीजन उसको 'काल' ऐसा कहते हैं। दो क्षण एक साथ उपस्थित नहीं होते। और दो क्षणों का क्रम भी एक साथ नहीं होता, दो क्षणों का एक साथ उपस्थित होना, असंभव

होने से । पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का जो व्यवधानरहित सम्बन्ध है, वह 'क्रम' है । इसलिए वर्तमान ही एक क्षण (होता) है पूर्व एवं उत्तर क्षण नहीं होते । इसलिए उसका संग्रह नहीं (होता) है । जो तो भूत और भावी क्षण हैं वे परिणाम में अन्वित कहे जाने चाहिए । उस एक (वर्तमान) क्षण के द्वारा समस्त लोक परिणाम का अनुभव करता है । वे धर्म उस क्षण पर आरूढ़ हैं । उन क्षण एवं उनके क्रमों में संयम से उन (क्षण एवं क्रमों) का साक्षात्कार होता है । उससे विवेकजन्य ज्ञान प्रादुर्भूत होता है ॥ ५२ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि **क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज ज्ञान** उत्पन्न होता है ।

जैसे मिट्टी के ढेले का विभाग करते-करते अन्त में वह इतना सूक्ष्म हो जाय कि पुनः उसका विभाग न हो सके वह द्रव्य '**परमाणु**' कहाता है । वैसे ही समय का विभाग करते जाने पर उसका जो सबसे छोटा भाग हो, वह **क्षण** (काल) है । अथवा जितने समय में चला हुआ परमाणु पूर्व देश को त्याग कर उत्तर देश को प्राप्त होता है, वह **क्षण** है । उन क्षणों का जो प्रवाह (नैरन्तर्य) है तारतम्य है, उसका विच्छेद न होना '**क्रम**' है । क्षण और क्षणों के अव्यवहित आनन्तर्य (क्रम) में वस्तु समाहार-वस्तु रूप में समुदाय नहीं है । मुहूर्त, दिन, रात्रि आदि जो स्थूल काल है, वह बौद्धिक दृष्टि से काल का समुदाय माना जाता है । वास्तव में वह काल और क्रम का समुदाय नहीं है । क्योंकि सभी क्षण और क्रम एक समय में एकत्रित नहीं हो सकते । उस क्षण काल का वस्तु समुदाय न होने पर भी अर्थात् अनेक क्षणों का वस्तु रूप में एक काल नहीं होता, फिर भी साधारण लोगों को वह वस्तु रूप में दिखाई देता है ।

क्षण तो वस्तु कोटि में आता है और वह क्रम का आश्रय है । अर्थात् क्षण वास्तविक काल है । यदि क्षण को भी मुहूर्त आदि की भाँति काल्पनिक माना जाय तो क्रम का आश्रय कोई भी नहीं होगा । **क्रम** का यह अर्थ है कि वह क्षणों के आनन्तर्य रूप में रहता है अर्थात् क्षणों के साथ आबद्ध रहता है, क्षणों के आधीन रहता है । जो भूत एवं भावी क्षण हैं वे अतीत लक्षण परिणाम तथा अनागत लक्षण परिणाम में सामान्य रूप से अनुगत जानने चाहिए । एक ही क्षण से सम्पूर्ण लोक परिणाम का अनुभव करता है । अर्थात् क्षण क्षण में परिवर्तन को प्राप्त होता है । सभी पदार्थ वर्तमान क्षण पर ही आरूढ़ रहते हैं अर्थात् क्षण काल से बाहर नहीं जा सकते । उन क्षणों तथा उनके क्रम में संयम करने से उनका साक्षात्कार होता है । उससे विवेकज ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

जब कोई भी वस्तु उत्पन्न होती है, तब वह नवीन दिखाई देती है । कालान्तर में वह पुरानी दिखाई देती है । प्रारम्भ में दृढ़ होती है, लम्बे काल के पश्चात् वह निर्बल हो जाती है । यदि बहुत अधिक काल तक उसको रखा जाय तो जीर्ण-शीर्ण हो जाती है । उसको हाथ से पकड़ कर उठाया जाए तो उसका चूर्ण हो जाता है । इससे यह ज्ञात होता है कि उत्पन्न हुए घट, पट, पत्थरादि पदार्थ क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं । उनमें परिवर्तन होता रहता है । यह

परिवर्तन तत्काल नहीं होता, धीरे धीरे होता है । इससे यह परिणाम निकलता है कि महत्तत्व से लेकर मानव शरीर पर्यन्त सभी पदार्थ क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त हो रहे हैं । कालान्तर में उन सबका विनाश हो जायेगा और जीवात्मा और परमात्मा, क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त नहीं होते, इसलिए वे विनाशरहित हैं। इससे यह भी लाभ होता है कि सांसारिक पदार्थों में व्यक्ति की आसक्ति नहीं होती और उन पदार्थों में स्व-स्वामी सम्बन्ध भी नहीं रहता । स्व स्वामी सम्बन्ध के न रहने से व्यक्ति का अभिमान नष्ट हो जाता है ॥ ५२ ॥

अव० - तस्य विषयविशेष उपक्षिप्यते -

अर्थ० - उस (विवेकज ज्ञान) का विषय विशेष उदाहृत किया जाता है ।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ - (जाति-लक्षण-देशैः) जाति, लक्षण और देश से (अन्यता-अनवच्छेदात्) भेद का निश्चय न होने से (तुल्ययोः) दो समान प्रतीत होने वाली वस्तुओं का (ततः) उस विवेकज ज्ञान से (प्रतिपत्तिः) पृथक्-पृथक् निश्चय होता है ।

सूत्रार्थ - जाति, लक्षण, देश से समान प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं के भेद का ज्ञान न होने से उस विवेकज ज्ञान के द्वारा उन दोनों वस्तुओं में क्या विशेष अन्तर है, यह ज्ञान हो जाता है ।

व्या० भा० - तुल्ययोर्देशलक्षणसारूप्ये जातिभेदोऽन्यताया हेतुर्गौरियं वडवेयमिति । तुल्यदेशजातीयत्वे लक्षणमन्यत्वकरं कालाक्षी गौः स्वस्तिमती गौरिति । द्वयोरामलकयोर्जातिलक्षणसारूप्याद्देशभेदोऽन्यत्वकर इदं पूर्वमिदमुत्तरमिति । यदा तु पूर्वमामलकमन्यव्यग्रस्य ज्ञातुरुत्तरदेश उपावर्त्यते तदा तुल्यदेशत्वे पूर्वमेतदुत्तरमेतदिति प्रविभागानुपपत्तिः । असंदिग्धेन च तत्त्वज्ञानेन भवितव्यमित्यत इदमुक्तं ततः प्रतिपत्तिर्विवेकजज्ञानादिति ।

कथम् ? पूर्वामलकसहक्षणो देश उत्तरामलकसहक्षणाद्देशाद् भिन्नः । ते चामलके स्वदेशक्षणानुभवभिन्ने । अन्यदेशक्षणानुभवस्तु तयोरन्यत्वे हेतुरिति । एतेन दृष्टान्तेन परमाणोस्तुल्यजातिलक्षणदेशस्य पूर्वपरमाणुदेशसहक्षणसाक्षात्करणादुत्तस्य परमाणोस्तद्देशानुपपत्तावुत्तरस्य तद्देशानुभवो भिन्नः सहक्षणभेदात्तयोरीश्वरस्य योगिनोऽन्यत्वप्रत्ययो भवतीति ।

अपरे तु वर्णयन्ति-येऽन्त्या विशेषास्तेऽन्यताप्रत्ययं कुर्वन्तीति । तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिव्यवधिजातिभेदश्चान्यत्वे हेतुः । क्षणभेदस्तु योगिबुद्धिगम्य एवेति । अत उक्तं-मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्तिमूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः ॥ ५३ ॥

व्या० भा० अ० *- दो समान पदार्थों के देश और लक्षण (आकार-रङ्ग-रूपादि के) समान होने पर उन दोनों की भिन्नता का हेतु जाति (होती है), जैसे कि यह गौ और यह घोड़ी है । समानस्थान, समानजाति होने पर (दोनों की) भिन्नता का हेतु लक्षण (होता है), जैसे कि काली आँख वाली गौ, स्वस्तिक चिह्न वाली गौ । जाति और लक्षण के समान होने पर दो आँवलों की*

भिन्नता का हेतु देश की भिन्नता होगी, जैसे कि यह पूर्ववर्ती है, यह उत्तरवर्ती है। जब तो पूर्ववर्ती आँवला ज्ञाता के अन्य विषय में आसक्त होने पर उत्तर देश में रखा जाता है तब दोनों आँवलों के समान देशस्थ होने पर यह पूर्ववर्ती है ऐसा विभाग ज्ञात नहीं होता। तत्त्वज्ञान सन्देहरहित होता है इसलिए यह कहा गया है कि 'विवेकज ज्ञान' से ज्ञात होता है।

कैसे ? पूर्ववर्ती आँवले के साथ के क्षणों वाला देश उत्तरवर्ती आँवले के साथ के क्षणों वाले देश से भिन्न है। और वे आँवले अपने अपने देशों के अनुभवों के कारण भिन्न हैं। अन्य देशों के क्षणों का अनुभव ही उन दोनों (आँवलों) के अन्यत्व में हेतु है। इस दृष्टान्त से परमाणु के समान जाति, समान लक्षण, समान देश वाले परमाणु का पूर्ववर्ती परमाणु के देश के साथ वाले क्षणों का साक्षात्कार होने से उत्तरवर्ती परमाणु का वह (पूर्व) देश न होने पर (उत्तर) देश का (क्षणों के साथ वाला) अनुभव भिन्न होता है, साथ वाले क्षणों का भेद होने से उन दोनों परमाणुओं की भिन्नता का ज्ञान ऐश्वर्यवान् योगी को होता है।

अन्य लोग तो वर्णन करते हैं – जो अन्तिम विशेष होते हैं वे भिन्नत्व उत्पन्न करते हैं। वहाँ भी देशभेद, लक्षणभेद, मूर्ति (अवयव सन्निवेश) भेद, व्यवधान (जनित) भेद और जाति भेद अन्यता में हेतु है। क्षण (गत) भेद तो योगि-बुद्धि द्वारा ही ज्ञेय होता है। इसलिए आचार्य वार्षगण्य ने कहा है कि मूर्ति, व्यवधान, जाति (जनित) भेद के न होने से मूल (प्रकृति) में पृथक्ता नहीं है॥ ५३॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **विवेकज ज्ञान का फल** बतलाया है। पदार्थों के स्वरूप का भेद जनाने वाले तीन कारण हैं। जाति, लक्षण और देश।

(१) जाति – एक ही स्थान में गौ और भैंस खड़ी हों तो उनका भेदज्ञान 'जाति' से होता है कि यह गौ है और यह भैंस है। जो अनेक पदार्थों में एक बुद्धि (ज्ञान) को उत्पन्न करती है, वह जाति कहाती है।

(२) लक्षण – एक ही जाति की भिन्न-भिन्न रंग वाली गौएं हों तो उनके भिन्नत्व का ज्ञान लक्षण से होता है। जैसे – यह काले रंग की गौ है और यह श्वेत रंग की गौ है। यहाँ पर पृथक्त्व ज्ञान का कारण लक्षण है।

(३) देश – जाति एक होने पर भी एक गौ पूर्व देश में हो और दूसरी पश्चिम देश में हो तो उनके पृथक्त्व का ज्ञान देश (स्थान) से होता है। जाति व लक्षण एक होने पर भी दो आँवलों को देशभेद से पृथक्-पृथक् जाना जाता है। यदि उन दोनों आँवलों को उस देश से हटाकर किसी अन्य देश में रख दिया जाए, जहाँ रखने पर उनको पहले भिन्न-भिन्न देशों में देखने वाला न देख सके। अथवा उनको भिन्न भिन्न देशों में देखने वाले की दृष्टि से बचाकर उन आँवलों का देश परस्पर परिवर्तित कर दिया जाए। अर्थात् जो आँवला पहले पूर्व दिशा में रखा था उसको पश्चिम में रख दिया जाय और जो पश्चिम में रखा था, उसको पूर्व में रख दिया जाय, तो उनको भिन्न-भिन्न देशों में देखने वाले को यह ज्ञान होना कठिन है कि पहले कौन सा आँवला किस

देश में रखा था । परन्तु इन दोनों के पृथक्त्व का ज्ञान 'विवेकज ज्ञान' से हो जाता है । इसका कारण भाष्यकार ने यह बतलाया है कि उत्तर आँवले के क्षण सहित देश से पूर्व आँवले का क्षण सहित देश भिन्न है । जब वे आँवले अपने अपने देश-क्षण अनुभव में भिन्न भिन्न हैं, तब उन दोनों के देश, क्षण का अनुभव उन दोनों के भेद का कारण है । इसी दृष्टान्त के समान तुल्य जाति, लक्षण, देश वाले परमाणुओं में, पूर्व देश वाले परमाणुओं के देश, क्षणों सहित साक्षात्कार करने से, उस उत्तर देश वाले परमाणुओं का वह देश निश्चय न होने पर उत्तर वाले देश का भिन्न अनुभव क्षणों सहित भेद से होता है । उन दोनों देश क्षणों सहित परमाणुओं के ज्ञान में समर्थ योगी को ही उन दोनों के भेद का ज्ञान होता है ।

यहाँ पर एक बात विचारणीय है । योगी के समक्ष दो आँवले रख दिये जायें । एक पूर्व दिशा में और एक पश्चिम दिशा में । उन दोनों आँवलों को वहाँ से उठाकर परोक्ष में रख दिया जाये, जहाँ पर वह योगी उनको नहीं देख सके । उसके पश्चात् जो आँवला पूर्व दिशा में रखा था, उसको पश्चिम दिशा में रख दिया जाय और जो पश्चिम दिशा में रखा था, उसको पूर्व दिशा में रख दिया जाय । योगी ने उन दोनों आँवलों का अनुभव भिन्न भिन्न देश क्षण सहित किया था । इसी आधार पर योगी की दृष्टि से परोक्ष में रखने से पूर्व जो आँवला जिस दिशा में रखा था उसको योगी '**विवेकज ज्ञान**' से जान जाता है । उन दोनों आँवलों की दिशा को परिवर्तित करने पर योगी उनको धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों के आधार पर जानता है अथवा अन्य किसी कारण के आधार पर यह स्पष्ट नहीं है ।

पिछले सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने परमाणु के एक देश से अन्य देश में गति करने में लगने वाले काल को '**क्षण**' कहा है । यहाँ पर '**परमाणु**' का अर्थ है पाँच भूतों के सूक्ष्म अंश, जिन का उपादान कारण तन्मात्रायें हैं और जिन से पृथिवी आदि भूतों की उत्पत्ति होती है ॥ ५३ ॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ - (तारकम्) अपनी प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान (सर्व-विषयम्) अनेक पदार्थों को विषय बनाने वाला (सर्वथा विषयम्) भूत-भविष्यत्-वर्तमान सब प्रकार के पदार्थों को विषय बनाने वाला (अक्रमम्) अक्रम से उत्पन्न होने वाला (च) और (इति) ऐसा (विवेकजं ज्ञानम्) 'विवेकज ज्ञान' कहलाता है ।

सूत्रार्थ - अपनी बुद्धि से उत्पन्न, अनेक पदार्थों को विषय बनाने वाला, पदार्थों के भूत, भविष्यत्, वर्तमान से सम्बद्ध सामान्य विशेष धर्मों को जनाने वाला और अक्रम से उत्पन्न होने वाला, यह 'विवेकज ज्ञान' है ।

व्या० भा० - तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः । सर्वविषयत्वान्नास्य किञ्चिदविषयी-भूतमित्यर्थः । सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं सर्वं पर्यायैः सर्वथा जानातीत्यर्थः । अक्रममित्येकक्षणोपारूढं

सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः । एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम् । अस्यैवांशो योगप्रदीपो, मधुमतीं भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ॥ ५४ ॥

व्या० भा० अ० *– 'तारक' का अर्थ यह है कि अपनी प्रतिभा से उत्पन्न, उपदेश जनित नहीं है । 'सर्वविषय' का अर्थ यह है कि इसका कोई अविषय नहीं है । 'सर्वथाविषय' का अर्थ यह है कि अतीत, अनागत, वर्तमान सबको सब प्रकार से जानता (जनाता) है । 'अक्रम' का अर्थ यह है कि एक क्षण में उपस्थित सब को सब प्रकार से ग्रहण करता (कराता) है । यह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण होता है । मधुमती भूमि से लेकर जहाँ तक (योग प्रदीप) परिसमाप्त होता है वहाँ तक रहने वाला वह योगप्रदीप इसी विवेकज ज्ञान का अंश है ॥ ५४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **विवेकज ज्ञान का लक्षण** किया है ।

उपदेशादि कारणों के बिना अपनी ही प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला, सब पदार्थों को विषय बनाने वाला अर्थात् सभी पदार्थों को जनाने वाला, भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी प्रकार से पदार्थों को जनाने वाला और बिना क्रम के एक साथ उत्पन्न होने वाला ज्ञान, '**विवेकज ज्ञान**' कहाता है । जो समस्त दुःखों एवं बन्धनों से तैरा देवे, वह '**तारक**' कहा जाता है । इस ज्ञान की सिद्धि के पश्चात् साधक समस्त बन्धनों से छूट जाता है ।

सर्वविषय का अर्थ है "समस्त पदार्थों को विषय करने वाला" । सभी पदार्थों को जनाने का तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थों का जानना मुक्ति प्राप्ति के लिये आवश्यक है उन सबको जनाने वाला । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ईश्वर की भाँति समस्त पदार्थों को जनाने वाला । क्योंकि एकदेशी होने से ईश्वर की भाँति जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, ईश्वर चेतन व सर्वदेशी होने से सर्वज्ञ है ।

सर्वथाविषय का अर्थ भूत भविष्यत् और वर्तमानस्थ सूक्ष्म, स्थूल सभी पदार्थों का विशेष ज्ञान करवाने वाला है । जैसे आज एक व्यक्ति २५ वर्ष का युवा है, आज से २० वर्ष पहले वह ५ वर्ष का बालक था, खेलता कूदता था । आज से ५० वर्ष पश्चात् वह वृद्ध हो जायेगा तब उसे उठने बैठने, चलने–फिरने, देखने–सुनने आदि कार्यों में कठिनाई होगी । अर्थात् तीन कालों में किस किस पदार्थ की क्या क्या स्थिति होती है, इसका विशेष ज्ञान विवेकज ज्ञान करवा देता है । परन्तु समस्त पदार्थों का सभी प्रकार से जानना, ईश्वर के लिये ही सम्भव है, जीव के लिये नहीं । क्योंकि जीव अल्पज्ञ और एकदेशी है । अतः वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । योगी को जहाँ पर भी सर्वज्ञ कहा जाता है वहाँ पर ज्ञेय पदार्थ कुछ सीमित होते हैं जिनके विषय में योगी विशेषरूप से जानता है । मुक्ति के लिए आवश्यक ज्ञान की दृष्टि से भी योगी को सर्वज्ञ कह दिया जाता है उसका अर्थ है – '**जितना ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में आवश्यक है, उतना ज्ञान प्राप्त कर लेना**' ।

अक्रम – बिना क्रम के एक साथ अनेक पदार्थों को जनाने वाला । अक्रम शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं । प्रथम यह कि बहुत शीघ्रता से जनाने वाला । जिसका पदार्थों को जनाने का क्रम तो है परन्तु वह ज्ञात नहीं होता । उदाहरणः– अमेरिका देश से आकाशवाणी (रेडियो) के माध्यम

से ओम् शब्द का उच्चारण किया। उसको भारत देश आने में बहुत न्यून समय लगा। उस देश से चलकर भारत तक जितना स्थान है उस स्थान को पार करते-करते एक अँगुल स्थान को पार करने में कितना समय लगा, यह जानना अत्यन्त कठिन है। इसलिये यह मान लिया जाता है कि एक अँगुल स्थान को पार करने में कुछ भी समय नहीं लगा।

यद्यपि जितने समय में अनेक पदार्थों का ज्ञान होना माना जाता है उस काल के भी सूक्ष्म दृष्टि से विभाग हो सकते हैं। परन्तु एक परिभाषा बनाई गई कि इतने समय को एक कहा जायगा अर्थात् '**एक क्षण**' कहा जायेगा। इसलिये 'अक्रम' का एक अर्थ यह है, कि जिसमें ज्ञानों का क्रम तो होता है परन्तु वह क्रम जाना नहीं जाता। 'अक्रम' का दूसरा अर्थ यह है कि जिसमें क्रम है ही नहीं अर्थात् एक ही क्षण में अनेक पदार्थों का ज्ञान एक साथ होता है। व्यासभाष्य में क्षण को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया है। जैसे किसी द्रव्य के विभाग करते करते जो उसका अन्तिम भाग बच जाये अर्थात् जिसके आगे विभाग न हो सकें वह '**परमाणु**' है। इसी प्रकार से समय के विभाग करते-करते जिसका पुनः विभाग न हो सके वह काल '**क्षण**' है। यहाँ पर द्रव्य को 'परमाणु' कहा है और विभाग रहित बतलाया है। वैसे ही जिस काल का विभाग न हो सके उसे 'क्षण' कहा है। इस एक क्षण में योगी को अनेक पदार्थों का ज्ञान एक साथ होता है। 'अक्रम' शब्द का यह दूसरा अर्थ कुछ अन्य विद्वान् करते हैं।

सत्त्वादि तीन गुणों से महत्तत्त्व की उत्पत्ति मानी है। उससे अहंकार की उत्पत्ति मानी है। अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच तन्मात्राओं और एक मन की उत्पत्ति मानी है। पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच भूतों की उत्पत्ति मानी है।

तन्मात्राओं से बने पृथिवी आदि परमाणु, जिनसे स्थूल भूत पृथ्वी जल आदि की उत्पत्ति होती है। उन परमाणुओं को यहाँ पर विभाजित न होने वाला द्रव्य कहा है। जिस द्रव्य को यहाँ पर न विभाजित होने वाला परमाणु कहा है, उसके भी विभाग हो जाते हैं। जब स्थूलभूतों का विनाश होता है तब उनके सूक्ष्म भूत बन जाते हैं। जिनको यहाँ पर परमाणु कहा है। उनका विनाश होता है तो वे तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं। तन्मात्रायें अहंकार में, अहंकार महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस द्रव्य का परमाणु विभाग रहित माना है, उसके तो विभाग हो जाते हैं। परन्तु परमाणु का दृष्टान्त देकर क्षण को विभाग रहित बतलाया है। यहाँ पर भाष्यकार ने 'क्षण का लक्षण' किया है। लिखा है कि जितने काल में परमाणु स्वस्थान को छोड़ता है उतने काल को 'क्षण' कहा जाता है और यह भी लिखा है कि जैसा परमापकर्ष पर्यन्त द्रव्य 'परमाणु' है उसी प्रकार परमापकर्ष पर्यन्त काल 'क्षण' है।

सूत्रकार एवं भाष्यकार के अनुसार परमाणु के कारण जो तन्मात्राएँ हैं वे स्वयं कार्यद्रव्य हैं अतः सावयव हैं। इनका कारण अहंकार, अहंकार का कारण महत्तत्व और महत्तत्व के कारण सत्त्वरजस्तमस् द्रव्य हैं। जिस प्रकार परमाणु सावयव हैं और उसके अवयव होते हैं उसी प्रकार क्षण (काल) सावयव है वा नहीं, यह ज्ञातव्य है। एक परमाणु के स्वस्थान को छोड़ने में जितना काल लगता है उतना

काल तन्मात्रा, अहङ्कार एवं महत्तत्व द्रव्यों के स्वस्थान को छोड़ने में नहीं लगना चाहिये । क्योंकि वे परमाणुओं से सूक्ष्म हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'क्षण' के भी अवयव हो सकते हैं । यह हो सकता है कि क्षण के अवयवों को पकड़ने में कठिनाई होती होगी ।

यह विद्वानों के लिए विचारणीय है कि क्षण (काल) के अवयव होते हैं वा नहीं ॥ ५४ ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ – (सत्त्व-पुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष (जीव) को (शुद्धि-साम्ये) शुद्धि समान होने पर (कैवल्यम्) मोक्ष होता है (इति) यह पद तृतीय पाद की समाप्ति का सूचक है ।

सूत्रार्थ – रज व तम के मल से रहित होना तथा बुद्धि और पुरुष की अन्यताख्याति में प्रतिष्ठित होना और क्लेशों का दग्धबीज होना, बुद्धि की शुद्धि है । जीवात्मा में भोग का अभाव हो जाना पुरुष की शुद्धि है । बुद्धि और पुरुष इन दोनों की समानरूप से शुद्धि हो जाने पर 'मोक्ष' प्राप्त होता है ।

व्या० भा० – यदा निर्धूतरजस्तमोमलं बुद्धिसत्त्वं पुरुषस्यान्यताप्रतीतिमात्राधिकारं दग्धक्लेशबीजं भवति तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्नं भवति, तदा पुरुषस्योपचरितभोगाभावः शुद्धिः । एतस्याम-वस्थायां कैवल्यं भवतीश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकजज्ञानभागिन इतरस्य वा । न हि दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति । सत्त्वशुद्धिद्वारेणैतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम् । परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते । तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरे क्लेशाः । क्लेशाभावात्कर्मविपाकाभावः । चरिता-धिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य दृश्यत्वेन पुनरुपतिष्ठन्ते । तत्पुरुषस्य कैवल्यम्, तदा पुरुषः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली भवति ॥ ५५ ॥

व्या० भा० अ० *– जिस समय रजस् तमस् के मल से रहित (सत्त्वगुणप्रधान) बुद्धि, पुरुष के अन्यताप्रत्यय मात्र में प्रतिष्ठित, क्लेशों की दग्धबीजावस्था को प्राप्त होती है तब पुरुष की शुद्धि के सदृश स्वरूप वाली हो जाती है । तब उपस्थित भोगों का अभाव पुरुष की शुद्धि कही जाती है । इस अवस्था में 'कैवल्य' होता है, ईश्वर (विभूति सम्पन्न) हो चाहे अनीश्वर (विभूतिरहित) हो, विवेकज ज्ञान युक्त हो अथवा अन्य हो । जिस (योगी के) क्लेशों के बीज दग्ध हो गए हों उसको अन्य ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है । बुद्धि की शुद्धि के माध्यम से समाधिजनित ऐश्वर्य और ज्ञान कहा गया है । वस्तुतः ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है । उसके निवृत्त होने पर (अस्मितादि) अगले क्लेश नहीं (होते) हैं । क्लेशों के अभाव में कर्मों का फल नहीं होता । इस अवस्था में गुण चरिताधिकार अर्थात् भोगापवर्ग को सम्पादित कर चुके होने से पुरुष के दृश्य के रूप में पुनः उपस्थित नहीं होते । वह पुरुष का 'कैवल्य' है । तब पुरुष केवलस्वरूप ज्योति वाला, निर्मल, केवली होता है ॥ ५५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **सत्त्व (बुद्धि) की और जीवात्मा की शुद्धि होने पर मोक्ष** हो जाता है ।

जब रजोगुण और तमोगुण के मल से रहित सत्त्वात्मक बुद्धि, पुरुष की अन्यताख्याति अर्थात् बुद्धि और आत्मा के स्वरूप ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाती है = दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान करवा देती है और दग्धक्लेश बीज वाली होती है तब वह पुरुष की शुद्धि के सदृश शुद्ध हो जाती है । अर्थात् जीवात्मा तो स्वभाव से शुद्ध है । उसकी शुद्धि अविद्या आदि मलों के दूर होने पर पूर्ण रूपेण हो जाती है । परन्तु बुद्धि तीन गुणों से बनी है अतः उसकी शुद्धि पुरुष से न्यून ही होती है पर पुरुष जैसी कही जाती है । ऐसी अवस्था में जीवात्मा सांसारिक भोगों से रहित हो जाता है और उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

सम्प्रज्ञात समाधि की परिपक्व अवस्था में विवेकख्याति उत्पन्न होती है । उससे भी पर वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है । उससे आत्मा को अपना और ईश्वर का स्वरूप अच्छे प्रकार से परिज्ञात हो जाता है । ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । चाहे इस पाद में कही गई सिद्धियाँ प्राप्त हों वा न हों । वास्तविकता तो यह है कि शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म और शुद्धोपासना से ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होता है, उससे अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है । कर्म विपाक (फल) भोग का अभाव हो जाता है । सत्त्व आदि तीन गुण, भोग और अपवर्ग के प्रयोजन को पूर्ण करके अपना अधिकार समाप्त कर देते हैं अर्थात् अब वे गुण योगी का अगला जन्म उत्पन्न नहीं कर सकेंगे । यह जीवात्मा का **'कैवल्य'** है । इस अवस्था में जीवात्मा अपने स्वरूप को और ईश्वर के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जान जाता है । यह ईश्वर साक्षात्कार की स्थिति है । इससे यह समझना चाहिये कि केवल जीवात्मा के स्वरूप ज्ञान से कैवल्य नहीं होता किन्तु अपने स्वरूप को जानकर ईश्वर के स्वरूप को जानने से कैवल्य होता है । जीवात्मा आनन्दस्वरूप नहीं है और न सर्वज्ञ है । जीवात्मा के स्वाभाविक ज्ञान से न लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है और न मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिये यह जानना चाहिये कि ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से ही व्यवहार की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

कुछ लोगों का यह मत है कि योगदर्शन में जितनी सिद्धियाँ बतलाई हैं मोक्ष प्राप्ति के लिये उन सब सिद्धियों को प्राप्त करना चाहिये । इस विषय में भाष्यकार ने स्पष्ट कर दिया है कि **''ईश्वरस्य अनीश्वरस्य वा ।''** इसका अभिप्राय यह है कि इस पाद में लिखित सिद्धियों को प्राप्त करने वाला योगी, 'ईश्वर' और (सिद्धियों को) प्राप्त न करने वाला 'अनीश्वर' कहा गया है । जिसने यम नियम आदि अष्टाङ्ग योग का अनुष्ठान किया है, अपर वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त किया है, पर वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान से असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति की है, निष्काम कर्मों का अनुष्ठान किया है और तीन एषणाओं का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी तीसरे पाद में कही गई सिद्धियों को प्राप्त करे वा न करे, पुनरपि मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसलिये मोक्ष प्राप्त करना मुख्य प्रयोजन है तीसरे पाद की सिद्धियों को प्राप्त करना नहीं ॥ ५५ ॥

इति तृतीयोः विभूति-पादः ॥ ३ ॥

❑ ❑ ❑

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ – (जन्म-औषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः) जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि से (सिद्धयः) सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं ।

सूत्रार्थ – पूर्व जन्म के संस्कारों से, औषधियों के सेवन से, गायत्री आदि मन्त्रों के जप से, तप से और समाधियों से 'सिद्धियाँ' उत्पन्न होती हैं ।

व्या० भा० – देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः । ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि । मन्त्रैराकाश-गमनाणिमादिलाभः । तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि । समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ॥ १ ॥

व्या० भा० अ० *– देहान्तर में (होने वाली) जन्म के द्वारा (होने वाली) जन्मजा सिद्धि कही जाती है । चिकित्सालयों में औषधियों के द्वारा, रसायन के द्वारा, जो सिद्धि होती है इत्यादि । मन्त्रों के द्वारा आकाशगमन, अणिमा आदि की प्राप्ति होती है । तप से संकल्प की सिद्धि होती है, अभिलषित रूपवाला होकर जहाँ तहाँ कामना के अनुसार गमन करता है इत्यादि । समाधिज सिद्धियाँ पूर्वपाद में व्याख्यात हो चुकी हैं ॥ १ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **पाँच प्रकार की सिद्धियों का कथन** है ।

जन्मजा सिद्धि – जो जन्म से प्राप्त हो, वह 'जन्मजा-सिद्धि' कहाती है । जिस सिद्धि की प्राप्ति में इस वर्तमान जन्म में विशेष प्रयास न किया जाय, वह जन्म से प्राप्त सिद्धि है । पूर्वजन्मों में किये गये शुभकर्म, योग के स्वरूप का वर्णन करने वाले वेद व वेदानुकूल शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन, यम-नियम आदि आठ अङ्गों का अनुष्ठान, विवेक, वैराग्य, सत्पुरुषों का सङ्ग । इस प्रकार के आचरण से संस्कार उत्पन्न होते हैं । वे संस्कार अल्प परिश्रम से ही सिद्धि की प्राप्ति में कारण होते हैं । संसार में देखा जाता है कि कई बार कुछ अच्छे पढ़े लोगों को ऐसी सफलता नहीं मिलती, जैसी अल्प पढ़े हुए को मिलती है । इसमें पूर्वजन्म के संस्कार कारण हैं । परन्तु इस जन्म में भी संस्कारों को उद्‌बुद्ध करने में कुछ प्रयास करना पड़ता है । यदि व्यक्ति उन संस्कारों को उद्‌बुद्ध करने में परिश्रम न करे और योग के विपरीत आचरण करना प्रारम्भ कर देवे तो पूर्वजन्म के संस्कार अभिभूत हो सकते हैं । इसलिये उन संस्कारों को उभारने के लिये परिश्रम करना आवश्यक है । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जन्म होते ही सिद्धि हो जाती है । इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का जन्म होता है । उसके पश्चात् माता-पिता आदि उसको शिक्षा देते हैं और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है, अच्छे प्रकार से सुनने, पढ़ने, विचारने आदि कार्यों को करने लग जाता है; तब विवेकपूर्वक शुभ कर्मों को करता है, अशुभ कर्मों को नहीं करता । ऐसे संस्कारवान, विवेक-सम्पन्न व्यक्ति को वैराग्य और ईश्वरप्रणिधान के अभ्यास से अल्प-काल में, अल्प-परिश्रम से समाधि की सिद्धि होती है । यह 'जन्मजा सिद्धि' है ।

औषधिजा सिद्धि – विशेष औषधियों के सेवन से, रसायन आदि के प्रयोग से तथा शुद्ध सात्त्विक भोजन से शरीर, इन्द्रियाँ स्वस्थ बलवान् हो जाते हैं । इसी को आयुर्वेद में कायाकल्प कहते हैं । औषधि से यह सिद्धि उत्पन्न होती है । इसीलिये 'औषधिजा सिद्धि' है । यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि औषधि के साथ साथ भोजन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य का पालन, दिनचर्या भी आवश्यक है ।

मन्त्रजा सिद्धि – वेदों में जो शब्द समुदाय हैं, उनको मन्त्र कहते हैं और जिन विचारों के माध्यम से सूक्ष्म-विद्या की गवेषणा की जाती है, उनको भी मन्त्र कहते हैं । अर्थसहित गायत्री आदि मन्त्रों का जप करने से और उनके अनुसार आचरण करने से व्यक्ति का मन एकाग्र होता है, मन; इन्द्रियाँ वश में आते हैं । मन्त्रों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का वर्णन है । उन मन्त्रों का गम्भीरता से अध्ययन करने से इन तीनों पदार्थों का परिज्ञान होता है । भौतिक पदार्थों का भी परिज्ञान होता है । जिससे विविध प्रयोजनों की सिद्धि होती है । मन्त्र का एक अर्थ मनन, चिन्तन, विचार भी है । जब व्यक्ति जिज्ञासु होकर सूक्ष्मता से मनन-चिन्तन, ऊह-अपोह करता है तो विशेष ज्ञान और ज्ञान से विशेष पदार्थों की प्राप्ति होती है । इसलिये यह 'मन्त्रजा सिद्धि' है । परन्तु बिना अर्थ चिन्तन के केवल मन्त्रपाठ से कोई सिद्धि नहीं होती ।

तपोजा सिद्धि – विद्या पढ़ने पढ़ाने, यमनियम का पालन करने आदि में सुख-दुःख, मान-अपमान, शीतता-उष्णता, हानि-लाभ को प्रसन्नतापूर्वक सहन करना तप है । इनके अनुष्ठान से व्यक्ति का शरीर स्वस्थ, बलवान, दीर्घायु होता है । बुद्धि पवित्र होती है । अन्य लोगों पर वाणी का विशेष प्रभाव पड़ता है । मन में विद्यमान जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों का नाश और सुसंस्कारों की उत्पत्ति होती है । अधर्माचरण का परित्याग करके धर्माचरण करने में व्यक्ति अत्यन्त दृढ़ हो जाता है । यह 'तपोजा सिद्धि' है ।

समाधिजा सिद्धि – समाधिजा सिद्धियों का वर्णन योग्यदर्शन के तीसरे पाद में कर दिया है । वहाँ पर देख लेवें ॥ १ ॥

अव० – **तत्र कायेन्द्रियाणामन्यजातिपरिणतानाम्-**

अर्थ – उसमें भिन्न जाति के रूप में परिणत शरीर एवं इन्द्रियों का.....

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ – (जाति-अन्तर-परिणामः) शरीर का अवस्थान्तर परिणाम (प्रकृति-आपूरात्) उपादान कारण के शरीर में प्रविष्ट होने से होता है ।

सूत्रार्थ – उत्तम भोजन, औषधियों के सेवन और योगाभ्यास के अनुष्ठान से शरीर पूर्व की अपेक्षा अधिक स्वस्थ, बलवान् होता है तथा रंग-रूप व आकृति में भी विशेष परिवर्तन हो जाता है ।

व्या० भा० — पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयानुप्रवेशाद् भवति । कायेन्द्रिय-प्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तमपेक्षमाणा इति ॥ २ ॥

व्या० भा० अ० *– (शरीर तथा इन्द्रियों के) पूर्व परिणाम नष्ट होने पर उत्तरकाल के परिणाम की उत्पत्ति, उन (शरीरेन्द्रियों) के नये अवयवों के अनुप्रवेश से होती है । काया की एवं इन्द्रियों की प्रकृतियाँ = (भूत और अहङ्कार) अपने-अपने विकारों को = (शरीर और इन्द्रियों को) अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा धर्मादि निमित्त की अपेक्षा करती हुई अनुगृहीत करती हैं ॥ २ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि धर्माचरण से शरीर और इन्द्रियों के दोषों को दूर करके उनमें विशेष परिवर्तन किया जाता है । उसको **'जात्यन्तर परिणाम'** कहते हैं ।

शरीर और इन्द्रियों के गोलकों के उपादान कारण पृथिवी आदि पाँच भूत हैं । शरीर के तीन दोष हैं – वात, पित्त और कफ । सात धातु हैं – रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा और वीर्य । आठवाँ धातु ओज भी माना जाता है । इन सबमें जो दोष उत्पन्न होते हैं उनको शारीरिक चिकित्सा विज्ञान से जानकर, आयुर्वेद की औषधियों तथा ब्रह्मचर्य के पालन से दूर कर दिया जाता है तो शरीर में उत्तम पदार्थों का समावेश हो जाता है । उससे शरीर में बहुत अधिक परिवर्तन आ जाता है । इन्द्रियों के गोलकों में भी अन्तर आ जाता है उनमें देखने, सुनने आदि का सामर्थ्य बढ़ जाता है । इसी का नाम **'जात्यन्तर परिणाम'** है । जैसे किसी छोटे बालक को किसी ने दस वर्ष की अवस्था में देखा हो तो उसी को बीस वर्ष की अवस्था में देखने पर पहिचानना कठिन हो जाता है । इसी प्रकार से व्यक्ति के शरीर में इतना अधिक परिवर्तन आ जाता है कि पूर्व शरीर को पहिचानना कठिन हो जाता है । यह है जात्यन्तर परिणाम अथवा अवस्थान्तर हो जाना ।

जो 'जात्यन्तर परिणाम' का यह अर्थ किया जाता है कि योगी अपने मनुष्य शरीर को परिवर्तित करके और इन्द्रियों में भी परिवर्तन करके पशु आदि अन्य जातियों के शरीर का निर्माण कर लेता है । यह असंगत है । मनुष्य शरीर से पशु आदि के शरीर में आने का योगी का क्या प्रयोजन है ? कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति ऊँची सुखप्रद अवस्था को छोड़कर अत्यन्त निम्नकोटि की अवस्था को प्राप्त नहीं करना चाहता । कल्पना कीजिये कि योगी ने अपने मनुष्य शरीर को किसी पशु शरीर में परिवर्तित कर लिया तो योगी उस पशु शरीर में नहीं रह सकता ।क्योंकि पशु के स्वभाव में और योगी के स्वभाव में अत्यन्त विरोध होता है । योगी अपने गुण, कर्म, स्वभाव पशु जैसे क्यों बनाना चाहेगा ? क्योंकि जीवात्मा जिस शरीर में जन्म लेता है, उस शरीर में जाने पर उसका स्वभाव भी उस शरीर के अनुरूप बन जाता है । यदि पशु शरीर में जायेगा तो पशु शरीर के अनुरूप स्वभाव बनेगा । पशु मूर्ख है तो योगी भी मूर्ख हो जायेगा । अतः इस अपने मनुष्य शरीर को योगी अन्य पशु आदि जातियों में बदल देता है अर्थात् अपने शरीर को बदल कर पशु आदि शरीर बना देता है, यह मान्यता ठीक नहीं है ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की जाति के विषय में यह मान्यता है कि "**जाति** जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो, ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं वे जाति शब्दार्थ से लिये जाते हैं ।"

- आर्योद्देश्यरत्नमाला ३८

इससे यह सिद्ध होता है कि कोई भी मनुष्य, अपने मनुष्य शरीर को पशु आदि जातियों में परिवर्तित नहीं कर सकता । मनुष्यादि के शरीरों,इन्द्रियों एवं मन की रचना को पूर्णरूप से कोई योगी नहीं जान सकता है और न ही कोई उनकी रचना कर सकता है ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ – (निमित्तम्) [धर्मादि] साधन (अ-प्रयोजकम्) प्रेरक नहीं है (प्रकृतीनाम्) शरीर के उपादान कारणों के (वरण-भेदः) प्रतिबन्धक का निवारण होता है (ततः) उस धर्मादि निमित्त से (क्षेत्रिकवत्) किसान के कार्य के समान ।

सूत्रार्थ – धर्मादि निमित्त अर्थात् औषधि सेवन और योगाभ्यासादि शरीर के उपादान कारणों के प्रेरक नहीं होते किन्तु शरीर के विकास में बाधक कारणों के नाशक तो होते हैं, कृषक के समान । (अर्थात् जैसे किसान के द्वारा जल को अन्य स्थान पर ले जाने के लिए, बने हुये मेंड़ आदि बाधकों को तोड़ने पर, जल स्वतः ही दूसरी क्यारियों में प्रविष्ट हो जाता है, किसान उसे स्वयं हाथ से नहीं सींचता ।)

व्या० भा० — न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं प्रकृतीनां भवति । न कार्येण कारणं प्रवर्तत इति । कथं तर्हि ? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् । यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्षत्यावरणं त्वासां भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तरमाप्लावयन्ति, तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणमधर्मं भिनत्ति, तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति । यथा वा स एव क्षेत्रिकस्तस्मिन्नेव केदारे न प्रभवत्यौदकान्भौमान्वा रसान्धान्यमूलान्यनुप्रवेशयितुम् । किं तर्हि ? मुद्गगवेधुकश्यामाकादींस्ततोऽपकर्षति । अपकृष्टेषु तेषु स्वयमेव रसा धान्यमूलान्यनुप्रविशन्ति, तथा धर्मो निवृत्तिमात्रे कारणमधर्मस्य शुद्ध्यशुद्ध्योरत्यन्त-विरोधात् । न तु प्रकृतिप्रवृत्तौ धर्मो हेतुर्भवतीति । अत्र नन्दीश्वरादय उदाहार्याः । विपर्ययेणाप्यधर्मो धर्मं बाधते । ततश्चाशुद्धिपरिणाम इति । तत्रापि नहुषाजगरादय उदाहार्याः ॥ ३ ॥

व्या० भा० अ० *– धर्म आदि निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं होता । कार्य के द्वारा कारण प्रवर्तित नहीं किया जाता । तो कैसे ? (प्रवर्तित होता है) । आवरण भेद तो उससे हट जाता है । क्षेत्रिक (किसान) के समान (उस (प्रकृत्यापूर) के द्वारा 'जात्यन्तर परिणाम' होता है) । जिस प्रकार क्षेत्रिक जल के भर जाने पर (एक) क्यारी से समान वा निम्न अथवा निम्नतर क्यारी में जल पहुँचाने की इच्छा वाला हाथ से नहीं सींचता किन्तु जल के आवरण (मेड़) को तोड़ देता है । उसके तोड़ने पर जल स्वयं ही दूसरी क्यारी में चला जाता है (फैल जाता है) । उसी प्रकार धर्म प्रकृतियों*

के आवरण अधर्म को तोड़ देता है । उसके टूटने पर प्रकृतियाँ अपने-अपने विकार को प्राप्त हो जाती हैं । अथवा जिस प्रकार वही कृषक उसी क्यारी में जलीय वा पार्थिव रसों को धान के पौधों की जड़ों में पहुँचा नहीं सकता । तब क्या (होता है) ? मुद्ग, गवेधुक, श्यामाकादि (घास) को उस पौधे के पास से हटाता है । उनके हटाने से (पार्थिव तथा जलीय) रस धान की जड़ों में स्वयं ही प्रविष्ट हो जाते हैं । उसी प्रकार धर्म, अधर्म की केवल निवृत्ति में कारण है । शुद्धि और अशुद्धि का (परस्पर) अत्यन्त विरोध होने से । धर्म प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण नहीं बनता है । इस (विषय) में नन्दीश्वर आदि उदाहरण के योग्य हैं । इसके विरुद्ध अधर्म भी धर्म को अभिभूत करता है । और उससे अशुद्धि परिणाम (होता है) । इस (विषय) में भी उदाहरण के योग्य नहुष व अजगर आदि (हैं) ॥ ३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि जात्यन्तर परिणाम = अवस्थान्तर हो जाने में धर्माचरण शरीर की प्रकृति (उपादान कारण) को प्रेरित नहीं करता । किन्तु अधर्म (बाधक) को दूर करता है ।

शरीर और इन्द्रियों में जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं उन दोषों को धर्माचरण से दूर कर दिया जाता है । उनके दूर हो जाने पर शरीर का जो उपादान कारण पृथिवी आदि पाँच भूत हैं और भोजन आदि जिनसे शरीर का निर्माण होता है वे स्वयं शरीर में प्रवेश कर जाते हैं । खेती करने वाला व्यक्ति जब अपने खेत में पानी देता है तो एक क्यारी के भरने के पश्चात् दूसरी क्यारी में अपने हाथ से पानी नहीं सींचता । किन्तु दो क्यारियों के मध्य में जो बाँध = मेड़ है उसको दूर कर देता है । उस बाधक के दूर होने पर पानी स्वयं दूसरी क्यारी में चला जाता है ।

इसी प्रकार से दूसरा उदाहरण – खेती करने वाला व्यक्ति अपने खेत में से विविध प्रकार के घास, झाड़ आदि जो अन्न को बढ़ने, फूलने-फलने नहीं देते उनको निकाल देता है । इस स्थिति में जल एवं भूमि के रस धान के पौधों में स्वयं प्रवेश कर जाते हैं । इसी प्रकार योगी धर्माचरण से अधर्म को दूर कर देता है तो उसके शरीर के अन्दर उत्तम पदार्थों का समावेश हो जाता है । यदि योगी शरीर और इन्द्रियों के उपादान कारण पाँच स्थूल भूत और अस्मिता को लेकर नये शरीर और इन्द्रियों को स्वयं बना लेता तो यह खेत का उदाहरण देना व्यर्थ हो जाता । क्योंकि जैसे खेती करने वाला अपने खेत में से घास आदि को निकाल देता है, परन्तु खेत में धान के मूल में जल को व भूमि के रस को वह पकड़कर प्रवेश नहीं करा सकता । इसी प्रकार योगी शरीर के दोषों को दूर कर सकता है और शरीर को उत्तम बना सकता है । परन्तु मनुष्य के शरीर इन्द्रिय एवं मन से पशु आदि के शरीर, इन्द्रिय एवं मन को नहीं बना सकता । इसलिये यही बात संगत प्रतीत होती है कि योगी उत्तम-साधनों से और अपने उत्तम-ज्ञान से शरीर और इन्द्रियों में विशेषता उत्पन्न कर देता है । नये शरीर और इन्द्रियों को नहीं बना सकता ॥ ३ ॥

अव० - यदा तु योगी बहून्कायान्निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति-

अर्थ - जब योगी बहुत शरीरों को बनाता है, तब क्या वे (शरीर) एक मन वाले होते हैं अथवा अनेक मन वाले (इस विषय को सूत्र के द्वारा बतलाया जाता है) -

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ - (निर्माण-चित्तानि) विशेष उपायों से उत्कृष्टता उत्पन्न की गयी है जिनमें, वे चित्त (अस्मितामात्रात्) अहंकार से उत्पन्न हुये हैं ।

सूत्रार्थ - जिन समस्त चित्तों को औषधि, मन्त्र, तप और समाधि के माध्यम से उत्कृष्ट बनाया जाता है वे सभी चित्त, 'अहंकार' नामक तत्त्व से उत्पन्न होते हैं ।

व्या० भा० - अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति । ततः सचित्तानि भवन्तीति ॥ ४ ॥

व्या० भा० अ० *- चित्त के (उपादान) कारण-भूत केवल अस्मिता को लेकर (वह योगी) निर्माण चित्तों को करता है । उससे (वे निर्माणकाय) चित्त युक्त होते हैं ॥ ४ ॥*

विशेष - चौथे सूत्र की भूमिका एवं व्यासभाष्य में प्रक्षेप प्रतीत होता है ।

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि अस्मिता = **अहंकार से बने चित्त को योगी विविध स्तर का बना लेता** है ।

सत्त्वादि तीन गुणों से महत्तत्व का निर्माण हुआ है । उससे अस्मिता = अहंकार का । अहंकार से चित्त वा मन का निर्माण हुआ है अर्थात् ईश्वर ने किया है । निर्माण चित्तानि का अर्थ 'बहुत से चित्त बना लेना', नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि चित्त अस्मिता मात्र से बना है अर्थात् उसका उपादानकारण 'अस्मिता' है । उस चित्त को योगाभ्यास से योगी विविध स्तर का बना लेता है । इसी पाद में **तत्र ध्यानजमनाशयम्** ॥ ४/६ ॥ कहा है । इसका अर्थ यह है कि ध्यान से (समाधि) से उत्पन्न चित्त वासनाओं से रहित होता है । इससे यह सिद्ध है कि उपादान-कारण से चित्त की उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं है । किन्तु ज्ञान से, ध्यान से विविध प्रकार के साधनों से चित्त को संस्कृत बनाया जाता है ।

इस पाद के चौथे सूत्र की अवतरणिका में कहा है कि जब योगी अनेक शरीरों की रचना करता है तो वे शरीर मनसहित होते हैं वा मनरहित । इस अवतरणिका की बात को चौथे सूत्र 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' के साथ सम्बद्ध किया गया है । इसका अर्थ यह है कि योगी अस्मितामात्र से अनेक चित्तों को बना लेता है और वे सब शरीर चित्तसहित हो जाते हैं । यदि यह मान लिया जाता है कि योगी अनेक शरीरों को बनाकर उनको अपने बनाये हुये अनेक मनों से युक्त कर देता है तो यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब योगी अनेक शरीरों को बनाकर, उनको मनों से संयुक्त करता है, तो वे शरीर जीवात्मा के बिना जीवित कैसे रहते हैं ? यदि कोई कहे कि योगी उनको

जीवित रखने के लिये स्वयं उन शरीरों में प्रवेश कर जाता है तो यह सम्भव नहीं है । समस्त शरीरों में एक योगी एक साथ प्रवेश नहीं कर सकता । क्योंकि आत्मा अणु है। इसलिए एक शरीर में रह सकता है अनेक शरीरों में नहीं । ऐसी स्थिति में वे सभी शरीर जीवित नहीं रह सकते। जब योगी अपने शरीर को छोड़कर उन अनेक शरीरों में प्रवेश करने जाएगा तो योगी का शरीर मर जायेगा । कोई कह सकता है कि योगी उन शरीरों में से आकर अपने शरीर को जीवित कर लेता है । इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में लिखते हैं कि – ''भला जीवित से मृतक और मृतक से जीवित हो सकता है ? ईश्वर की व्यवस्था अछेद्य – अभेद्य है कभी अदल-बदल नहीं हो सकती ।'' शरीर की रचना के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी लिखते हैं कि – ''देखो ! चाहे कितना ही कोई सिद्ध हो तो भी शरीर आदि की रचना को पूर्णता से नहीं जान सकता ।

– सत्यार्थप्रकाश द्वादश समुल्लास

जब शरीर की, मन की, इन्द्रियों की रचना को कोई भी कितना भी सिद्ध हो, पूर्णरूपेण जान ही नहीं सकता, तो बना भी नहीं सकता । इसलिये न तो योगी शरीर, मन, इन्द्रियों की रचना को पूर्णरूप से जान सकता है और न ही बना सकता है । इसलिये यह अनेक शरीरों को, मन, इन्द्रियों को बनाने की मान्यता व्यास ऋषि की नहीं हो सकती । इसे प्रक्षिप्त मानना ही ठीक है। यह तो सम्भव है कि योगी योगाभ्यास आदि अनेक साधनों से अपने शरीर को समय-समय पर विविध स्तर का बना लेता है । इसी का नाम शरीर निर्माण और मन का निर्माण है अर्थात् इनको उत्तम बना लेना । यह बात पूर्व लिखी गई है कि ध्यान (= समाधि) से चित्त को वासना रहित बनाना सूत्रकार ने माना है, किसी उपादानकारण से नहीं । शरीर, मन, इन्द्रियों को सुसंस्कृत करना ही निर्माण है । उपादान कारण से निर्माण करना नहीं है ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ – (प्रवृत्ति-भेदे) चित्त के भिन्न-भिन्न व्यापारों में (प्रयोजकम्) संचालक (चित्तम्-एकम्) वही एक चित्त होता है (अनेकेषाम्) विभिन्न चित्त व्यापारों का ।

सूत्रार्थ – चित्त के भिन्न भिन्न कार्यों में, चित्त के विभिन्न कार्यों अर्थात् क्रियाओं, विचारों और तरङ्गों का सञ्चालक नियंत्रक अहंकारतत्त्व से ईश्वर द्वारा निर्मित वही एक चित्त होता है ।

व्या० भा० — बहूनां चित्तानां कथमेकचित्ताभिप्रायपुरःसरा प्रवृत्तिरिति सर्वचित्तानां प्रयोजकं चित्तमेकं निर्मिमीते, ततः प्रवृत्तिभेदः ॥ ५ ॥

व्या० भा० अ० *– (उन) बहुत सारे निर्माण चित्तों की प्रवृत्ति (व्यापार) (योगी के पूर्ववर्ती) एक चित्त के अभिप्रायपूर्वक किस प्रकार होती है ? एक (पूर्ववर्ती) चित्त को योगी सभी चित्तों का प्रवर्तक बनाता है, उससे भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ अर्थात् व्यापार होते हैं ॥ ५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि भिन्न भिन्न स्तर के चित्त जो योगी द्वारा सुसंस्कृत किये जाते हैं उन **सबका सञ्चालक एक चित्त** है ।

जब योगी अपने चित्त को योगाभ्यास से विविध स्तरों का बनाता है, तब उस विविध प्रकार के स्तर वाले चित्त का सञ्चालन एक ही चित्त करता है । मुख्य चित्त एक ही है । उस एक चित्त को योगी योगाभ्यास से भिन्न भिन्न स्तर का बनाता है अर्थात् वही चित्त कभी ऊँचे स्तर पर रहता है और कभी नीचे स्तर पर । कभी व्युत्थान, कभी एकाग्र, कभी निरोध परिणाम की स्थिति वाला होता है । इन विविध अवस्थाओं में एक ही चित्त सभी प्रवृत्तियों वाला होता है । उस एक चित्त को ही अनेक चित्त नाम से कहा गया है । जब चित्त व्युत्थान संस्कारों से युक्त होता है तो उसकी सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्ति होती है । जब एकाग्रता की स्थिति होती है तो ईश्वरोपासना की ओर प्रवृत्ति होती है । जब योगी चित्त को सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त कर देता है तो उसको ठीक न मान कर उस ओर से हटा कर उसको एकाग्र की स्थिति में ले आता है । जब योगी चित्त को एकाग्र स्थिति में देखता है तो उसको वास्तविक स्थिति न समझकर उस अवस्था से हटाकर निरुद्ध अवस्था में ले आता है । इन विविध स्तरों वाले एक चित्त को अनेक चित्त कहा गया है । इन भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों का सञ्चालक ईश्वरकृत एक ही चित्त है ।

व्यासभाष्य में लिखा है कि ''**चित्तमेकं निर्मिमीते**'' इसका अर्थ अनेक व्याख्याकारों ने नियामक, नायक, प्रयोजक किया है । इस वाक्य का अर्थ यह नहीं किया कि योगी अस्मिता उपादान कारण से एक चित्त को उत्पन्न करता है । इसी प्रकार से ''**निर्माणचित्तानि**'' से भी यही अभिप्राय लेना चाहिये कि एक ही चित्त के भिन्न भिन्न स्तर बनाये जाते हैं । उपादान से नये चित्तों की उत्पत्ति नहीं की जाती । चित्त को सुसज्जित करना, सुसंस्कृत करना ही निर्माण शब्द का अर्थ है । अस्मिता उपादान को लेकर नये चित्तों की उत्पत्ति करना नहीं है ॥ ५ ॥

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ – (तत्र) प्रथम सूत्रोक्त पाँच प्रकार के चित्तों में से (ध्यानजम्) समाधि द्वारा उत्कृष्ट बनाया गया चित्त (अनाशयम्) वासनारहित होता है ।

सूत्रार्थ – जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि के द्वारा उत्कृष्ट बनाये गये चित्तों में से जो चित्त ध्यानज अर्थात् समाधि द्वारा उत्कृष्ट किया गया है, वह 'वासनारहित' होता है ।

व्या० भा० – पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयम् । तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिः । नातः पुण्यपापाभिसंबन्धः क्षीणक्लेशत्वाद्योगिन इति । इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥ ६ ॥

व्या० भा० अ० *– निर्माण चित्त पाँच प्रकार का होता है । क्योंकि जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, समाधि से (पाँच प्रकार की) सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं । उनमें से ध्यान से उत्पन्न चित्त*

ही (राग द्वेष मूलक) वासनाओं से रहित होता है । उसका आशय (वासनाएँ) रागादि प्रवृत्ति (व्यापार) नहीं होता । इस कारण से पाप-पुण्य का सम्बन्ध नहीं होता है । क्योंकि योगी क्षीणक्लेश होता है अर्थात् योगी के क्लेश क्षीण हो चुके होते हैं । अन्यों (अयोगियों) का तो कर्माशय होता है ॥ ६ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **ध्यान से सुसंस्कृत चित्त** को **वासनारहित** बतलाया है ।

इसी पाद के प्रथम सूत्र – **जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः** के द्वारा पाँच प्रकार का निर्माण चित्त बतलाया है । जो ध्यान (समाधि) से बनाया गया (सुसंस्कृत किया) है वह चित्त वासनाओं से रहित होता है । उस चित्त में राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं । क्योंकि क्षीण क्लेश वाला चित्त अशुभ कर्मों से रहित होता है । और जो चार प्रकार के चित्तों का निर्माण किया जाता है । उन चित्तों में राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ रहती हैं । यहाँ ध्यान से अथवा समाधि से परिष्कृत चित्त को वासना रहित बतलाया है ।

'ध्यानज' का यह अर्थ नहीं है कि ध्यान चित्त का उपादान कारण है और चित्त उसका कार्य है । ध्यान द्वारा जो सुसंस्कृत किया गया है, वह ध्यानज चित्त है । यदि अस्मिता उपादान कारण से चित्त की उत्पत्ति मानी जाती तो ध्यानज चित्त का उपादान कारण ध्यान को अथवा समाधि को मानना पड़ेगा, जो कि असंगत है । इसलिये पाँच प्रकार के जो चित्त कहे गये हैं वे एक ही चित्त के भिन्न भिन्न स्तर हैं । जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि आदि के द्वारा एक ही चित्त का स्तर भिन्न भिन्न हो जाता है । इसलिये योगी के द्वारा अस्मिता से बनाये गये चित्तों का सञ्चालन एक चित्त करता है । यह मान्यता ठीक नहीं है ॥ ६ ॥

अव० – यतः–

अर्थ – क्योंकि –

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ – (कर्म-अशुक्ल-अकृष्णम्) कर्म न शुक्ल होते हैं न कृष्ण अर्थात् निष्काम होते हैं (योगिनः) योगी के (त्रिविधम्) तीन प्रकार के कर्म होते हैं (इतरेषाम्) योगी से भिन्न व्यक्तियों के ।

सूत्रार्थ – योगी के कर्म अशुक्ल = लौकिक पुण्य फल की कामना से रहित और अकृष्ण = पाप रहित होते हैं अर्थात् ईश्वरप्राप्तिमात्र के लिये किये गये 'निष्काम कर्म' होते हैं । योगी से भिन्न सांसारिक व्यक्तियों के शुभ, अशुभ और पापपुण्य (= मिश्रित) तीन प्रकार के कर्म होते हैं ।

व्या० भा० – चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः । कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति । तत्र कृष्णा दुरात्मनाम् । शुक्लकृष्णा बहिःसाधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः । शुक्ला

तपःस्वाध्यायध्यानवताम् । सा हि केवले मनस्यायतत्वाद्बहिः साधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति । अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति । तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासात्, अकृष्णं चानुपादानात् । इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥ ७ ॥

व्या० भा० अ० *– 'कर्मजाति' (कर्म समूह) चार प्रकार की होती है । और वे जैसे कृष्णा (पाप), शुक्लकृष्णा (पापपुण्य), शुक्ला (पुण्य) अशुक्लाकृष्णा (न पुण्य न पाप) । उनमें से पापात्मक (कर्मजाति) दुरात्माओं की होती है । पाप-पुण्य (कर्मजाति) बाह्य साधनों से सम्पादित होती है । उसमें दूसरों को दुःख देकर, दूसरों पर दया करने के द्वारा ही कर्माशियों का सङ्ग्रह किया जाता है । पुण्य (कर्मजाति) तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की होती है । वह (कर्मजाति) केवल मन के आश्रित होने से, बाह्य साधनों के आधीन न होने से, दूसरों को दुःख देने से नहीं होती है । पापपुण्य रहित (कर्मजाति) संन्यासियों, क्षीणक्लेश वालों एवं चरम (अन्तिम) देह वालों की होती है । उनमें से फलसंन्यास करने से पुण्यरहित तथा पाप कर्मों को न अपनाने से पापरहित (कर्मजाति) योगियों की ही होती है । अन्य समस्त प्राणियों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की (कर्मजाति) होती है ॥ ७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण** बतलाये हैं और अन्य लोगों के तीन प्रकार के ।

ऋषियों ने कर्म के तीन साधन माने हैं । मन, इन्द्रियाँ और शरीर । यहाँ पर योगदर्शनकार ने कर्मों के चार प्रकार के विभाग किए हैं । शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण (मिश्रित) और अशुक्ल अकृष्ण। पुण्य कर्म को 'शुक्ल' कहते हैं । अपुण्य कर्म को 'कृष्ण' कहते हैं । पाप-पुण्य मिश्रित कर्म को 'शुक्लकृष्ण' कहते हैं । ये तीनों ही सकाम कर्म हैं । निष्काम कर्म को 'अशुक्ल-अकृष्ण' कहते हैं । जो कर्म अपने और अन्यों के लिये लौकिक सुख को देते हैं, वे 'शुक्ल कर्म' हैं । जैसे उत्तम कार्यों के लिये दान देना, निर्बलों की रक्षा करना आदि । जो दुःखप्रद कर्म होते हैं । वे 'कृष्ण कर्म' हैं । जैसे चोरी करना, अन्याय करना आदि । जो कर्म सुखप्रद और दुःखप्रद होते हैं वे 'शुक्लकृष्ण कर्म' कहाते हैं । जैसे खेती करना, विविध बांधो का निर्माण करना आदि । क्योंकि इन कार्यों में अनेक प्राणियों को सुखदुःख दोनों की प्राप्त होती है ।

इस सूत्र के व्यासभाष्य में शुक्लकर्मों को केवल मानसिक ही स्वीकार किया है, वाचनिक और शारीरिक नहीं । यह बात वेद और मनु आदि ऋषियों के विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होती है, जैसे कि वेद में लिखा है "**सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्**" ॥ अथर्व० ४/९/७ ॥ मैं सत्य बोलूँगा, असत्य नहीं । यह वाचनिक कर्म है और सब का कल्याणकारी होने से यह 'शुक्ल कर्म' है । जो शुभ कर्म ईश्वर प्राप्ति करने करवाने के लिये किये जाते हैं वे अशुक्ल-अकृष्ण अर्थात् 'निष्काम कर्म' कहाते हैं । योगियों के कर्म 'अशुक्लाकृष्ण' होते हैं और अन्य लोगों के तीन प्रकार के । जो योगी 'निष्काम कर्म' करते हैं, जिनके ज्ञान और उपासना विशुद्ध हो गये हैं, वे '**चरमदेह**' कहाते हैं अर्थात् वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं । उनका यह देह अन्तिम माना जाता है ॥ ७ ॥

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ – (ततः) उन तीन प्रकार के कर्मों से (तद्–विपाक–अनुगुणानाम्) उन कर्मों के फल के अनुरूप (एव) ही (अभिव्यक्तिः) प्रकटता होती है (वासनानाम्) वासनाओं की।

सूत्रार्थ – शुभाशुभ और मिश्रित इन तीन प्रकार के कर्मों से मिलने वाले फलों अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीर के अनुसार ही वासनायें = संस्कार प्रकट होते हैं ।

व्या० भा० – तत इति त्रिविधात्कर्मणः । तद्विपाकानुगुणानामेवेति । यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः । न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति । किं तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते । नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ॥ ८ ॥

व्या० भा० अ० *– ततः अर्थात् तीन प्रकार के कर्म से, उनके फलों के अनुरूप (वासनाओं की) ही (अभिव्यक्ति होती है) । जिस प्रकार के कर्म का जो विपाक, उसके अनुरूप जो वासना कर्मफल का अनुसरण करती है, उन ही की अभिव्यक्ति होती है। फलोन्मुख दैवीकर्म नरक, तिर्यक्,, मनुष्यादि भोग की अभिव्यक्ति का कारण नहीं बन सकता। किन्तु दैवी भोग के अनुरूप ही इसकी वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं । नारकीय, तिर्यक् एवं मनुष्यों की वासनाओं में भी यही सिद्धान्त होता है ॥ ८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **कर्मफलानुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति** बतलाई है ।

इससे पूर्व सूत्र में योगियों से भिन्न लोगों के तीन प्रकार के कर्म कहे हैं । शुभ, अशुभ और शुभाशुभ (मिश्रित) । पाप और पुण्य तुल्य होने पर अर्थात् पचास–पचास प्रतिशत होने पर साधारण मनुष्य जन्म मिलता है । पचास प्रतिशत से अधिक पुण्य और पचास प्रतिशत से कम पाप होने पर उच्च कोटि के माता पिता के सान्निध्य में मनुष्य का जन्म मिलता है । पचास प्रतिशत से अधिक पाप और पचास प्रतिशत से कम पुण्य होने पर पशु, पक्षी, कीट आदि का जन्म मिलता है। जब मनुष्य का जन्म मिलता है तब मनुष्य योनि में मिलने वाले फलानुसार ही वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं । पशु, पक्षी आदि योनियों में भोगे जाने वाले कर्मों के फलानुसार नहीं । जब पशु जन्म मिलता है तब पशु योनि में भोगे जाने वाले कर्मों के फलानुसार ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है । मनुष्य योनि में भोगे जाने वाले कर्मानुसार वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती ।

जिस जीवात्मा ने पूर्वजन्म में मनुष्य शरीर में रहकर जैसे भोग भोगे थे वैसी ही वासनायें बनी थीं । यदि उसी जीवात्मा को अगला जन्म मनुष्य का मिल जाता है तो पूर्वजन्म में भोगे भोगानुसार अगले जन्म में भी वैसी ही वासनायें अभिव्यक्त होंगी । इसी प्रकार से पूर्वजन्म में जिस जीवात्मा ने पशु आदि योनि में रहकर जैसा फल भोगा है, यदि कर्मों के आधार पर उसे पशु योनि मिलती है तो पूर्वजन्म मे पशु योनि में रहकर जैसे भोग भोगे हैं, वैसी ही वासनायें अगले जन्म में भी अभिव्यक्त होती हैं । जिस–जिस योनि में जीवात्मा जन्म लेता है उस–उस

योनि में भोगे कर्मफलों की वासनायें अभिव्यक्त होती हैं और उस योनि से भिन्न योनि की वासनायें दब जाती हैं । मनुष्य जन्म होने पर मनुष्य जन्म में भोगे फलानुसार वासनायें अभिव्यक्त होंगी, पशु योनि, पक्षी योनि में भोगे कर्म फलानुसार वासनाओं की अभिव्यक्ति नहीं होगी । इसलिये तीन प्रकार के कर्मफलानुसार ही उस उस योनि में उस उस योनि के कर्मफलानुसार वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है और उससे भिन्न योनियों में भोगे कर्मफलों की वासनायें दब जाती हैं ॥ ८॥

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ – (जाति-देश-काल-व्यवहितानाम्) जाति, देश तथा काल के व्यवधान से युक्त हुई वासनाओं की (अपि) भी (आनन्तर्यम्) समीपता है (स्मृति-संस्कारयोः) स्मृति और संस्कारों की (एकरूपत्वात्) एकरूपता होने से ।

सूत्रार्थ – मनुष्यादि जाति, स्थान तथा काल के व्यवधान से युक्त वासनाओं की भी समीपता होती है, स्मृति और संस्कारों के सदा समान विषयक होने से अर्थात् पूर्व जन्म के संस्कारों के अनुरूप ही इस जन्म में स्मृति उत्पन्न होती है ।

व्या० भा० – वृषदंशविपाकोदयः स्वव्यञ्जकाञ्जनाभिव्यक्तः, स यदि जातिशतेन वा दूरदेशतया वा कल्पशतेन वा व्यवहितः पुनश्च स्वव्यञ्जकाञ्जन एवोदियाद् द्रागित्येवं पूर्वानुभूतवृषदंशविपाकाभिसंस्कृता वासना उपादाय व्यज्येत । कस्मात् ? यतो व्यहितानामप्यासां सदृशं कर्माभिव्यञ्जकं निमित्तीभूतमित्यानन्तर्यमेव । कुतश्च ? स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् । यथानुभवास्तथा संस्काराः । ते च कर्मवासनानुरूपाः । यथा च वासनास्तथा स्मृतिरिति जातिदेशकालव्यवहितेभ्यः संस्कारेभ्यः स्मृतिः । स्मृतेश्च पुनः संस्कारा इत्येवमेते स्मृतिसंस्काराः कर्माशयवृत्तिलाभवशाद् व्यज्यन्ते । अतश्च व्यवहितानामपि निमित्तनैमित्तिकभावानुच्छेदादानन्तर्यमेव सिद्धमिति ॥ ९ ॥

व्या० भा० अ० *– अच्छे बुरे कर्मों के फल का उदय (कर्माशय) अपने व्यञ्जक (कर्माशय) से उद्‌बुद्ध होकर अभिव्यक्त होता है । वह (कर्माशय) यदि सौ जन्मों से वा दूर देश से किं वा सौ कल्पों से व्यवहित हो तो भी अपने व्यञ्जक से अभिव्यक्त होकर ही उदित होता है । शीघ्र ही पूर्व काल में अनुभूत पापपुण्यरूपी कर्मफल भोग से निष्पन्न वासनाओं को लेकर ही उदित होगा । क्यों ? क्योंकि व्यवहित होने पर भी इन (वासनाओं) के सदृश कर्म अभिव्यञ्जक निमित्त बनता है । इसलिये (वासनाओं का) अव्यवधान ही है । और क्यों ? स्मृति और संस्कारों की एकरूपता के कारण । जिस प्रकार का अनुभव होता है उसी प्रकार के संस्कार बनते हैं । और वे (संस्कार) कर्म एवं वासना के अनुरूप होते हैं । और जिस प्रकार वासनाएँ होती हैं वैसी ही स्मृतिहोती है । इसलिए जाति, देश काल से व्यवहित संस्कारों से स्मृति होती है । स्मृति से पुनः संस्कार होते हैं । इस प्रकार ये स्मृति संस्कार कर्माशय के फलोन्मुख होने से अभिव्यक्त होते हैं । और इसलिए व्यवहित होने पर भी कारणकार्यभाव का उच्छेद न होने से अव्यवधान ही सिद्ध हुआ है ॥ ९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **स्मृति व संस्कार की एकरूपता होने से** जाति, देश, काल का व्यवधान होने पर भी **वासनाओं में व्यवधान नहीं** होता ।

कर्मानुसार आत्मा मनुष्य, पशु आदि भिन्न-भिन्न जातियों में जन्म लेता है । कभी किसी देश में और कभी किसी देश में जन्म लेता है । किसी काल में किसी योनि में और किसी देश में जन्म लेता है । इस प्रकार से जाति, देश और काल परिवर्तित होते रहते हैं । भिन्न-भिन्न जातियों में, भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न कालों में जीवात्मा कर्मफलों को भोगता है । उन भोगों से संस्कार उत्पन्न होते हैं । कालान्तर में वे संस्कार स्मृति को उत्पन्न करते हैं । जैसे किसी जीवात्मा ने ऐसे कर्म किये कि उसको मनुष्य जन्म मिल गया । मनुष्य जन्म लेकर उसने ऐसे कर्म किये जिससे उसको पशु जन्म मिल गया । इसके पश्चात् पाप कर्मों का फल भोग लेने पर पाप-पुण्य समान हो जाने पर पुनः मनुष्य जन्म मिल गया । मध्य में पशु योनि आ जाने पर भी पूर्व मनुष्य योनि में भोगे हुए भोगों के संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । मध्य में जाति का व्यवधान होने पर भी वासनायें बाधित नहीं होती । इसी प्रकार से जीवात्मा का जन्म भिन्न-भिन्न देशों में होता रहता है । भिन्न-भिन्न देशों में जन्म होने पर भी वासनायें बाधित नहीं होती । इसी प्रकार से लम्बे काल तक जीवात्मा अनेक योनियों में जन्म लेता है । परन्तु दीर्घकाल के पश्चात् भी उस उस योनि में भोगे हुए भोगों की वासनायें स्मृति को उत्पन्न करती हैं । इसलिये काल से भी वासनायें बाधित नहीं होती । इसका कारण, स्मृति और संस्कार की एकरूपता है । संस्कार से स्मृति और स्मृति से संस्कार उत्पन्न होते हैं । जैसे एक गौ का बछड़ा उत्पन्न होने के पश्चात् कुछ ही काल में गौ के स्तनों का दूध पीने के लिये प्रयत्न करता है और वह यह जानता है कि स्तनों में दूध मिलेगा । यह संस्कारों से स्मृति की उत्पत्ति है । यदि यह आत्मा पूर्वजन्म में मनुष्य-योनि में रहा हो और उससे पूर्वजन्म में गौ-योनि में रहा हो तो भी मनुष्य से पूर्व की गौ योनि के संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है । उससे बछड़ा गौ के स्तनों से दूध पीने का प्रयास करता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा अनादि है ।

कुछ संस्कार निर्बल होते हैं । वे कुछ काल के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं । जैसे किसी व्यक्ति ने एक साधारण फल बीस वर्ष पूर्व खाया हो तो प्रायः उस साधारण फल के खाने से जो संस्कार बना, वह थोड़े ही काल में नष्ट हो गया । इसी प्रकार से कोई व्यक्ति किसी साधारण रूप को देखता है और वह साधारण रूप का संस्कार अल्पकाल में ही समाप्त हो जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो प्रबल संस्कार हैं, वे दीर्घकाल तक रहते हैं और जो निर्बल संस्कार हैं, वे अल्प काल तक रहते हैं । दूसरे विरोधी संस्कारों से संस्कार अभिभूत हो जाते हैं, और समाप्त भी हो जाते हैं । व्यक्ति के प्रयास से भी संस्कार दब जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं । इसलिये अशुभ संस्कारों को प्रयत्न से दबा देना चाहिये और दीर्घकाल तक अभ्यास करके उनको नष्ट कर देना चाहिये । उत्तम संस्कारों को उत्पन्न करना चाहिये और उनको दीर्घकाल के अभ्यास से दृढ़ बनाना चाहिये । व्यक्ति अपने अशुभ संस्कारों को दबा सकता है और उनको नष्ट भी कर

सकता है । इसी प्रकार शुभ संस्कारों को उत्पन्न भी कर सकता है और उनको दृढ़ भी बना सकता है । इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि हम अशुभ संस्कारों को रोक नहीं सकते अथवा नष्ट नहीं कर सकते ॥ ९ ॥

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ – (तासाम्) उन वासनाओं का (अनादित्वं च) प्रवाह से अनादित्व भी है (आशिषः) जीने की इच्छा के (नित्यत्वात्) सदा बने रहने से ।

सूत्रार्थ – सुख व सुख साधनों की प्राप्ति की, दुःख व दुःख साधनों की निवृत्ति की, तथा सदा जीवित बने रहने की इच्छा से, वासनाओं का 'प्रवाह से अनादित्व' भी है ।

व्या० भा० – तासां वासनानामशिषोनित्यत्वादनादित्वम् । येयमात्माशीर्मा न भूवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात् ? जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत् ? न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते । तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।

घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति । वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः ।

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् । निमित्तं च द्विविधम्-बाह्यमाध्यमात्मिकं च । शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि । चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम् । तथा चोक्तम्-ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्तयन्ति । तयोर्मानसं बलीयः । कथम् ? ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते ? दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण कः शारीरेण कर्मणा शून्यं कुर्तुमुत्सहेत ? समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत् ? ॥ १० ॥

व्या० भा० अ० *– कामना के नित्य होने से उन वासनाओं की (प्रवाह से) अनादिता सिद्ध होती है । जो यह आत्मा की कामना है कि मैं न रहूँ ऐसा न हो (अर्थात् सदा रहूँ), ऐसी प्रत्येक की कामना दिखती है, वह स्वाभाविक नहीं है । क्यों ? उसी समय उत्पन्न प्राणी (बालक) का जिसने (इस जन्म में) मरणधर्म का अनुभव नहीं किया (उसको) द्वेषात्मक, पूर्वानुभवजन्य दुःख की स्मृति से उत्पन्न मरणभय होता है, वह कैसे होवे ? और स्वाभाविक पदार्थ कारण का आश्रय नहीं लेता । इसलिये (प्रवाह से) अनादि काल की वासनाओं से सम्बद्ध यह चित्त (कर्माशयरूप) निमित्त के कारण (उनमें से) कुछ ही वासनाओं को लेकर पुरुष के भोग के लिए प्रवृत्त होता है।*

घट (एवं) भवन में रखे दीपक के सदृश सङ्कोच-विकास (स्वभाव वाला) चित्त केवल शरीर के परिमाण के आकार वाला है, ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं । ऐसा मानने से बाधा का अभाव होता है तथा पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है । इस विभु चित्त की वृत्ति सङ्कोच-विकास वाली है, ऐसा (योग के) आचार्य मानते हैं ।

और वह (सङ्कोच-विकास-शील-वृत्ति) धर्माधर्मरूपी निमित्त के कारण होती है। और (धर्माधर्म) निमित्त बाह्य एवं आध्यात्मिक नाम से दो प्रकार का होता है। शरीर आदि साधनों की अपेक्षा रखने वाला स्तुतिदान अभिवादन आदि (निमित्त) बाह्य है, श्रद्धा आदि आध्यात्मिक (निमित्त) है। और वैसा ही कहा है - और ये जो योगियों के मैत्री आदि व्यापार हैं वे बाह्य साधनों की अपेक्षा न रखने वाले (होने से) उत्कृष्ट धर्म को उत्पन्न करते हैं। उन (बाह्य आध्यात्मिक निमित्तों) में से मानस (आध्यात्मिक निमित्त) बलवान् है। किस प्रकार ? ज्ञान और वैराग्य से बढ़कर कौन (हो सकता) है ? चित्तबल के बिना (केवल) शारीरिक कर्म से कौन दण्डकारण्य को निर्जन करने का साहस करे ? अथवा अगस्त्य के सदृश कौन समुद्र को पीवे ? ॥ १० ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि **आत्मा की अपने कल्याण की इच्छा नित्य होने से वासनाओं का अनादित्व** है।

प्रत्येक प्राणी यह इच्छा रखता है कि मैं सदा जीवित रहूँ, मरूँ कभी नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि मृत्यु से भयभीत होने वाले प्राणियों ने पूर्वजन्म में मृत्यु से होने वाले दुःख का अनुभव किया है। यदि मृत्यु से डरने वाले प्राणियों ने पूर्व जन्म में मृत्यु से होने वाले दुःख का अनुभव न किया होता तो वे मृत्यु से भय न करते। क्योंकि डरने वाले प्राणियों ने इस जन्म में मरकर नहीं देखा है। मृत्यु से आत्मा को भय इसलिये होता है कि कभी मृत्यु से होने वाला दुःख मुझे पुनः प्राप्त न हो जाय। मृत्यु से आत्मा को दुःख होता है। उस दुःख के अनुभव से संस्कार = वासनायें उत्पन्न होती हैं। उन वासनाओं से स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से दुःख उत्पन्न होता है। इससे जीवात्मा का अनादित्व सिद्ध होता है। क्योंकि जिस आत्मा ने पूर्वजन्म में मृत्यु के दुःख का अनुभव किया है वही मृत्यु से डरता है।

इस सूत्र में **वासनाओं को अनादि** कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि वासनायें स्वरूप से अनादि नहीं हैं। परन्तु प्रवाह से अनादि हैं। वासनाओं की उत्पत्ति होती है और विनाश भी। बार-बार एक प्रकार की वासनायें उत्पन्न होती हैं और नष्ट भी होती हैं। उत्पन्न होना और नष्ट होना यह प्रवाह चलता रहता है। इसलिये वासनाओं को अनादि कहा है। इस सूत्र के व्यासभाष्य में चित्त को विभु और चित्त वृत्तियों को संकोच विकास धर्म वाली कहा है। इस मान्यता को 'आचार्य' नाम से बतलाया है। यहाँ 'आचार्य' शब्द से योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि जी का ग्रहण किया जाता है।

कुछ लोग 'विभु' शब्द का अर्थ 'सर्वव्यापक' कर सकते हैं। परन्तु आचार्य पतञ्जलि के मत में 'विभु' शब्द का अर्थ सर्वव्यापक करना उचित नहीं है। क्योंकि **बन्धकारणशैथिल्यात्.......... ॥** यो० द० ३/४८ ॥ इस सूत्र में योगी अपने चित्त को शरीर से बाहर निकालकर अन्य प्राणी के शरीर में प्रविष्ट करता है, ऐसा लिखा है। यदि चित्त विभु माना जाता है तो योगी उसको अपने शरीर से

निकालकर दूसरे के शरीर में कैसे प्रविष्ट कर सकता है। क्योंकि विभु का एक शरीर से निकलना और दूसरे शरीर में प्रवेश करना सम्भव नहीं है।

व्यासभाष्य में प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति के प्रकरण में यह लिखा है कि इन्द्रियों की प्रणाली के द्वारा चित्त का बाहर के पदार्थों से सम्बन्ध होता है। तब बाहर के विषय का प्रत्यक्ष होता है। यदि चित्त विभु है तो इन्द्रियों के द्वारा बाहर के विषयों में सम्बन्ध करने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि चित्त विभु है और विभु = व्यापक होने से उसका सभी पदार्थों से सम्बन्ध सदा रहता है। इन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता नहीं।

ध्यातव्य है कि वृत्तियाँ चित्त का धर्म हैं और चित्त धर्मी है। धर्म धर्मी को व्यासभाष्य में एक ही माना है, भिन्न-भिन्न नहीं। यदि धर्म धर्मी एक हैं और वृत्तियों में संकोच-विकास धर्म माना जाता है तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्मी चित्त भी संकोच-विकास धर्म वाला है। क्योंकि चित्त वृत्तियाँ चित्त से पृथक् पदार्थ नहीं हैं। यदि 'विभु' का अर्थ यह किया जाता है कि विविध इन्द्रियों से चित्त का सम्बन्ध होने से चित्त विभु है तब तो संगत हो सकता है।

इस सूत्र के व्यासभाष्य में यह कहा है कि – चित्तबल के बिना शारीरिक कर्म से दण्डकारण्य को कौन शून्य कर सकता है ? और अगस्त्य के बिना समुद्र को कौन पी सकता है ? इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक कर्म, शारीरिक कर्म से बलवान् होता है। मानसिक कर्म से दण्डकारण्य को शून्य कर दिया, और अगस्त्य ने मानसिक कर्म से समुद्र को पी लिया। यह समझाने के लिये काल्पनिक कथा तो हो सकती है। परन्तु केवल मानसिक कर्मों से न दण्डकारण्य को शून्य किया जा सकता है और न अगस्त्य समुद्र को पी सकता है ॥ १० ॥

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ – (हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनैः) हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन इन चार कारणों से (संगृहीतत्वात्) वासनाओं के उत्पन्न होने से (एषाम्) इन चार कारणों के (अभावे) न रहने की स्थिति में (तद्-अभावः) उन वासनाओं का अभाव हो जाता है।

सूत्रार्थ – हेतु = धर्माधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष तथा उनका मूल अविद्या; फल = जाति, आयु, भोग; आश्रय = वासनाओं का आश्रय भोगोन्मुख चित्त; आलम्बन = इन्द्रियों के रूप रसादि विषय, वासनाओं की विद्यमानता में कारण हैं। तथा इनके न रहने पर 'वासनाओं का अभाव' हो जाता है।

व्या० भा० – हेतुः – धर्मात्सुखमधर्माद्दुःखं, सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषस्ततश्च प्रयत्नस्तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णात्युपहन्ति वा। ततः पुनर्धर्माधर्मौ सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रम्।

अस्य च प्रतिक्षणमावर्तमानस्याविद्या नेत्री मूलं सर्वक्लेशानामित्येष हेतुः। फलं तु यमाश्रित्य यस्य प्रत्युत्पन्नता धर्मादेः, नह्यपूर्वोपजनः। मनस्तु साधिकारमाश्रयो वासनानाम्। न ह्यवसिताधिकारे मनसि

निराश्रया वासनाः स्थातुमुत्सहन्ते । यदभिमुखीभूतं वस्तु यां वासनां व्यनक्ति तस्यास्तदालम्बनम् । एवं हेतुफलाश्रयालम्बनैरेतैः संगृहीताः सर्वा वासनाः । एषामभावे तत्संश्रयाणामपि वासनानामभावः ॥ ११ ॥

व्या० भा० अ० *– हेतु – धर्म से सुख और अधर्म से दुःख (होता है) । सुख से राग और दुःख से द्वेष होता है । उस (राग–द्वेष) से प्रयत्न होता है । उस (प्रयत्न) से मन से, वाणी से अथवा शरीर से चेष्टा करता हुआ दूसरों पर दया करता है वा उनको कष्ट देता है । उससे पुनः धर्माधर्म (उससे) सुख–दुःख, (उससे) राग–द्वेष होते हैं, इस प्रकार छः आरों वाला संसारचक्र प्रवृत्त होता है ।*

प्रतिक्षण घूमने वाले इस संसार चक्र को आगे ले जाने वाली 'अविद्या' है जो सब क्लेशों का मूल है । इसलिये यह (वासनाओं का) 'हेतु' है । 'फल' तो वह है जिस को लक्ष्य बनाकर जिस धर्मादि (अदृष्ट) की उत्पत्ति होती है । क्योंकि किसी असद्वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती । साधिकार मन वासनाओं का 'आश्रय' है । मन के समाप्ताधिकार (कृतकृत्य) होने पर आश्रयहीन वासनाएँ टिक नहीं सकतीं । सम्मुख आया हुआ जो पदार्थ जिस वासना को व्यक्त करता है उस (वासना) का वह (पदार्थ) 'आलम्बन' है । इस प्रकार ये सारी वासनाएँ इन हेतु, फल, आश्रय, आलम्बन से सङ्गृहीत होती हैं । इन चारों का अभाव होने पर इनसे सम्पादित वासनाओं का भी अभाव हो जाता है ॥ ११ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि हेतु, फल, आश्रय, आलम्बनों के द्वारा वासनाओं के संगृहीत होने से इनके अभाव होने पर **वासनाओं का अभाव** हो जाता है ।

हेतु – धर्माचरण से सुख की प्राप्ति होती है, अधर्माचरण से दुःख की प्राप्ति होती है । धर्माचरण का अभिप्राय है सकाम शुभ कर्म और अधर्माचरण का अभिप्राय अशुभ कर्म हैं । सुख भोग से सुख के संस्कार बनते हैं और दुःख भोगने से दुःख के संस्कार बनते हैं ।

सुख के जिस साधन से सुख की प्राप्ति होती है, उस (साधन) में और उससे मिलने वाले सुख में राग उत्पन्न होता है । उस राग के कारण व्यक्ति उस कार्य को करता है । उस कार्य के सम्पादन में जो व्यक्ति सहायता देता है, उसको वह लाभ पहुँचाता है और जो उस कार्य में बाधा उपस्थित करता है उसकी हानि करता है । इसी प्रकार से अधर्माचरण से दुःख मिलता है, दुःख के अनुभव से दुःख के संस्कार उत्पन्न होते हैं । दुःख और दुःख के साधनों से व्यक्ति द्वेष करता है । द्वेष के कारण मन, वाणी और शरीर से फिर अधर्माचरण करता है । इस प्रकार से व्यक्ति सकाम शुभ कर्म और अशुभ कर्मों को करता रहता है । धर्माधर्म, सुख–दुःख, राग–द्वेष, षडरों वाला यह संसार चक्र चलता रहता है । इस सतत वर्तमान चक्र का मूल कारण '**अविद्या**' है । इसी को 'हेतु' कहा है ।

फल – प्रायः व्यक्ति धन–सम्मान आदि लौकिक सुखों को लक्ष्य बनाकर कर्म करता रहता है । जिन लौकिक सुखों आदि को लक्ष्य बनाकर व्यक्ति कर्म करता है, उन्हें 'फल' कहते हैं । जब तक लौकिक सुखों को लक्ष्य बनाकर व्यक्ति कर्म करता रहेगा तब तक उसमें वासनायें बनती रहेंगी ।

आश्रय – साधिकार मन अर्थात् जिस मन ने भोग और अपवर्ग को सिद्ध नहीं किया है, वह इन वासनाओं का 'आश्रय' है । जब मन भोग और अपवर्ग इन दो प्रयोजनों को पूर्ण कर लेता है, तब वासनायें नहीं रह सकतीं ।

आलम्बन – समक्ष उपस्थित हुई वस्तु जिससे वासनायें अभिव्यक्त होती हैं, वह 'आलम्बन' कहाता है । जब तक राग–द्वेषयुक्त चित्त के समक्ष वासनाओं को अभिव्यक्त करने वाले पदार्थ उपस्थित होते रहते हैं, तब तक वासनाएँ अभिव्यक्त भी होती रहती हैं और नई भी बनती रहती हैं । परन्तु विवेक–वैराग्य हो जाने पर वासनाएँ न तो अभिव्यक्त होती हैं और न ही नई उत्पन्न होती हैं । हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से वासनाओं का संग्रह होता है । इनका अभाव होने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है । योगाभ्यासी व्यक्ति का यह मुख्य कर्तव्य है कि हेतु आदि वासनाओं के कारणों को दूर करने का प्रयास करे । इस विषय में पहले भी लिखा गया है कि वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्ययन–अध्यापन, श्रवण–मनन, यम आदि आठ अङ्गों का अनुष्ठान, सत्पुरुषों का सङ्ग, निष्काम कर्म आदि के करने से ये हेतु आदि वासनाओं के आश्रय दूर हो जाते हैं और इनके दूर होने से वासनायें भी दूर हो जाती हैं ॥ ११ ॥

अव० – नास्त्यसतः संभवः,न चास्ति सतो विनाश इति द्रव्यत्वेन संभवन्त्यः कथं निवर्तिष्यन्ते वासना इति –

अर्थ – असत् (पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं (हो सकती) और न सत्तात्मक (पदार्थ) का विनाश हो सकता है, इसलिए द्रव्य के रूप में होने वाली वासनाएँ किस प्रकार निवृत्त होंगी ? (इसको सूत्र द्वारा कहा जाता है) –

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ – (अतीत–अनागतम्) अतीत, अनागत [वस्तु] (स्वरूपतः) स्वरूप से विद्यमान (अस्ति) रहती है (अध्व–भेदात्) काल भेद से (धर्माणाम्) धर्मों के ।

सूत्रार्थ – जो वस्तु वर्तमान काल में अनुभव का विषय है वह नष्ट होने पर भी अभाव को प्राप्त नहीं हो जाती अपितु अपने कारण स्वरूप में विद्यमान रहती है । तथा जो वस्तु अभी उत्पन्न नहीं हुई है आगे होगी, वह भी उत्पन्न होने से पूर्व अपने स्वरूप में विद्यमान थी, वह भी अभाव से भाव में नहीं आई क्योंकि काल भेद से किसी वस्तु के धर्मों = विशेषताओं की अभिव्यक्ति = प्रतीति और अनभिव्यक्ति = अप्रतीति होती है ।

व्या० भा० – भविष्यद्व्यक्तिकमनागतम्, अनुभूतव्यक्तिकमतीतम् । स्वव्यापारोपारूढं वर्तमानम् । त्रयं चैतद्वस्तु ज्ञानस्य ज्ञेयम् । यदि चैतत् स्वरूपतो नाभविष्यन्नेदं निर्विषयं ज्ञानमुदपत्स्यत, तस्मादतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीति । किञ्चभोगभागीयस्य वापवर्गभागीयस्य वा कर्मणः फलमुत्पित्सु यदि निरुपाख्यमिति तदुद्देशेन तेन निमित्तेन कुशलानुष्ठानं न युज्येत । सतश्च फलस्य निमित्तं वर्तमानीकरणे समर्थं नापूर्वो-पजने । सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्य विशेषानुग्रहं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयतीति ।

धर्मी चानेकधर्मस्वभावः । तस्य चाध्वभेदेन धर्माः प्रत्यवस्थिताः । न च यथा वर्तमानं व्यक्ति-विशेषापन्नं द्रव्यतोऽस्त्येवमतीतमनागतं च । कथं तर्हि ? स्वेनैव व्यङ्ग्येन स्वरूपेणानागतमस्ति, स्वेन चानुभूतव्यक्तिकेन स्वरूपेणातीतमिति, वर्तमानस्यैवाध्वनः स्वरूपव्यक्तिरिति, न सा भवत्यतीता-नागतयोरध्वनोः । एकस्य चाध्वनः समये द्वावध्वानौ धर्मिसमन्वागतौ भवत एवेति, नाभूत्वा भाव-स्त्रयाणामध्वनामिति ॥ १२ ॥

व्या० भा० अ० *– भविष्यत् में अभिव्यक्त होने वाला (पदार्थ) 'अनागत' कहलाता है । जो (पदार्थ) भूतकाल में अभिव्यक्त हो चुका है, वह 'अतीत' है । जो अभिव्यक्ति रूपी व्यापार में विद्यमान है, वह पदार्थ 'वर्त्तमान' कहलाता है । और तीन प्रकार का यह पदार्थ ज्ञान का विषय (ज्ञेय) है । और यह स्वरूप से नहीं होता (तो) विषयरहित होने से ज्ञान उत्पन्न न होता । इसलिए अतीत अनागत (पदार्थ) स्वरूप से है (यह सिद्ध होता है) और भी भोग को सम्पन्न करने वाले वा अपवर्ग को सम्पन्न करने वाले कर्म से उत्पन्न होने वाला फल यदि असत् हो उस उद्देश्य से अर्थात् उस निमित्त से उत्तम अनुष्ठानयुक्त न होवे (अर्थात् व्यर्थ होवे) । और निमित्त (अव्यक्त) रूप में विद्यमान फल को वर्तमानावस्था में लाने में समर्थ है, असत् को उत्पन्न करने में नहीं । उपस्थित हुआ कारण (धर्म) कार्य (फल) को (अभिव्यक्त करने में) विशेष सहायता करता है, अविद्यमान (फल) की उत्पत्ति नहीं करता ।*

धर्मी अनेक धर्मों से युक्त होने योग्य स्वभाव वाला होता है । उसके धर्म अध्व (काल) भेद से (उसमें) विद्यमान रहते हैं । और जिस प्रकार वर्तमान (धर्म) अभिव्यक्ति से सम्पन्न होकर द्रव्य रूप में रहता है, इस प्रकार अतीत, अनागत (धर्म) नहीं रहते । तो फिर कैसे (रहते हैं) ? अनागत (धर्म) भविष्यत् में व्यक्त होने योग्य अपने ही स्वरूप में रहता है । अतीत (धर्म) भूतकाल में अभिव्यक्त हो चुके अपने स्वरूप में ही रहता है । वर्तमान काल में (धर्म) अपने विद्यमान (अभिव्यक्त) स्वरूप वाला होता है वह (स्वरूपाभिव्यक्ति) अतीत एवं अनागत (भूत-भविष्यत्) काल वाले (धर्मों) की नहीं होती । एक काल वाले धर्म के समय (शेष) दो कालों में रहने वाले धर्म अव्यक्तस्वरूप में धर्मी में समन्वित रहते ही हैं । इसलिए तीनों कालों में रहने वाले धर्म अभाव से भाव की स्थिति में नहीं आते (यह सिद्धान्त है ।) ॥ १२ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि **धर्मों के कालभेद के कारण भूत व भविष्यत् वस्तु-स्वरूप से विद्यमान** है ।

इस पाद के १०वें सूत्र में वासनाओं को अनादि कहा है । ४।११ में हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के अभाव होने पर उन वासनाओं का अभाव बतलाया है । यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में उन वासनाओं का अभाव हो जाता है ? इसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि अतीत और अनागत वस्तु स्वरूप से विद्यमान रहती है । उसमें धर्मों का काल भेद कारण है । भविष्यकाल में अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ अनागत होता है अर्थात् वर्तमान काल में वह अपने धर्मी में छिपा रहता है । जो पदार्थ अभिव्यक्त होकर अपने धर्मी में छिप जाता है, वह अतीत होता है । जो वर्त्तमानकाल

में अभिव्यक्त हो रहा है, वह वर्त्तमान होता है। मिट्टी में घट विद्यमान है। जब तक उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक वह अनागत है । अभिव्यक्ति होने पर वर्त्तमान है और टूट फूट जाने पर अतीत है । इसी प्रकार से प्रत्येक पदार्थ अतीत, अनागत रूप से वर्त्तमान रहता है । उसका अभाव नहीं होता । यह सत्कार्यवाद का सिद्धान्त है कि अभाव से भाव और भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं होती । सांख्यकार महर्षि कपिल जी ने कहा है कि –

''**उपादाननियमात्**'' ॥ सांख्यदर्शन १/११५ ॥

अर्थात् उपादान कारण में जो गुण एवं स्वभाव होते हैं वे ही उसके कार्य में आते हैं ।

गीता में कहा है कि –

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ गीता २/१६ ॥

अर्थात् अभाव से भाव और भाव से अभाव उत्पन्न नहीं होता ।

यदि अतीत, अनागत स्वरूप से वर्तमान न होते तो भूत–भविष्यत् पदार्थों का ज्ञान किसी को भी नहीं होता । परन्तु भूत–भविष्यत् पदार्थों का ज्ञान सामान्य जनों को अल्पमात्रा में और योगियों को अधिक मात्र में होता है । जो कर्म लौकिक फल प्राप्ति के लिये अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये किये जाते हैं उनका फल भविष्यत् काल में मिलेगा । यदि कर्मों के फल को अनागत रूप में न माना जाय तो व्यक्ति शुभ कर्म करना छोड़ देवें । धर्माचरण (कर्म) फलप्रदाता के पास पहले से विद्यमान फल को ही दिलवाता है । अभाव से भाव की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता । धर्मी अनेक स्वभावों वाला है । जब उसके धर्मों को अभिव्यक्त करने वाला कारण उपस्थित होता है तब उसके धर्मों की अभिव्यक्ति होती है और जब अभिव्यक्ति करने वाला कारण उपस्थित नहीं होता, तब अनभिव्यक्ति रहती है । इसलिये कालभेद से सभी पदार्थ स्वरूप से वर्तमान रहते हैं, उनका अभाव कभी भी नहीं होता । हेतु, फल आदि जो वासनाओं का आश्रय है उनको योगी दूर कर देता है तो वे अपने उपादान कारण प्रकृति में लीन हो जाती हैं । उन वासनाओं का अभाव नहीं होता ॥ १२ ॥

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ – (ते) तीनों कालों में रहने वाले धर्म अर्थात् पदार्थ (व्यक्त–सूक्ष्माः) प्रकट और अप्रकट (गुण–आत्मानः) सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों गुणों के ही स्वरूप हैं ।

सूत्रार्थ – वर्त्तमान काल में रहने वाले प्रकट पदार्थ 'व्यक्त' कहलाते हैं और भूत व भविष्यत् काल में रहने वाले अव्यक्त = अप्रकट पदार्थ 'सूक्ष्म' कहलाते हैं । तीनों कालों में रहने वाले ये प्रकट और अप्रकट पदार्थ, सत्त्व–रजस्–तमस् इन तीनों सूक्ष्म द्रव्यों के ही स्वरूप हैं अर्थात् इन्हीं से निर्मित हैं ।

व्या० भा० – ते खल्वमी त्र्यध्वानो धर्मा वर्तमाना व्यक्तात्मानोऽतीतानागताः सूक्ष्मात्मानः षडविशेषरूपाः । सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः ।

तथा च शास्त्रानु-शासनम्-

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ इति ॥ १३ ॥

व्या० भा० अ० *– तीनों कालों में रहने वाले वे धर्म वर्त्तमान (होने पर) प्रकट स्वरूप वाले और अतीत अनागत (होने पर) सूक्ष्म अर्थात् अप्रकट स्वरूप वाले, छः अविशेष होकर रहते हैं । यह (सारा जगत्) गुणों (सत्त्व रजस् तमस्) का केवल संस्थान (रचना) विशेष है । इसलिए वास्तव में गुण ही है । और उसी प्रकार शास्त्र का उपदेश है –*

गुणों का वास्तविक रूप दृष्टि में नहीं आता । जो तो दृष्टि में आता है वह माया के समान नाशवान् है ॥ १३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि वे **धर्म प्रकट और सूक्ष्म सत्त्व आदि गुण-स्वरूप** हैं ।

समस्त दुःखों से, बन्धनों से छूटकर नित्यानन्द मोक्ष को प्राप्त करने के लिये तीन सत्तात्मक पदार्थों को जानना आवश्यक है, अनिवार्य है । उनमें से एक जड़ प्रकृति है । वह व्यक्त और अव्यक्त रूप में रहती है । कुछ लोग इसकी अव्यक्तावस्था को न जान सकने के कारण इसको नहीं स्वीकार करते हैं । इस विषय में यह कहा जा रहा है कि प्रकृति नामक जड़ पदार्थ सत्तात्मक है । यह व्यक्ताव्यक्त रूप में रहता है । ये सत्त्व, रजस्, तमस् नामक पदार्थ जब कार्यरूप को धारण कर लेते हैं, तब दृष्टिगोचर होते हैं और जब प्रलय को प्राप्त होकर कारण रूप को धारण करते हैं, तब दृष्टिगोचर नहीं होते । किन्तु अव्यक्त रूप में रहते हैं । वे तीन काल में रहने वाले धर्म व्यक्त और सूक्ष्म स्वरूप वाले हैं । जो वर्तमान हैं वे व्यक्त हैं और जो अतीतानागत हैं वे सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त हैं । सत्त्व आदि तीनों गुणों से महत्तत्व की उत्पत्ति, महत्तत्व से अहंकार की, अहंकार से दस इन्द्रियों, मन और पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है । पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं । उन पाँच भूतों से मनुष्य आदि के शरीर की उत्पत्ति होती है । ये सभी पदार्थ सत्त्वादि तीन गुणों के कार्य हैं । इसलिये इनको गुण स्वरूप कहा है । जो भी संसार में उत्पन्न पदार्थ हैं, वे सब इन तीन गुणों के ही रूपान्तर हैं, भिन्न पदार्थ नहीं ।

योगाभ्यासी को कारण और कार्य के स्वरूप का ज्ञान होने से योगमार्ग पर चलना सरल हो जाता है । जब वह यह जान जाता है कि समस्त विश्व सत्त्वादि गुणों का ही कार्य है, और कालान्तर में ये सभी सांसारिक पदार्थ इन्हीं तीन गुणों में लीन हो जाते हैं, तब ईश्वर के ज्ञान, बलपूर्वक सांसारिक पदार्थों की उत्पत्ति को देखकर योगी इन पदार्थों के रचयिता ईश्वर को भी अच्छे प्रकार से जान जाता है । ईश्वर को इन पदार्थों का कर्त्ता मानने पर इनसे स्वस्वामी सम्बन्ध नहीं रहता और इन पदार्थों में आसक्ति भी नहीं रहती, इत्यादि प्रयोजनों की सिद्धि के लिये तीन गुणों और उनके कार्यों का परिज्ञान करना चाहिये ॥ १३ ॥

अव० – यदा तु सर्वे गुणाः, कथमेकः शब्द एकमिन्द्रियमिति ?

अर्थ – जब सभी (पदार्थ) गुण ही हैं तो (उन पदार्थों को) शब्द एक है, इन्द्रिय एक है, यह कैसे कहा जाता है ?

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ – (परिणाम-एकत्वाद्) परिणाम के एक होने से (वस्तु-तत्त्वम्) वस्तु का एकत्व उत्पन्न हो जाता है ।

सूत्रार्थ – सत्व, रज, तम इन तीन गुणों अर्थात् पदार्थों को ईश्वर ज्ञानपूर्वक उचित मात्रा में संयुक्त करता है । उन तीनों का एक संघात = समुदाय होने से एक वस्तु बन जाती है ।

व्या० भा० – प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियम् । ग्राह्यात्मकानां शब्दतन्मात्रभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति । शब्दादीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथिवीपरमाणुस्तन्मात्रावयवः । तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादि । भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यप्रणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः ।

नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः, अस्ति तु ज्ञानमर्थविसहचरं स्वप्नादौ कल्पितमित्यनया दिशा ये वस्तुस्वरूपमपह्नुवते, 'ज्ञानपरिकल्पनामात्रं वस्तु स्वप्नविषयोपमं न परमार्थतोऽस्ती'ति य आहुस्ते तथेति प्रत्युपस्थितमिदं स्वमाहात्म्येन वस्तु कथमप्रमाणात्मकेन विकल्पज्ञानबलेन वस्तुस्वरूपमुत्सृज्य तदेवापलपन्तः श्रद्धेयवचनाः स्युः ॥ १४ ॥

व्या० भा० अ० *– प्रकाश, क्रिया, स्थिति स्वभाव वाले ग्रहणात्मक गुणों का इन्द्रिय रूप से एक परिणाम श्रोत्र इन्द्रिय है, ग्राह्यात्मक गुणों का शब्द रूप से एक परिणाम शब्द विषय है। शब्दादि के कठिनत्व आदि धर्म वाले समान जाति वालों का एक परिणाम पृथिवी परमाणु है । इस (पृथिवी परमाणु) का अवयव तन्मात्रा है । उन पृथिवी परमाणुओं का एक परिणाम पृथिवी, गौ, वृक्ष, पर्वत आदि हैं । अन्य भूतो में भी स्नेह (= गीलापन), उष्णता, प्रणामित्व (= गति), अवकाशदान (= स्थान देना) लेकर सजातीय एक विकार का आरम्भ जानना चाहिए ।*

विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, स्वप्नादि में कल्पित पदार्थरहित ज्ञान तो है, इस प्रकार जो वस्तु के स्वरूप का ही निषेध करते हैं, ऐसा जो कहते हैं कि – 'पदार्थ केवल कल्पना है स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के समान, वास्तव में नहीं है', वे लोग इस प्रकार अपनी सत्ता के कारण विद्यमान इसी वस्तु का प्रमाणहीन विकल्प-ज्ञान बल के आधार पर वस्तुस्वरूप को छोड़कर उसी वस्तु को असत् सिद्ध करने वाले कैसे विश्वसनीय होंगे ? ॥ १४ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **परिणाम एक होने से, एक वस्तु की उत्पत्ति** हो जाती है ।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि सत्त्व आदि व्यक्त और सूक्ष्म रूप में रहने वाले गुणमात्र हैं अर्थात् सभी पदार्थ तीन गुणों के समुदायमात्र हैं, तो फिर यह कैसे कहा जाता है कि यह इन्द्रिय एक है ? शब्द एक है ? इसका समाधान यह है कि परिणाम एक होने से एक वस्तु उत्पन्न हो जाती है। अनेक अवयवों को लेकर ज्ञानपूर्वक एक ऐसी रचना की जाती है कि जिससे किसी प्रयोजन की सिद्धि हो सके। उन अनेक अवयवों से बनी वस्तु को एक कहते हैं। इस प्रकार से तीन गुणों से की गई रचना को एक कहने में कोई दोष नहीं आता।

सत्त्व आदि तीन गुण प्रकाश, क्रिया, स्थिति स्वभाव वाले हैं। उन तीन ग्रहणात्मकों का करणभाव से एक परिणाम होता है जैसे श्रोत्रेन्द्रिय। अर्थात् 'श्रोत्रेन्द्रिय' नामक एक वस्तु की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार से ग्राह्यात्मक तीन गुणों का तन्मात्राभाव से एक परिणाम 'शब्दतन्मात्रा' की उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार शब्दादिक = मूर्ति समान जाति वालों का अर्थात् कठोरता आदि धर्मवाली तन्मात्राओं का एक परिणाम 'पृथिवीपरमाणु' उत्पन्न होता है। वह पृथिवीपरमाणु तन्मात्रारूपी अवयवों से बना है अर्थात् 'गन्धतन्मात्रा' नामक अवयवों से मिलकर बना है। उन पृथिवी रूप परमाणुओं से स्थूल–पृथिवी, गौ, वृक्षादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जलादि परमाणु उत्पन्न होते हैं। उनके तन्मात्रावयव हैं अर्थात् वे जल परमाणु इस तन्मात्रा नामक अवयवों से मिलकर बने हैं। उन परमाणुओं से जलादि स्थूलभूत और उन स्थूलभूतों से उसी प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से ज्ञानपूर्वक तीनों गुणों के एक परिणाम से एक वस्तु अवयवी रूप में उत्पन्न हो जाती है।

इस विषय में कुछ लोगों की मान्यता है कि जिसको एक 'वस्तु' माना जाता है वास्तव में उस वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। वह केवल ज्ञानमात्र है। जैसे कि स्वप्नावस्था में ज्ञानमात्र ही रहता है। वहाँ पर कोई भी वस्तु नहीं होती। इसी प्रकार से समस्त पदार्थों के विषय में जानना चाहिये कि वहाँ पर ज्ञानमात्र ही होता है, वस्तु कोई भी नहीं होती। उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें दोष है। स्वप्नावस्था में जो पदार्थ दिखाई देते हैं, उन पदार्थों को व्यक्ति जागृत अवस्था में देखता और सुनता है। उन्हीं वस्तुओं के संस्कार मन में रहते हैं। उन संस्कारों के कारण स्वप्न में पदार्थ दिखाई देते हैं। यदि व्यक्ति जाग्रत् अवस्था में पदार्थों को न देखे, न सुने और न सोचे तो उन पदार्थों को स्वप्न में नहीं देख सकता। किसी ज्ञान की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान प्राप्ति का साधन (जानने वाला, जानने योग्य वस्तु और जिस से वस्तु को जानता है वह नेत्रादि साधन) इन तीनों के बिना कोई भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये ''ज्ञान मात्र ही सब कुछ है, उससे अतिरिक्त वस्तु नहीं है।'' यह मान्यता ठीक नहीं।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि जिसको एक वस्तु कहा जाता है वह एक वस्तु नहीं होती। वह परमाणुओं का समुदायमात्र है। यह मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि परमाणुओं के समुदाय मात्र को आँखों से नहीं देखा जा सकता। मिट्टी से बने घड़े में पानी भर कर लाते हैं। यदि मिट्टी का घड़ा परमाणुओं का समुदाय मात्र हो तो उसमें पानी नहीं भरा जा सकता। मिट्टी के

परमाणुओं को घड़ा नहीं कह सकते । न ही गौ घटादि नाम ही हो सकते । यह एक वृक्ष है । यह पदार्थ छोटा है, यह बड़ा है इत्यादि व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि सत्त्व आदि तीन गुणों से सभी वस्तुयें बनी हैं । यही वास्तविकता है ॥ १४ ॥

अव० - कुतश्चैतदन्याय्यम् ? -

अर्थ – यह बात (सत्तात्मक पदार्थों को चित्त की परिकल्पना मात्र मानना) क्यों न्याय विरुद्ध है ?

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ - (वस्तु-साम्ये) वस्तु के एक होने पर भी (चित्त-भेदात्) ज्ञानों के भिन्न-भिन्न होने से (तयोः) वस्तु और ज्ञान का (विभक्तः) भिन्न-भिन्न (पन्थाः) अस्तित्व है ।

सूत्रार्थ – वस्तु के एक होने पर भी ज्ञान के भिन्न-भिन्न होने से एक वस्तु को पृथक्-पृथक् रूप में देखा जाता है । इससे सिद्ध है कि जो वस्तु जानी जाती है वह वस्तु और जिस ज्ञान से जानी जाती है वह ज्ञान, दोनों भिन्न-भिन्न अस्तित्व वाले हैं ।

व्या० भा० - बहुचित्तालम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम् । तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेक-चित्तपरिकल्पितम् किं तु स्वप्रतिष्ठम् । कथम् ? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात् । धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवत्य-धर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानमविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानं सम्यग्दर्शनापेक्षं तत एव माध्यस्थ्यज्ञानमिति । कस्य तच्चित्तेन परिकल्पितम् ? न चान्यचित्तपरिकल्पितेनार्थेनान्यस्य चित्तोपरागो युक्तः । तस्माद्वस्तु-ज्ञानयोर्ग्राह्यग्रहणभेदभिन्नयोर्विभक्तः पन्थाः । नानयोः संकरगन्धोऽप्यस्तीति ।

सांख्यपक्षे पुनर्वस्तु त्रिगुणं चलं च गुणवृत्तमिति धर्मादिनिमित्तापेक्षं चित्तैरभिसंबध्यते । निमित्तानुरूपस्य च प्रत्ययस्योत्पद्यमानस्य तेन तेनात्मना हेतुर्भवति ॥ १५ ॥

व्या० भा० अ० *- बहुत चित्तों का विषय बना हुआ एक पदार्थ (सबके लिए) समान है । वह (पदार्थ) न तो किसी एक चित्त के द्वारा परिकल्पित है न ही अनेक चित्तों के द्वारा परिकल्पित है । अपितु अपने स्वरूप से स्थित है । किस प्रकार ? वस्तु समान होने पर चित्तों के भिन्न होने के कारण । (उदाहरण के लिए) वस्तु के एक होने पर भी धर्म की अपेक्षा से एक चित्त को सुख का ज्ञान होता है, अधर्म की अपेक्षा से उसी (पदार्थ) से दूसरे चित्त को दुःख का ज्ञान होता है, अविद्या के कारण उसी से मूढ़ ज्ञान होता है । सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा से उसी (पदार्थ) से चौथे चित्त को उदासीनता का अनुभव होता है । वह (पदार्थ) किस के चित्त के द्वारा परिकल्पित है ? अन्य व्यक्ति के द्वारा परिकल्पित पदर्थ के द्वारा अन्य (व्यक्ति) के चित्त का उपराग सङ्गत नहीं होता । इसलिए ग्राह्यग्रहणात्मक भेद के कारण भिन्न, ज्ञेय और ज्ञान की सत्ता, भिन्न-भिन्न है । इन दोनों का लेशमात्र भी साङ्कर्य (मिश्रण) नहीं है ।*

साङ्ख्य मत में तो पदार्थ त्रिगुणात्मक, गुणों का स्वभाव चलायमान है इसलिए धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा से (वह पदार्थ) चित्तों से सम्बन्ध होता है और (धर्मादि) निमित्तों के अनुरूप उत्पद्यमान ज्ञान का उस-उस रूप से कारण होता है ॥ १५ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि वस्तु समान होने पर भी **चित्त भेद के कारण ज्ञान और वस्तु भिन्न-भिन्न** हैं ।

यहाँ पर 'चित्त' शब्द ज्ञान का वाचक है । अनेक ज्ञानों का आलम्बन बनी हुई एक ही वस्तु समान होती है । वह वस्तु न तो किसी एक ज्ञान द्वारा कल्पित होती है और न अनेक ज्ञानों के द्वारा कल्पित होती है । अर्थात् चित्तों की कल्पनामात्र से वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं है । किन्तु वस्तु अपने स्वरूप से स्थित है । क्योंकि वस्तु एक होने पर भी उसके विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता देखा जाता है । जैसे किसी एक व्यक्ति को देखने से उसके मित्र को सुख का अनुभव होता है । शत्रु को दुःख का अनुभव होता है और विवेकी को हेय-उपादेय-शून्यता का अनुभव होता है । अर्थात् उसको देखने से न सुख का और न दुःख का अनुभव होता है । इससे यह ज्ञात होता है कि किसी चित्त (= ज्ञान) की कल्पना मात्र से किसी वस्तु की सत्ता नहीं है । ज्ञान वस्तु को जनाने का साधन है और वस्तु ज्ञेय पदार्थ है।

वास्तव में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान भिन्न-भिन्न तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं। एक व्यक्ति घट को देखता है तो उसको यह अनुभव होता है कि मैं घटपदार्थ को देख रहा हूँ । घट मुझ से भिन्न है । मैं उससे भिन्न हूँ और जिस ज्ञान से घट जाना जाता है, वह ज्ञान मुझ से भिन्न है । इस प्रकार की अनुभूतियों से सिद्ध होता है कि ज्ञान और वस्तु भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, यह सब केवल ज्ञानमात्र नहीं है । एक व्यक्ति किसी पदार्थ को लाभप्रद मानकर उसका ग्रहण करता है और दूसरा हानिकारक मानकर उसका परित्याग कर देता है । यदि ज्ञानमात्र ही सब कुछ होता तो किसी वस्तु को ग्रहण करना और किसी को छोड़ना सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि एक ग्रहण करने वाला और एक उसको छोड़ने वाला भिन्न-भिन्न होने चाहियें । कोई भी व्यक्ति न स्वयं को ग्रहण कर सकता है और न छोड़ सकता है । इसलिये ज्ञान वस्तु से भिन्न पदार्थ है और वस्तु ज्ञान से ।

संसार में यह देखा जाता है कि जहाँ पर किसी पदार्थ की प्राप्ति होती है वहाँ तीन पदार्थ होते हैं । एक प्राप्त करने वाला प्रापक, दूसरा प्राप्य पदार्थ जिसको वह (प्रापक) प्राप्त करना चाहता है, तीसरा प्राप्ति का साधन (ज्ञान आदि साधन) जिससे प्राप्त करने योग्य को प्राप्त किया जाता है । इससे तीन पदार्थ सिद्ध होते हैं । इसको ऐसे भी कह सकते हैं कि एक साधक है, दूसरा साध्य है, और तीसरा साधन है । इन तीनों को स्वीकार किये बिना मानव का न कोई व्यवहार सिद्ध होता है और न मोक्ष रूपी मानव जीवन का लक्ष्य ही प्राप्त होता है । इसलिये जीवन को सफल बनाने के लिये वेद में तीन पदार्थों को भिन्न भिन्न रूप में बतलाया है ॥ १५ ॥

अव० – केचिदाहुः-ज्ञानसहभूरेवार्थो भोग्यत्वात्सुखादिवदिति । त एतया द्वारा साधारणत्वं बाधमानाः पूर्वोत्तरक्षणेषु वस्तुरूपमेवापह्नुवते-

अर्थ – कुछ लोग कहते हैं कि "सुखादि के समान भोग्य होने के कारण पदार्थ ज्ञान के साथ ही रहता है।" वे इस (मान्यता) के द्वारा वस्तु के साधारणत्व को (अर्थात् अनेक ज्ञानों के प्रति विषय बनने) का खण्डन करते हुए पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती क्षणों में (रहने वाली) वस्तु का ही निषेध करते हैं।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ – (न) नहीं है (च) और (एक-चित्त-तन्त्रम्) एक ज्ञान के आधीन (वस्तु) पदार्थ (तद्) वह पदार्थ (अ-प्रमाणकम्) प्रमाण से न जानने पर (तदा) तब (किम्) क्या (स्यात्) हो जाएगा ? (अर्थात् क्या वह पदार्थ नहीं रहेगा ?)

सूत्रार्थ – किसी भी वस्तु का अस्तित्व एक ज्ञान के आधीन नहीं होता क्योंकि जब वस्तु, प्रमाण से नहीं जानी जा रही होती है तब क्या उस वस्तु का अस्तित्व नहीं रहेगा ? परन्तु प्रमाण = ज्ञान के हट जाने पर भी वस्तु का अस्तित्व देखा जाता है इसलिये एक ज्ञान के आधीन किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता है ।

व्या० भा० – एकचित्ततन्त्रं चेद्वस्तु स्यात्तदा चित्ते व्यग्रे निरुद्धे वा स्वरूपमेव तेनापरामृष्ट-मन्यस्याविषयीभूतमप्रमाणकमगृहीतमस्वभावकं केनचित्तदानीं किं तत्स्यात् ? संबध्यमानं च पुनश्चित्तेन कुत उत्पद्येत ? ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत । तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः, स्वतन्त्राणि च चित्तानि प्रतिपुरुषं प्रवर्तन्ते । तयोः संबन्धादुपलब्धिः पुरुषस्य भोग इति ॥ १६ ॥

व्या० भा० अ० *– यदि पदार्थ एक चित्त के आधीन हो, तब चित्त के अन्य वस्तु में व्यस्त रहने पर अथवा निरुद्ध होने पर उस (पदार्थ) का स्वरूप ही अगृहीत, अन्य (चित्त) का आलम्बन न बनने वाला (इसलिए) अप्रामाणिक, किसी के द्वारा भी अज्ञातस्वरूप वाला वह क्या होगा ? और फिर से चित्त से सम्बद्ध होने वाला वह (पदार्थ) कहाँ से उत्पन्न हो जायेगा ? इसके जो अज्ञात भाग हैं, वे भी नहीं होने चाहिएँ । इस प्रकार पीठ नहीं (दिखती) है इस कारण पेट भी नहीं होना चाहिए । इस कारण पदार्थ स्वतन्त्र (स्वरूप से विद्यमान) है और वह सब के लिए साधारण है । चित्त स्वतन्त्र हैं, प्रत्येक प्राणी में (स्वतन्त्र रूप से) प्रवृत्त होते हैं । उन (पदार्थ एवं चित्त) के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है, वह पुरुष का भोग है ॥ १६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि एक चित्त के आधीन वस्तु नहीं है । वह वस्तु प्रमाणरहित होने पर क्या होगी ?

कुछ लोगों का यह मत है कि ज्ञान के काल में ही पदार्थ की सत्ता है, सुख के समान । जैसे सुख भोगकाल में ही सुख की सत्ता प्रतीत होती है, अन्य समय में नहीं । इसी प्रकार से वे ज्ञानकाल से पूर्व और ज्ञानकाल के पश्चात् वस्तु के स्वरूप को स्वीकार नहीं करते । इस विषय में सूत्रकार ने कहा कि एक चित्त के आधीन वस्तु नहीं है । यदि एक चित्त के आधीन वस्तु हो तो जिस समय वस्तु को देखने वाला व्यक्ति किसी अन्य विषय में लग जायेगा तो उस वस्तु के विषय में क्या कहा जायेगा ? इस मान्यता के आधार पर इस प्रश्न का उचित उत्तर नहीं दिया जा सकता । इस विषय में यह भी प्रश्न उठता है कि चित्त के साथ पुनः सम्बद्ध होती हुई वही वस्तु फिर कहाँ से आ जायेगी ? इस प्रश्न का उत्तर भी इस मत वालों के पास नहीं है । जब

वस्तु के आगे का भाग प्रत्यक्ष रूप में देखा जायेगा तब पीछे का भाग दिखाई नहीं देगा। क्योंकि उस वस्तु के पीछे के भाग से ज्ञान का सम्बन्ध नहीं है। इस मत के अनुसार ज्ञान के होने से ही वस्तु की सत्ता होती है। वस्तु के पीछे के भाग से ज्ञान का सम्बन्ध न होने से वह भाग वस्तु नहीं माना जा सकता। यदि पीछे का भाग वस्तु नहीं है तो उसका आगे का भाग भी वस्तु नहीं माना जा सकता। क्योंकि पीछे के भाग के बिना वस्तु का आगे का भाग नहीं हो सकता। इसलिये स्वतन्त्र वस्तु सभी पुरुषों के लिये समान रूप से विद्यमान है और चित्त भी स्वतन्त्र रूप से समस्त आत्माओं में प्रवृत्त रहते हैं।

इस विषय में यह बात भी ध्यान देने की है कि किसी वस्तु की विद्यमानता उसके अवयवों पर आधारित होती है। जब तक किसी वस्तु के अवयव अर्थात् उपादान कारण विद्यमान रहते हैं तब तक वह वस्तु विद्यमान रहती है और अवयवों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वह वस्तु छिन्न-भिन्न हो जाती है अर्थात् नष्ट हो जाती है। ज्ञान किसी भी वस्तु का उपादानकारण नहीं है, जिसके न रहने पर वह नष्ट हो जाय। इसलिये चाहे कोई वस्तु किसी उपादानकारण से बनी हो और चाहे वह अनादि हो अर्थात् उपादान कारण से न बनी हो, दोनों प्रकार की वस्तुयें स्वतन्त्र हैं। किसी चित्त (ज्ञान) के आधीन नहीं हैं ॥ १६ ॥

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ – (तद्-उपराग-अपेक्षित्वात्) उस बाह्य वस्तु के सम्बन्ध की अपेक्षा करने वाला होने से (चित्तस्य) चित्त के (वस्तु) बाह्य पदार्थ (ज्ञात-अज्ञातम्) ज्ञात और अज्ञात रहते हैं।

सूत्रार्थ – बाह्य वस्तु के सम्बन्ध की अपेक्षा करने वाला होने से, चित्त के द्वारा बाह्य पदार्थ ज्ञात और अज्ञात रहते हैं। अर्थात् जब चित्त बाह्य पदार्थ से सम्बद्ध होता है, तो वस्तु जानी जाती है और जब चित्त बाह्य पदार्थ से असम्बद्ध होता है, तब वस्तु नहीं जानी जाती है।

व्या० भा० – अयस्कान्तमणिकल्पा विषया अयःसधर्मकं चित्तमभिसंबध्योपरञ्जयन्ति, येन च विषयेणोपरक्तं चित्तं स विषयो ज्ञातस्ततोऽन्यः पुनरज्ञातः। वस्तुनो ज्ञाताज्ञातस्वरूपत्वात्परिणामि चित्तम् ॥ १७ ॥

व्या० भा० अ० *– चुम्बक-सदृश विषय, लोहे के सदृश चित्त के साथ सम्बद्ध होकर चित्त को उपरञ्जित करते हैं। चित्त जिस-जिस विषय से उपरक्त होता है वह-२ (उस चित्त को) ज्ञात होता है, उससे भिन्न अज्ञात होता है। वस्तु स्वरूप के ज्ञात-अज्ञात होने के कारण चित्त परिणामी है ॥ १७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि उस वस्तु के सम्बन्ध की अपेक्षा करने वाला होने से पदार्थ चित्त के द्वारा **ज्ञात** और **अज्ञात** रहते हैं।

यहाँ पर यह जानना चाहिये कि वास्तव में चित्त की और इसके द्वारा जनाये जाने वाली वस्तुओं की क्या स्थिति होती है । अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के समान विषय हैं और लोहे के समान चित्त है । वे विषय चित्त के साथ सम्बद्ध होकर उसको उपरञ्जित करते हैं अर्थात् उन विषयों का आकार-प्रकार चित्त में अंकित होता है । उससे विषय ज्ञात होते हैं अर्थात् जीवात्मा चित्त में उतरे हुए चित्र के द्वारा उन विषयों को जानता है । वे चित्त के ज्ञात विषय कहे जाते हैं । जिन विषयों से चित्त का सम्बन्ध नहीं होता उनका चित्र चित्त में नहीं उतरता । इस स्थिति में चित्त में विषयों का चित्र न उतरने से जीवात्मा उन विषयों को नहीं जानता । इस अवस्था में वे विषय चित्त के अज्ञात विषय माने जाते हैं । वस्तुओं के ज्ञात और अज्ञात विषय वाला होने से चित्त परिणामी है अर्थात् परिवर्त्तनशील है ।

चित्त और वस्तुओं के वास्तविक ज्ञान से यह भ्रान्ति दूर हो जाती है कि चित्त के आधीन अर्थात् ज्ञान के आधीन वस्तुयें हैं । वास्तविक स्थिति यह है कि जीवात्मा इच्छा करता है और फिर प्रयत्न करता है । चित्त को प्रेरणा देकर विषयों के साथ उसका सम्बन्ध करता है । जिन विषयों से चित्त का सम्बन्ध होता है उन विषयों का ज्ञान चित्त के द्वारा आत्मा को होता है । वास्तव में चित्त स्वयं ज्ञाता नहीं है । किन्तु जनाने का साधन है । यहाँ पर यह भी जानना चाहिये कि चित्त विषयों के साथ स्वयं सम्बद्ध नहीं होता । जीवात्मा ही उसको विषयों के साथ सम्बद्ध करता है । इस ज्ञान से यह भ्रान्ति भी दूर हो जाती है कि चित्त स्वयं विषयों में चला जाता है ॥ १७ ॥

अव० - यस्य तु तदेव चित्तं विषयस्तस्य-

अर्थ - किन्तु जिस (पुरुष) का वही चित्त विषय है उस (पुरुष) को -

सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ - (सदा) सदा (ज्ञाताः) ज्ञात रहती हैं (चित्त-वृत्तयः) चित्त की वृत्तियाँ (तत्प्रभोः) उस चित्त के स्वामी (पुरुषस्य) जीवात्मा के (अ-परिणामित्वात्) परिणामी न होने से ।

सूत्रार्थ - जीवात्मा को चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं क्योंकि चित्त का स्वामी जीवात्मा चित्त के समान कभी विषयाकार में परिवर्तित नहीं होता है ।

व्या० भा० - यदि चित्तवत्प्रभुरपि पुरुषः परिणमेत ततस्तद्विषयाश्चित्तवृत्तयः शब्दादिविषयवज्ज्ञाताज्ञाताः स्युः । सदाज्ञातत्वं तु मनसस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वमनुमापयति ॥ १८ ॥

व्या० भा० अ० - यदि चित्त के समान (चित्त का) प्रभु पुरुष भी परिणत होवे तो उसके विषय = चित्तवृत्तियाँ शब्दादि विषयों के समान ज्ञात-अज्ञात होवें । मन का पुरुष को सदा ज्ञात रहना उसके स्वामी के परिणामी न होने को अनुमान (प्रमाण) से सिद्ध करता है ॥ १८ ॥

यो० प्र० - इस सूत्र में यह बतलाया है कि चित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं । क्योंकि **चित्त का स्वामी पुरुष अपरिणामी** है ।

जो वस्तु सत्त्वादि तीन गुणों से बनी है, वह परिणामी होती है । अर्थात् परिवर्त्तनशील होती है । चित्त भी तीन गुणों से बना है, वह भी परिवर्त्तनशील है । जीवात्मा चेतन है, उसके साथ सम्बद्ध होकर चित्त चेतनवत् हो जाता है । उसको जब आत्मा प्रेरणा देकर विषयों के साथ सम्बद्ध करता, तब वह विषयों के आकार–प्रकार के अनुरूप परिणत हो जाता है । अर्थात् जैसा विषय उसके समक्ष उपस्थित होता है, वह उसी रूप में परिणत हो जाता है । यह परिणत होना चित्त की वृत्ति = व्यापार कहलाता है । इस प्रकार की जितनी भी चित्तवृत्तियाँ चित्त में उभरती हैं, उन सबको आत्मा सदा जानता है । ऐसा कभी भी नहीं होता कि चित्त में वृत्तियाँ हों और जीवात्मा उनको न जाने । इसमें कारण यह है कि पुरुष परिणामी नहीं है अर्थात् पुरुष परिवर्त्तनशील नहीं है । बिना किसी प्रकार के परिवर्त्तन के ही चित्त की वृत्तियों को जानता है । चित्त में और आत्मा में अन्तर यह है कि चित्त तीन गुणों से बना है और परिणामी है । परन्तु आत्मा के उपादान कारण तीन गुण नहीं है । अतः वह परिणामी नहीं है । तीन गुण ज्ञानरहित हैं । इसलिये उनसे बना चित्त भी ज्ञानरहित है । आत्मा ज्ञानयुक्त है । चित्त दर्पण की भाँति वस्तु के जनाने में साधनमात्र है। परन्तु किसी भी वस्तु को वह जान नहीं सकता । आत्मा स्वयं ज्ञानी है अतः वह वस्तु को जानने में समर्थ है । वस्तु को जनाते समय चित्त परिणाम को प्राप्त होकर जनाता है परन्तु आत्मा बिना परिणाम को प्राप्त हुए वस्तु को जानता है । इसलिये आत्मा को अपरिणामी कहा है । चित्त परिणामी और जड़ पदार्थ है । आत्मा अपरिणामी और चेतन पदार्थ है । इस प्रकार से इन दोनों के स्वरूप को जानना चाहिये ॥ १८ ॥

अव० - स्यादाशङ्का चित्तमेव स्वाभासं विषयाभासं च भविष्यत्यग्निवत्-

अर्थ - कोई यह आशङ्का कर सकता है कि अग्नि के समान चित्त ही स्वप्रकाशक एवं पर-प्रकाशक होगा ।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ - (न) नहीं है (तत्) वह चित्त (स्व-आभासम्) स्वयं ज्ञानवान् = चेतन (दृश्यत्वात्) सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन जड़ द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण ।

सूत्रार्थ - चित्त स्वयं ज्ञानवान् अर्थात् चेतन नहीं है क्योंकि वह सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन जड़ द्रव्यों से उत्पन्न होता है । जो वस्तु जड़ पदार्थों से उत्पन्न होती है, वह ज्ञानवान् नहीं होती है जैसे घट, पटादि ।

व्या० भा० - यथेतराणीन्द्रियाणि शब्दादयश्च दृश्यत्वान्न स्वाभासानि तथा मनोऽपि प्रत्येतव्यम् । न चाग्निरत्र दृष्टान्तः । न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति । प्रकाशश्चायं प्रकाश्यप्रकाशकसंयोगे दृष्टः । न च स्वरूपमात्रेऽस्ति संयोगः । किञ्च स्वाभासं चित्तमित्यग्राह्यमेव कस्यचिदिति शब्दार्थः । तद्यथा-स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं न परप्रतिष्ठमित्यर्थः । स्वबुद्धिप्रचारप्रतिसंवेदनात्सत्त्वानां प्रवृत्तिर्दृश्यते- क्रुद्धोऽहं भीतोऽहममुत्र मे रागोऽमुत्र मे क्रोध इति । एतत्स्वबुद्धेरग्रहणे न युक्तमिति ॥ १९ ॥

व्या० भा० अ० *– जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियाँ और शब्दादि (विषय) दृश्य होने से स्वप्रकाशक नहीं हैं, उसी प्रकार मन भी (स्वप्रकाशक) नहीं है ऐसा ही जानना चाहिए। इस विषय में अग्नि दृष्टान्त नहीं हो सकता। अग्नि अप्रकाशित आत्मस्वरूप को प्रकाशित नहीं करती है। और यह प्रकाशन, प्रकाश्य-प्रकाशक के संयोग में देखा गया है। केवल स्वरूप में (प्रकाश्य और प्रकाशक का) संयोग नहीं होता है। और क्या ? (यदि यह कहें कि) चित्त स्वयं चेतन है, वह अन्य किसी (चेतन आत्मा) के द्वारा ग्राह्य नहीं है – ऐसा शब्दार्थ है। जैसे – आकाश 'स्वप्रतिष्ठित' (अपने आप में प्रतिष्ठित) है का अर्थ 'परप्रतिष्ठित' (किसी अन्य में प्रतिष्ठित) नहीं है (तो पूर्वपक्ष का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि) अपनी-अपनी बुद्धि का व्यापार होने पर प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती है जैसे कि मैं क्रुद्ध हूँ, भीत हूँ, अमुक विषय में मेरा राग है, अमुक विषय में मेरा क्रोध है इस प्रकार (का प्राणियों का) यह अनुभव अपनी बुद्धि का प्रतिसंवेदन न मानने पर संभव नहीं है ॥ १९ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **चित्त ज्ञानस्वरूप नहीं** है, **दृश्य होने** से।

इस प्रसंग में चित्त को ही आत्मा मानने वाले यह शङ्का कर सकते हैं कि चित्त ही अपने स्वरूप को और अन्य विषयों के स्वरूप को जनाने वाला हो जायेगा, उसको जनाने वाले किसी अन्य चेतन आत्मा को मानने की आवश्यकता नहीं है। इसका उत्तर सूत्रकार ने दिया है कि चित्त ज्ञानस्वरूप नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है। जैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ दृश्य हैं, वैसे ही चित्त भी दृश्य है। इन्द्रियाँ स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। क्योंकि वे स्वयं अपना और घट, पट आदि पदार्थों का अनुभव नहीं कर सकती। जीवात्मा इन्द्रियों को प्रेरणा देकर किसी विषय के साथ सम्बद्ध करता है, उस स्थिति में जीवात्मा की सहायता से इन्द्रियाँ विषय का चित्र उतारती हैं किन्तु उसका अनुभव नहीं करती। आत्मा की सहायता से किसी विषय को जनाने में वे सहायक होती हैं। जैसे नेत्रेन्द्रिय रूप के जनाने में सहायक होती है, वैसे ही चित्त भी जीवात्मा की प्रेरणा से विषयों के साथ सम्बद्ध होकर जनाने में सहायक होता है। परन्तु वह स्वयं विषयों को नहीं जानता।

इसी प्रकार से शब्द आदि विषय भी दृश्य होने से ज्ञानस्वरूप नहीं है। यहाँ पर अग्नि के दृष्टान्त से चित्त को ज्ञानस्वरूप कहा जा सकता है। जैसे अग्नि स्वयं को प्रकाशित करती है और घट, पट आदि को भी प्रकाशित करती है। वैसे ही चित्त भी स्वयं को और अन्य विषयों को प्रकाशित करता है। यह अग्नि का दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि अग्नि जड़ होने से स्वयं अपने स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकती, और जब कभी घट पटादि अन्य पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करती भी है, तब भी वह अन्य पदार्थों (घट-पटादि) के स्वरूप को स्वयं प्रकट नहीं करती। कोई अन्य मनुष्य वहाँ घट आदि के पास अग्नि को उपस्थित करता हैं तब अग्नि घटादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकट कर पाती है। इसलिये चित्त को ज्ञानस्वरूप सिद्ध करने के लिये अग्नि का दृष्टान्त ठीक नहीं है।

सूत्रकार ने दृश्य का स्वरूप दूसरे पाद में वर्णित किया है कि प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील, भूतेन्द्रियस्वरूप भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने वाला दृश्य है। सत्त्वादि तीन गुणों से बना हुआ

चित्त भी दृश्य है। सत्त्वादि ज्ञानरहित जड़ पदार्थ हैं। वैसे ही चित्त भी जड़ पदार्थ है। जो पदार्थ संघात रूप होकर अन्यों के प्रयोजन को सिद्ध करता है, वह ज्ञानस्वरूप नहीं, ज्ञानरहित होता है। जैसे घट, पट आदि। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। एक चेतन और दूसरे जड़। ईश्वर और जीव ये दोनों चेतन और ज्ञानवान् हैं। सत्त्व आदि तीन गुणों से बने पदार्थ जड़ हैं। ईश्वर ने तीन गुणों से इस सृष्टि की रचना की है। उस रचना को इस प्रकार से जानना चाहिये कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति है। ईश्वर ने प्रकृति से महत्तत्व, महत्तत्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एक मन, पाँच तन्मात्रायें,पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच स्थूलभूत और उनसे मनुष्य आदि शरीरों की रचना की है। इस रचना के अन्तर्गत चित्त वा मन भी है। जो व्यक्ति चित्त और इस पूर्वोक्त रचना (जड़ रूप) को जान लेता है और ईश्वर, जीव के स्वरूप को भी अच्छे प्रकार से जान लेता है वह कृतकृत्य हो जाता है॥ १९॥

एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥

शब्दार्थ – (एक-समये) एक काल में (च) और (उभय-अनवधारणम्) दोनों का = (विषय और चित्त का) ज्ञान नहीं हो सकता।

सूत्रार्थ – (क्षणिकवादियों के मतानुसार चित्त क्षण भर में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है इसलिए) अपना ज्ञान और विषय का ज्ञान एक क्षण में नहीं कर सकता।

व्या० भा० – न चैकस्मिन्क्षणे स्वपररूपावधारणं युक्तम्। क्षणिकवादिनो यद्भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः॥ २०॥

व्या० भा० अ० *– और एक समय में चित्त अपने स्वरूप का और अन्य (विषय) के स्वरूप का परिज्ञान कर लेवे, यह ठीक नहीं है। (क्योंकि) क्षणिकवादी का (यह स्वीकृत सिद्धान्त है), कि जो (उसका) होना है, वही क्रिया है और वही कारक (कर्त्ता) है॥ २०॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **एक क्षण में चित्त अपना और अन्य विषयों का निश्चय (ज्ञान) नहीं करवा सकता।**

जो लोग (क्षणिकवादी) यह मानते हैं कि चित्त ज्ञानस्वरूप है, आत्मा को पृथक् ज्ञाता मानने की आवश्यकता नहीं है। वे यह भी मानते हैं कि चित्त, क्षण-स्थायी है अर्थात् एक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। और एक क्षणकाल में चित्त अपना और अन्य विषयों का ज्ञान भी करवा देता है। उनकी इस मान्यता में यह दोष है कि यदि चित्त क्षणिक है, तो एक ही क्षण तक ठहरने वाला चित्त अपना और अन्य पदार्थों का ज्ञान एक क्षण में कैसे करा देगा? चित्त परिणामी है। भिन्न-भिन्न क्षणों में तो स्वाकार ग्रहण से अपना ज्ञान और विषयाकार ग्रहण से विषय का ज्ञान करवा सकता है। परन्तु एक क्षण में स्वाकार ग्रहण से अपना ज्ञान और विषयाकार ग्रहण से विषय का ज्ञान नहीं करवा सकता। एक क्षणिक चित्त का उत्पन्न होना, उसके द्वारा पिछले क्षणिक चित्त

व अन्य विषयों को जानने की क्रिया करना और इन दोनों क्रियाओं के करने वाले उसी चित्त का कर्त्ता, करण, अधिकरण आदि कारक भी बने रहना, ये तीनों एक क्षण में नहीं हो सकते । संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं दिखता कि जो एक क्षण में इन सब कार्यों को कर देता हो । यदि चित्त क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है और उसी एक क्षण में वह कर्म भी कर लेता है, तो उसके द्वारा किये कार्य का कोई प्रयोजन नहीं रहता ।

कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य को इसलिये करता है कि किये हुए कार्य का उसको फल मिलेगा । चित्त क्षण मात्र में नष्ट हो जाने से अपने द्वारा किये कर्म का फल तो भोग ही नहीं पायेगा । अतः चित्त का कर्म व्यर्थ हो गया । यदि वह चित्त बिना प्रयोजन के ही कार्य करता है, तो ऐसे चित्त को मानना व्यर्थ है । इसलिये चित्त एक परिवर्त्तनशील पदार्थ है । सत्त्वादि तीन जड़ पदार्थों से बना हुआ है । नित्य आत्मा उसको संचालित करने वाला है । आत्मा चित्त के माध्यम से शुभाशुभ कर्मों को करता है । आत्मा के किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल ईश्वर देता है । चित्त स्वयं उत्पन्न नहीं होता । उसका उत्पन्न करनेवाला ईश्वर है । इस मान्यता से योगमार्ग में सफलता मिल सकती है अन्यथा नहीं ॥ २० ॥

अव० – स्यान्मतिः, स्वरसनिरुद्धं चित्तं चित्तान्तरेण समनन्तरेण गृह्यत इति–

अर्थ – यदि क्षणिकवादी की यह मान्यता हो कि अपने स्वरूप से नष्ट हुआ चित्त, अपने से भिन्न दूसरे समीप वाले चित्त से जाना जाता है तो –

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ – (चित्तान्तर-दृश्ये) पूर्व चित्त को उत्तर के चित्त का दृश्य मानने पर (बुद्धि-बुद्धेः) अगले चित्त के द्वारा पिछले चित्त को जानने का (अति-प्रसङ्गः) अनवस्था दोष आता है (स्मृति-संकरः, च) और स्मृतियों का परस्पर मिश्रण भी प्राप्त होता है ।

सूत्रार्थ – चित्त को क्षणिक तथा ज्ञाता मानने पर, पूर्वचित्त के उत्तरचित्त का दृश्य बन जाने से उत्तरचित्त द्वारा पूर्वचित्त को जानने की परम्परा का अन्त नहीं आने से, अनवस्था दोष उपस्थित हो जाएगा तथा उत्तरवर्ती चित्त को एक साथ समस्त पूर्ववर्ती चित्तों और उनके विषयों का घुला मिला ज्ञान प्राप्त होने पर किसी एक वस्तु विषयक शुद्ध स्मृति का होना असंभव हो जाएगा ।

व्या० भा० – अथ चित्तं चेच्चित्तान्तरेण गृह्येत बुद्धिबुद्धिः केन गृह्यते, साप्यन्यया साप्यन्ययेत्यतिप्रसङ्गः । स्मृतिसंकरश्च, यावन्तो बुद्धिबुद्धीनामनुभवास्तावत्यः स्मृतयः प्राप्नुवन्ति । तत्संकराच्चैकस्मृत्यनवधारणं च स्यादिति । एवं बुद्धिप्रतिसंवेदिनं पुरुषमपलपद्भिर्वैनाशिकैः सर्वमेवाऽऽकुलीकृतम् । ते तु भोक्तृस्वरूपं यत्र क्वचन कल्पयन्तो न न्यायेन संगच्छन्ते ।

केचित्तु सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्यास्ति स सत्त्वो य एतान्पञ्च स्कन्धान्निक्षिप्यान्यांश्च प्रतिसंदधातीत्युक्त्वा तत एव पुनस्त्रस्यन्ति । तथा स्कन्धानां महानिर्वेदाय विरागायानुत्पादाय प्रशान्तये गुरोरन्तिके ब्रह्मचर्यं

चरिष्यामीत्युक्त्वा सत्त्वस्य पुनः सत्त्वमेवापह्नुवते । सांख्ययोगादयस्तु प्रवादाः स्वशब्देन पुरुषमेव स्वामिनं चित्तस्य भोक्तारमुपयन्तीति ॥ २१ ॥

व्या० भा० अ० *– यदि (प्रथम) चित्त (उसके अनन्तर) चित्त के द्वारा गृहीत होता है, तो (पूर्व चित्त का) ज्ञाता (वह) किस चित्त से जाना जाता है ? (यदि) वह भी (अपने समनन्तर भावी) अन्य चित्त से और वह भी (समनन्तर भावी) अन्य चित्त से (जाना जाता है कहें तो) इस प्रकार अनवस्थादोष का प्रसङ्ग (उपस्थित) होगा और स्मृति का सङ्कर होगा । चित्तों के जितने अनुभव होंगे उतनी ही स्मृतियाँ (एक साथ) प्राप्त होती हैं । और उन स्मृतियों के मिश्रण से (किसी) एक स्मृति का निश्चय नहीं होवेगा । इस प्रकार बुद्धि के संवेदन करने वाले पुरुष को स्वीकार न करने वाले वैनाशिकों के द्वारा (धर्माधर्म, बन्ध-मोक्ष की सारी व्यवस्था) अस्त व्यस्त कर दी है । वे तो भोक्ता के स्वरूप को जिस किसी पदार्थ में स्वीकार करते हुए न्यायसङ्गत सिद्ध नहीं होते ।*

कुछ लोग तो आत्मतत्त्व की कल्पना करके 'वह जीव है जो इन पाँच स्कन्धों को त्याग कर (निर्वाण काल में) और अन्य (शुद्ध पाँच) स्कन्धों को धारण करता है, ऐसा कहकर उसी (जीव को स्वीकार करने से) भयभीत होते हैं । उसी प्रकार 'स्कन्धों के महानिर्वेद (नामक वैराग्य) के लिए पुनर्जन्म के अभाव रूपी प्रशान्ति के लिए गुरु के निकट (रहते हुए) ब्रह्मचर्य का आचरण करूँगा', ऐसा कहकर पुनः जीव की सत्ता का ही अपलाप (अस्वीकार) करते हैं । साङ्ख्य-योगादि श्रेष्ठ सिद्धान्त तो स्व शब्द के द्वारा चित्त के स्वामी पुरुष को ही (चित्त) को भोक्ता स्वीकार करते हैं ॥ २१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि यदि पूर्वक्षण वाले चित्त को उत्तरक्षण वाला चित्त जान लेवेगा तो उत्तरक्षण वाले चित्त से पूर्वक्षण वाले चित्त को जानने के क्रम की समाप्ति नहीं होगी । इससे **अनवस्था दोष** आयेगा और **स्मृतियों का सम्मिश्रण दोष** भी आयेगा ।

इस प्रसंग में चित्त, बुद्धि, ज्ञान ये शब्द पर्यायवाची हैं । क्षणिक चित्त मानने वालों का यह विचार हो सकता है कि पूर्वक्षण में नष्ट हुए चित्त को उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाला चित्त जान लेवेगा तो –

(१) यह दोष आयेगा कि सबसे अन्त में उत्पन्न होने वाले चित्त को कौन सा चित्त जानेगा ? अर्थात् उसको कोई भी चित्त न जान सकेगा ।

(२) इस दोष से बचने के लिए यदि यह कहा जाये, कि "एक चित्त को दूसरा चित्त जानेगा, दूसरे को तीसरा जानेगा इस प्रकार चलते जायेंगे, अन्तिम चित्त तो कोई होगा ही नहीं ।" तो इस प्रकार से अनवस्था दोष आयेगा ।

(३) स्मृतिदोष – जिस पूर्व वाले चित्त ने घड़े को देखा है और उसका अनुभव किया है, उस चित्त को और उसके अनुभव को उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाले चित्त ने जाना । तीसरे क्षण में उत्पन्न होने वाले चित्त ने उन दोनों चित्तों को और उनके अनुभवों को जाना । इस प्रकार

से अनेक चित्त उत्पन्न होते जायेंगे और उनके अनुभव भी अनेक उत्पन्न होते जायेंगे। जब उन पूर्व के चित्तों द्वारा किये गये अनुभवों की स्मृति उत्पन्न होगी तो एक स्मृति के उत्पत्तिकाल में अनेक स्मृतियाँ उत्पन्न होंगी। इस स्थिति में किस चित्त की कौन सी स्मृति है यह पता नहीं चलेगा। यह तीसरा दोष आयेगा।

(४) क्षणिक चित्त मानने वाले यह मानते हैं कि पाँच स्कन्ध होते हैं। रूप स्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध और संस्कार स्कन्ध। मोक्ष अवस्था आने पर ये पूर्व वाले अशुद्ध स्कन्ध नष्ट हो जाते हैं, उस अवस्था में एक सत्त्व चित्त रहता है और पाँच शुद्ध स्कन्ध रहते हैं। शुद्ध स्कन्धों को प्राप्त करने के लिये गुरुजी के पास रहकर 'ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा' ऐसा वे कहतें हैं और अनित्य अशुद्ध स्कन्धों को छोड़ने का प्रयास करते हैं। जिस नित्य सत्त्व को वे मानते हैं, उसको मानने पर हम नित्य आत्मा मानने वाले न बन जायें इस प्रकार से वे डरते हैं।

उन्होंने इस प्रकार की काल्पनिक मान्यताओं को मान कर बन्ध–मोक्ष की व्यवस्था अस्त–व्यस्त कर दी है। इन मान्यताओं को स्वीकार करने से कोई भी व्यक्ति बन्धनों से छूटकर मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये सत्त्वादि तीन गुणों से ईश्वर के द्वारा बनाया गया चित्त स्थायी है। जीवात्मा उसके द्वारा विविध ज्ञानों की प्राप्ति और विविध कार्यों का सम्पादन करता है। आत्मा चित्त को और उसके द्वारा जाने गये विषयों को जानता है। जब आत्मा चित्त द्वारा विषयों को जानता है, तब चित्त में संस्कार पड़ जाते हैं। उन संस्कारों से स्मृति उत्पन्न होती है। उस स्मृति को उत्पन्न करने वाला और पदार्थों को जानने वाला नित्य जीवात्मा है। चित्त जड़ होने से न पदार्थों को जान सकता है और न स्वयं स्मृति को उत्पन्न कर सकता है ॥ २१ ॥

अव० - कथम् -

अर्थ - किस प्रकार ? (इस विषय को सूत्र के द्वारा कहा जाता है) -

चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ - (चितेः) चेतन जीवात्मा (अ–प्रतिसंक्रमायाः) रूप, रस आदि विषयों में न घुलने मिलने वाले का (तद्–आकार–आपत्तौ) विषयाकार प्राप्त चित्त से सम्बद्ध होने पर (स्व–बुद्धि–संवेदनम्) विषय से युक्त अपने चित्त का ज्ञान होता है।

सूत्रार्थ - रूप, रसादि विषयों में न घुलने वाले अपरिणामी चेतन जीवात्मा के विषयाकार प्राप्त चित्त से सम्बद्ध होने पर, जीवात्मा को विषय से युक्त 'अपने चित्त का ज्ञान' होता है।

व्या० भा० - अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च, परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते। तथा चोक्तम्-

न पातालं न च विवरं गिरीणां, नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम् ।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं, बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥ इति ॥ २२ ॥

व्या० भा० अ० *– अपरिणामिनी और प्रतिसङ्क्रमणरहित भोक्तृशक्ति परिणामी पदार्थ (बुद्धि) में प्रतिसंक्रान्ता के समान (होकर) उस बुद्धि की वृत्ति का अनुगमन करती है । चेतन शक्ति के प्रकाश से चेतन सदृश स्वरूप को प्राप्त उस बुद्धिवृत्ति के अनुकारमात्रता के कारण बुद्धिवृत्ति से अभिन्न (समान) ही ज्ञानवृत्ति कही जाती है । और ऐसा कहा गया है – जिसमें नित्य ब्रह्म स्थित है वह गुहा न पाताल है, न पर्वतों की गुहा है, न अन्धकार है न समुद्रों का अन्तस्तल किन्तु चेतन से अभिन्न बुद्धिवृत्ति ही गुफा है, ऐसा क्रान्तदर्शी विद्वान् जानते हैं ॥ २२ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **जीवात्मा संक्रमण से रहित** है । अर्थात् वह चित्त आदि पदार्थों में घुलता मिलता नहीं है । उसके अपने चित्त के विषयाकार होने पर उसे अपने चित्त का ज्ञान होता है । अर्थात् चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर चेतनवत् हो जाता है और विषय के साथ सम्बद्ध होकर विषयाकार होता है । उसके साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर आत्मा को अपने चित्त का ज्ञान होता है ।

जीवात्मा अपरिणामी है, वह चित्त से और विषयों से मिश्रित नहीं होता । परिणामी चित्त में सम्मिश्रित जैसा प्रतीत होता है । जब चित्त आत्मा से सम्बद्ध होकर विषयों के आकार प्रकार के चित्र उतारता है तब जीवात्मा विषयाकार चित्त को देखता है । ऐसी स्थिति में आत्मा चित्त के साथ घुला मिला प्रतीत होता है । वास्तव में इन अवस्थाओं में आत्मा न तो चित्त की भाँति परिणामी होकर परिवर्त्तनशील होता है और न ही चित्त वा अन्य भौतिक पदार्थों में सम्मिश्रित होता है । सूत्र में पठित (तदाकारापत्तौ) शब्द का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा चित्त के आकार में परिवर्तित हो जाता है । किन्तु चित्त आत्मा के साथ सम्बद्ध होकर उसकी प्रेरणा से प्रथम विषय के साथ सम्बद्ध होता है, फिर विषयाकार होता है । यह **'तदाकारापत्ति'** है । उस विषयाकार चित्त को आत्मा देखता है । इस अवस्था में आत्मा चित्त से सम्बद्ध होकर अपने चित्त को जानता है । इसी को **'स्वबुद्धिसंवेदन'** कहते हैं । इससे यह परिज्ञात हुआ कि चित्त विषयाकार होकर अर्थात् विषयानुरूप परिवर्तित होकर विषय को जनाता है । परन्तु आत्मा चित्तानुरूप परिवर्तित न होकर चित्त के साथ सम्बन्ध मात्र करके उसके स्वरूप को जानता है ॥ २२ ॥

अव० – **अतश्चैतदभ्युपगम्यते-**

अर्थ – और इसलिए यह स्वीकार किया जाता है –

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ – (द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम्) द्रष्टा = जीवात्मा तथा समस्त जड़ पदार्थों से सम्बद्ध (चित्तम्) चित्त (सर्व-अर्थम्) चेतन और अचेतन पदार्थों के स्वरूप जैसा प्रतीत होता है ।

सूत्रार्थ – जीवात्मा तथा समस्त जड़ पदार्थों से सम्बद्ध चित्त ग्रहीतृ = जीवात्मा, ग्रहण = इन्द्रियाँ, ग्राह्य = शब्दादि विषय स्वरूप वाला प्रतीत होता है ।

व्या० भा० – मनो हि मंतव्येनार्थेनोपरक्तम् । तत्स्वयं च विषयत्वाद्विषयिणा पुरुषेणाऽऽत्मीयया वृत्त्याऽभिसंबद्धम् । तदेतच्चित्तमेव द्रष्टृदृश्योपरक्तं विषयविषयिनिर्भासं चेतनाचेतनस्वरूपापन्नं, विषयात्मकमप्यविषयात्मकमिवाचेतनं चेतनमिव स्फटिकमणिकल्पं सर्वार्थमित्युच्यते ।

तदनेन चित्तसारूप्येण भ्रान्ताः केचित्तदेव चेतनमित्याहुः । अपरे चित्तमात्रमेवेदं सर्वं नास्ति खल्वयं गवादिर्घटादिश्च सकारणो लोक इति । अनुकम्पनीयास्ते । कस्मात् ? अस्ति हि तेषां भ्रान्तिबीजं सर्वरूपाकारनिर्भासं चित्तमिति । समाधिप्रज्ञायां प्रज्ञेयोऽर्थः प्रतिबिम्बीभूतस्तस्यालम्बनीभूतत्वादन्यः । स चेदर्थश्चित्तमात्रं स्यात्कथं प्रज्ञयैव प्रज्ञारूपमवधार्येत । तस्मात्प्रतिबिम्बीभूतोर्थः प्रज्ञायां येनावधार्यते स पुरुष इति । एवं ग्रहीतृग्रहणग्राह्यस्वरूपचित्तभेदात् त्रयमप्येतज्जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिन-स्तैरधिगतः पुरुष इति ॥ २३ ॥

व्या० भा० अ० *– मन (अपने) ज्ञेय पदार्थ से उपरंजित (सम्बद्ध) है । और वह स्वयं विषय होने से विषयी पुरुष से (चित्त की) अपनी वृत्ति द्वारा सम्बद्ध है । वह यह चित्त ही द्रष्टा और दृश्य से उपरञ्जित होता है, विषय और विषयी के रूप में प्रतीत होता है । चेतन एवं अचेतन स्वरूप को प्राप्त होता है, विषयात्मक होने पर भी अविषय के समान, अचेतन होने पर भी चेतन के सदृश स्फटिक मणि के सदृश, सर्वार्थ = (सर्व विषयात्मक) कहा जाता है ।*

अतः चित्त की इस (पुरुष के साथ) समानरूपता से भ्रान्त होकर कुछ लोग उसी (चित्त) को चेतन (पुरुष) कहते हैं । अन्य लोग समस्त पदार्थ चित्त मात्र ही है, गौ आदि और घटादि कारण सहित लोक नहीं है, ऐसा कहते हैं, वे (दोनों प्रकार के) लोग दया के पात्र हैं । क्यों ? सबके आकार से भासने वाला चित्त उनकी भ्रान्ति का बीज है । समाधिकालीन बुद्धि में प्रतिबिम्ब बना हुआ ज्ञातव्य अर्थ उस (प्रज्ञा) का आलम्बन होने के कारण प्रज्ञा से अन्य है । वह (प्रतिबिम्ब के रूप में विद्यमान) अर्थ चित्त ही हो, तो प्रज्ञा के द्वारा प्रज्ञा का स्वरूप कैसे निश्चित किया (= जाना) जाय ? इसलिये बुद्धि में प्रतिबिम्बित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाता है, वह पुरुष है । जो इस प्रकार ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य रूप ज्ञानों के भिन्न होने से इन तीनों को स्वभाव से भिन्न रूप से जानते हैं, वे यथार्थ जानने वाले हैं । उनके द्वारा पुरुष (चेतन जीव) यथार्थ रूप में ज्ञात किया गया है ॥ २३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि **द्रष्टा और दृश्य से सम्बद्ध चित्त 'सर्वार्थ' कहाता है ।**

द्रष्टा जीवात्मा है और चित्त तथा उसके द्वारा दिखाये जाने वाले पदार्थों को 'दृश्य' कहते हैं। चित्त तीन स्थितियों में रहता है ।

(१) जब जीवात्मा चित्त के माध्यम से किसी अन्य पदार्थ को जान रहा होता है, यद्यपि उस समय चित्त ज्ञान का साधन होता है परन्तु अविद्या के कारण वह चित्त उन पदार्थों का ज्ञान करने वाला (ज्ञाता) प्रतीत होता है तब वह चित्त '**ग्रहीता**' कहलाता है ।

(२) जब जीवात्मा चित्त के माध्यम से किसी अन्य पदार्थ को जानता है तब चित्त उस पदार्थ को जानने का साधन होने के कारण '**ग्रहण**' कहलाता है ।

(३) जब जीवात्मा चित्त के स्वरूप को जानना चाहता है और चित्त को ही जान रहा होता है, उस समय चित्त '**ग्राह्य**' कहलाता है । इसलिये चित्त को 'सर्वार्थ' कहा है ।

इस स्थिति को ठीक न जानने के कारण कुछ लोग चित्त को ही आत्मा मानते हैं । कुछ लोग सब कुछ चित्त को ही मानते हैं, दृश्यमान जगत् (घट पट आदि) को चित्त से पृथक् नहीं मानते इसका कारण यह है कि कभी चित्त 'ग्राह्य' रूप में रहता है अर्थात् जानने योग्य पदार्थ के रूप में रहता है । कभी 'ग्रहण' के रूप में रहता है अर्थात् किसी पदार्थ को जनाने का साधन बनता है । जैसे नेत्र जनाने का साधन है । कभी 'ज्ञाता' के रूप में रहता है अर्थात् जानने वाले के रूप में रहता है जैसे जीवात्मा । इन तीनों रूपों में रहने के कारण कुछ लोग चित्त को ही सब कुछ समझते हैं । चित्त को ठीक रूप में न जानने के कारण कुछ लोग कहते हैं कि एक चेतन मन है और दूसरा जड़ मन है । वास्तविकता यह है कि ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों को जो विशुद्ध रूप में जानते हैं, वे ही जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले हैं, अन्य नहीं ।

इन तीनों का विशुद्ध ज्ञान समाधि के द्वारा हो सकता है, अन्यथा नहीं । चाहे कोई कितना भी किन्हीं विषयों का विद्वान् क्यों न बन जाय । परन्तु जब तक समाधि के द्वारा आत्मा और परमात्मा को नहीं जान लेता तब तक विशुद्ध विद्वान् होकर अपना और अन्यों का कल्याण नहीं कर सकता । इसलिये प्रत्येक योगाभ्यासी को यह जानना चाहिये कि मैं 'ग्रहीतृ' आत्मा हूँ । चित्त 'ग्रहण' = जनाने का साधन है और जो चित्त के द्वारा जो पदार्थ जानें जाते हैं, वे 'ग्राह्य' हैं । ऐसा जानने से भ्रान्ति दूर हो जाती है ॥ २३ ॥

अव० - कुतश्चैतत्-

अर्थ - यह कैसे ?

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ - (तद्) वह चित्त (असंख्येय-वासनाभिः) अनगिनत वासनाओं से (चित्रम्) चित्रित हुआ (अपि) भी (पर-अर्थम्) पर अर्थात् जीवात्मा के लिये है (संहत्यकारित्वात्) सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन उपादान कारणों से निर्मित होकर प्रयोजन सिद्ध कराने वाला होने से।

सूत्रार्थ - वह चित्त असंख्य वासनाओं से युक्त होने पर भी, अनेक अवयवों से निर्मित होकर कार्य करने वाला होने के कारण 'परार्थ' है । अर्थात् जीवात्मा के भोग और अपवर्ग रूप प्रयोजनों को सिद्ध कराने वाला है ।

व्या० भा० – **तदेतच्चित्तमसंख्येयाभिर्वासनाभिरेव चित्रीकृतमपि परार्थं परस्य भोगापवर्गार्थं न स्वार्थं संहत्यकारित्वाद् गृहवत् । संहत्यकारिणा चित्तेन न स्वार्थेन भवितव्यम् । न सुखचित्तं सुखार्थं, न ज्ञानं ज्ञानार्थम् । उभयमप्येतत्परार्थम् । यश्च भोगेनापवर्गेण चार्थेनार्थवान्पुरुषः स एव परः । न परः सामान्यमात्रम् । यत्तु किञ्चित्परं सामान्यमात्रं स्वरूपेणोदाहरेद् वैनाशिकस्तत्सर्वं संहत्यकारित्वात्परार्थमेव स्यात् । यस्त्वसौ परो विशेषः स न संहत्यकारी पुरुष इति ॥ २४ ॥**

व्या० भा० अ० – *वह यह चित्त असंख्य वासनाओं द्वारा चित्रित होने पर भी 'परार्थ' है । 'पर' के भोगापवर्ग के लिए है, अपने लिए नहीं । संघातरूप होकर कार्य करने वाला चित्त अपने लिए नहीं हो सकता, घर के समान । सुखभोग के लिए साधनभूत चित्त सुख के लिए नहीं होता । ज्ञान का साधन चित्त ज्ञान के लिए नहीं होता । ये दोनों ही 'पर' के लिए हैं । जो भोग तथा अपवर्ग रूपी प्रयोजनों से सम्बद्ध प्रयोजन वाला है, वह ही 'पर' है, अन्य कोई सामान्यमात्र 'पर' नहीं है । वैनाशिक जिस किसी सामान्यमात्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करे, वह सारा संघात रूप होकर कार्य करने वाला होने से 'पर' के लिए ही होवे । जो तो वह भिन्न, विशेष है और संघातरूप होकर कार्य करने वाला नहीं है, वह पुरुष है ॥ २४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि वह **चित्त अनेक वासनाओं से युक्त होता हुआ भी जीवात्मा के प्रयोजन के लिये** है । क्योंकि वह तीन गुणों का संघात रूप होकर कार्य करता है।

जो लोग चित्त को ही सब कुछ मानते हैं और संसार की अन्य किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करते । तथा जो लोग चित्त को चेतन पदार्थ मानते हैं, उसके प्रेरक पृथक् आत्मा को नहीं मानते । उनको वास्तविक ज्ञान करवाने के लिये सूत्रकार कहते हैं कि चित्त अनेक जन्म–जन्मान्तर की वासनाओं से चित्रित है। पुनरपि परार्थ है अर्थात् 'पर' के प्रयोजन भोगापवर्ग के लिये है । क्योंकि चित्त तीन गुणों से बना है । सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन उसके उपादान कारण हैं । ये तीनों जड़ पदार्थ हैं । इसी कारण से चित्त भी जड़ पदार्थ है । चित्त सत्त्वादि तीन गुणों का संघातरूप होकर जीवात्मा के कार्य की सिद्धि करता है इसलिये इसे '**संहत्यकारी**' कहा है ।

जो पदार्थ संहत्यकारी होते हैं अर्थात् अनेक अवयवों से बनकर किसी कार्य की सिद्धि करते हैं, वे अन्य के प्रयोजन के लिये होते हैं । जैसे भवन, यान, घट, पट आदि । ये सभी पदार्थ अपने लिये नहीं हैं । भवन, भवन के लिये नहीं है । घड़ा, घड़े के लिये नहीं है । इसी प्रकार चित्त वा ज्ञान, ज्ञान के लिये नहीं है । परन्तु 'पर' के लिये है । जो भोग और अपवर्ग इन दोनों प्रयोजनों वाला है, वही 'पर' है अर्थात् जीवात्मा है । यदि कोई जीवात्मा को भी संहत्यकारी स्वीकार करेगा तो जीवात्मा भी परार्थ हो जायेगा । जो 'पर' है वह सत्त्वादि तीन गुणों का संघातरूप होकर कार्य करने वाला नहीं है किन्तु नित्य चेतन विशेष पदार्थ है । इससे यह परिज्ञात हो गया कि चित्त सत्त्वादि तीन गुणों से उत्पन्न और अनित्य पदार्थ है । संघातरूप में उत्पन्न होकर कार्य की सिद्धि करने वाला होने से परार्थ = जीवात्मा के प्रयोजनों की सिद्धि के लिये है । अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं है ।

आत्मा एक नित्य एवं चेतन पदार्थ है। वह भोग और मोक्ष दो प्रयोजनों वाला है। जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से नहीं बना है। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि पदार्थों को बनाने वाला और कर्मानुसार जीवात्मा को भोग अपवर्ग देने वाला सर्वज्ञ, सर्वव्यापक,सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। क्योंकि शरीरादि सभी पदार्थों की रचना आत्मा नहीं कर सकता और न ही कर्मानुसार सब जीवों को भोगापवर्ग की प्राप्ति करवा सकता है। इसलिये एक भोग्य है जो तीन गुणों के संघात से बना है। दूसरा भोक्ता है जो नित्य चेतन, एकदेशी, शुभाशुभ कर्म करने वाला है। तीसरा भोगापवर्ग को देने वाला ईश्वर है। इन तीनों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानने, मानने और तदनुसार अनुष्ठान से मानव जीवन सफल होता है। ऋग्वेद में भोक्ता, भोग्य और भोगों को देने वाले ईश्वर का अर्थात् तीनों का उपदेश किया है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ ऋ. १/१६४/२० ॥

पदार्थ :– हे मनुष्यो ! (सुपर्णा) सुंदर पंखों वाले (सयुजा) समान संबंध रखने वाले (सखाया) मित्रों के समान वर्त्तमान (द्वा) दो पखेरू (समानम्) एक (वृक्षम्) जो काटा जाता, उस वृक्ष का (परि, षस्वजाते) आश्रय करते हैं (तयो:) उनमें से (अन्य:) एक (पिप्पलम्) उस वृक्ष के पके हुए फल को (स्वादु) स्वादुपन से (अत्ति) खाता है और (अन्य:) दूसरा (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि चाकशीति) सब ओर से देखता है अर्थात् सुन्दर चलने–फिरने वा क्रियाजन्य काम को जानने वाले, व्याप्यव्यापकभाव से साथ ही सम्बन्ध रखते हुए मित्रों के समान वर्त्तमान जीव और ईश–परमात्मा समान कार्यकारणरूप ब्रह्माण्ड देह का आश्रय करते हैं। उन दोनों अनादि जीव ब्रह्म में जो जीव है, वह पाप–पुण्य से उत्पन्न सुख–दुःखात्मक भोग को स्वादुपन से भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मफल को न भोगता हुआ उस भोगते हुए जीव को सब ओर से देखता अर्थात् साक्षी है, यह तुम जानो।

भावार्थ :– इस मंत्र में रूपकालङ्कार है। जीव, परमात्मा और जगत् का कारण ये तीन पदार्थ अनादि और नित्य हैं। जीव और ईश–परमात्मा यथाक्रम से अल्प अनन्त चेतन विज्ञानवान् सदा विलक्षण व्याप्यव्यापकभाव से संयुक्त और मित्र के समान वर्त्तमान हैं। वैसे ही जिस अव्यक्त परमाणुरूप कारण से कार्यरूप जगत् होता है वह भी अनादि और नित्य है। समस्त जीव पाप पुण्यात्मक कार्यों को करके उनके फलों को भोगते हैं और ईश्वर एक सब ओर से व्याप्त होता हुआ न्याय से पाप पुण्य के फल को देने वाले न्यायाधीश के समान देखता है।

– **महर्षि दयानन्द वेदभाष्य** ॥ २४ ॥

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ – (विशेष–दर्शिन:) [विवेक ख्याति द्वारा जीवात्मा और चित्त में भेद को देखने वाले] विशेष ज्ञानी की (आत्म–भाव–भावना) आत्मविषयक जिज्ञासा (विनिवृत्तिः) निवृत्त हो जाती है।

सूत्रार्थ – विवेकख्याति द्वारा पुरुष और चित्त में भेद को देखने वाले योगी की 'मैं कौन हूँ', 'कैसा हूँ', 'क्या था', 'आगे क्या होऊँगा' इस प्रकार की 'आत्मविषयक जिज्ञासा' समाप्त हो जाती है ।

व्या० भा० – यथा प्रावृषि तृणाङ्कुरस्योद्भेदेन तद्बीजसत्तानुमीयते, तथा मोक्षमार्गश्रवणेन यस्य रोमहर्षाश्रुपातौ दृश्येते, तत्राप्यस्ति विशेषदर्शनबीजमपवर्गभागीयं कर्माभिनिर्वर्तितमित्यनुमीयते । तस्यात्मभावभावना स्वाभाविकी प्रवर्तते, यस्याभावादिदमुक्तं-स्वभावं मुक्त्वा दोषाद्येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवत्यरुचिश्च निर्णये भवति । तत्रात्मभावभावना कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदं, के भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति । सा तु विशेषदर्शिनो निवर्त्तते । कुतः ? चित्तस्यैवैष विचित्रः परिणामः, पुरुषस्त्वसत्यामविद्यायां शुद्धश्चित्तधर्मैरपरामृष्ट इति । ततोऽस्यात्मभावभावना कुशलस्य विनिवर्तत इति ॥ २५ ॥

व्या० भा० अ० *– जिस प्रकार वर्षा काल में घास के अंकुर निकलने से उसके बीज की सत्ता का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग के श्रवण से जिसके रोमाञ्च और अश्रुपात देखे जाते हैं, उसमें भी (योगाङ्गानुष्ठानादि) कर्मों से सम्पादित, मोक्ष दिलानेवाला, विशेष ज्ञान का कारण है, ऐसा अनुमान से जाना जाता है । उसकी स्वाभाविक 'आत्मभावभावना' प्रवृत्त होती है। जिसके अभाव में कहा गया है कि ''अपनी आत्मसत्ता को छोड़कर दोष के कारण इनकी पूर्वपक्ष (अनात्मवाद) में रुचि होती है और निर्णय में अरुचि होती है।'' 'आत्मभावभावना' यह है कि मैं कौन था ? मैं कैसा था ? यह क्या है ? यह कैसा है ? क्या होंगे ? कैसे बनेंगे ? वह भावना विशेषदर्शी की निवृत्त होती है । क्यों ? यह विचित्र परिणाम चित्त का ही है । अविद्या के न रहने पर पुरुष चित्तधर्मों से पृथक् हो जाता है । उससे कुशल (योगी) की 'आत्मभावभावना' निवृत्त हो जाती है ॥ २५ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि विशेषज्ञ अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि पदार्थों के स्वरूप को और आत्मा, परमात्मा के स्वरूप को विशुद्ध रूप से जानने वाले **योगी की 'आत्मभावभावना' समाप्त** हो जाती है ।

'आत्मभावभावना का स्वरूप' जानना आवश्यक है । उसको ऐसे जानना चाहिए कि – मैं भूतकाल में कौन था ? किस प्रकार से था ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि क्या हैं ? किस प्रकार से हैं ? हम सभी आगे आने वाले समय में क्या होंगे ? कैसे होंगे ? यह आत्मभावभावना है । यह आत्मभावभावना विशेषज्ञ अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि जड़ पदार्थों और आत्मा, परमात्मा को जानने वाले व्यक्ति की निवृत्त हो जाती है ।

'आत्मभावभावना' को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया है कि – मोक्ष मार्ग का उपदेश सुनने से जिस व्यक्ति के रोमाञ्च और अश्रुपात दिखाई देते हैं उस व्यक्ति ने पूर्वजन्मों में मोक्षशास्त्रों को पढ़ा–पढ़ाया है । योग के आठ अङ्गों का अनुष्ठान किया है । सत्पुरुषों के संग से मोक्ष विद्या को सुना है । इससे अनुमान होता है कि इस व्यक्ति में मोक्षप्राप्ति करने के बीज हैं । जिस

व्यक्ति के जीवन में आत्मभावभावना नहीं होती, उस व्यक्ति की रुचि मोक्षमार्ग में नहीं होती। किन्तु उसकी रुचि केवल विषय भोगों में रत रहने की होती है। ऐसा भोगवादी व्यक्ति कहता है कि अगले-पिछले जन्म को किसने देखा है। आत्मा, परमात्मा को कोई भी नहीं जानता। न कोई बन्धन है और न कोई मोक्ष है, खाओ-पीओ, मौज करो। आत्मा-परमात्मा, धर्माधर्म, मोक्ष की बातों को छोड़ दो। इन **भोगमार्ग वालों का जीवन** कैसा होता है, उपनिषत्कार ने उसको स्पष्ट किया है –

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयन्धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ कठोपनिषद् २/५ ॥

भावार्थ – अविद्यायाम् – अविद्या में, प्रेय मार्ग में; अन्तरे – बीच में; वर्त्तमानाः – उपस्थित, पड़े हुए; स्वयम् – अपने आप ही; धीराः – ज्ञानी; पण्डितम्मन्यमानाः – अपने आप को पण्डित (चतुर, ज्ञानी) समझने वाले; दन्द्रम्यमाणाः – टेढ़े मार्ग पर चलते हुए; परियन्ति – भटकते हैं; मूढाः – मोहग्रस्त, मूर्ख; अन्धेनैव – अन्धे से ही; नीयमानाः – ले जाये जाते हुए; यथा अन्धाः – जैसे अन्धे ॥ २५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ – (तदा) विवेकज्ञान के होने पर (विवेकनिम्नम्) विवेकमार्ग की ओर चलने वाला (कैवल्य-प्राग्भारम्) मोक्ष प्राप्त कराने के सामर्थ्य से युक्त (चित्तम्) चित्त हो जाता है।

सूत्रार्थ – विवेकख्याति प्राप्त होने पर अर्थात् बुद्धि और जीवात्मा के भेद का ज्ञान होने पर चित्त विवेकमार्ग की ओर चलने वाला तथा मोक्ष प्राप्त कराने के सामर्थ्य से युक्त हो जाता है।

व्या० भा० – तदानीं यदस्य चित्तं विषयप्राग्भारमज्ञाननिम्नमासीत्, तदस्यान्यथा भवति कैवल्यप्राग्भारं विवेक ज्ञाननिम्नमिति ॥ २६ ॥

व्या० भा० अ० *– तब योगी का चित्त पहले जो विषयाभिमुख अज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वाला था, उसका वह (चित्त) अन्य प्रकार का अर्थात् कैवल्याभिमुख = विवेक मार्ग का अनुसरण करने वाला होता है ॥ २६ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि विशेष ज्ञानी का चित्त, विवेक की ओर झुक जाता है और **मोक्ष प्राप्ति के सामर्थ्य से परिपूर्ण** हो जाता है।

विवेकज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व साधक का चित्त सांसारिक विषय भोगों में झुका हुआ होता है। और भोगों की प्राप्ति करवाने के सामर्थ्य से परिपूर्ण होता है। विशेषज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् साधक का चित्त विवेक की ओर झुक जाता है। विवेक से पूर्व चित्त भोगों की ओर अग्रसर रहता है, विवेक होने पर समाधि की ओर अग्रसर रहने लगता है। जिस प्रकार ऊँची भूमि होने पर जल नीची भूमि की ओर बहता है, उस ओर से बाँध बाँधकर रोक दिया जाय और दूसरी ओर से बाँध

को हटा दिया जाय तो जल वहाँ से हटकर दूसरे निम्नस्थल की ओर बहने लगता है । इसी प्रकार से जब विवेक, वैराग्य के माध्यम से साधक चित्त को भोगों से रोक देता है तो उस अवस्था में चित्त विवेक की ओर विचरने लगता है । जब विवेक की उत्पत्ति नहीं होती है तब चित्त में भोग भुगाने का सामर्थ्य भरा हुआ होता है । इसी का नाम '**विषय प्राग्भार**' है ।

जब योगाभ्यासी विवेक–वैराग्य के द्वारा चित्त को विशुद्ध बना लेता है, तब वह '**कैवल्य प्राग्भार**' हो जाता है अर्थात् मोक्षप्राप्ति के सामर्थ्य से परिपूर्ण हो जाता है । ऐसी स्थिति में चित्त को अधिकार में रखना सरल हो जाता है । यदि योगाभ्यासी विवेक-वैराग्य की सुरक्षा के लिये उचित प्रयास करना छोड़ देता है तो जो अवस्था विवेकज्ञान से पूर्व होती है, वही सांसारिक स्थिति फिर उत्पन्न हो सकती है । इसलिये विवेक, वैराग्य की उत्पत्ति के लिये उचित प्रयत्न करना चाहिये और विवेक, वैराग्य की सुरक्षा के लिये भी पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २६ ॥

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ – (तत्–छिद्रेषु) विवेक–ज्ञान–प्रवाह के मध्य मध्य में टूटने पर (प्रत्यय–अन्तराणि) विवेक–ज्ञान से भिन्न सांसारिक ज्ञान [उत्पन्न होते हैं] (संस्कारेभ्यः) व्युत्थान संस्कारों से ।

सूत्रार्थ – विवेक–ज्ञान का प्रवाह, मध्य मध्य में टूट जाने पर व्युत्थान संस्कारों के कारण विवेक–ज्ञान से भिन्न सांसारिक–ज्ञान उत्पन्न होते हैं ।

व्या० भा० – प्रत्ययविवेकनिम्नस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रप्रवाहिणश्चित्तस्य तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्त-राण्यस्मीति वा ममेति वा जानामीति वा न जानामीति वा । कुतः ? क्षीयमाणबीजेभ्यः पूर्वसंस्कारेभ्य इति ॥ २७ ॥

व्या० भा० अ० – *विवेक ज्ञान का अनुसरण करने वाले, सत्त्व–पुरुष–अन्यताख्याति–मात्र रूप में प्रवाहित होने वाले चित्त के मध्य–मध्य में, अन्य ज्ञान उदित होते हैं जैसे कि 'मैं हूँ' वा 'मेरा है', किं वा 'मैं जानता' हूँ अथवा 'नहीं जानता हूँ' । क्यों ? क्षीण हो रहे बीज वाले पूर्व के संस्कारों से ॥ २७ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि विवेकयुक्त चित्त के सांसारिक भोगों के संस्कारों के कारण मध्य मध्य में विवेकज्ञान के विरुद्ध **विषयभोग से सम्बद्ध ज्ञानों की उत्पत्ति** होती है।

अनेक जन्मों से आत्मा सांसारिक भोगों को भोगता आया है । उन भोगों के संस्कार अत्यन्त दृढ़ हो जाने पर उनको अल्प ज्ञान वैराग्य से दूर करना कठिन है । परन्तु असम्भव नहीं है । जब योगाभ्यासी थोड़ा सा भी असावधान हो जाता है तो विवेक, वैराग्य की स्थिति में शैथिल्य आ जाता है । ऐसी स्थिति में भोगों से उत्पन्न संस्कारों से सांसारिक भोगों की ओर ले जाने वाले ज्ञान उत्पन्न होते हैं । सांसारिक अवस्था में व्यक्ति 'मैं' और 'मेरा' इस सम्बन्ध को अत्यन्त दृढ़ बना लेता है । वह यह मानता है कि ये संसार के पदार्थ मेरे हैं और मैं इनका स्वामी हूँ । ये सदा मेरे साथ

रहेंगे । ऐसी मान्यता से बने संस्कार विवेक, वैराग्य के कुछ शिथिल होते ही उभर आते हैं और उन संस्कारों से यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये पदार्थ मेरे हैं । मैं इनका स्वामी हूँ । इस प्रकार के जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनका नाम **'प्रत्ययान्तराणि'** है ।

योगाभ्यास करते–करते इन सांसारिक संस्कारों को प्रथम निर्बल करके पुनः दग्धबीजभाव अवस्था में पहुँचा दिया जाता है । इस स्थिति के पश्चात् योग के विरोधी ज्ञान उत्पन्न नहीं होते । इस विषय में यह जानना चाहिये कि शुभ वा अशुभ संस्कारों को उत्पन्न भी किया जा सकता है और समाप्त भी किया जा सकता है । इसलिये शुभ संस्कारों को उत्पन्न करने का और अशुभ संस्कारों को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २७ ॥

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ – (हानम्) नाश (एषाम्) इन [लौकिक संस्कारों] का [भी] (क्लेशवत्) क्लेशों के समान (उक्तम्) कहा गया है ।

सूत्रार्थ – तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान तथा विवेकख्याति आदि उपायों से इन लौकिक संस्कारों का भी नाश क्लेशों के नाश के समान कहा गया है ।

व्या० भा० – यथा क्लेशा दग्धबीजभावा न प्ररोहसमर्था भवन्ति, तथा ज्ञानाग्निना दग्धबीजभावः पूर्वसंस्कारो न प्रत्ययप्रसूर्भवति । ज्ञानसंस्कारास्तु चित्ताधिकारसमाप्तिमनुशेरत इति न चिन्त्यन्ते ॥ २८ ॥

व्या० भा० अ० *– जिस प्रकार दग्धबीजभाव को प्राप्त हुए क्लेश उद्बुद्ध होने में असमर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से दग्धबीज भाव को प्राप्त हुवे पूर्वसंस्कार, (लौकिक) ज्ञान को उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं । ज्ञानसंस्कार तो चित्त के भोगापवर्ग सम्पादन कार्य होने तक बने रहते हैं इसलिये उनके विनाश के लिए विचार नहीं किया जाता है ॥ २८ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि इससे पूर्व सूत्र में कहे गये **विषयभोगों के संस्कारों का नाश क्लेशों के नाश के समान** कहा गया जानना चाहिये ।

योगदर्शन के दूसरे पाद के प्रथम सूत्र में क्लेशों को तनु = निर्बल करने की विधि का कथन किया है । तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान से क्लेशों को तनु करना चाहिये । उन क्लेशों के तनु हो जाने के पश्चात् दूसरे पाद के १०वें, ११वें सूत्रों में उनके नाश की विधि बताई है । योग के आठ अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश और ज्ञान की प्रवृत्ति विवेकख्याति पर्यन्त होती है । विवेकख्याति के अभ्यास और ईश्वरप्रणिधान से क्लेशों को दग्धबीजभाव अवस्था में पहुँचाया जाता है । असम्प्रज्ञात समाधि के परिपक्व होने पर सत्त्वादि गुणों का अधिकार समाप्त हो जाता है । अर्थात् तीनों गुण भोगापवर्ग को सिद्ध करके निष्प्रयोजन हो जाते हैं । यह क्लेशों के नाश की विधि है । विवेकख्याति की अपरिपक्वावस्था में जो सांसारिक भोगों के भोगने से संस्कार

उत्पन्न होते हैं । उन संस्कारों से विषयभोगों से सम्बद्ध अर्थात् विषयभोगों की ओर ले जाने वाले ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनका नाश भी क्लेशों के नाश की भाँति करना चाहिये ।

अविद्या और अविद्या से जनित संस्कार दैनिक जीवन में उत्पन्न होते रहते हैं। अविद्या और उससे जनित संस्कारों को व्यक्ति उत्पन्न करता है । यदि व्यक्ति अविद्या और उससे उत्पन्न संस्कारों को जान लेता है तो विद्या और विद्या से जनित संस्कारों को उत्पन्न करके अविद्या का और उन संस्कारों का नाश कर देता है । जब अविद्या उभरती है तब योगाभ्यासी विद्या को उभारकर उस पर विद्या से आघात पहुँचा देता है। इस प्रकार अशुभ-संस्कारों पर शुभ-संस्कारों से आघात पहुँचाता है। जब हिंसा की प्रवृत्ति होती है तब अहिंसा के द्वारा उसको रोक देता है और अहिंसा को दृढ़ बनाने का अभ्यास करता है। इसी प्रकार करते-करते भोगों के संस्कार और उनसे उत्पन्न मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है। इसके पश्चात् विवेकख्याति के संस्कार रहते हैं जो मोक्षप्राप्ति में कोई बाधा नहीं डालते । मोक्षप्राप्ति की अवस्था में वे संस्कार चित्त के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार से इन योगविरोधी ज्ञानों और संस्कारों का नाश करके मोक्ष का अधिकारी बनना चाहिये ।

(इस सूत्र के भाष्य में क्लेशों और संस्कारों की दग्धबीजभाव अवस्था का जो वर्णन है, वह पूर्णतया **दग्धबीजभाव अवस्था** नहीं है अपितु उसके आसपास की स्थिति है क्योंकि यह स्तर **सम्प्रज्ञात समाधि** का है।) ॥ २८ ॥

प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ - (प्रसङ्ख्याने) विवेकख्याति प्राप्त हो जाने पर (अपि) भी (अकुसीदस्य) सिद्धियों में रागरहित योगी की (सर्वथा विवेकख्यातेः) दृढ़ विवेकख्याति उत्पन्न हो जाने से (धर्ममेघः समाधिः) धर्ममेघ नामक [सर्वोच्च सम्प्रज्ञात] समाधि होती है ।

सूत्रार्थ - बुद्धि तथा पुरुष के पृथक्त्व का ज्ञान प्रसङ्ख्यान = 'विवेकख्याति' कहलाता है । उस विवेकख्याति के प्राप्त हो जाने पर भी सिद्धियों में रागरहित योगी की दृढ़ विवेकख्याति उत्पन्न हो जाने से 'धर्ममेघ' नामक सर्वोच्च 'सम्प्रज्ञात समाधि' होती है ।

व्या० भा० - यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते । तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते । तदास्य धर्ममेघो नाम समाधि-र्भवति ॥ २९ ॥

व्या० भा० अ० *- यह योगी जब विवेकख्याति (से उत्पन्न सिद्धियों) में भी रागरहित हो जाता है उससे भी कुछ कामना नहीं करता, उसमें भी रागरहित (उस योगी) की सब प्रकार से विवेकख्याति ही होती है । इसलिए संस्कारों के बीजों का क्षय होने से इस (योगी) के (विवेकख्याति से) भिन्न ज्ञान उत्पन्न नहीं होते । तब इस योगी को 'धर्ममेघ' नामक समाधि की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥*

यो० प्र० - इस सूत्र में यह कहा है कि विवेकख्याति में प्राप्त सिद्धियों से भी विरक्त योगी

की **सर्वथा-विवेकख्याति से 'धर्ममेघ समाधि'** होती है ।

योगाभ्यास करते करते योगी सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था में पहुँच जाता है। इस अवस्था में विवेकख्याति विप्लव को प्राप्त नहीं होती । किन्तु अविप्लव की स्थिति में रहती है । इस विवेकख्याति में भी योगी का राग नहीं रहता। क्योंकि ये विवेकख्याति भी सत्त्वगुण का धर्म माना जाता है । योगदर्शन–१।१६ **''तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्''** सूत्र में यह कहा है कि पुरुष का अपना विशुद्ध स्वरूप परिज्ञात होने से सत्त्वगुण से भी वैराग्य हो जाता है। यह परवैराग्य विवेकख्याति में दोष देखने से होता है । प्रथम पाद के द्वितीय सूत्र के भाष्य में कहा है कि उस विवेकख्याति में भी विरक्त चित्त, उसको भी रोक देता है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति से धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति बतलाई है और उस सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् विवेकख्याति में विरक्त चित्त उसको भी रोक देता है। इस स्थिति में विवेकख्याति से परवैराग्य उत्पन्न होता है। उससे असम्प्रज्ञात समाधि होती है। असम्प्रज्ञात समाधि से ईश्वरसाक्षात्कार और उससे अवशिष्ट समस्त क्लेशों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है ।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट हो गई कि 'धर्ममेघ समाधि' असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है। किन्तु वह सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था है। विवेकख्याति के सतत बने रहने से धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति मानी है। विवेकख्याति से परवैराग्य होने पर असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि होती है । विवेकख्याति के होने पर धर्ममेघ समाधि होती है। और विवेकख्याति का अभाव होने पर = (उससे विरक्त होकर उसे छोड़ देने पर) असम्प्रज्ञात समाधि होती है। अतः धर्ममेघ समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है ॥ २९ ॥

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ – (ततः) उस धर्ममेघ समाधि से (क्लेश–कर्म–निवृत्तिः) अविद्यादि क्लेश तथा सकाम शुभ–अशुभ कर्म दूर हो जाते हैं ।

सूत्रार्थ – उस धर्ममेघ समाधि के सिद्ध हो जाने पर अविद्या आदि क्लेश तथा सकाम शुभ एवं अशुभ कर्म दूर हो जाते हैं ।

व्या० भा० – तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात् ? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम् । न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥ ३० ॥

व्या० भा० अ० *– उस (धर्ममेघसमाधि) के लाभ से अविद्या आदि क्लेश समूल नष्ट हो जाते है (भावी) पुण्यापुण्य कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं । क्लेश और कर्माशयों की निवृत्ति*

होने पर जीवनकाल में ही योगी विमुक्त हो जाता है। किसलिए ? क्योंकि 'अविद्या' ही 'जन्म का कारण' है। नष्ट हुई अविद्या वाला कोई (व्यक्ति) किसी के द्वारा और कहीं (भी) उत्पन्न हुआ देखा नहीं जाता है ॥ ३० ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि **धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होने पर** अविद्या आदि पाँच क्लेशों की तथा शुभ–अशुभ और मिश्रित सभी **सकाम कर्मों की निवृत्ति** हो जाती है।

धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होने पर अविद्या आदि पाँच क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। सकाम कर्म अर्थात् शुभ कर्म, अशुभ कर्म और शुभाशुभ = मिश्रित कर्मों की लगभग समाप्ति हो जाती है। इस अवस्था में योगी निष्काम कर्म करता है। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध कर्म = निष्काम कर्म और शुद्धोपासना से मोक्ष का अधिकारी बन कर जीवन काल में ही योगी मुक्त हो जाता है और ऐसे जीवात्मा का अगला जन्म नहीं होता है, जैसा कि महर्षि गौतम जी ने न्यायदर्शन में कहा हैं – "**वीतरागजन्मादर्शनात्**" ॥ ३/१/२५ ॥ अविद्या, अधर्माचरण, सकाम कर्म और अशुद्धोपासना बन्धन के कारण है।

इस सूत्र के व्यासभाष्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्ममेघ समाधि से ही समस्त क्लेश नितान्त समाप्त हो जाते हैं और यह असम्प्रज्ञात समाधि है। वास्तव में न तो धर्ममेघ समाधि से क्लेशों की नितान्त परिसमाप्ति होती है और न ही यह असम्प्रज्ञात समाधि है। क्योंकि धर्ममेघ समाधि अवस्था में विवेकख्याति कारण मानी है "**.......सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः**"॥ योगदर्शन ४/२९ ॥ सूत्रकार ने यहाँ सर्वथा विवेकख्याति से धर्ममेघ समाधि विद्यमान रहती है, ऐसा माना है।

भाष्यकार ने विवेकख्याति को सत्त्वगुण का ही धर्म माना है। योगदर्शन १/२ के भाष्य में यह कहा है कि विवेकख्याति से चित्त विरक्त होकर उसको भी रोक देता है। **तत्परं पुरुष...........** ॥ यो० १/१६ ॥ इस सूत्र में यह कहा है कि पुरुष का वास्तविक स्वरूप परिज्ञात होने पर सत्त्व आदि तीनों गुणों से वैराग्य हो जाता है। प्रस्तुत सूत्र में वर्णित धर्ममेघ समाधि सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची अवस्था है और विवेकख्याति यहाँ पर विद्यमान है। इस विवेकख्याति से भी परवैराग्य उत्पन्न होता है। क्योंकि योगी विवेकख्याति में भी दोष देखता है। विवेकख्याति सत्त्वगुण का धर्म बतलाया है। जहाँ पर सत्त्वगुण रहेगा, वहाँ पर गौणरूप से रजोगुण और तमोगुण भी रहेंगे। रजोगुण, तमोगुण की उपस्थिति में अविद्यादि समस्त क्लेशों का नितान्त अभाव नहीं हो सकता। इसलिये धर्ममेघसमाधि में क्लेशों का पर्याप्त विनाश हो जाता है। परन्तु योगदर्शन और व्यासभाष्य के आधार पर सूक्ष्म क्लेश बने रहते हैं। पहले लिख दिया है कि जहां पर सत्त्वगुण रहेगा, वहाँ पर क्लेश भी सूक्ष्मरूप में रहेंगे। क्योंकि सत्त्वगुण के साथ रजोगुण और तमोगुण भी रहेंगे। विवेकख्याति को हानोपाय कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि अविप्लव विवेकख्याति परम्परा से मोक्ष का उपाय है, साक्षात् नहीं। इसी प्रकार से धर्ममेघसमाधि परम्परा से मोक्ष का उपाय है,

साक्षात् नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि 'धर्ममेघ समाधि' असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है और न ही इससे क्लेशों का नितान्त विनाश होता है ॥ ३० ॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ – (तदा) क्लेशों तथा सकाम शुभ एवं अशुभ कर्मों के दूर हो जाने पर (सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य) [ज्ञान को ढकने वाले] सब प्रकार के अज्ञानरूपी मल से रहित (ज्ञानस्य) शुद्ध ज्ञान के (आनन्त्यात्) अधिक हो जाने से (ज्ञेयम्) जानने योग्य विषय (अल्पम्) थोड़ा रह जाता है ।

सूत्रार्थ – 'धर्ममेघ समाधि' के सिद्ध होने के उपरान्त अविद्यादि क्लेशों तथा सकाम शुभ एवं अशुभकर्मों के दूर हो जाने पर ज्ञान को ढकने वाले सब प्रकार के अज्ञानरूपी मल से रहित = शुद्धज्ञान के अधिक हो जाने से जानने योग्य विषय थोड़े ही रह जाते हैं ।

व्या० भा० – सर्वैः क्लेशकर्मावरणैर्विमुक्तस्य ज्ञानस्यानन्त्यं भवति । आवरकेण तमसाभिभूत-मावृतमनन्तं ज्ञानसत्त्वं क्वचिदेव रजसा प्रवर्तितमुद्घाटितं ग्रहणसमर्थं भवति । तत्र यदा सर्वैरावरणमलैरपगतं भवति तदा भवत्यस्यानन्त्यम् । ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पं संपद्यते; यथा-आकाशे खद्योतः ।

यत्रेदमुक्तम् –

> **अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् ।**
> **अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति[1] ॥ ३१ ॥**

व्या० भा० अ० *– समस्त क्लेश कर्मावरणों से विमुक्त (योगी) के ज्ञान की अनन्तता होती है (अर्थात् ज्ञान इतना होता है कि अज्ञान प्राप्ति का अवकाश ही नहीं होता) । आच्छादित करने वाले तमोगुण से अभिभूत (आच्छादित) ज्ञानसत्त्व = (ज्ञान), रजोगुण के द्वारा कहीं (एकदेश में) प्रवर्तित (= प्रभावित) (वा आवरण के) उद्घाटित होने पर (ज्ञेय के ज्ञान को) ग्रहण करने में समर्थ होता है । ऐसी स्थिति में जब (ज्ञान) समस्त आवरण मलों से रहित एवं निर्मल हो जाता है तब उसकी अनन्तता होती है । ज्ञान की अनन्तता से ज्ञेय अल्प हो जाता है; जैसे कि (अनन्त) आकाश में (अणु परिमाण) जुगनू ।*

जिसके विषय में कहा गया है कि (उस योगी का शरीरपात के अनन्तर जन्म लेना ऐसा ही असम्भव है जैसे कि) अन्धे का मणि को बींधना, उसका (मणि का) अंगुली विहीन (व्यक्ति) के द्वारा (माला में) पिरोया जाना, ग्रीवाहीन के द्वारा उसका (माला का) धारण किया जाना और उसकी जिह्वारहित (व्यक्ति) के द्वारा प्रशंसा किया जाना ॥ ३१ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में यह बतलाया है कि तब समस्त **आवरण और मलों के दूर होने से ज्ञान की अधिकता के कारण ज्ञेय पदार्थ अल्प** रह जाता है ।

१. **(तुलना – तैत्तिरीय आरण्यक १/११/५) ।**

अष्टाङ्ग योग के अनुष्ठान से, ईश्वर प्रणिधान से और मोक्षशास्त्रों के अध्ययन से अविद्या, अधर्म आदि मलों के दूर हो जाने से ज्ञान की अधिकता के कारण जानने योग्य पदार्थ अल्प रह जाता है, अर्थात् ईश्वर को जानने का कार्य थोड़ा ही शेष रहता है। ज्ञान की अनन्तता का यह अभिप्राय नहीं है कि जीव का ज्ञान ईश्वर की भाँति अनन्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान की मात्रा अधिक हो जाती है। उसके अधिक होने से आत्मा के लिये जो जानने योग्य पदार्थ हैं, वे अल्प रह जाते हैं। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये जितने पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है, उनमें से कुछ ही पदार्थ शेष रह जाते हैं।

ज्ञान की अधिकता के अनेक कारण हैं। उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं –

(१) अविद्या के नाश से ज्ञान की वृद्धि होती है।

(२) कुसंस्कारों के नाश से ज्ञान की वृद्धि होती है।

(३) अधर्माचरण के त्याग से ज्ञान की वृद्धि होती है।

(४) मोक्षशास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान की वृद्धि होती है।

(५) सत्त्वगुण की प्रधानता से ज्ञान की वृद्धि होती है।

(६) ईश्वरप्रदत्त ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि होती है।

यहाँ एक बात का ध्यान रखना चाहिए। जब योगाभ्यास आदि कारणों से योगी का ज्ञान प्रवृद्धि को प्राप्त होता है, तब योगी को अत्यन्त सावधान रहना पड़ता है। उस ज्ञान की अधिकता के कारण योगी के मन में अभिमान उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। यदि ऐसी स्थिति में योगी ईश्वरप्रणिधान को सतत बनाये रखता है तो अभिमान नहीं होता। अन्यथा अभिमान से बचना कठिन है। इसलिये योगाभ्यासियों को सदा ईश्वरप्रणिधान की स्थिति में रहने का सतत अभ्यास करते रहना चाहिये। इससे स्व-स्वामी सम्बन्ध उत्पन्न नहीं होता और स्वस्वामी सम्बन्ध के न होने से अभिमान भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ३१ ॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ – (ततः) धर्ममेघ समाधि के सिद्ध हो जाने पर (कृतार्थानाम्) भोग और अपवर्ग कार्य जिनका पूरा हो गया है उन (परिणामक्रम-समाप्तिः) परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है (गुणानाम्) गुणों की।

सूत्रार्थ – धर्ममेघ समाधि के सिद्ध हो जाने पर भोग और अपवर्ग कार्य पूर्ण हो गये हैं जिनके, उन गुणों का (महत्तत्त्व, अहंकार, मन, दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ, तन्मात्रायें तथा पृथिवी आदि स्थूलभूतों को उत्पन्न करने का) 'उत्पत्तिक्रम' समाप्त हो जाता है।

व्या० भा० – तस्य धर्ममेघस्योदयात्कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमः परिसमाप्यते। न हि कृत-भोगापवर्गाः परिसमाप्तक्रमाः क्षणमप्यवस्थातुमुत्सहन्ते ॥ ३२ ॥

व्या० भा० अ० *– उस धर्ममेघ समाधि के उदय से, (पुरुष को) भोगापवर्ग रूपी प्रयोजन को प्राप्त करा चुके गुणों के परिणाम का क्रम समाप्त हो जाता है। भोगापवर्ग को सम्पन्न कर चुके एवं समाप्त क्रम वाले (सत्त्व, रजस्, तमस् गुण) क्षण के लिये भी स्थित नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में यह कहा है कि **धर्ममेघ समाधि के उदय होने पर सत्त्वादि गुणों के 'परिणामक्रम' की समाप्ति** हो जाती है ।

'धर्ममेघ समाधि' के उदय होने पर सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के 'परिणाम क्रम' की परिसमाप्ति हो जाती है । सृष्टि के आदि से लेकर तीन गुणों का क्रम ईश्वर की व्यवस्था से चलता रहता है । ईश्वर सत्त्वादि तीन गुणों से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, उससे पाँच तन्मात्रायें, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच भूतों की उत्पत्ति करता है । यह है गुणों का क्रम । जीवात्मा जब तक ईश्वर साक्षात्कार तक पहुँचकर मोक्ष का अधिकारी नहीं बनता, तब तक इन तीन गुणों के क्रम से छूट नहीं सकता । अर्थात् जन्म मरण के क्रम से बाहर नहीं जा सकता । योगी धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होने पर गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति के समीप आ जाता है । यहाँ पर आने से परवैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि, उससे ईश्वर साक्षात्कार होता है । इसके पश्चात् आत्मा मुक्ति का अधिकारी बनता है और फिर सत्त्व आदि गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है । यह बात पहले सप्रमाण लिख दी है कि धर्ममेघ समाधि में क्लेश सूक्ष्मरूप से रहते हैं, नितान्त समाप्त नहीं होते । धर्ममेघ समाधि, असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है, यह भी पहले लिख दिया है ॥ ३२ ॥

अव० – अथ कोऽयं क्रमो नामेति ?

अर्थ – अब यह 'क्रम' नामक (वस्तु) क्या है ?

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ – (क्षण-प्रतियोगी) क्षणों के समूह पर आश्रित तथा (परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्यः) परिणाम की समाप्ति पर ज्ञात होने वाला (क्रमः) क्रम है ।

सूत्रार्थ – क्षणों के पौर्वापर्य स्वरूप वाला अर्थात् जिसमें एक क्षण के पश्चात् परवर्ती क्षण उपस्थित होते हैं तथा परिणाम की समाप्ति पर जो ज्ञात होता है, वह 'क्रम' है ।

व्या० भा० – क्षणानन्तर्यात्मा परिणामस्यापरान्तेनावसानेन गृह्यते क्रमः । न ह्यननुभूतक्रमक्षणा नवस्य पुराणता वस्त्रस्यान्ते भवति । नित्येषु च क्रमो दृष्टः ।

द्वयी चेयं नित्यता-कूटस्थनित्यता परिणामिनित्यता च । तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य । परिणामिनित्यता गुणानाम् । यस्मिन्परिणम्यमाने तत्त्वं न विहन्यते तन्नित्यम् । उभयस्य च तत्त्वानभिघातान्नित्यत्वम् । तत्र गुणधर्मेषु बुद्ध्यादिषु परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमो लब्धपर्यवसानो, नित्येषु धर्मिषु गुणेष्वलब्धपर्य-वसानः । कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयत इति तत्राप्यलब्धपर्यवसानः शब्दपृष्ठेनास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति ।

अथास्य संसारस्य स्थित्या गत्या च गुणेषु वर्तमानस्यास्ति क्रमसमाप्तिर्न वेति ? अवचनीयमेतत् । कथम् ? अस्ति प्रश्न एकान्तवचनीयः–सर्वो जातो मरिष्यति इति ? ओम् भो इति ।

अथ सर्वो मृत्वा जनिष्यत इति ? विभज्यवचनीयमेतत् । प्रत्युदितख्यातिः क्षीणतृष्णः कुशलो न जनिष्यत इतरस्तु जनिष्यते । तथा मनुष्यजातिः श्रेयसी न वा श्रेयसीत्येवं परिपृष्टे विभज्यवचनीयः प्रश्नः, पशूनधिकृत्य श्रेयसी देवानृषींश्चाधिकृत्य नेति । अयं त्ववचनीयः प्रश्नः–संसारोऽयमन्तवानथानन्त इति । कुशलस्यास्ति संसारक्रमपरिसमाप्तिर्नेतरस्येत्यन्यतरावधारणेऽदोषः । तस्माद्व्याकरणीय एवायं प्रश्न इति ॥ ३३ ॥

व्या० भा० अ० *– क्षण के पश्चात् उपस्थित होने वाला परिणाम की समाप्ति रूपी अवसान से गृहीत होता है (वह) 'क्रम' है । नये वस्त्र के अन्त में जो पुरानापन है, वह क्रम के आश्रित क्षणों का अनुभव किए बिना नहीं होता है । और नित्य पदार्थों में 'क्रम' देखा जाता है ।*

यह नित्यता दो प्रकार की होती है । (एक) कूटस्थ नित्यता और (दूसरी) परिणामी नित्यता । उन दोनों में से कूटस्थ नित्यता पुरुष की होती है, गुणों की परिणामी नित्यता होती है । जिसके परिणत होने पर (मूल) तत्त्व नष्ट नहीं होता, वह नित्य (पदार्थ) होता है । और स्वरूप के नष्ट न होने से (गुण एवं पुरुष) दोनों नित्य हैं । उन दोनों में से गुणों के धर्मभूत बुद्ध्यादि पदार्थों में परिणाम की समाप्ति से ज्ञायमान जो क्रम है उसका पर्यवसान लब्ध होता है (अर्थात् बुद्ध्यादि धर्मों में क्रम अवसान को प्राप्त होता है) । नित्यस्वरूप जो धर्मी गुण सत्त्वादि हैं, उनमें क्रम अवसान को प्राप्त नहीं होता है । कूटस्थ नित्य, स्वरूप में अवस्थित मुक्त पुरुषों में स्वरूप का अस्तित्व, क्रम के द्वारा अनुभूत होता है । इसलिए उनमें भी (क्रम का) पर्यवसान (समाप्ति) उपलब्ध नहीं होता है । (वहाँ ऐसा क्रम) शब्द के आधार पर 'अस्ति' क्रिया को लेकर कल्पित किया गया है (वास्तव में क्रम नहीं है) ।

इसके अनन्तर प्रश्न उपस्थित होता है कि सत्त्व आदि गुणों में, स्थिति एवं गति रूप से विद्यमान इस संसार की क्रम समाप्ति है वा नहीं ? यह (एक शब्द में) उत्तर देने योग्य (प्रश्न) नहीं है । कोई प्रश्न एक शब्द में उत्तर देने योग्य होता है, जैसे कि (क्या) जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी मरेगा ? (इसका उत्तर है) कि 'हाँ' (मरेगा) ।

क्या प्रत्येक मृत प्राणी जन्मेगा ? (यह दूसरे प्रकार का प्रश्न है जिसका उत्तर दो भागों में विभाग करके दिये जाने योग्य है कि – विवेकख्याति को प्राप्त, नष्ट हो चुकी तृष्णावाला, कुशल नहीं जन्मेगा, अन्य (प्राणी) तो जन्मेगा । उसी प्रकार मनुष्य जाति श्रेष्ठ है वा नहीं ? ऐसा पूछे जाने पर यह प्रश्न विभाग करके ही समाधान करने योग्य है । (जैसे कि) पशुओं की तुलना में श्रेष्ठ है, देवों एवं ऋषियों की तुलना में (श्रेष्ठ) नहीं है । यह संसार अन्त वाला है अथवा अनन्त ? यह प्रश्न भी (एक शब्द में) समाधान करने योग्य नहीं है । (इसका उत्तर) कुशल (योगी) के संसार क्रम की समाप्ति होती है, (कुशल से) अन्य की नहीं होती है । (ऐकान्तिक रूप से) निश्चय करने पर दोष होगा । इसलिए यह प्रश्न विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य ही है ॥ ३३ ॥

यो० प्र० – इस सूत्र में **क्रम का स्वरूप** बतलाया है ।

व्यासभाष्यानुसार सबसे अल्पकाल को **'क्षण'** कहते हैं । क्षणान्तर्यात्मा-क्षणों की अनन्तरता, एक के पश्चात् परवर्ती क्षणों का उपस्थित होते रहना ही स्वरूप है जिसका, परिणाम के अन्तिम भाग से परिज्ञात होने वाला **'क्रम'** है । क्रमाश्रित क्षणों का अनुभव न करने वाला पुरानापन नये वस्त्र में दिखाई नहीं दे सकता अर्थात् नवीन वस्त्र पुराना नहीं हो सकता । नित्य पदार्थों में भी क्रम होता है । जिन पदार्थों का अस्तित्व बना रहता है, उनमें भी क्रम होता है ।

नित्यता दो प्रकार की है । कूटस्थ नित्यता और परिणामी नित्यता । कूटस्थ नित्यता, जीवात्मा और परमात्मा की है। परिणामी नित्यता, सत्त्वादि तीन गुणों की है । विविध परिणाम होने पर भी मूल तत्त्व का विद्यमान रहना, अर्थात् मूल तत्त्व का अभाव न होना, **परिणामी नित्यता** है । जैसे सोने के विविध आभूषण बनाने पर भी मूल पदार्थ = सोना ज्यों का त्यों बना रहता है । यह परिणामी नित्यता है । और किसी भी परिणाम-परिवर्त्तन का न होना, **अपरिणामी नित्यता** है । जैसे जीवात्मा और परमात्मा की । सत्त्वादि गुणों के धर्म रूप बुद्धि आदि पदार्थों में परिणाम के अन्तिम भाग से निश्चय करने योग्य = जानने योग्य क्रम की समाप्ति उपलब्ध हो जाती है । नित्य धर्मी = सत्त्वादि तीन गुणों में क्रम की समाप्ति उपलब्ध नहीं होती । अर्थात् बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा आदि में तो समाप्ति वाला क्रम होता है । क्योंकि बुद्धि आदि पदार्थ नाशवान हैं । इनके नाश के पश्चात् क्रम भी समाप्त हो जाता है । सत्त्वादि तीन गुण नित्य हैं, उनमें समाप्त न होने वाला क्रम होता है । जीवात्मा में और परमात्मा में क्रम कल्पित किया जाता है, वास्तव में होता नहीं।

क्रम के प्रसङ्ग में प्रश्न उठता है कि सत्त्वादि गुणों में स्थिति और गति रूप से विद्यमान इस संसार के क्रम की परिसमाप्ति होती है वा नहीं ? अर्थात् यह संसार कभी समाप्त होता है अथवा नहीं । यह **विभज्यवचनीय प्रश्न** है, अर्थात् एक शब्द में उत्तर देने योग्य नहीं है । कैसे ? इस बात को समझने के लिए प्रथम इसका एक विपरीत उदाहरण समझ लेवें । जैसे कि एक प्रश्न एकान्त-वचनीय है, अर्थात् जिसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सके, वह **एकान्तवचनीय प्रश्न** कहाता है । जैसे – उत्पन्न होने वाले सभी मरेंगे वा नहीं ? इसका उत्तर है कि हाँ, (उत्पन्न होने वाले सभी मरेंगे) । अब उस प्रश्न को लीजिये जो अवचनीय (विभज्यवचनीय) है, जैसे कि – इस संसार के क्रम की समाप्ति है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि कुशल व्यक्ति के संसारक्रम की परिसमाप्ति है । जो व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बन गया है उसके संसार क्रम की समाप्ति होती है अर्थात् उसका जन्म-मरण का क्रम समाप्त हो जाता है और जो आत्मा मोक्ष के अधिकारी नहीं बने हैं उनका जन्म-मरण का क्रम चलता रहता है । यहाँ पर यह जानना चाहिये कि मोक्ष के अधिकारी आत्माओं का जन्म-मरण, मोक्ष की अवधि तक समाप्त होता है, अनन्तकाल तक नहीं।

क्रम को सरलता से जानने का उपाय एक = प्रत्यक्ष और दूसरा = अनुमान है । जैसे-मिट्टी से पिण्ड बना, पिण्ड से घड़ा बना, घड़े से कपाल-ठीकरे बने, उनसे चूर्ण बना । यहाँ पर मिट्टी से पिण्ड, उससे घड़ा, उससे कपाल बने, यह क्रम है अर्थात् एक के पश्चात् दूसरे का बनना क्रम है । यह क्रम

प्रत्यक्षरूप से देखा जाता है । क्रम को जानने का दूसरा उपाय अनुमान है । जैसे – किसी वस्त्र की उत्पत्ति होने पर वह नवीन दिखाई देता है । परन्तु धीरे धीरे वह पुराना होता रहता है । क्षण क्षण में उसमें पुरानापन आता है । वह पुराना होता हुआ दिखाई नहीं देता । किन्तु पुराना होते होते वह लम्बे काल में इतना पुराना हो जाता है कि उसको हाथ से पकड़ कर उठाने पर खण्ड–खण्ड हो जाता है । यह क्रम अनुमान से जाना जाता है ॥ ३३ ॥

अव० – गुणाधिकारक्रमसमाप्तौ कैवल्यमुक्तम् । तत्स्वरूपमवधार्यते–

अर्थ – गुणों के अधिकार की समाप्ति होने पर 'कैवल्य' कहा गया है । उस (कैवल्य) के स्वरूप का निश्चय किया जाता है –

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ – (पुरुषार्थ–शून्यानाम्) जीवात्मा के प्रयोजन से रहित हुये (गुणानाम्) सत्त्वादि कार्यरूप गुणों का (प्रति–प्रसवः) अपने कारण में लीन हो जाना (कैवल्यम्) मुक्ति है (स्वरूप–प्रतिष्ठा वा) अथवा अपने स्वरूप में स्थित (चितिशक्तिः) जीवात्मा । (इति) पाद समाप्ति तथा शास्त्र समाप्ति का द्योतक है ।

सूत्रार्थ – भोग और अपवर्ग प्रयोजन से रहित चित्तादि कार्यरूप गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना, अथवा सब क्लेशों से सर्वथा छूटकर जीवात्मा का अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को ठीक–ठीक जान कर, अपने और ईश्वर के स्वरूप में अवस्थित हो जाना, 'मोक्ष' है ।

व्या० भा० – कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति ॥ ३४ ॥

व्या० भा० अ० *– (महदादि) कार्य–कारणात्मक जिन गुणों ने (पुरुष के लिए) भोग तथा अपवर्ग को सम्पन्न किया हो और जो पुरुषार्थता से रहित हो गये हों, उनका जो अपने कारण में लीन होना है, वह 'कैवल्य' है । स्वरूप में प्रतिष्ठा, फिर से पुरुष का बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध न होने से केवल चितिशक्तिमात्र का रहना, उसका सदा उसी प्रकार स्थित रहना 'कैवल्य' है ॥ ३४ ॥*

यो० प्र० – इस सूत्र में **कैवल्य का स्वरूप** बतलाया है ।

जीवात्मा का भोग और अपवर्ग सिद्ध करके पुरुषार्थ–शून्य कार्यकारणरूप गुणों का प्रकृति में लीन हो जाना, कैवल्य है । अथवा बुद्धि आदि पदार्थों से जीवात्मा का पुनः सम्बन्ध न होना, केवल अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना, '**कैवल्य**' है । जीवात्मा के भोग और अपवर्ग दो प्रयोजन हैं । सत्त्वादि तीन गुण इन दोनों प्रयोजनों को सिद्ध करने के पश्चात् पुरुषार्थशून्य हो जाते हैं । जब इन गुणों का कोई प्रयोजन नहीं रहता, तब ये अपनी प्रकृति में लीन हो जाते हैं । अर्थात् ईश्वर इनको प्रकृति में लीन कर देता है ।

सृष्टि की उत्पत्ति का क्रमः – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। इन तीनों को लेकर ईश्वर महत्तत्त्व नामक पदार्थ की रचना करता है । महत्तत्त्व से अहंकार, उससे पाँच तन्मात्राओं, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और एक मन की रचना करता है । पाँच तन्मात्राओं से पृथिवी आदि पाँच स्थूल भूतों की, पाँच स्थूल भूतों से सूर्य, चन्द्र, भूमि, मनुष्य-शरीर आदि अन्य पदार्थों की रचना करता है । जीवात्मा के भोग और अपवर्ग सिद्ध हो जाने पर उसको इस सृष्टि की आवश्यकता नहीं रहती । आत्मा, मोक्ष का अधिकारी बनकर मोक्ष को प्राप्त करता है अर्थात् ईश्वर अपनी व्यवस्था के अनुसार जीवात्मा को मोक्ष प्रदान करता है । उस स्थिति में मोक्ष प्राप्त करने वाले आत्मा के साथ प्रकृति से बने जो भी शरीर चित्त आदि पदार्थ सम्बद्ध थे, वे सब प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं । स्थूलशरीर पाँच स्थूलभूतों में लीन हो जाता है । पाँच स्थूलभूत तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें और एक मन-अहंकार में लीन हो जाते हैं । अहंकार-महत्तत्त्व में, और महत्तत्त्व-प्रकृति में लीन हो जाते हैं । शेष सृष्टि अन्य आत्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये ज्यों की त्यों बनी रहती है । इस सृष्टि की रचना, पालन, प्रलय ईश्वर करता है । इस रचना, पालन, प्रलय को न प्रकृति कर सकती है और न जीवात्मा कर सकता है । भोगापवर्ग की सिद्धि होने पर गुणों के अपने कारण में लीन होने पर आत्मा का कैवल्य हो जाता है । अर्थात् तीन गुणों से आत्मा का सम्बन्ध टूट जाता है, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है । इसको '**कैवल्य**' बतलाया है ।

यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि भोग एवं अपवर्ग अर्थात् (कैवल्य), प्रकृति और जीवात्मा की शक्ति से ही सिद्ध नहीं होते । किन्तु इनकी सिद्धि का मुख्य कारण ईश्वर है । यदि सृष्टि की उत्पत्ति व पालन ईश्वर न करे, तो प्रकृति और आत्मा भोगापवर्ग की सिद्धि नहीं कर सकते । केवल जीवात्मा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य नहीं है । परन्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना और ईश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कैवल्य है । वेद में ईश्वर ने उपदेश दिया है कि ''**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**'' ॥ यजु० ३१-१८ ॥ अर्थात् ईश्वर को जानकर ही जीवात्मा मृत्यु आदि दुःखों से छूट जाता है और कोई भी मार्ग मोक्ष प्राप्ति का नहीं है । ''**रसो वै सः । रसं हि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**'' ॥ तैत्तिरीय-उपनिषद् २/७ ॥ इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है । उसी को प्राप्त करके जीवात्मा आनन्दी हो जाता है ।

शरीर आदि साधनों से-शुद्धज्ञान, निष्काम कर्म और ईश्वरोपासना से आत्मा अपने स्वरूप को जान जाता है; और असम्प्रज्ञात समाधि से ईश्वर का साक्षात्कार करता है । ईश्वरसाक्षात्कार से अविद्या, अधर्माचरण, कुसंस्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं । समस्त क्लेशों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है । वास्तव में ईश्वरप्राप्ति ही कैवल्य है । कैवल्य या मोक्ष के विषय में यह भी जानना चाहिये कि जीवात्मा का कैवल्य अनन्तकाल के लिये नहीं होता । मोक्ष काल की एक अवधि है । उतने ही काल पर्यन्त आत्मा मोक्ष में रहता है और उसको मोक्ष की अवधि के समाप्त होने पर पाप-पुण्य

तुल्य रहने से ईश्वर की व्यवस्था से साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में जितना समय लगता है, उतना ही समय मोक्ष की अवधि है।

एक बार सृष्टि का समय ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष है और इतना ही समय (४ अरब ३२ करोड वर्ष) एक बार की प्रलय का है इस प्रकार से दोनों को मिलाकर ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का समय– एक बार की सृष्टि और प्रलय का है। इसे ३६ सहस्र से गुणा करने पर मोक्ष का सम्पूर्ण समय ३१ नील, १० खरब और ४० अरब वर्ष बनता है।

(संदर्भ = सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास) ॥ ३४ ॥

इति चतुर्थः कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ यजु० ३६/९, ऋ० १/९०/९ ॥

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् । ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भावार्थ – प्रीति करने योग्य मित्र स्वरूप परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, सदा न्याय करने हारे परेश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो, अखिल ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र, सबसे बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों के पालक स्वामी, चराचर व्यापक विष्णु, अनन्त पराक्रमयुक्त उरुक्रम देव ईश्वर हमारे लिये कल्याणकारी हो।

सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़े अनन्त बल युक्त परमात्मा को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर आप ही अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। मैंने आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा। जो आपकी वेदोक्त यथार्थ आज्ञा है, उसी का उपदेश तथा आचरण कहा, माना और किया। सत्य ही माना और किया सो आपने मेरी रक्षा की, मुझ सत्यवक्ता की रक्षा की, निश्चय से मुझ वक्ता की रक्षा की।

हे परमात्मन् ! हमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक दुःखों से छुड़ाकर शान्ति का दान दीजिये।

इति श्रीमद्भगवन्महर्षिपतञ्जलिमुनिप्रणीतं व्यासभाष्यसमन्वितं तत्र स्वामिसत्यपतिपरिव्राजकेन विरचितं योगार्थप्रकाशनामभाष्यालङ्कृतं योगदर्शनम् । समाप्तञ्चेदं शास्त्रम् ।

वसुभूतनभोऽक्षाब्दे, पूर्वाश्विनेऽसितेदले ।
एकादश्यां कुजे वारे, ग्रन्थः पूर्त्तिमगादयम् ॥

❑ ❑ ❑

परिशिष्ट (क) : भ्रान्ति-निवारण

योग के नाम पर प्रचलित भ्रान्तियों का निवारण

*[आज समाज में योगविषयक अन्धविश्वास, कुरीतियाँ व भ्रान्तियाँ चहुँओर व्याप्त हैं, जिससे योग-जिज्ञासुओं के मन में अनेकानेक शंकायें उठती रहती हैं, उन्हीं में से कतिपय शंकाओं का समाधान पाठकों के दिग्दर्शन के लिये संक्षिप्तरूप में प्रस्तुत किया जा रहा है । विस्तृत विवरण के लिये लेखक की पुस्तक **'योग मीमांसा'** का अध्ययन करें ।]*

प्रश्न - क्या पूर्ण योगी परमात्मा के तुल्य हो जाता है ?

उत्तर - कोई भी जीव साधना करते करते योगी बनकर ईश्वर के समान सर्वव्यापक-सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् आदि गुणों वाला हो जाये यह वेदादि सत्यशास्त्रों के विरुद्ध होने से नितांत असत्य बात है क्योंकि जीवात्मा स्वभाव से ही एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् आदि गुणों वाला है । यह सार्वत्रिक नियम है कि जो स्वभाव होता है वह द्रव्य को छोड़ता नहीं है । इस प्रकार के एकदेशी और परिमित गुण कर्म-स्वभाव वाला जीवात्मा मुक्ति में भी ईश्वर के समान नहीं होता ।

यद्यपि शास्त्रों में कहीं—कहीं जीवात्मा के लिए 'सर्वज्ञ', 'सर्वानुभवी' आदि शब्दों का प्रयोग आया है । वहाँ प्रसंगानुसार उन शब्दों का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा अपने मन और इन्द्रियों के व्यापार को पूर्णतया जान लेता है, न कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवात्माओं या प्रकृति के क्रिया कलापों को जानता है ।

प्रश्न - क्या पूर्ण अहिंसासिद्ध योगी के प्रति सभी प्राणी वैरभाव छोड़ देते हैं ?

उत्तर - अहिंसा का पालन करने वाले पूर्ण योगी का समस्त प्राणियों कि प्रति वैरभाव छूट जाता है और उसके पास में रहनेवाले मनुष्यों का भी उनकी अपनी योग्यता के अनुसार अन्यों के प्रति वैरभाव छूट जाता है । परन्तु सब प्राणियों का योगी के प्रति वैरभाव पूर्णरूप से छूट जाता है, यह बात संभव नहीं । पूर्वजन्म के संस्कारों तथा इस जन्म के सत्संग-स्वाध्याय और चिंतन के माध्यम से जितनी-जितनी उनकी अहिंसा के प्रति श्रद्धा-रुचि उत्पन्न होती है उतनी-उतनी मात्रा में उनका वैरभाव छूटता है । किसी का ५०%, किसी का २०% तो किसी का १०% वैरभाव छूटेगा । कुछ ऐसे भी होगें जिनका १% वैरभाव छूटेगा । कुछ ऐसे भी होगें जिनका १% भी वैरभाव नहीं छूटता, बल्कि कुछ लोग ऐसे होते हैं जो उस पूर्ण अहिंसा का पालन करने वाले योगी को ही मार डालते हैं । इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं ।

प्रश्न - क्या सच्चा योगी किसी अज्ञानी-अधर्मी के सिर पर हाथ धर, अथवा अपने मनोबल से उसकी समाधि लगवा सकता है ?

उत्तर - नहीं, कोई भी सच्चा योगी अज्ञानी-अधर्मी के सिर पर हाथ धर कर या अपने मनोबल से उसकी समाधि नहीं लगवा सकता । समाधि के लिए यम-नियम आदि योग के आठ अंगो का पालन, विवेक-वैराग्य का अभ्यास, उच्चस्तर का ईश्वरप्रणिधान बनाकर अपने अंत:करण को निर्मल बनाना पड़ता है । तब वह व्यक्ति समाधिप्राप्ति के योग्य बनता है । बिना पात्रता के कोई व्यक्ति योगी नहीं बन सकता, न दूसरा कोई उसे योगी बना सकता । ऋषियों ने स्पष्ट कहा है कि जिसका अंत:करण अज्ञानग्रस्त है अर्थात् राग-द्वेष-मोह से युक्त है उसमें उपदेश का किञ्चित् मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता है । सिर पर हाथ रखकर मनोबल मात्र से समाधि लगाने की बात तो दूर रही ।

प्रश्न - जो योगी परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह अन्यों को नहीं बताता है कि ''मैं परमात्मा को जानता हूँ'' - क्या यह सत्य है ?

उत्तर - जो योगी वास्तव में परमात्मा को जानता है वह कभी भी दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर ऐसा नहीं कहेगा कि 'मैं परमात्मा को नहीं जानता हूँ', क्योंकि योगी व्यक्ति कभी भी असत्य नहीं बोलता है । वेद में भी परमपिता परमात्मा ने योगी व्यक्तियों को यह आदेश दिया है कि तुम अन्यों को यह बताओ कि - **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्** ॥ यजु० - ३१/१८ ॥ ''मैं परमात्मा को जानता हूँ'' । **वेदाहं भुवनस्य नाभिम्** ॥ यजु० - २३/७ ॥ ''मैं समस्त ब्रह्माण्ड की नाभि (मूलाधार) को जानता हूँ'' । उपर्युक्त प्रमाण इस मान्यता की पुष्टि करते हैं । हाँ, जो कोई व्यक्ति अधिकारी न हो अथवा दुष्ट भावना से योगी से इस प्रकार का प्रश्न करे तो योगी मौन रहकर उसे न बताये, यह तो हो सकता है पर ऐसा नहीं हो सकता कि वह झूठ बोले और कहे कि ''मैं नहीं जानता ।''

प्रश्न - क्या तर्क करना योग में बाधक हैं ?

उत्तर - नहीं, तर्क करना योग में बाधक नहीं अपितु साधक है । ऋषियों के मत अनुसार मनुष्य तर्क के वास्तविक स्वरूप को जानकर उसका प्रयोग करे, तभी वह मुक्ति का भागी हो सकता है । महर्षि गौतम ने तो तर्क को मुक्ति की प्राप्ति में एक साधन बताया है । तर्क के माध्यम से ही मनुष्य किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जान सकता है ।[१] महर्षि मनु ने भी धर्म-अधर्म को जानने के लिए तर्क को अत्यंत उपयोगी साधन माना है ।[२] जो तर्क प्रमाणों के द्वारा धर्म को जानने का प्रयत्न करता है, वही यथार्थ रूप से धर्म को जान पाता है, अन्य नहीं।

---

१. प्रमाणप्रमेय.....तर्कनिर्णय.....तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ॥ न्यायदर्शन-१/१ ॥

२. यस्तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ मनुस्मृति-१२/१०६ ॥

प्रश्न - क्या हस्तरेखाओं को देखकर मृत्युकाल को बताया जा सकता है ?

उत्तर - किसी व्यक्ति विशेष की इतने वर्ष, इतने मास, इतने दिन के पश्चात् इतने बजे, इतने मिनट पर मृत्यु होगी, ऐसा मृत्यु का समय निश्चित करना किसी भी व्यक्ति के लिए संभव नहीं । इसलिए हस्त रेखाओं को देखकर के यह कहना कि अमुक व्यक्ति की अमुक निश्चित् समय मृत्यु होगी, यह बात प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से मिथ्या सिद्ध होती है । किसी भी व्यक्ति का आयुकाल भी अनिश्चित् ही होता है, उचित मात्रा में विहित नियमों-विधिविधानों का पालन करने पर आयु बढ़ती है और निषिद्ध विधिविधानों के करने से आयु घट जाती है । इसलिए केवल हस्तरेखाओं को देखकर मृत्युकाल को बताना मिथ्या ही है ।

प्रश्न - क्या वर्तमान में प्रचलित सभी योगपद्धतियाँ सत्य हैं ? तथा उन सब के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती हैं ?

उत्तर - नहीं, वर्तमान में प्रचलित सभी योग पद्धतियाँ सत्य नहीं हैं, और ना ही वे सभी की सभी मोक्ष की सिद्धि करवा सकती हैं । क्योंकि इन अनेक योग पद्धतियों में वर्णित साध्य, और साधनों में परस्पर विरोध है । एक ही विषय में एक योगमार्ग वाला जो कहता है, दूसरे योगमार्ग वाला उसी का खंडन करता है । जैसे एक योगपद्धति वाला ईश्वर को सर्वव्यापक बतलाता है तो दूसरा ईश्वर को एकदेशी बतलाता है । एक कहता है कि सब प्राणियों के साथ वैरभाव का परित्याग करके प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से, ईश्वर मोक्षप्रदान करता है, तो दूसरा कहता है कि अमुक-अमुक प्राणियों की ईश्वर के नाम से हत्या करने से और उनका मांस खाने से, ईश्वर मोक्ष में भेजता है - इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का परस्पर विरोध होने से यह धारणा मिथ्या है कि सभी योग पद्धतियाँ सत्य हैं और सभी के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

प्रश्न - क्या योग के नाम से प्रचलित सभी सिद्धियाँ सत्य हैं ? और उन सभी को प्राप्त करना मोक्ष के लिए आवश्यक है ?

उत्तर - योग के नाम पर प्रचलित सभी सिद्धियाँ सत्य नहीं हैं अपितु बहुत सी असंभव हैं, क्योंकि ऐसी सिद्धियों की प्राप्ति में प्रत्यक्षादि प्रमाण उपलब्ध नहीं होते । साथ ही तर्क और युक्ति से भी उन सिद्धियों की प्राप्ति खंडित हो जाती हैं । जैसे कि जीव का परमात्मा के समान सर्वज्ञ होना, बिना खाये-पिये वर्षों तक जीवित रहना, नये शरीरों को बना लेना, हाथ-पाँव आदि काटने पर भी दु:ख का न होना इत्यादि ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए सब सिद्धियाँ अनिवार्य नहीं हैं । महर्षि पतंजलि जी स्वयं इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि संयम के द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ किसी ने प्राप्त की हों अथवा न की हों परन्तु प्रकृति और पुरुष का अर्थात् आत्मा-परमात्मा का ठीक प्रकार से ज्ञान होने पर मोक्ष हो जाता है । योगदर्शन के ऊपर भाष्य लिखने वाले महर्षि व्यास जी ने भी योगदर्शन ३/५५ के भाष्य में सिद्धि विषयक अपना निर्णय देते हुए लिखा है कि - सब सिद्धियाँ अर्थात्

विभूतियाँ मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य नहीं हैं । जिस जीव ने सिद्धियों की प्राप्ति कर ली है उसको और जिसने सिद्धियों को प्राप्त नहीं किया उसको भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

प्रश्न - हठयोग प्रदीपिका का योग, पातंजल योग के अनुकूल है वा नहीं ?

उत्तर - हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रंथ में बताया गया योग पतंजलि जी आदि ऋषियों के बताये गये योग के अनुकूल नहीं है । क्योंकि हठयोग प्रदीपिका में यम-नियम को योग के अंग के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है । जब कि ऋषि पतंजलि जी ने इनको क्रमशः योग के प्रथम और दूसरे अंगो के रूप में स्वीकार किया है ।

हठयोग प्रदीपिका में योग की सिद्धि के लिए वज्रौली, खेचरी आदि मुद्राओं का विधान किया गया है उस के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति पतंजलि जी के योगदर्शन में बताये अखंड ब्रह्मचर्य का पालन कभी भी नहीं कर सकता । हाँ, आचारहीन अवश्य ही बन जायेगा । हठयोग प्रदीपिका में वेदशास्त्र आदि की निंदा की गई है । जबकि पातंजल-योगदर्शन में वेदादि शास्त्रों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला बताया है । इसी प्रकार हठयोग प्रदीपिका ग्रंथ में कुंडलिनी आदि को योग का आधार बताया गया है । जबकि पातंजल-योग में ऐसी मान्यताओं के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता है । इत्यादि अनेक मिथ्या, मनघड़ंत, वेदादि शास्त्रों के तथा पातंजल योग के विरुद्ध बातों का वर्णन इस हठयोग प्रदीपिका में किया गया है । इसलिए हठयोग प्रदीपिका का योग महर्षि पतंजलि आदि ऋषियों के अनुसार नहीं है । इसलिए महर्षि पतंजलि द्वारा बताये गये योग के विरुद्ध इस हठयोग का प्रचार-प्रसार करना उचित नहीं है ।

प्रश्न - क्या स्त्रियाँ योगिनी नहीं बन सकती हैं ?

उत्तर - जिस प्रकार से पुरुष योगी बनकर मुक्ति का भागी होता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी योगिनी बनकर मुक्ति की अधिकारिणी बन सकती हैं । योगी बनने का सामर्थ्य स्त्री और पुरुष दोनों में है । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में अनेकत्र ऐसे प्रमाण दिये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी योगाभ्यास करके योगिनी बन सकती हैं और ईश्वर को प्राप्त कर सकती हैं ।

प्रश्न - क्या वायुसेवन मात्र से योगी जीवन निर्वाह कर सकता है ?

उत्तर - युक्ति और प्रमाणों से इस मान्यता का खंडन हो जाता है कि केवल वायुसेवन से ही योगी लोग जीवित रहते हैं । क्योंकि जो मनुष्य केवल वायुसेवन करता है और अन्न, फल, दूध, शाक, जल आदि खाता-पीता नहीं है तो बिना इन पदार्थों के केवल वायु का सेवन करने से रस, रक्त, मांसादि ७ धातुओं का निर्माण नहीं होगा । शरीर-मनादि इन्द्रियों को कार्य करने की शक्ति भी नहीं मिलेगी, परिणाम स्वरूप वह शरीर से किसी भी प्रकार के कार्य करने में असमर्थ होगा और मृत्यु को भी प्राप्त होगा । अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आयुर्वेदादि शब्दप्रमाण से यह

सिद्धि होती है कि केवल वायु का सेवन करके न कोई व्यक्ति योगाभ्यास कर सकता है, न योगी बन सकता है, न स्वस्थ रहकर कार्य करता हुआ जीवित रह सकता है ।

प्रश्न - समाधि अवस्था में पैर में ५-६ इंच लम्बी कील गाड़ देने पर भी क्या योगी को कोई कष्ट नहीं होता हैं ?

उत्तर - नहीं, यह मान्यता भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरुद्ध है कि ५-६ इंच की कील किसी व्यक्ति के पैर में ठोक कर एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर निकाल ली जाये और समाधि में स्थित व्यक्ति को कुछ भी पता न चले, कष्ट न हो, दुःख न हो । हाँ, मूर्च्छावस्था या मृत अवस्था में तो ऐसा संभव है किन्तु समाधि अवस्था में ऐसा संभव नहीं । योगी व्यक्ति समाधि अवस्था में सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मच्छर-मक्खी, तीव्र ध्वनि आदि के द्वारा बाधा होने पर एक सीमा तक उनको सहन कर लेता है और समाधि नहीं टूटती है । किन्तु कील गाड़ना, लाठी से प्रहार करना, आदि स्थिति में निश्चित ही योगी व्यक्ति विचलित हो जाता है और समाधि अवस्था भंग हो जाती है।

प्रश्न - समाधि अवस्था में जब योगी का सम्बन्ध शरीर-मन-इन्द्रियों और प्रकृतिमात्र से टूट जाता है तब उसके अंगो को तलवारादि से काटने पर भी क्या उसको कष्ट की अनुभूति नहीं होती है ?

उत्तर - समाधि अवस्था में योगी का शरीर-मन-इन्द्रियों और प्रकृति से नितान्त सम्बन्ध नहीं टूटता । क्योंकि समाधिस्थ योगी के शरीर में खाये-पिये हुए अन्न-जलादि का रस बनता है । उससे अन्य धातुओं का निर्माण होता है, मल, मूत्र की उत्पत्ति सतत होती रहती है । श्वास-प्रश्वास का कार्य नियमपूर्वक चलता रहता है । यदि समाधिस्थ योगी का सम्बन्ध शरीरादि से न होता तो ये उपरिलिखित कार्य कभी न होते । और यह शरीर गल-सड़कर नष्ट हो जाता । जिस प्रकार गाढ़ निद्रा में कोई साधारण चोट लगने पर सोये मनुष्य को कोई कष्ट की अनुभूति नहीं होती । परन्तु उसी मनुष्य की कोई टांग-हाथादि काट देवे तो उसको महान् कष्ट होता और निद्रा का पता भी नहीं चलता कि वह कहाँ चली गई ! हाँ, जैसे सुषुप्ति अवस्था में भी मन, इन्द्रियों द्वारा बाहर के विषयों का परिज्ञान नहीं होता । उसी प्रकार समाधि अवस्था में बाहर के विषयों का ज्ञान नहीं होता । परन्तु अंग के काटने से अवश्य ही कष्ट की अनुभूति होती है ।

प्रश्न - समाज में देखने में आता है कि कुछ लोगों को इस जन्म में बिना वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रों के पढ़े भी योग का ज्ञान हो जाता है और समाधि की प्राप्ति हो जाती है - क्या यह संभव है ?

उत्तर - सिद्धांत पक्ष यह है कि किसी को भी जितना, जिस स्तर का योग का ज्ञान होता है, वह वेदादि सत्य शास्त्रों के अध्ययन, श्रवण, सत्संग स्वाध्यायादि से ही होता है । चाहे वह

इस जन्म में करे अथवा पूर्व जन्मों में करे। मनुष्य पिछले अनेक जन्म जन्मान्तरों से अपने माता-पिता, गुरुओं आदि से वेदादि शास्त्रों का ज्ञान करते आये हैं। उस ज्ञान के संस्कार उनके चित्त में बने रहते हैं। पूर्वजन्म के इन्हीं संस्कारों की प्रबलता के कारण इस जन्म में गुरुमुख से विशेष अध्ययन किये बिना भी किसी किसी को योग के विषय में ज्ञान हो जाता है। गुरु, मातापिता तथा समाज से कुछ सामान्य बातें सीख कर और सृष्टि को देख कर परिश्रम, तपस्या और ईश्वर प्रणिधान से उसका सामर्थ्य इतना हो जाता है कि वह सीधा ईश्वर को ही अपना गुरु बना लेता है और ईश्वर से योग विद्या प्राप्त कर लेता है। जैसे सृष्टि के प्रारम्भ में बिना माता पिता से सीखे वे ऋषि लोग पूर्व सृष्टि में प्राप्त की गई योग्यता के आधार पर सीधा ईश्वर से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वैसे ही कोई कोई व्यक्ति पूर्व जन्म की योग्यता के आधार पर वर्तमान जन्म के विशेष अध्ययन किये भी सीधा ईश्वर से योग का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रमाण : (१) ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ योगदर्शन १/२३ ॥

(२) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानाद् ॥ योगदर्शन २/४५ ॥

(३) भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ योगदर्शन १/१९ ॥

प्रश्न - क्या वेद-वेदाङ्ग-उपाङ्गादि का अध्ययन किये बिना कोई व्यक्ति पूर्णयोगी बन सकता है ?

उत्तर - नहीं, कोई भी व्यक्ति बिना वेद-वेदाङ्ग-उपाङ्ग के अध्ययन बिना पूर्णयोगी नहीं बन सकता। जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान अत्यंत न्यून है। सृष्टि के आदि में ईश्वर ने वेदज्ञान प्रदान किया। उन वेदों को पढ़कर के ही आदिकाल में मनुष्य ज्ञानी हुए, योगी हुए। फिर परंपरा से यह वेदादि का ज्ञान लोगों को मिलता रहा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उत्पन्न हुए बच्चे को यदि माता-पिता, भाई-बहन, गुरु-आचार्य, आदि न पढ़ाएँ, न सिखाएँ, न बताएँ तो बच्चा कुछ भी नहीं सीख सकता। जब बिना किसी के पढ़ाये सामान्य विद्वान् ही नहीं बन सकता तो योगी बनने की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? अतः यह मान्यता नितान्त मिथ्या है कि बिना किसी अन्य के योगविद्या सिखाए, पढ़ाए कोई व्यक्ति योगी बन जाता है।

प्रश्न - क्या ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन पदार्थों को अलग-अलग अनादि तत्त्व माने बिना कोई योगी बन सकता है ?

उत्तर - इस संसार में सब सत्य विद्याएँ और जितने भी पदार्थ हैं उन सबका यथार्थ ज्ञान वेदादि सत्य शास्त्रों से ही होता है। वेद परम पिता परमात्मा के द्वारा मनुष्यों को दिया हुआ ज्ञान है। वेदादि सत्य शास्त्रों में सर्वत्र यह वर्णन मिलता है कि इस संसार में तीन पदार्थ अनादि हैं, नित्य हैं, पृथक्-पृथक् हैं। उनकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। अतः वेदादि सत्य शास्त्रों

में बताये गये तीन अनादि तत्त्वों से विरुद्ध जो कोई व्यक्ति किसी एक ही तत्त्व को (ईश्वर अथवा प्रकृति) अथवा किन्हीं दो ही तत्त्वों को (ईश्वर और प्रकृति, या जीव और प्रकृति) को ही मानता है, वह वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रमाणों और युक्ति से विरुद्ध है । ऐसा व्यक्ति योगी कदापि नहीं बन सकता ।

प्रश्न – ''योगः एव योगस्य उपाध्यायः अर्थात् योग ही योग को सिखा देता है, किसी को गुरु बनाने की आवश्यकता नही हैं'' – क्या यह मान्यता सत्य है ?

उत्तर – 'योगः एव योगस्य उपाध्यायः' इस वाक्य का यह अर्थ नहीं कि योग ही योग को सिखा देता है – किसी गुरु से पढ़ने की आवश्यकता नहीं है । इसका वास्तविक अर्थ यह है कि जब एक मनुष्य योग की एक अवस्था का अनुभव कर लेता है तब उससे ऊँची अवस्था को जानने का सामर्थ्य बढ़ जाता है । परन्तु योग की उस अवस्था के अनुभव करने के पश्चात् उससे दूसरी ऊँची अवस्था का अनुभव कराने में वेदज्ञान और गुरु ही कारण बनते हैं, स्वाभाविक ज्ञान नहीं । जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान बहुत थोड़ा होता है, वह समाधि अवस्था को प्राप्त नहीं करा सकता । इसलिए केवल मात्र योगाभ्यास करते रहने से, बिना गुरु के ही समाधि की प्राप्ति होना संभव नहीं ।

प्रश्न – बहुत से लोग कहते हैं कि ''हम तो मोक्ष नहीं चाहते, बल्कि बार-बार संसार में जन्म लेकर संसार का उपकार करना चाहते हैं'' – क्या ऐसा कहना सत्य है ?

उत्तर – ऐसा कहना सत्य नहीं है । क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति या प्राणी न हुआ और न होगा, जो मोक्ष न चाहता हो । ''मोक्ष में सभी दुःख छूट जाते हैं और ईश्वर का आनन्द प्राप्त होता है'', ऐसा महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के नवम समुल्लास में लिखा है । भला बताइये, ऐसा कौन है, जो दुःखों से छूटना और ईश्वर के आनन्द को प्राप्त करना न चाहता हो ! इसे सभी चाहते हैं । अतः सिद्ध हुआ कि मोक्ष को सभी चाहते हैं । रही बात परोपकार करने की । तो नवम समुल्लास में परोपकार को मोक्ष-प्राप्ति का साधन ही लिखा है । परोपकार करना मोक्ष-प्राप्ति में बाधक नहीं है । हाँ, यदि ज्ञान और उपासना को छोड़कर व्यक्ति केवल परोपकार में ही लग जाये तो अकेला परोपकार मोक्ष तक नहीं पहुँचा सकता क्योंकि वेदादि शास्त्रों **(यजुर्वेद ४०/१४)** में मोक्षप्राप्ति के लिये तीन साधन (ज्ञान, कर्म, उपासना) बतलाये गये हैं। जबकि परोपकार इन तीनों में से एक (कर्म) है । यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि यदि परोपकार भी सकाम भावना से किया जाये तो वह भी मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकता । अतः परोपकार की बात कहने वाले भी मोक्ष को चाहते ही हैं । परन्तु अज्ञानता के कारण वे ऐसा कहते हैं कि – ''हम मोक्ष को नहीं चाहते ।''

★ ★ ★

परिशिष्ट (ख)

अथ पातञ्जल-योगदर्शनम्

तत्र प्रथमः समाधिपादः

१. अथ योगानुशासनम् ।
२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।
३. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।
४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।
५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।
६. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।
७. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।
८. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।
९. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।
१०. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।
११. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।
१२. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।
१३. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।
१४. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।
१५. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम् ।
१६. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।
१७. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।
१८. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।
१९. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।
२०. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।
२१. तीव्रसंवेगानामासन्नः ।
२२. मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।
२३. ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।
२४. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
२५. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।
२६. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।
२७. तस्य वाचकः प्रणवः ।
२८. तज्जपस्तदर्थभावनम् ।
२९. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।
३०. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति-भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित-त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।
३१. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।
३२. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।
३३. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम् ।
३४. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।
३५. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धनी ।
३६. विशोका वा ज्योतिष्मती ।
३७. वीतरागविषयं वा चित्तम् ।
३८. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।
३९. यथाभिमतध्यानाद्वा ।
४०. परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।
४१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।

४२. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।

४३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।

४४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।

४५. सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।

४६. ता एव सबीजः समाधिः ।

४७. निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।

४८. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

४९. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।

५०. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।

५१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

इति प्रथमः समाधिपादः

❑ ❑ ❑

अथ द्वितीयः साधनपादः

१. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

२. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।

३. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।

४. अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।

५. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

६. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।

७. सुखानुशयी रागः ।

८. दुःखानुशयी द्वेषः ।

९. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढ़ोऽभिनिवेशः ।

१०. ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।

११. ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।

१२. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

१३. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

१४. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

१५. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

१६. हेयं दुःखमनागतम् ।

१७. द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।

१८. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

१९. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

२०. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।

२१. तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ।

२२. कृतार्थम्प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।

२३. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः ।

२४. तस्य हेतुरविद्या ।

२५. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।

२६. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।

२७. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।

२८. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

२९. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
३०. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
३१. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।
३२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
३३. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।
३४. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।
३५. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।
३६. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।
३७. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।
३८. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।
३९. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।
४०. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।
४१. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म-दर्शनयोग्यत्वानि च ।
४२. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।
४३. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।
४४. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।
४५. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।
४६. स्थिरसुखमासनम् ।
४७. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।
४८. ततो द्वन्द्वानभिघातः ।
४९. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
५०. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।
५१. बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।
५२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।
५३. धारणासु च योग्यता मनसः ।
५४. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।
५५. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।

इति द्वितीयः साधनपादः

❑ ❑ ❑

अथ तृतीयो विभूतिपादः

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।
२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।
३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
४. त्रयमेकत्र संयमः ।
५. तज्जयात् प्रज्ञालोकः ।
६. तस्य भूमिषु विनियोगः ।
७. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।
८. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।
९. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।
१०. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।
११. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।
१२. ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ।

१३. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।
१४. शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।
१५. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।
१६. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।
१७. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकर-स्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ।
१८. संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।
१९. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।
२०. न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।
२१. कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ।
२२. सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमाद-परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।
२३. मैत्र्यादिषु बलानि ।
२४. बलेषु हस्तिबलादीनि ।
२५. प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम् ।
२६. भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।
२७. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।
२८. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।
२९. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।
३०. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।
३१. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।
३२. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।
३३. प्रातिभाद् वा सर्वम् ।
३४. हृदये चित्तसंवित् ।
३५. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।
३६. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।
३७. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।
३८. बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।
३९. उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।
४०. समानजयाज्ज्वलनम् ।
४१. श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।
४२. कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम् ।
४३. बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।
४४. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।
४५. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मा-नभिघातश्च ।
४६. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।
४७. ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् इन्द्रियजयः ।
४८. ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।
४९. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावा-धिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥
५०. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।
५१. स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।
५२. क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।
५३. जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययो-स्ततः प्रतिपत्तिः ।
५४. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।
५५. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।

इति तृतीयो विभूतिपादः

❑ ❑ ❑

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

१. जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।
२. जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ।
३. निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।
४. निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।
५. प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।
६. तत्र ध्यानजमनाशयम् ।
७. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।
८. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।
९. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।
१०. तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।
११. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।
१२. अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम् ।
१३. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।
१४. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।
१५. वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।
१६. न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।
१७. तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम् ।
१८. सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।
१९. न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।
२०. एकसमये चोभयानवधारणम् ।
२१. चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ।
२२. चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।
२३. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।
२४. तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।
२५. विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।
२६. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।
२७. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।
२८. हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।
२९. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेधः समाधिः ।
३०. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।
३१. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।
३२. ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।
३३. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।
३४. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।

इति चतुर्थः कैवल्यपादः

॥ समाप्तं चेदं योगदर्शनम् ॥

❑ ❑ ❑